हिन्दी-सेवा की संकल्पना

हिन्दी-सेवा की संकल्पना

• •

डॉ० बाबूराम सक्सेना

को

सस्नेह भेंट

— चन्द्रशेखर [illegible]

हिन्दी-सेवा की संकल्पना

[पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी के हुमुखी कृतित्व की पार्श्वच्छवि के रूप में उनकी टिप्पणियों, कविताओं एवं अन्य कृतियों से संकलन]

सम्पादक
विद्यानिवास मिश्र

पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी सारस्वत समारोह समिति, प्रयाग
संवत् २०३३

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

६–७ नवम्बर, १९७६ को हिन्दुस्तानी एकेडेमी के प्रांगण में आयोजित पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी सारस्वत समारोह के अवसर पर हिन्दी-सेवाव्रती पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी को समारोह-समिति द्वारा सादर समर्पित.

आभार

आदरणीय पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी (भैया साहब) ने अनुमति दी कि मेरे सम्मान में अगर कोई ग्रन्थ छपाना ही है तो मेरे व्यक्तिगत स्वरूप को ओझल करके मेरी रचनाओं के संकलन को चुनकर ही जो मेरा सम्मान होगा, वही मेरे लिए वास्तविक सम्मान होगा। बहुत कठिनाई से इसमें प्रस्तावना के अलावा तीन लेख उनके व्यक्तित्व पर देने की आज्ञा प्राप्त हुई है। इसके लिए मैं कृतज्ञता से आनत हूँ।

इस संकलन में पाँच खण्ड हैं, प्रथम चार खण्डों में 'सरस्वती' में उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों से चुनकर विषय-क्रम से तथा तिथि-क्रम से कुछ टिप्पणियाँ विन्यस्त की गयी हैं, पाँचवें खण्ड में उनकी गद्य-पद्यात्मक रचनाओं से चयन किया गया है। प्रथम खण्ड में श्रद्धेय रायकृष्ण दास जी की प्रस्तावना है, आदरणीय पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र और डॉ० उदयनारायण तिवारी के लेख हैं, जो उनके व्यक्तित्व की झाँकी प्रस्तुत करते हैं, इसी खण्ड के अन्त में सम्पादक का भी लेख है। मैं श्रद्धेय राय साहब के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता-ज्ञापन करूँ। उन्होंने पग-पग पर परामर्श दिया है और इस कार्य के लिए प्रोत्साहित किया है। अन्य अग्रजों की मेरे ऊपर अयाचित कृपा है कि एक बार निवेदन करने पर भी उन्होंने लेख भेज दिये।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन यद्यपि चतुर्वेदी सारस्वत समारोह समिति द्वारा हो रहा है, तथापि वास्तविक रूप में इसका सारा भार समादरणीय स्वामी चन्द्रशेखर गिरि ने उठाया, उनकी कृपा से ही बहुत शीघ्रता से यह कार्य सम्पन्न हो सका। मुद्रण की तत्परता और उसके सौष्ठव का सारा श्रेय मेरे सहयोगी डॉ० श्रीप्रसाद और मित्र श्री बाबूलाल जी फागुल्ल को है। मेरी ओर से शिथिलता होते हुए भी इन दोनों सज्जनों ने प्रूफ-संशोधन और मुद्रण में बड़ी तत्परता और निष्ठा दिखलायी है, इसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ।

जिस प्रकार का सर्वांगीण सुन्दर ग्रन्थ निकलना चाहिए था, मेरी अक्षमता के कारण उतना सुन्दर ग्रन्थ तो नहीं निकल रहा है, पर इतना ही सन्तोष है कि भैया साहब के अनेकानेक प्रशंसकों की अभिलाषा की आंशिक पूर्त्ति हो रही है। भैया साहब जैसे स्वभाव के निस्पृह व्यक्ति को यदि इस भेंट से कुछ भी सन्तोष हुआ तो मैं अपने को धन्य मानूँगा।

दीपावली, संवत् २०३३

—विद्यानिवास मिश्र

विषयक्रम

खण्ड २ : शिक्षा की भारतीय परिकल्पना ६७–११५

खण्ड ३ : आधुनिक विश्व की समस्याओं पर दृष्टिपात ११७–१८६

खण्ड ५ : मधु संचय २७३–३९०

काव्य संकलन

गद्य संकलन

●

प्रस्तावना

रायकृष्ण दास

●

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी की सम्पादकीय टिप्पणियों और उनकी अन्य कृतियों के इस संकलन पर भूमिका लिखने के लिए जब मुझसे कहा गया तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई क्योंकि इस प्रकार के कार्य की मैं बहुत दिनों से बाट जोह रहा था। श्रीनारायणजी चतुर्वेदी से मेरा बन्धुत्व एकाधिक प्रकार का है। सबसे पहला कारण तो यह है कि इस उदार और विशाल हिन्दू धर्म के जिस मार्ग के वे अवलम्बी हैं, उसी मार्ग का मैं भी एक तुच्छ अवलम्बी हूँ। मेरा तात्पर्य वैष्णव धर्म से है। यह धर्म कितना उदार है, इसकी कल्पना इसीसे की जा सकती है कि इसमें भक्त के लिए कोई जातिगत बन्धन नहीं है। कितने ही अन्त्यज और यवन जिन्होंने भगवान के चरणों में अपने को डाल दिया है, जाति-भेद से ऊपर उठ गये। श्रीनारायण जी श्रीवैष्णव अर्थात् रामानुज सम्प्रदाय के वैष्णव हैं। इसके अलावा वैष्णवों के तीन सम्प्रदाय और हैं—वल्लभ सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय। किन्तु जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि जो भक्तिमार्ग में चले आते हैं वे सभी एक पंक्ति में बैठनेवाले हो जाते हैं, इसमें चारों आचार्यों के मतों में कोई भेद नहीं है।

श्री रामानुजाचार्य के शिष्यों में सभी जातियों के लोग थे, यहाँ तक कि जिन्हें हम लोग अस्पृश्य कहते हैं, वे लोग भी इसमें थे। और ऐसी एक जनश्रुति है कि श्रीरामानुज को वैष्णव धर्म के आध्यात्मिक मंत्र 'ॐ नमोनारायणाय' का उपदेश जब उनके गुरु ने दिया तो उन्होंने कहा कि देखो, यदि तुम यह मन्त्र किसी दूसरे

को बताओगे तो पाप-भागी होगे, तो आचार्यवर ने यह सोचा कि पाप-भागी अगर मैं हुआ तो ठीक है, लेकिन जो लोग यह सुनेंगे उनकी तो मुक्ति होगी। इसलिए वे मन्दिर के शिखर पर चढ़ गए और बड़े उच्च स्वर से 'नमोनारायणाय' का उच्चारण करते रहे, जिसको हजारों लोगों ने और सभी जातियों के लोगों ने सुनकर ग्रहण किया और उसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ गये।

यह वैष्णवता की लहर सिर्फ उन्हीं तक सीमित रही हो, यह नहीं। महाराष्ट्र में भी ऐसे ऐसे अस्पृश्य जातियों के सन्त हुए जैसे नामदेव, तुकाराम, जिनकी पूजा, जिनकी मान्यता सभी सवर्ण हिन्दू भी करते हैं। गुजरात में भी ऐसे ही सन्त हुए हैं। बंगाल में भी चैतन्य महाप्रभु ने जो हरिकीर्तन प्रारम्भ किया उसमें उनके प्रधान दो शिष्य यवन थे। वल्लभाचार्य के शिष्य यवन थे। कहाँ तक हम गिनायें, देखिये श्रीमद्भा-गवत में एक श्लोक में यह सारी बात कह दी गयी है। वह श्लोक मैं उपस्थित करता हूँ—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुलकसा आभीरकङ्कायवनाखशादयः।
येऽन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रया शुद्ध्यन्ति तस्मैप्रभविष्णवे नमः॥

श्री रामानुज आचार्य के सम्प्रदाय में ही काशी में स्वामी रामानन्द हुए जिनके विषय में एक पुरानी हिन्दी कहावत चली आती है—"भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द"। इन्हीं रामानन्द ने जुलाहे कबीर और रैदास को शिष्य बनाकर एक नये प्रकार के सर्वग्राही वैष्णव धर्म में दीक्षित किया। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी भक्ति के इसी आदर्श को लेकर निषादराज की कथा को अपने रामचरितमानस में बहुत महत्व दिया और इस बल पर दिया कि किसी भी जाति का हो, भगवान का स्मरण करने वाला आदमी, भगवान में जीने वाला आदमी पूज्य हो जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि उन्होंने भक्ति का उपदेश पक्षियों में चाण्डाल तुल्य काकभुशुण्ड से कराया।

तो हमारे भाई श्रीनारायण जी उस मार्ग के अवलम्बी हैं और हम भी उसी के, यों संयोग से वे हमारे अनुज हैं। हम उम्र में उनसे बड़े हैं, लेकिन हमेशा हमने उनके प्रति पूज्य भाव रखा है और हमने उनमें यह पाया कि किसी धर्म से उन्हें कोई भी विरोध नहीं है। उन्होंने मुझे एक संस्मरण सुनाया था। रामानुज सम्प्रदाय में एक बहुत बड़े सन्त हुए स्वामी रामप्रपन्न जी। उनके यहाँ भिक्षा भाव से जो भूखे लोग आते थे, उनको खाना दिया जाता था। एक दिन एक मुसलमान आया माँगने के लिए तो उनके शिष्य ने कहा कि, 'जाओ, जाओ, मुसलमान को यहाँ से खाना नहीं दिया जायेगा।' जब यह बात स्वामी रामप्रपन्न जी के कान में पड़ी तो उन्होंने उसे बुलाकर कहा कि, 'तुमने यह क्या किया। देखो, गीता में भगवान कहते हैं—"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः"—भगवान स्वयं वैश्वानर अग्नि हो के प्राणियों के देह में स्थित हैं। भला वह मुसलमान भगवान् से भिन्न है? दूसरा है? उसे अभी दो प्रसाद, अभी दो।'

भाई श्रीनारायण जी भक्ति का यही उदार दृष्टिकोण रखते हैं। वे एक श्लोक बार-बार दुहराया करते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैवकामोपभोगे
यद् भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेषु
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि मुझे न धर्म में आस्था है, न अर्थ में, न काम में। जो कुछ पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार भोग्य है, उसे भोगता रहूँगा। केवल एक प्रार्थना है कि जन्मजन्मान्तरों में, हे भगवान्,

तुम्हारे चरणों में निश्चल प्रीति बनी रहे। उन्हें वैष्णवता का संस्कार अपने पूज्य पिता जी पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी से मिला है।

पं० द्वारिकाप्रसाद जी बहुत ही परमवैष्णव परमभागवत थे। इसी कारण गवर्नमेंट सर्विस में होते हुए भी वे दारागंज में (जो इलाहाबाद का एक मुहल्ला है, बहुत बड़ा मुहल्ला है, कस्बा समझिए) रहते थे। और भी बहुत से सरकारी अफसर जो धर्मनिष्ठ थे, वहाँ रहते थे। इसका कारण यह था कि दारागंज बिल्कुल गंगा के किनारे है। बड़े चतुर्वेदी जी नित्य गंगा स्नान करते थे, नित्य भागवत का पाठ करते थे, उनको इसकी सुविधा थी। गये, गंगा-स्नान किया, आये, भागवत का पाठ किया, फिर दफ्तर गये। और दूसरे लोग जो इस तरह के थे वे भी दारागंज में रहते थे। श्री द्वारिका प्रसाद जी ने एक पुस्तक लिखी 'वारेनहेस्टिंग्स की जीवनी'। वारेनहेस्टिंग्स ने अंग्रेजी राज्य स्थापित करने के लिए क्या क्या अधम कार्य किए, यह तो बिलकुल उजागर है। उन दिनों अंग्रेजी राज्य था, चौबे जी ने बहुत ही दबी जबान से उन बातों को कहा। फिर भी उससे गवर्नमेण्ट इतनी नाराज हुई कि उनको सरकारी नौकरी से इस्तीफा देना पड़ा। उसी समय मैं उनसे परिचित हुआ। इसकी पृष्ठभूमि यह है कि दारागंज में मेरा ननिहाल है। दारागंज उन दिनों प्रयाग नगर में होते हुए भी प्रयाग नगर से बिलकुल अलग था। एक निराली बस्ती थी वह। उसमें मुख्यतः प्रयागवाल और घाटिये रहते थे। प्रयागवालों के लठबन्द नौकर उसमें जुन्नी करनेवाले रहते थे। जुन्नी करनेवालों का मतलब समझाता हूँ। जो लोग रेल से उतरते थे और जिनको अपना पण्डा नहीं मालूम था उनको वे लोग कहते थे—"चलो तुमको ले चलते हैं।" वे उनको अपने पण्डे के यहाँ ले आते थे, और जो कोई बीच में बोलता था, उनको वे लट्ठ मारने के लिए तैयार हो जाते थे। इस तरह से इन नौकरों के माध्यम से पण्डों को आय होती थी। जहाँ दारागंज में इस तरह के लोग रहते थे, वहाँ पर इलाहाबाद के बहुत बड़े-बड़े रईस भी रहते थे और अभी तक हैं। इलाहाबाद के रईसों का सबसे प्रतिष्ठित कुल है बड़ी कोठी वालों का। उन लोगों का निवास दारागंज में है। संयोग की बात है कि मैं बड़ी कोठी वालों के घर का नाती हूँ।

दारागंज की यह बस्ती पंचमेल लोगों की थी। जहाँ वहाँ इस तरह के तत्त्व थे जो कि उपेक्षणीय थे, वहीं बहुत तरह के योग्य आदमी भी थे। महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् यहीं रहते थे। उन्होंने संस्कृत पढ़ाने के लिए जो व्याकरण हिन्दी में लिखा वैसी पुस्तक आज तक संस्कृत के लिए कोई भी हिन्दी में नहीं लिखी गयी। वे पूरे दारागंजी थे। वही दारागंज जैसी भाषा बोलते थे—जो बोलते थे कि कोई नहीं अनुभव कर सकता था कि एक बंगदेशीय आदमी बोल रहा है। ठेठ दारागंजी बोली बोलते थे, सबसे मिलते जुलते थे। कितने ही वहाँ पौराणिक थे, ज्योतिषी थे, वैद्य थे, धर्मशास्त्री थे, कर्मकाण्डी थे, तरह-तरह के लोग थे। देखिए, वैद्य का नाम लेते हुए याद आया कि वहाँ एक पंडित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल थे। वे पं० द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी के बहुत बड़े भक्त थे और अनुयायी थे। और भी इन्हीं के सम्प्रदाय के थे। उन्होंने बहुत निरपेक्ष भाव से अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सेवा की, इसके बीसों बरस प्रधान मंत्री रहे और जो कुछ भी वे काम करते थे बिना पं० द्वारिका प्रसाद जी के परामर्श के नहीं करते थे। श्रीनारायण जी पर उनका भी बहुत प्रभाव है।

मैं दारागंज अपने ननिहाल में बहुत दिनों रहा। जब श्री द्वारिका प्रसाद जी ने इस्तीफा दिया उन दिनों मैं वहीं दारागंज में था। उन्होंने बिलकुल हिम्मत के साथ इस्तीफा दे दिया। किसी की खुशामद नहीं की, किसी से कुछ नहीं कहा कि हमारी नौकरी बनी रहे। वे साहित्यसेवा कर ही रहे थे, और भी अधिक उसमें संलग्न हो गये। अपना पूजा-पाठ भी करते थे, साहित्य सेवा भी करते थे। उस समय उन्होंने एक

पत्र निकाला। उसका नाम था "श्री यादवेन्द्र"। कुछ दिनों तक वह चला। वह फिर बन्द हो गया तं "श्री राघवेन्द्र" उन्होंने निकाला। वह भी कुछ दिनों तक चला। इसके सिवाय और भी अनेक प्रकार का लेखन कार्य उनका चलता रहा। उन्होंने एक 'चरिताम्बुधि कोश' लिखा है, जिसमें भारतवर्ष के जितने प्राचीन लोग हुए हैं पौराणिक काल से लेकर और इधर ब्रिटिश साम्राज्य तक के, सब लोगों का थोड़े-थोड़े में वर्णन किया है और बहुत खास-खास बातें कोई नहीं छोड़ी हैं, सब लिया है। किसी का भी नाम आप उसको खोल कर निकाल देख लीजिए, आपको मिल जायेगा, खोजना नहीं पड़ेगा। पूरा आकर ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक बहुत विशद काम किया, श्रीमद्बाल्मीकिरामायण का भाषानुवाद (हिन्दी अनुवाद)। उन दिनों दारागंज में एक और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित रहते थे, उन्होंने भी एक अनुवाद किया था, लेकिन वे अपने पाण्डित्य की मौज में कलम उठाते थे, श्लोक पढ़ते थे और अनुवाद करते जाते थे। चतुर्वेदी जी अनुवाद करने के पूर्व श्लोक को अच्छी तरह पढ़ते थे, उसकी जितनी टीकाएँ उपलब्ध थीं, उन टीकाओं को पढ़ते थे, सब में से देख कर जो उनको ठीक-ठीक भाव मालूम होता था, उस भाव को ग्रहण कर हिन्दी में लिखते थे और अन्य टीकाकारों का अगर कोई मत भिन्न होता था, उसको टिप्पणी में देते थे। इस तरह से उन्होंने सात जिल्दों में उसको पूरा किया। काशी के एक बहुत बड़े संस्कृत के विद्वान् ने मुझसे कहा था कि जैसा अनुवाद चतुर्वेदी जी का है, उसकी तुलना में दूसरा अनुवाद कुछ भी नहीं है। तो ऐसे पिता के सुपुत्र हैं हमारे बन्धु श्री श्रीनारायण जी चतुर्वेदी।

अब मैं चौबे लोगों की विशेषता का भी उल्लेख करना चाहूँगा। चतुर्वेदी जाति की संख्या बहुत कम है। अधिकांश मथुरा में रहते हैं और उसके आस-पास भी बहुत जगह इटावा आदि जिलों में इन लोगों की बस्ती है। ये लोग अपने को माथुर चतुर्वेदी कहते हैं। यों और ब्राह्मणों में, सरयूपारियों में, मालवीयों में, कान्यकुब्जों में भी चतुर्वेदी होते हैं किन्तु इनमें एक आस्पद चतुर्वेदी है और इनमें मिश्र आदि अनेक और अवांतर भेद भी होते हैं। इस जाति की कई विशेषताएँ हैं। बहुत बड़े-बड़े लोग और बहुत विलक्षण लोग उसमें हुए। एक तो, ये हँसोड़ होते हैं, स्वयं श्रीनारायण जी ने अपना नाम विनोद शर्मा रखा है। एक इन लोगों में मसल है, किसी ने कहा "चौबे", चौबे जी ने उत्तर दिया "हाँ बे", किसी ने कहा "चौबे जी", कहा "हाँजी", तो इस तरह की बात इन लोगों में स्वभावगत है और हमेशा अच्छी-अच्छी बातें करना और अच्छा व्यवहार करना और उदार भाव रखना इनकी प्रवृत्ति है। इनकी ही जाति में राजा जयकृष्णदास हुए। वे इतने उदार थे कि एक ओर उन्होंने स्वामी दयानन्द की आर्थिक सहायता करके उनका धर्मग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" छपवाया, दूसरी ओर सर सैयद अहमद खाँ के मुस्लिम विद्यालय को (अलीगढ़ के मुस्लिम कालेज को) दस हजार रुपये का चन्दा दिया। वे किसी धर्म में भेदभाव नहीं मानते थे। इसी तरह का मुक्त और उदार विचार चतुर्वेदी जी ने भी पाया है। शायद स्व० पं० द्वारिका प्रसाद जी ने समझा, लड़के को हम महाजनी पढ़ावें, ये हुण्डी पुर्जे का काम करें, किसी फर्म में ये मुनीम हो जायँ। किसी के आसरे न रहें। इस तरह की जो भी भावना रही हो, हम ठीक नहीं कह सकते, लेकिन जब हमने श्रीनारायण जी को सन् १९११ में देखा, तब ये वहाँ के स्कूल में दारागंज में हमारे मामाजी के मकान के बिलकुल पास ही स्कूल था, उसमें महाजनी के विद्यार्थी थे और उनके दोनों भाई उसी में पढ़ते थे। तीनों भाइयों को हम बराबर आते जाते देखा करते थे, मगर उस समय तक कोई हमसे इनसे परिचय नहीं था। बड़े चतुर्वेदी जी से भर था।

फिर बहुत सा समय बीता। उसके बाद श्रीनारायण जी ने अंग्रेजी पढ़ी, विलायत गये, उच्च शिक्षा प्राप्त की, अपने धर्म पर हमेशा दृढ़ रहे। जहाँ भी वे जाते थे (यों भगवान् ने उन्हें बहुत गौर वर्ण बनाया है) एक पतली सी श्री की रेखा अपने मस्तक पर—ललाटपर हमेशा लगाते रहे। उनको कोई इस तरह

की ग्रन्थि (कम्प्लेक्स) मन में नहीं हुई कि लोग देखकर हमारे इंग्लैण्ड वाले क्या कहेंगे। अपने आचार पर दृढ़ रहे, बिलकुल वैष्णव धर्म का उन्होंने निर्वाह किया। वहाँ से आने के बाद एकदम ये उज्ज्वल नक्षत्र के से हिन्दी में प्रसिद्ध हुए। और वहाँ से बहुत जो ये घूमे-घामे थे, योरोप में, वहाँ से बहुत सी कविताएँ, बहुत सी हास्य कविताएँ लिख कर लाये। 'वियना की सड़क' एक कविता लिखी थी, वह बहुत प्रसिद्ध हुई, उस पर पैरोडी भी बनी, बहुत चली और खूब एकदम से इनका नाम विख्यात हो गया।

इनकी पुस्तकें इंडियन प्रेस ने छापीं। इंडियन प्रेस के मालिकों से इनका अच्छा प्रेम था और उसके बाद शिक्षा विभाग में उच्च पदाधिकारी भी हो गये। वहाँ भी बड़ी तेजस्विता से इन्होंने काम किया। एकदफे की कथा है कि एक सेक्रेटरी से इनकी कुछ कहा-सुनी हो गयी और वह आई० सी० एस० था, उसने अपनी धौंस दिखानी चाहीं, ये क्यों दबते, ये जानते थे कि वह हमारा कुछ नहीं कर सकता, हमारी नौकरी ले नहीं सकता, हम क्यों उससे दबें, बहुत करेगा हमारा तबादला करा देगा या हमारा पदोन्नति-आदेश (आर्डर आफ प्रमोशन) रोक देगा, इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता। इन्होंने उससे बहुत खरी-खरी बातें कीं और जोर-जोर से बातें कीं। यहाँ तक कि जब उसके कमरे से ये निकले, तब उसके दफ्तर वालों ने इनसे पूछा कि क्या साहब से आपकी कोई झड़प हो गयी। इस तरह की प्रकृति के हैं वे। वे किसी से दबे नहीं। हिन्दी के प्रश्न पर तो और भी नहीं। हिन्दी के लिए जैसे उनके मन में प्रेम और उत्साह है वैसा दुर्लभ है। यह भी हमारे बन्धुत्व का प्रबल कारण है। हिन्दी के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया, अपने सेवा के जमाने में भी और सेवा से निवृत्त होने के बाद भी। 'सरस्वती' की तो आप समझिए कि उन्होंने बिना किसी स्वार्थ के जैसी सेवा की, उसका जोड़ मिलना असम्भव है। आचार्य द्विवेदी जी के हाथ में जब तक 'सरस्वती' थी तब तक उसका एक निजस्व था। फिर जब द्विवेदी जी ने अवकाश ग्रहण किया तो ऐसे लोगों के हाथ में 'सरस्वती' पड़ी कि जिनका न कोई व्यक्तित्व था, न जिनमें कोई मौलिकता थी, एक पत्र जैसे तैसे चल रहा था। जब वह जमाना खतम हुआ तब श्रीनारायण जी ने बिना किसी स्वार्थ के उसको अपने हाथ में लिया और जब तक 'सरस्वती' बन्द नहीं हो गयी (अभी गत वर्ष तक), तब तक वे उसे चलाते रहे। उसकी उन्होंने ही एक जयन्ती मनायी। फिर शती की जयन्ती करने के लिए बहुत कुछ उन्होंने मन में सोच रखा था, लेकिन प्रेस वालों ने ऐसा धोखा दिया कि वह काम बन्द हो गया।

साहित्य के सिवा उनको कला से भी बहुत प्रेम था। कई कलाकारों को वे हमेशा आश्रय देते रहे। उनमें कमला शंकर, मुसाफिरराम मूर्तिकार, जोशी जी चित्रकार (मध्यप्रदेश, इन्दौर वाले), ये खास हैं। जोशी जी का एक बड़ा ही सुन्दर तैल चित्र गंगा और यमुना के संगम का (प्रयाग का) उन्होंने हमारे कला भवन को दिला दिया। हमारे कला भवन पर विशेष कृपा उनकी रहती है और उनको वैसा ही ममत्व है कला भवन पर, जैसा मेरा। यह अतिरिक्त कारण है जिससे हमारी उनकी घनिष्ठता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। अब एक विचित्र बात कला भवन के बारे में सुनावें, एक हँसी की बात है, एकबार मैं उनके पास (दारागंज में बिलकुल मेरे मामाजी के मकान के पास ही उन्होंने मकान बनाया) उनसे मिलने गया। मेरे जामाता हैं, उनका प्रेस है। वे ले गये उनके पास मुझको कि कुछ काम यहाँ से मिले, उनके प्रेस से। उसी बातचीत के दरम्यान श्रीनारायण जी ने कहा कि इधर हमको कुछ प्राचीन चित्र प्राप्त हुए हैं, हम दिखाते हैं उनको। गये, ले आये तो देखा कि बड़े सुन्दर ईरानी शैली के चित्र हैं, हमने धीरे से अपने जामाता से कहा कि भाई इसमें से एक चित्र के लिए तुम कहोगे तो तुम्हारी बात मान लेंगे। (जैसे तुम हमारे जामाता वैसे उनके जामाता, जामाता की बात कोई नहीं-नहीं करता), इसमें से हमको वे एक चित्र कला भवन के लिए दे देंगे। उन्होंने सहसा कहा कि एक चित्र तुम इसमें से पसन्द करके छाँट लो। यह चित्र मैं बनारस

लेकर चला आया । लेकिन मेरे तो मन में था कि ये सब चित्र मेरे कलाभवन में आ जायँ । उपाय सोचने लगा कि क्या उपाय करूँ । चित्र जो मैं लाया था, बहुत अच्छा था, पर उसका हाशिया (चारो तरफ का बार्डर) खराब हो गया था । हमारे यहाँ उस समय उस्ताद रामप्रसाद (मुगल शैली के सबसे अन्तिम आचार्य) थे । उनसे हमने कहा कि इसका हाशिया नया बनाओ । उन्होंने खूब अच्छा हाशिया बनाया, उस पर सोने का छिड़काव किया, बहुत ही भव्य हो गया वह चित्र । संयोगवश उसी के पाँच-सात दिन बाद श्रीनारायणजी यहाँ आये । दानवीर बाबू शिवप्रसाद गुप्त के वे मेहमान हुए । यद्यपि उन लोगों में वैचारिक मतभेद बहुत था, लेकिन फिर भी बाबू शिवप्रसाद उनका बहुत आदर करते थे और वे भी उनका आदर करते थे । बाबू शिवप्रसाद उनको हर तरह की सुविधा प्रदान करते थे, इसलिए वहीं टिकते थे । मैंने क्या किया कि मैंने सोचा कि बस फन्दा डालने का समय आ गया । पहुँचा उनके यहाँ । श्रीनारायण जी को दिखाया कि जो चित्र आपने दिया है उसका कैसे कायाकल्प हो गया है । देखकर बड़े खुश हुए । स्वयं उन्होंने कहा कि भाई और भी चित्र भेजते हैं उन सबको भी ऐसे ही बनवा दो । खैर, उन्होंने चित्र भेज दिये । यहाँ तक तो हम सफल हुए । उन सब चित्रों का हमने खूब मनोयोग से बहुत बढ़िया-बढ़िया हाशिया बनवाया और बनवा कर रख लिया, लौटाया नहीं । कुछ दिनों के बाद उन्होंने बहुत सख्त तगादा किया और हम लोगों के एक मित्र हैं श्री वाचस्पति पाठक (भारती भण्डार, इलाहाबाद के मैनेजर), उनसे कहा कि देखो चित्र उनसे तुम चाहे जैसे भी हो वापस दिलाओ । पाठक जी हमारे पास आये । उन्होंने उनका सन्देश कहा । उन्होंने यह भी कहा कि देखिए, हम सब चित्र आपको भेंट दिलवा देंगे, आप एक दफे हमको दे दीजिए । हमने दे दिये । भारी मन से दिये और एक चित्र पर हमारा विशेष आग्रह था कि यह चित्र तो हमको मिलना ही मिलना चाहिए, उसे भी भेज दिया । पाठक जी से लेकिन हमने कहा नहीं । जब सब चित्र उनके यहाँ गये तो दो-तीन चित्र तो उन्होंने उसमें से रख लिये, बाकी के बारे में कहा कि ले जाओ, कला-भवन को दे दो । और सबसे तमाशे की बात तो यह हुई कि जिस चित्र पर हमारा बहुत ममत्व था (उसका हाशिया मैंने बहुत ही मनोयोग से अपने उस्ताद से बनवाया था) उसको देखकर उन्होंने कहा कि यह चित्र तो हमारा है ही नहीं, कोई दूसरा चित्र है, ले जाओ दे दो । खैर, जब चित्र आ गये तो हम बहुत प्रसन्न हुए । इसके बाद और भी उन्होंने बहुत सी चीजें कला भवन को दीं और देते रहते हैं और अभी भी आशा है कि देंगे ।

उसके बाद का वाकया आपको बतलाते हैं । एक दिन आये वे कला भवन में । हम उनको कला-भवन दिखा रहे थे । उसी समय इंग्लैण्ड के अर्ल आये हुए थे, चित्र देख रहे थे । उन्होंने हमसे पूछा कि यह सब तुमने कैसे संग्रह किया तो हमने बतलाया कि इधर-उधर से कुछ खरीदा भी, कुछ उठाया भी, कुछ ले भी आया और कुछ (श्रीनारायण जी की तरफ हमने इशारा करके कहा कि) ऐसे हमारे अनन्य मित्र हैं, इनको धोखा देकर, ठग कर भी, हमने कुछ चित्र वसूल किये । यह सुनके वे भी हँसे और श्रीनारायण जी तो खैर हास्य रस के बहुत ही प्रेमी हैं, वे भी हँसने लगे, बहुत प्रसन्न हुए । कला-भवन के ही प्रसंग में एक घटना और याद आती है । मैं श्रीनारायण जी से मिलने गया । उनके यहाँ किसी प्राचीन देवता का एक सुन्दर पत्थर का मस्तक रखा हुआ था । उन्होंने मुझे दिखलाया और उसके सम्बन्ध में बातचीत होती रही । इसके बाद इधर उधर की और बातें होती रहीं । फिर जब हम चलने लगे तो हमने उनसे कुछ कहा नहीं, उस मूर्ति को उठा कर अपने जवाहर जैकेट के पाकेट में ठूँस लिया । हम भी मुस्कराने लगे, वे भी मुस्कराने लगे । हमने प्रणाम किया और चले आये और कला भवन में वह मूर्ति रख दी । इस तरह की लेन-देन उनसे हमारी होती रही है और वे उदारतापूर्वक कलाभवन को कुछ न कुछ देते रहे हैं ।

अब उनकी हँसोड़ प्रकृति के कुछ उदाहरण दूँगा । तुलसीदास जी के बारे में जो उन्होंने लिखा है, तो

बहुत ही अपूर्व लिखा है, वह बहुत ही अपूर्व है। एकदफा, उनके एक मित्र थे कालपी में रसिकेन्द्र जी कवि, उन्होंने कहा कि हमको यह बताइये कि नये लोग जिस तरह की कविता लिखते हैं, उसको हम कैसे लिखें। पुराने ढंग के कवि थे वे। इन्होंने कहा, कुछ भी कठिन नहीं है, तुम तुरन्त लिखना शुरू कर सकते हो, बस 'म' 'ल' लगाते चलो शब्दों में—स्वर्णिम, चूनिल, फेनिल, स्वप्निल, इस तरह के शब्द बनाते चलो और कविता बनती चलेगी। रसिकेन्द्र जी ने एक चरण भी सुनाया, तत्काल बनाकर सुनाया तो ये प्रसन्न हुए। और जो लोग कि हँसोड़ और खुले दिल के थे, उनको चतुर्वेदी बहुत पसन्द भी करते थे। दारागंज में एक बड़े अपूर्व व्यक्ति थे पं० गिरिजाशंकर वैद्य। संस्कृत के वे बहुत अच्छे विद्वान् थे और वे संस्कृत गद्य लिखते थे, श्लोक भी बनाते थे। उनकी गद्य शैली को देख कर हमारे काशी के आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने एकदफे कहा था कि यह तो बहुत विचित्र तरह की संस्कृत इन्होंने लिखी है। पुराणों की जैसी संस्कृत है, उस तरह का गद्य इन्होंने लिखा है। अगर संस्कृत गद्य का संग्रह निकाला जाय और भिन्न भिन्न शैलियों का नमूना दिया जाय तो उसमें पौराणिक शैली का गद्य कैसा होगा, उसमें इसके नमूने दिये जा सकते हैं। वे पं० द्वारिका प्रसाद जी के बड़े मित्र थे और बड़ी हँसोड़ प्रकृति के आदमी थे। उनकी दो एक बातें हम आपको सुनायें। उनके एक मित्र के पिता वैद्य थे। उनके मित्र के पिता बहुत बीमार हुए तो उनको बुलाया देखने के लिए। सब देखदाख के जब चलने लगे तब उन्होंने इनको उनकी फीस देनी चाही तो उन्होंने कहा—क्या देते हो, अब जब इनकी तेरही होगी तो हमको पत्र देना, अब फीस क्या दोगे। असाध्य बीमार थे वे। उस वक्त भी इनको दिल्लगी सूझी। इस तरह के आदमी थे। एक दिन नये दूधवाले की दूकान पर दूध खरीदने के लिए रात को गये, वहीं गरमागरम दूध दूधवाले के यहाँ पिया। एक उनके मित्र और आ गये। गिरजाशंकर जी और उनमें लगी बात होने। दूध भी पिया, दूकान वाले ने दूकान बन्द की, लेकिन उसके तख्ते पर बात करते रहे, सबेरा हो गया, नौ दस बजे रात से सबेरे तक बात होती रही। जब सबेरा हुआ, जब सड़क बटोरने वाली आयी तो उसने कहा, महाराज हटिए, नहीं तो आप लोगों पर गरदा पड़ेगा। तब इन लोगों को होश हुआ कि अरे सबेरा हो गया। तब ये लोग गये अपने अपने घर। इस तरह के वे आदमी थे।

पहले मैं बता चुका हूँ, श्रीनारायण जी हमारे मामाजी के मकान के बिलकुल पास रहते थे। हमारे मामाजी की एक छोटी सी बगिया थी, उसमें लकड़ी की छोटी सी चौकी रखी रहा करती थी। वह चौकी संध्या को खूब धोई जाती थी गरमी के दिनों में और उस पर एक शीतल पाटी बिछा दी जाती थी। बड़ी तर रहती थी। श्रीनारायण जी जब दफ़्तर से आते थे तो उसपर लेटते थे। गिरिजाशंकर जी भी आते थे। मनोरंजक बातें होती थीं। तब एक दिन श्रीनारायण जी ने कहा मुझसे कि भगवान् ने एक गलती की कि इनको इस शताब्दी में न पैदा करके एक शताब्दी पहले पैदा किया होता जिस समय सामन्तशाही जमाना था, तब इनकी पूरी कदर होती।

अब मैं उनकी खास बात पर आता हूँ जिसे इस वक्त कहना प्रासंगिक है। वह यह है कि श्रीनारायण जी नोट लिखने में अद्वितीय हैं। अगर सम्पादकाचार्य रामानन्द चटर्जी के बराबरी का कोई नोट-लेखक है तो वे हैं। एकबार उन्होंने कहा कि जब मैं गवर्नमेंट सर्विस में था, जब मेरे पास फाइलें आती थीं तो उनपर मैं नोट लिखता था, तो नोट लिखते लिखते मुझे नोट लिखना आ गया। उसका प्रयोग उन्होंने अपने सिर्फ आफिसर जीवन में ही नहीं किया, उसको अपने साहित्य में भी ले आये। उनके नोट जो लोग भी पढ़ते हैं चाहे उनसे सहमत हों या न हों उस विषय पर, मगर जिस योग्यता से वे अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं उससे सब लोग बहुत ही उसका स्वागत करते हैं। यहाँ तक कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, जो कई विषयों में उनसे सहमत नहीं

थे, उनपर उनसे वाद विवाद करते थे, सब कुछ करके अन्त में यही कहते थे कि भाई तुम्हारी कलम में बड़ा जोर है, तुम जिस विषय को प्रतिपादित करते हो, उसको चाहे कोई माने या न माने, लेकिन उसका ठीक ठीक पूरा अच्छी तरह से प्रतिपादन करते हो, दृढ़तापूर्वक करते हो, उसको कोई हिला नहीं सकता । मैं वर्षों से श्रीनारायण जी से कह रहा था कि आपके इन नोटों में से चुन एक कर संग्रह निकलना चाहिए । लेकिन श्रीनारायण जी इस विषय में बहुत निरपेक्ष रहे, कभी उन्होंने आत्मप्रशंसा या आगे बढ़ने का अहम् नहीं किया । हम इस विषय में अत्यन्त आभारी हैं डा० विद्यानिवास जी के कि जो उन्होंने उनको ऐसा पर्सुएड किया (ऐसा विवश किया) कि उन्होंने आज्ञा दे दी कि सब नोटों का संग्रह निकाला जाय और वह प्रस्तुत है । इस से मुझे विशेष आनन्द यह हुआ कि मेरी एक बहुत पुरानी चिर अभिलाषा पूरी हुई ।

अब देखिए उनका दूसरा गुण—साहित्यिकों का प्रतिपालन । निरालाजी का जिस तरह जो हाल पीछे से होता रहा उसको वे बराबर देखते रहे और बहुत सहानुभूति रखते थे, उनको आर्थिक सहायता भी देते थे, कपड़ा भी बनवा देते थे, जब कपड़ा नहीं रहता था । निरालाजी ऐसे विचित्र आदमी थे, ऐसा उनका मस्तिष्क विचित्र हो गया था कि ऊनी कपड़ा एक दिन बनवाया बहुत अच्छा, उन्होंने उनको दिया तो आये उतर के, रास्ते में उन्होंने देखा, कोई आदमी मिला, जिसके बदन पर कपड़ा नहीं था । सब कपड़ा उतार कर दे दिया । जाने कितने साहित्यिक थे, जिनका उन्होंने प्रतिपालन किया और आगे ले आये । अगर उनकी सूची बनाई जाय तो हम समझते हैं कि दर्जनों में जायेगी, जिनकी पीठ पर उन्होंने हाथ रखा और उनको आगे बढ़ाया । इसी तरह के इनके एक मित्र थे हरदयाल सिंह । उन्होंने काव्य लिखा था—"दैत्यवंश" । उस काव्य को उन्होंने मुद्रित करा दिया और हमसे थोड़े दिन हुआ, कहते थे कि उन्होंने रघुवंश का भी बहुत अच्छा हिन्दी में पद्यानुवाद किया है । और हमारी बड़ी अभिलाषा है कि कोई प्रकाशक नहीं मिल रहा है, हम चाहते हैं कि उसको छपवा दें । इसी तरह बुन्देलखण्ड में काली कवि हुए । बहुत अपूर्व कविता करते थे । उनकी कविताओं का संकलन उनकी बहुत इच्छा थी कि संग्रह के रूप में छप जाय, लेकिन उनका तो कापीराइट खतम नहीं हुआ था और उत्तराधिकारी लोगों ने न तो उसकी प्रति उनको दी न छापा ही, प्रति उन लोगों के पास पड़ी सड़ रही है, और ये रह गये हाथ मल के । चतुर्वेदीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलनों में भाग लेने वाले अनेक साहित्यकारों की रचनाओं को प्रकाशित कराने में और उनसे अर्थलाभ कराने में जो सहयोग दिया है उसको बहुत कम लोग जानते हैं । स्व० वैंकटेशनारायण तिवारी, स्व० नवीनजी, स्व० सम्पूर्णानन्दजी—इन सब की रचनाओं के प्रकाशन में उनका बहुत बड़ा हाथ था । वे किस प्रकार दूसरों को प्रेरित करके हिन्दी का भण्डार भरने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं इसकी एक मिसाल मैं भी हूँ । दो महीने के भीतर तकादा पर तकादा करके सिर पर चढ़ कर उन्होंने भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला पर पुस्तक लिखवाई और मैं जानता हूँ कि वे तत्पर न होते तो वर्षों तक पुस्तक तैयार न होती । इसी प्रकार साहित्यलेखन स्वयं करना तथा दूसरों से कराना उनके जीवन का प्रमुख अंग रहा है ।

इनका एक दूसरा रूप और आपके सामने हम रखें । ये बहुत बड़े आतिथेय हैं । कोई अतिथि इनके यहाँ आता है तो उसका बहुत सत्कार करते हैं, उसको तरह-तरह के पदार्थ खिलाते हैं । दारागंज में जब ये रहते थे, लोग उनके यहाँ जाते थे, इनसे मिलने के लिए तो चौक भेजते थे, चौक वहाँ से चार मील है, वहाँ से मिठाई मँगवाते थे और उनके पास जो व्यक्ति जाते थे उनको बैठाये रखते थे कि ठहरो अभी मिठाई आ जायेगी, हमारे सामने खा लो, जब तुमको तृप्ति हो जायेगी तो हमको भी तृप्ति होगी । स्वयं बहुत अल्पभोजी हैं (जो चौबों के बिलकुल विरुद्ध है) लेकिन दूसरों को खिलाने में उनको बहुत आनन्द आता है । चौबे जाति की विशेषता एक यह भी है कि दूसरों को अच्छा भोजन कराने में इस जाति को बहुत

आनन्द आता है। सर लक्ष्मी पति मिश्रा इन्हीं के सहजातीय थे, इनकी पत्नी लेडी मिश्रा के यहाँ कोई जाता था तो वे बहुत अच्छी खीर बनाती थीं और खीर उसको खिलाती थीं। जो खूब तृप्ति से खाता था तो कहती थीं कि यह बहुत अच्छा आदमी है। जो थोड़ा-सा दो-चार चम्मच खा लेता था उसको ये नहीं पसन्द करती थीं।

'सरस्वती' के लिए जो इन्होंने किया वह स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के सम्पादन की तरह स्मरणीय है। जो सेवा उन्होंने की उसमें जरा भी आर्थिक अभिलाषा नहीं थी, कोई लिप्सा नहीं थी कि हमें उसमें अर्थ लाभ हो, सिर्फ 'सरस्वती' की सेवा हम करें और चलावें। और जैसे आचार्य द्विवेदी ने अनेक नये-नये लेखक पैदा किये, उन्हें हिन्दी में ले आये, इसी तरह हमारे चतुर्वेदी जी ने भी कई-कई लेखक हिन्दी को दिये 'सरस्वती' के द्वारा। द्विवेदी जी ने बहुत से ऐसे लोगों को हिन्दी लेखन में प्रवृत्त किया जो मूलतः लेखक नहीं थे और थे भी तो हिन्दी के नहीं। उनमें से एक थे वार्हस्पत्य जी—बड़े ही विद्वान् आदमी। द्विवेदी जी की प्रेरणा से उन्होंने गम्भीर विषयों पर कई लेख लिखे। दूसरी थीं बंग महिला मिर्जापुर की रहने वाली। वे बंगला से हिन्दी में अनुवाद भी करती थीं और सम्भवतः सबसे पहले हिन्दी में मौलिक कहानी उन्होंने ही लिखी। मिर्जापुर के एक और बंगाली सज्जन थे-भट्टाचार्य। उनसे द्विवेदी जी ने बराबर लेख लिखवाये। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्व० काशीप्रसाद जी जायसवाल को भी हिन्दी में लिखने की प्रेरणा द्विवेदीजी ने दी। एक सत्कविदास थे—वे असल में थे पर्वतीय ब्राह्मण, नाम उनका था सनातन शर्मा सकलानी। उनकी बहुत-सी काव्य-रचनाएँ द्विवेदी जी ने छापीं और खड़ी बोली के प्रारम्भिक छायावादी कवियों में उनको महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिये। चतुर्वेदी जी के द्वारा हिन्दी में लाये गये लेखकों में महत्त्वपूर्ण नाम ये हैं—एक तो इलाहाबाद के पं० ब्रजमोहन व्यास जिन्होंने वहाँ एक बहुत बड़ा म्यूज़ियम बनाया है, उस म्यूजियम सम्बन्धी संस्मरण और महामना मालवीय जी के वह निकट रिश्तेदार थे, उनके सम्बन्ध में संस्मरण तथा हिन्दी के अनन्य सेवी स्व० बालकृष्ण भट्ट के संस्मरण वर्षों तक 'सरस्वती' में निकलते रहे। फेनी नाम के एक चित्रकार थे, जो कि तिब्बत राहुल जी के संग गये थे और बहुत दिन तक रहे, बहुत ही लम्बी यात्रा का वर्णन उन्होंने बड़ी ही चित्रकारी से खींचा है और राहुल जी का भी बहुत कुछ उसमें उनका वास्तविक रूप दिखलाया है। इसके सिवा एक मेजर जौहरी थे। बहुत-सी लड़ाइयों का और स्वतन्त्रता के बाद जो-जो युद्ध हुए हैं उनके बारे में बहुत कुछ वर्णन लिखा करते थे। बराबर नियमित रूप से उनकी लेखमाला निकली। संयोगवश उनका स्वर्गवास हो गया, नहीं तो और भी वे लिखते। इसके सिवा श्री राय इलाहाबाद में बहुत प्रसिद्ध एडवोकेट थे। उनके लड़के डिप्टी कलक्टर थे, उनकी डिप्टी की डायरी भी बड़ी पठनीय चीज़ है, बहुत ही मनोरंजक है, वह वर्षों तक चतुर्वेदी जी की ही प्रेरणा से लिखी गयी और क्रमिक रूप में 'सरस्वती' में निकलती गयी। इसके सिवा आबकारी के कुछ अफसरों के भी इसी तरह के क्रमिक वर्णन निकले। शीला शर्मा एक थीं—यहाँ बरेली में, वहाँ के कमिश्नर की पत्नी। श्रीनारायण जी के प्रभाव से और उनकी प्रेरणा से 'सरस्वती' में बहुत दिनों तक काम करती रहीं। चतुर्वेदी जी की प्रेरणा से अंग्रेजी के अध्यापक श्री कुबेरनाथ ने हिन्दी में निबन्ध लिखे, श्री पंचम सिंह और चतुर्वेदी से वन जीवन पर लेख लिखवाये। मनमोहन गुप्त ने राजनीतिक संस्मरण लिखे। इस तरह श्रीनारायण जी करीब-करीब समझिये कि ८-१० लेखक तो हिन्दी में ले ही आये और उनसे लम्बी-लम्बी लेखमालाएँ तैयार करालीं।

हिन्दी के विषय में उनका कैसा आग्रह था और जो हिन्दी का रूप बिगाड़ना चाहते थे उनके विरुद्ध वे कैसे कटिवद्ध रहते थे, इसका एक हाल आपको सुनायें। यहाँ नागरीप्रचारिणी सभा में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उस समय काका कालेलकर एक ऐसी भाषा बनाना चाहते थे कि जो न हिन्दी,

न हिन्दुस्तानी, न उर्दू, सब कुछ भी नहीं, सब पंचमेल, वे अपने मन की भाषा बनाना चाहते थे। वे बड़े जिद्दी आदमी थे, अपने आग्रह पर कटिबद्ध थे। श्रीनारायण जी भी इधर बड़े ही निर्भीक और वीर पुरुष थे, ये कहाँ मानने वाले बात को। यहाँ काशी में आये उन दिनों मध्य प्रदेश असेम्बली के प्रधान थे घनश्याम सिंह गुप्त। वे भी काशी आये थे सम्मेलन में भाग लेने। एक दिन मैंने अपने मकान पर (मेरा मकान शहर में था उन दिनों) उन दोनों को—श्रीनारायण जी को और घनश्याम सिंह गुप्त जी को बुलाया और सद्भाव से बहुत देर तक बातचीत हुई। और दूसरे दिन आशा यह थी कि सब्जेक्ट्स कमेटी (विषय समिति) में उसके प्रमुख थें राजेन्द्र बाबू (तब तक स्वाधीनता नहीं मिली थी। वे बहुत समझदार आदमी थे) सब विषय बिलकुल तय हो जायेगा, काका का दुराग्रह कुछ भी नहीं चलेगा, पन्द्रह आना सब बात तय हो गयी थी। घनश्याम जी अनुकूल हो गये थे सर्वथा। दूसरे दिन विषय निर्धारिणी कमेटी बैठी, राजेन्द्र बाबू अध्यक्षता कर रहे थे। सब बातें उनसे कही गयीं और वे चाहते थे कि समझौता हो जाय। लेकिन काका बड़े जिद्दी आदमी, अड़ैल, अड़ गये कि नहीं, हम तो नहीं मानेंगे, हमारी बात ही रहे। वह बात खतम हो गयी। मगर श्रीनारायण जी न तो पश्चात् पद हुए, न तो जरा भी अपने सिद्धान्त से हटे, सिद्धान्त उनका अटल था और अब भी है।

बातचीत करने में तो वे ऐसे हैं कि कोई उनको परास्त नहीं कर सकता। जब कोई शास्त्रार्थ होने लगता है, कोई गहन विषय उपस्थित होता है तो वे उसका ऐसा सजीव प्रतिपादन करते हैं कि आदमी निरुत्तर हो जाता है। एक बात उन्होंने मुझे सुनायी थी कि मनुष्य जाति का जो प्रजातंतु चला आता है इस विषय पर किसी व्यक्ति से मेरी बात हो रही थी। उस व्यक्ति ने यह कहा कि देखिए, इसमें प्रधान भाग पुरुष का है, नारी का भाग प्रधान नहीं। मैंने कहा कि देखिए, ऐसी बात नहीं है, प्रजातंतु की निरन्तरता बनाये रखने के लिए पुरुष का जो अंश है, पुरुष जो करता है वह एक क्षण के लिए करता है, नारी उस भार को दस महीने तक वहन करती है, तब मनुष्य जाति आगे बढ़ती है! वे चुप हो गये, निरुत्तर हो गये, उसके आगे उन्होंने कुछ नहीं कहा। एकदफे उन्होंने एक और बड़ा मज़ाक किया। एक छपवाया कागज कि विनोद शर्मा जी की स्वर्ण जयन्ती मनायी जायेगी। और कुछ लोगों के हस्ताक्षर की प्रति उस पर छपवा दी और एक चेक उसके साथ भेजा। वह चेक उन्होंने ऐसा बनबाया था कि सचमुच किसी बैंक का चेक लगे पर वह चेक था बिलकुल छद्म चेक। कोई एकाउंट नहीं था, चेक-वैक नहीं था, वह तो उनको मज़ाक करना था होली का। हमारे पास भी आया। जब हमने देखा, लिखा है चेक है, चेक में रकम भी भरी हुई है (पाँच सौ रुपया या कितना), आप लेख भेजिए तो आपको दिया जायेगा। सब हमने देखा, तो हम समझे गये, गुरुजी आपका ये सब गुरुपन है। कुछ उनको हमने उसी शैली में उत्तर भी दिया। बहुत प्रसन्न हुए।

अपने परिचय की दास्तान लम्बी न करके यह जोड़ना चाहूँगा कि भाई श्रीनारायण जी जैसे एकनिष्ठ हिन्दी सेवी को सम्मानित करने के लिए उनके कृतित्व की पार्श्व-छवि देने वाला यह चयन जो तैयार किया गया है (हिन्दी सेवा की संकल्पना) वह न केवल हिन्दी सेवियों और हिन्दी लेखकों के लिए मार्गदर्शन का काम करेगा बल्कि वह हिन्दी के इतिहास में एक प्रामाणिक अभिलेख का भी काम करेगा। हम बहुत कृतज्ञ हैं भाई विद्यानिवास जी के जिन्होंने यह संग्रह किया और वे उद्योग न करते तो चतुर्वेदी जी तो बहुत ही अपने बारे में विरक्त आदमी हैं, उनके कृतित्व का गुलदस्ता सामने न आ पाता। अगर मेरे इन वाक्यों को विद्यानिवास जी ने प्रस्तावना से निकाल दिया तो मैं उन पर बहुत नाराज हूँगा।

●

हिन्दी के सजग पहरेदार

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

●

श्रद्धेय पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्य के लिए आजीवन अक्लान्त भाव से कार्य किया है। उन्होंने साहित्य की भी सेवा की और हिन्दी के साहित्य और साहित्यकारों के सम्मान की रक्षा के लिए बराबर संघर्ष भी किया है और विजयी भी हुए हैं। वे हिन्दी के सजग पहरेदार रहे हैं। वे अत्यन्त स्वाभिमानी व्यक्ति हैं और हर सच्चे स्वाभिमानी की तरह अत्यन्त विनम्र भी। जो स्वयं स्वाभिमानी होता है वह दूसरों के स्वाभिमान की कद्र भी करना जानता है। उनके पिता विद्वद्वरेण्य पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी जी हिन्दी के अनन्य सेवक थे। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी को हिन्दी प्रेम और स्वाभिमान के साथ विनयभाव अपने पूज्य पिता से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ है।

चतुर्वेदी जी ने स्वयं इंग्लैंड में ऊँची शिक्षा प्राप्त की थी और यहाँ आने पर शिक्षा विभाग के उच्च पद पर आसीन थे। फिर भी उनमें भारतीय संस्कार पूर्णरूप से जीवित ही नहीं, सक्रिय भी थे। उन दिनों इस प्रकार के सुशिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रायः विदेशी संस्कृति के गुलाम हो जाया करते थे। परन्तु चतुर्वेदी जी भेष-भूषा, आचार-विचार और रहन-सहन में सदा अपनी संस्कृति के अनुकूल ही रहे। संस्कृत साहित्य, ब्रजभाषा साहित्य और आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रति निष्ठा और प्रेम इनके इन्हीं उदात्त संस्कारों की देन है। वे नये विचारों के विरोधी नहीं हैं परन्तु हर नए विचार को वे भारतीय मनीषा की कसौटी पर कसकर ही ग्रहणीय मानते हैं। अंग्रेजी शासन काल में प्रतिष्ठित पद पर रहते हुए भी जब कभी

ऐसा अवसर आया कि उन्हें लगा कि हिन्दी पर या भारतीय स्वाभिमान पर किसी प्रकार की चोट पहुँचने वाली है तो वे सिंह की भाँति तनकर खड़े हो गए और सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध किया । उनका संघर्ष अपने ढंग का निराला ही है । पानी में रहकर मगर से बैर करने की कला में वे सदा विजयी ही बने । वे स्वयं स्व० पण्डित बालकृष्ण भट्ट, स्व० राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन और अपने पूज्य पिताजी के समान हिन्दी के स्वाभिमान संरक्षक बने रहे । व्यक्तिगत रूप से उन्हें हानि भी उठानी पड़ी लेकिन जिसे उन्होंने सत्य समझा उसके लिए बड़े-से-बड़े का विरोध करने में भी नहीं चूके । उत्तर प्रदेश के शिक्षा प्रसार अधिकारी के पद पर रहते हुए भी उन्होंने रोमन लिपि में हिन्दी ग्रन्थों के प्रकाशन के आदेश का सफलता-पूर्वक प्रतिरोध किया और हिन्दी को एक भयंकर षड्यंत्र से बचा लिया । उनकी यह साहसपूर्ण सेवा सदा स्मरणीय रहेगी ।

उनकी साहित्यिक सेवा भी महत्वपूर्ण है । यद्यपि वे अपना पूरा समय साहित्य सर्जना में नहीं दे पाए तो भी 'विनोद शर्मा' के रूप में उनका निश्छल हास्य और साहित्यिक व्यंग्य बहुत ही सजीव रचना के रूप में सदा स्मरणीय रहेंगे । 'छेड़छाड़', 'राजभवन की सिगरेदानी', 'विनोद शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ' ये रचनाएँ एक ओर जहाँ परिष्कृत एवं मनोरम हास्य विनोद का स्वरूप उपस्थित करती हैं वहीं दूसरी ओर उनकी तीक्ष्ण मर्मभेदी दृष्टि का परिचय भी देती हैं । इन रचनाओं में जहाँ फक्कड़ाना मस्ती है वहीं एक विचित्र प्रकार का सहज भाव भी विद्यमान है । लेकिन 'विनोद शर्मा' चतुर्वेदी जी के व्यक्तित्व का केवल एक पक्ष है ।

उनके व्यक्तित्व का अत्यन्त प्रभावशाली और महत्वपूर्ण दूसरा क्षेत्र विविध ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करना है । आरंभ से ही उनकी भाषा प्रौढ़ और विचार परिपक्व रहे हैं । "सचित्र संसार" और "हिन्दी विश्वभारती" के द्वारा स्वाधीनतापूर्व के दिनों में उन्होंने स्वयं लिखकर और औरों से लिखाकर हिन्दी के क्षितिज को विस्तृत करने का काम किया था । सर्वत्र भाषा की स्वच्छता, गतिशीलता और शुद्धता बनी हुई है जो निस्सन्देह उनके परिश्रम का ही फल है । हिन्दी की ऐतिहासिक पत्रिका "सरस्वती" का बीस वर्षों तक उन्होंने निरंतर संपादन किया और राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक विषयों पर निर्भीक भाव से संपादकीय लिखते रहे । उनकी टिप्पणियाँ तथ्यों से पूर्ण और तर्क सम्मत होती थीं । कई बार अधिकारी लोग उनसे नाराज भी हुए परन्तु चतुर्वेदी जी ने जिसे उचित समझा, उसे कहने में कभी संकोच नहीं किया । इन संपादकीयों में बहुत-सी ऐतिहासिक महत्व की टिप्पणियाँ हैं जो केवल सामयिक ही नहीं, स्थायी मूल्य भी रखती हैं । इन टिप्पणियों का संग्रह होना चाहिए क्योंकि उनमें समकालीन समस्याओं को बड़े व्यापक संदर्भ में रख कर देखा गया है । उनसे किसी का मत-भेद भले ही हो, उनकी महत्ता में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि उन टिप्पणियों के पीछे अत्यन्त तेजस्वी, निर्भीक और ईमानदार हृदय की वेदना है । उनकी भाषा भी शुद्ध हिन्दी का प्रतिमान है । मैं कुछ ऐसे अवसरों पर चतुर्वेदी जी के निकट रहने का अवसर पा चुका हूँ, जब वे किसी विषय पर संपादकीय लिखना चाहते थे । उस विषय की जितनी भी जानकारी संभव होती वे इकट्ठा करते थे । और दूसरे लोगों से भी उस संबंध में बातचीत किया करते थे । कभी-कभी उन्हें पढ़कर सुनाने में उनका उत्साह युवकों के समान होता था । इतनी लगन और निष्ठा के साथ लिखी हुई चीज निस्सन्देह महत्वपूर्ण होती थी । वे किसी भी विचारणीय पक्ष को छोड़ना नहीं चाहते थे । विचारणीय विषय के हर पहलू पर उनका ध्यान जाता था, लेकिन सर्वत्र एक प्रकार की निःसंगता पाई जाती थी । ऐसा लगता था कि वे विचार करते समय सदा यह सोचते रहते थे कि इसका परिणाम या प्रभाव क्या होगा, उससे कुछ लेना देना नहीं है, जो उचित लगता

है उसे कह देना हमारा कर्तव्य है। इन्हीं कारणों से उनको इन टिप्पणियों का बहुत मूल्य है। वे जहाँ संदर्भ की व्यापकता पर दृष्टि रखती हैं वहीं विषय के विभिन्न पक्षों पर भी जानकारी देती हैं और साथ ही बिना किसी लगाव के उचित बात कह जाती हैं। चतुर्वेदी जी के साथ कुछ भी क्षण व्यतीत करने से अनेक पुराने साहित्यकारों का स्मरण हो आता है जिन्हें अब लोग भूल गए हैं। सैकड़ों कवियों की कविताएँ उन्हें कंठस्थ हैं। अपनी प्रिय कविताओं को सुनाने में उन्हें अपार आनन्द आता है और सुनने वाले भी इससे निश्चित प्रभावित होते हैं। उनके लेखों की तरह उनकी बातचीत में भी फक्कड़ाना मस्ती के साथ सहज भाव बराबर बना रहता है। अपने से छोटों के प्रति जहाँ उनके सहज स्नेह भाव हैं वहीं उन्हें अपने स्तर पर ले आने का प्रयत्न भी रहता है। ऐसा निश्छल स्नेह और सहज वात्सल्य कम ही देखने को मिलता है।

चतुर्वेदी जी के पास संस्मरणों का बड़ा अजस्र भण्डार है। उनके पास पिछली तीन-चार पीढ़ियों के साहित्यिक इतिहास का बहुत ही जीवन्त इतिहास विद्यमान है। हिन्दुस्तानी एकेडमी के अपने भाषण में उन्होंने बहुत से साहित्यिक संस्मरण दिए थे जिनका किसी इतिहास ग्रंथ में कोई उल्लेख नहीं है। कभी-कभी मेरे मन में आता है कि चतुर्वेदी जी के पास बैठकर कोई उन संस्मरणों को लिख लेता तो आधुनिक साहित्य के इतिहास की बहुत बढ़िया सामग्री प्राप्त हो जाती। वस्तुतः चतुर्वेदी जी आधुनिक हिन्दी के आरंभ से लेकर अब तक की प्रगति के साथ जुड़े हुए हैं। उन्होंने सक्रिय भाव से उसके निर्माण में योगदान दिया है। उसकी रक्षा और प्रसार के लिए अपने आपको खपा दिया है। वे नव निर्माण के साक्षी भी रहे हैं और निर्माता भी। हिन्दुस्तानी एकेडमी के संचालकों ने इस निराकांक्षी मौन साधक को हिन्दी के निर्माण-कालीन साहित्यिक संस्मरणों को सुनाने के लिए बुलाकर बहुत बड़ी सेवा की है। यदि वे और दो चार व्याख्यान करा सकें या टेप की व्यवस्था करके चतुर्वेदी जी के संस्मरणों को सुरक्षित करा सकें तो बहुत बड़ा काम होगा। चतुर्वेदी जी हिन्दी के तेजस्वी उन्नायक और निःस्पृह सेवक रहे हैं। उनकी ८३ वीं जन्म गाँठ पर अन्य हिन्दी सेवकों की भाँति मैं भी श्रद्धा से प्रणति निवेदन करता हूँ।

भैया साहब

डॉ० नगेन्द्र

●

तपे हुए कंचन-सा गौरवर्ण, उन्नत-दीप्त ललाट पर बरबस ध्यान आकृष्ट करता हुआ-सा महीन रक्तिम तिलक, संसार के विविध अनुभवों के साक्ष्य से गहराई हुई, घनी भोंहों से घिरी आँखें, हिमधवल सुव्यवस्थित केश, लंबी सुती हुई ठेठ आर्य साँचे में ढली नाक, अटूट आत्मविश्वास और अटल इच्छाशक्ति की छाप से अंकित तेजस्वी मुखमंडल, विदग्ध-सूक्ष्म वचनों के स्फुरण के अनुकूल ढले-से पतले ओठ जिनमें से झरकर कभी-कभी अट्टहास का शुभ्र झरना अनायास ही झर उठता है—ये रेखाएँ हैं हिन्दी के अनन्य सेवी तथा भारती के वर्चस्वी सपूत साहित्य-वाचस्पति पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के प्रभावशाली व्यक्ति-चित्र की।

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के विषय में यों तो मैं बहुत-कुछ सुन चुका था और जानता था कि हिंदी के सबसे बड़े प्रदेश में हिन्दी के विकास-प्रसार का भार बहुत समय तक उनके बलिष्ठ कंधों ने उठाया है, किन्तु उनसे प्रत्यक्ष परिचय का अवसर मिला तब जब वे आकाशवाणी (तब—केवल ऑल इंडिया रेडियो) में उपमहानिदेशक (भाषा) के पद पर नियुक्त होकर दिल्ली आये। मैं उन दिनों आकाशवाणी के समाचार-प्रभाग में हिन्दी-पर्यवेक्षक था। उन दिनों भाषा के प्रश्न को लेकर ऑल इंडिया रेडियो में एक अजब विवाद चल रहा था। भाषा का मसला बड़ा नाजुक मसला था और रोज ही अलग-अलग दिशाओं के दबाव से भाषा-विषयक निर्देश बदल जाते थे। रेडियो की बिसात पर अनेक अदृश्य शक्तियों के मोहरे खेल रहे थे।

संक्रांति युग का लाभ उठाकर ये शक्तियाँ भाषा को ऐसे साँचे में ढालना चाहती थीं जो उसके सांस्कृतिक स्वरूप को विकृत कर दे । पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी का आना मानो इन शक्तियों के लिए एक खुली चुनौती था : "निपट विप्र करि जानेसि मोही, हौं जस विप्र बतावहुँ तोही ।" यहीं से मानो ऑल इण्डिया रेडियो की भाषा-नीति में एक मोड़ आया और हिन्दी के प्रति अधिकारियों का भाव बदला ।

भाषागत दायित्व उन्हें सौंपा जाना कोई संयोग की बात नहीं थी । अंग्रेजी और हिन्दी भाषा के प्रयोगों की जैसी अचूक पकड़ चतुर्वेदीजी को है, वैसी अत्यन्त दुर्लभ है । कवि और विश्वकोशकार होने के नाते हिन्दी के रसाभिव्यंजक तथा प्रयोजनमूलक दोनों रूपों पर उनका सहज अधिकार है। अंग्रेजी की बारीकियों में उनकी जैसी पैठ किसी भी हिन्दुस्तानी के लिए एक प्रशंसनीय उपलब्धि है । आज से प्रायः पाँच दशक पूर्व उन्होंने लन्दन में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी । उत्तर प्रदेश की शिक्षा-व्यवस्था को ढालने में उन्होंने अपनी इस उच्च शिक्षा का पूरा-पूरा लाभ उठाया किन्तु न तो इसके कारण उनके मन में कोई दंभ जागा, न पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में कभी उनके पाँव उखड़े । भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा सदा अचल रही है । अपनी संस्कृति के वे भक्त और अनन्य प्रतिपालक हैं और उस स्तर पर किसी तरह का समझौता नहीं करते । भारतीय संस्कृति प्राणवायु की तरह उनके समूचे अस्तित्व को अनुप्राणित करती है ।

चतुर्वेदी जी को उनके भाई-बंधु, सुहृद-मित्र, साथी-सहयोगी, छोटे-बड़े, परिजन-पुरजन सभी 'भैया साहब' कह कर संबोधित करते हैं । उनमें से अनेक के लिए भले ही इस सम्बोधन का विशेष अर्थ हो या न हो, किंतु चतुर्वेदी जी के लिए यह आत्मीयता का एक ऐसा ब्रह्मपाश बन जाता है जिसे काट फेंकना उनके लिए कठिन हो जाता है । भैया साहब की पारखी आँखें हीरे और काँच का भेद न पहचानती हों—ऐसा नहीं, पर वे जानकर भी अनजान बन जाते हैं । उनका तर्क यह है कि अगर कोई उनके नाम अथवा संबंध-सूत्रों का लाभ भी उठा लेता है तो क्या फर्क पड़ता है ।

चतुर्वेदी जी की जिंदादिली वर्णन की नहीं, अनुभव की वस्तु है । अनौपचारिक सभाओं में उनके करारे व्यंग्य, नपी-तुली चोटें, मीठी चुटकियाँ, गुदगुदी पैदा करनेवाली विदग्धोक्तियाँ, सटीक उद्धरणों के रूप में कवित्त, सवैयों आदि का धाराप्रवाह उच्चार तथा हास्य-विनोद के रंगीन छींटे सहृदयों को रससिक्त कर देते हैं, किन्तु दुर्भाव की गन्ध से वे कभी रसदोष उत्पन्न नहीं होने देते । उनके निश्चल-उन्मुक्त ठहाके अनायास पूरे माहौल को महका देते हैं ।

आज से पच्चीस वर्ष पूर्व स्वतन्त्रता के अरुणोदय की बेला में बड़ी जगहों पर हिन्दी साहित्यकारों, लेखकों, पत्रकारों आदि के जमाव को लेकर एक बार प्रसंगवश उन्होंने कहा था : "बड़ी-बड़ी जगहों पर हिन्दी सेवा के नाम पर डुगडुगी बजानेवालों को यह जो रेलमपेल देखते हो न, इनमें से अधिकतर हिन्दी जीवी हैं । हिन्दी इनकी जोविका का साधन है, सुविधा की चीज है । इनके चेहरों से नकाब हटेंगे, पर बड़ी देर से ।"

क्रांतदर्शी मनीषी की यह वाणी बाद के वर्षों में अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है । उस मनीषी को मेरे शत-शत प्रणाम !

●

भैया साहब पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

डॉ० उदयनारायण तिवारी

●

"तुम ट्रेनिंग कर लो। मैं तुम्हें ट्रेनिंग कालेज में भर्ती करा दूँगा।" "भैया साहब, ट्रेनिंग करने से क्या होगा ?" मैंने पूछा। "गवर्नमेंट कालेज में अध्यापक हो जाओगे," भैया साहब ने कहा। "इसके बाद क्या होगा ?" मैंने पूछा। "सब डिप्टी इन्सपेक्टर हो जाओगे और संयोग जुटने पर डिप्टी इन्सपेक्टर।" "इसके बाद क्या होगा ?" मैंने पुनः पूछा। "जहन्नुम में चले जाओगे। मैं गम्भीरता पूर्वक तुम्हारे भविष्य के बारे में बातें कर रहा हूँ और तुम मुझसे मजाक कर रहे हो।" बदलते हुए स्वर में भैया साहब ने कहा। ये बातें सन् १९३० में भैया साहब पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा मेरे बीच हुई थीं। मैं तब तक उनके निकट सम्पर्क में आ चुका था और वे मेरे आदरणीय भैया साहब बन चुके थे।

वार्तालाप के सिलसिले में मैंने कहा, "भैया साहब, मैं सरकारी सेवा से विरत रहने का व्रत ले चुका हूँ। अतः स्वराज्य मिलने पर भी सरकारी सेवा नहीं करूँगा।" उस समय मैं दारागंज हाई स्कूल में अध्यापक था। भैया साहब किंचित चिन्तित एवं गम्भीर मुद्रा में बोले, "तब क्या करोगे ? इसी स्कूल में जीवनयापन करोगे ?"

नहीं "भैया साहब", मैं अधिनिबन्ध लिखकर इलाहाबाद युनिवर्सिटी से डी०लिट्० की उपाधि प्राप्त करूँगा।" मैंने कहा। बहुत अच्छी बात है। मेरी सहायता की जब आवश्यकता पड़े, निस्संकोच भाव से कहना," भैया साहब ने कहा। इसके बाद भैया साहब मेरे भविष्य के बारे में किंचित निश्चिन्त एवं

आश्वस्त हुए। उनसे जब भी भेंट होती थी मेरे शोध की प्रगति के बारे में पूछ लिया करते थे। मुझे अध्ययन एवं शोध में संलग्न हुए लगभग बारह वर्ष व्यतीत हो गये। यह मेरी साधनावस्था का काल था। मैं इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अपना अधिनिबन्ध प्रस्तुत करने जा ही रहा था कि एक दिन भैया साहब खीझ कर बोले, "देखो भाई, मेरे धैर्य का बाँध टूट रहा है। तुम्हारा अधिनिबन्ध वन्ध्या पुत्र अन्वेषण हो रहा है। अब मुझे निश्चित तिथि बताओ कि तुम अपना अधिनिबन्ध विश्वविद्यालय में कब जमा कर रहे हो?" मैंने उन्हें निश्चित तिथि बता दी और विश्वविद्यालय में अधिनिबन्ध प्रस्तुत कर भैया साहब को सूचित कर दिया।

वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे बधाई का पत्र भेजा। मेरे अध्ययन एवं अधिनिबन्ध लेखन के समय भैया साहब ने मेरी जो सहायता की, उसे व्यक्त करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है।

भैया साहब का प्रथम दर्शन

भैया साहब के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् १९२४ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में, दिल्ली में हुआ था। इस अधिवेशन के सभापति हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान्, कवि एवं लेखक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" थे। स्वामी श्रद्धानन्द, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रामजी लाल शर्मा जैसे हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यिक इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। प्रयाग से पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी एवं पं० रामनरेश त्रिपाठी सम्मेलन के इस अधिवेशन के प्रतिनिधि थे। इन वयोवृद्ध एवं वरिष्ठ साहित्यिकों के बीच में दो युवक साहित्यिक इस सम्मेलन के आकर्षण के केन्द्रबिन्दु थे। इनमें एक थे पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा दूसरे थे पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। ये दोनों सम्मेलन-धनुषयज्ञ के राजकुमार थे। उन दिनों निरालाजी कलकत्ते से प्रकाशित प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' के सम्पादक मण्डल में थे। एक ओर जहाँ निरालाजी अपनी बंगाली सज-धज में सबसे निराले थे वहाँ दूसरी ओर भैया साहब, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी जी, अपने शुभ्र ललाट में रामानुजीय तिलक धारण किये हुए तथा अपनी नव-वय की कान्ति बिखेरते हुए गौरांग महाप्रभु का विग्रह प्रतीत हो रहे थे। भैया साहब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन से बातें कर रहे थे। टंडनजी के प्रफुल्ल मुख मण्डल को देखने से यह सहज रूप में प्रकट हो रहा था कि वे अपने एक अतिप्रिय निकट व्यक्ति से मिलकर असीम सुख प्राप्त कर रहे हैं। मैं ध्यानावस्थित होकर यह दृश्य देख रहा था। इसी समय मेरी मोह-निद्रा को भंग करते हुए सहसा एक व्यक्ति ने कहा, "सम्भवतः आपको यह ज्ञात नहीं है कि ये गौरवर्ण वाले व्यक्ति कौन है?" ये कान्यकुब्ज कालेज लखनऊ के इण्टर कालेज के प्रिंस्पल पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी हैं। ये उदीयमान लेखक और कवि हैं तथा हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा के ज्येष्ठ पुत्र हैं। तब तक मैंने दो प्रिंस्पलों को ही देखा था। इनमें से एक थे श्रीनारायण चतुर्वेदी के गुरु इविंग क्रिश्चियन कालेज के डा० जैनिवर तथा दूसरे थे कायस्थ पाठशाला के डॉ० ताराचन्द्र। ये दोनों वयस्क व्यक्ति थे ओर मेरे मन पर इन दोनों का पर्याप्त आतंक था। अतः एक तीसरे युवक प्रिंस्पल को देखकर मेरा भयभीत होना स्वाभाविक था। मुझमें इतना साहस न था कि इस युवक प्रिंस्पल से दो बातें करता और यदि साहस आ भी जाता तो यह समझ में नहीं आ रहा था कि वार्तालाप का विषय क्या हो?

साहित्य गोष्ठी में चतुर्वेदी जी का स्वागत

चतुर्वेदी जी की इंग्लैंड यात्रा के बाद ही सन् १९२६ ई० में, दारागंज में एक साहित्यगोष्ठी की स्थापना हुई थी। उस समय गंगातट स्थित इस मुहल्ले में हिन्दी साहित्य के विद्वानों, लेखकों, कवियों एवं प्रेमियों का एक अच्छा जमाव हो गया था। पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी, पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी जैसे वयोवृद्ध साहित्यिकों के अतिरिक्त उस समय इस मुहल्ले में पं० गिरिजादत्त शुक्ल, 'गिरीश', पं० सिद्धनाथ दीक्षित, ठाकुर श्रीनाथ सिंह, बाबू केदारनाथ गुप्त, पं० विद्याभास्कर शुक्ल, श्री शम्भू दयाल सक्सेना, पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी, डा० वृजबिहारी लाल जैसे साहित्यिक एवं हिन्दी प्रेमी यहाँ आ बसे थे। इसी समय एक दिन पं० श्रीधर पाठक, पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी एवं अपने अन्य मित्रों से मिलने के लिए दारागंज आये। जब उन्हें यहाँ के युवक साहित्यिकों से मिलने का अवसर मिला तो उन्होंने दारागंज में एक साहित्य-गोष्ठी की स्थापना के लिए अपना सुझाव दिया और एक वर्ष के भीतर ही उनका यह सुझाव कार्य-रूप में परिणत हो गया तथा यह गोष्ठी एक प्रभावशाली संस्था बन गयी। इसके तत्वावधान में सर्वप्रथम 'गल्प-सम्मेलन' का आयोजन किया गया जिसके मुख्य अतिथि मुन्शी प्रेमचन्द थे। 'गल्प-सम्मेलन' के इसी अधिवेशन में मुन्शी जी ने सर्वप्रथम अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'मंत्र' को सुनाया था। साहित्य-गोष्ठी के तत्वावधान में एक परिहास (पैरोडी) सम्मेलन का भी आयोजन हुआ था जिसमें मुख्य अतिथि के रूप में हास्यावतार पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने भाग लिया था। पं० ज्योति प्रसाद 'निर्मल' एवं श्री भगवतीचरण वर्मा भी इस गोष्ठी के सदस्य थे। श्री भगवती बाबू उन दिनों प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० (हिन्दी) प्रथम वर्ष के छात्र थे। अपने मित्र पं० गणेश पाण्डेय के साथ मैं इस गोष्ठी का मंत्री था।

सन् १९२८ ई० में जब पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी इंग्लैंड से वापस आये तो मुख्य अतिथि के रूप में बड़ी धूम-धाम से गोष्ठी में उनका स्वागत हुआ। सौभाग्य से उस दिन की गोष्ठी के सभापति हिन्दी के वयोवृद्ध कवि पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा थे। इस अवसर पर चतुर्वेदी जी ने अपनी "वियना की सड़क" शीर्षक कविता का पाठ किया था, जो लोगों को बहुत पसन्द आयी थी। इसके बाद हिन्दी में यह कविता बहुत प्रसिद्ध हो चली और उस युग के लोगों की यह कण्ठहार बन गयी। उन दिनों दारागंज में मैं चतुर्वेदी जी के मकान के सामने ही रहता था। अतः मैं उनके काफी सम्पर्क में आ गया था। सन् १९२९ में मैं दारागंज हाई-स्कूल में अध्यापन कार्य में संलग्न हो गया और सन् १९३० में मेरे भविष्य की चिन्ता में मग्न भैया साहब ने ट्रेनिंग कालेज में भर्ती होने का जो परामर्श मुझे दिया था उसका उल्लेख मैं इस लेख के आरम्भ में कर चुका हूँ।

चूँकि चतुर्वेदी जी के आदरणीय पिता पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी का मैं स्नेह भाजन था, अतः मैंने मन ही मन सोचा कि कभी न कभी इनसे बातें करने का अवसर मिल ही जायेगा। सन् १९२६ ई० में भैया साहब को शिक्षा सम्बन्धी उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड जाना पड़ा। उन दिनों बम्बई से पानी के जहाज द्वारा ही इंग्लैंड जाना पड़ता था। चूँकि इलाहाबाद बम्बई के मार्ग में था अतः भैया साहब अपने पिता एवं परिवार के अन्य सदस्यों से मिलने के लिए इलाहाबाद आए। उस अवसर पर भी केवल उनके दर्शन का ही अवसर मिला।

वंश परम्परा

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी भारद्वाज गोत्रीय सामवेद की राणापणी शाखा के माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं। आप के परिवार के मूल पुरुष परम वैष्णव श्री गोविन्द दास थे जो ग्वालियर दुर्ग के समीप स्थित

शंकरपुर ग्राम के निवासी थे । श्री गोविन्ददास जी ग्वालियर से यमुना के इस पार आकर इटावे के छिपैटी मुहल्ले में बस गये । इनका मूल आस्पद पांडेय था । भैया साहब के-प्रपितामह परम वैष्णव श्री श्रीमन्नारायण जी नैष्ठिक ब्राह्मण एवं विद्वान् थे । उन्होंने रामचरितमानस का संस्कृत में अनुवाद किया था, जिसके एक काण्ड को अभी हाल में ही भैया साहब ने प्रकाशित कराया है । भैया साहब के प्रपितामह श्री श्रीमन्नारायण जी के पुत्र श्री चतुर्भुज दास जी अपने संस्कृत के अगाध पांडित्य के लिए प्रसिद्ध थे । सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद जब भारत में ब्रिटिश-सत्ता स्थापित हुई तो इटावे में कांग्रेस के जन्मदाता श्री ह्यूम जिलाधीश होकर आये । उन्होंने इटावे में प्रथम हाई स्कूल की स्थापना की थी । उन्हें हाईस्कूल के छात्रों को संस्कृत पढ़ाने के लिए जब एक विद्वान् पंडित की आवश्यकता हुई तो उनका ध्यान स्वभावतः चतुर्भुज दासजी की ओर गया । जब श्री चतुर्भुज दास जी से अध्यापन की बात हुई तो उन्होंने ब्राह्मणोचित रीति से अध्यापन-कार्य तो स्वीकार कर लिया किन्तु इसके लिए वेतन लेना स्वीकार नहीं किया ।

बात यह है कि उस युग में ब्राह्मण निःशुल्क शिक्षा प्रदान करते थे । अतएव वेतन लेना उनके लिए उचित नहीं था । बहुत समझाने के बाद चतुर्भुज दास जी दक्षिणा-रूप में कुछ धनराशि लेने के लिए राजी हुए । यह धनराशि उन्हें तीसरे-चौथे माह एक पीले वस्त्र में बाँधकर अंग्रेज हेडमास्टर द्वारा सम्मान पूर्वक दी जाती थी ।

हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक राजा लक्ष्मण सिंह उन दिनों इटावे में तहसीलदार थे । उस समय वे कालिदास के प्रसिद्ध काव्य 'मेघदूत' का पद्यानुवाद तथा 'शकुन्तला नाटक' का हिन्दी गद्य में अनुवाद कर रहे थे । राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास की कृतियों का अध्ययन श्री चतुर्भुज दास जी से ही किया था । श्री चतुर्भुज दास के कनिष्ठ पुत्र चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा थे । यही पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के पूज्य पिता थे । चतुर्वेदी जी का जन्म इटावे में सन् १८९० ई० में हुआ था ।

चतुर्वेदी पं० द्वारका प्रसाद शर्मा का व्यक्तित्व

चतुर्वेदी जी के पिता पं० द्वारका प्रसाद जी का हरिचन्द्रोत्तर काल के हिन्दी लेखकों में प्रमुख स्थान है । ये सन् १८९२ ई० में सरकारी नौकरी के सिलसिले में प्रयाग आये और इन्होंने प्रयाग के भारतीय भवन मुहल्ले को अपना निवास-स्थान बनाया । यहीं हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट, महामना मदन मोहन मालवीय तथा बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन जी रहते थे । इनमें से भट्ट जी तथा मालवीय जी चतुर्वेदी जी से अवस्था में बड़े थे तथा टंडन जी छोटे थे । पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी पर इन तीनों सज्जनों के जीवन एवं विचार धारा का प्रभाव पड़ा । उन्होंने उसी प्रभाव में—अंग्रेजी गवर्नर जनरलों का जीवन-चरित्र लिखकर उनके समय में भारत के शोषण तथा अंग्रेजी शासन की गतिविधियों पर एक पुस्तक-माला लिखने की योजना बनायी । इस योजना की पहली पुस्तक 'राबर्ट्स क्लाइव की जीवनी थी । फिर उन्होंने अंग्रेजी के चौवन प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थों के आधार पर वारेनहेस्टिंग्ज़ की हिन्दी में जीवनी लिखी । इस पुस्तक में चतुर्वेदी जी ने वारेनहेस्टिंग्ज़ को क्रूर एवं स्वार्थ लोलुप प्रशासक सिद्ध किया था । यह लार्ड मिंटो का युग था और सरकारी पुस्तक आलोचकों को इस जीवनी में अंग्रेजी शासन के विरोध की गंध आई । चतुर्वेदी जी पर इसके लिए कोई मुकदमा तो नहीं चला किन्तु सरकारी सेवा से उन्हें मुक्त कर दिया गया । इसके बाद पं० द्वारका प्रसाद जी ने पं० बालकृष्ण भट्ट के समान ही स्वतन्त्र हिन्दी लेखक के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया ।

जीवनवृत्त

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी का शैशवकाल प्रयाग में ही एक शुभ वातावरण में व्यतीत हुआ और यहीं पर इनकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा हुई। इनकी आरम्भिक शिक्षा इलाहाबाद के शिवराखन पाठशाला में हुई थी जो बाद में सी० ए० वी० स्कूल में परिणत हो गया था। यहाँ पर यशस्वी, कर्मवीर श्री सुन्दर लाल जी इनके अध्यापक थे। सौभाग्य से वे आज भी जीवित हैं। वे अत्यन्त उग्र राष्ट्रवादी तथा लोक-मान्य बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी थे। चतुर्वेदी जी तथा उन्हीं के समान अन्य छात्रों पर सुन्दर लाल जी का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उन्हीं दिनों पं० बालगंगाधर तिलक प्रयाग आये थे। प्रयाग की जनता ने उनका कैसा भव्य स्वागत किया था तथा चतुर्वेदी जी ने अपने मित्रों के साथ किस प्रकार उसमें सहयोग किया था, इसका बहुत सुन्दर चित्रण चतुर्वेदी जी करते हैं।

महामना मदन मोहन मालवीय एवं बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन चतुर्वेदी जी के पिता के अतिनिकट के व्यक्तियों में से थे। अतः चतुर्वेदी जी पर इनका प्रभाव स्वाभाविक था। उस समय प्रयाग उग्र एवं उदार दो प्रकार के राजनैतिक विचारों का केन्द्र था। एक ओर सर तेजबहादुर सप्रू, सी० वाई० चिन्तामणि जैसे उदार दल के नेता प्रयाग में निवास करते थे तो दूसरी ओर सुन्दरलाल एवं पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे उग्रवादी नेता यहाँ मौजूद थे। मालवीय जी इन दोनों के मध्य में थे। ये 'मझिमा प्रतिपदा' के अनुयायी थे और उनका दोनों दल के लोग सम्मान करते थे। किन्तु उनके भतीजे पं० कृष्णकान्त मालवीय एवं उनके वयोवृद्ध सहयोगी पं० बालकृष्ण भट्ट तिलक के अनुयायी थे। इस स्थिति के बावजूद, धीरे-धीरे इलाहाबाद का बुद्धिजीवी वर्ग सन् १९०७ के कांग्रेस के अधिवेशन के बाद उग्र राजनीति की ओर ही अग्रसर हो रहा था।

शिवराखन पाठशाला में अपना अध्ययन समाप्त कर चतुर्वेदी जी ने यहाँ के गवर्नमेण्ट हाई-स्कूल में प्रवेश लिया। यहाँ उनको सहपाठी के रूप में पं० अमरनाथ झा मिले। पं० अमरनाथ झा के पिता पं० गंगानाथ झा उन दिनों यहाँ के म्योर सेंट्रल कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक थे। वे चतुर्वेदी जी के पिता के घनिष्ठ मित्र थे। अतः पं० अमरनाथ झा से चतुर्वेदी जी की मैत्री स्वाभाविक थी। आज भी चतुर्वेदी जी के पास पं० अमरनाथ झा का एक दुर्लभ चित्र मौजूद है। यह उस समय का है जब वे गवर्नमेण्ट स्कूल के सातवीं कक्षा के छात्र थे।

उन दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मैंट्रीकुलेशन की परीक्षा होती थी। चतुर्वेदीजी को इस परीक्षा में, हिन्दी में, विशेष योग्यता के अंक मिले थे। इण्टर में अध्ययन के लिए चतुर्वेदीजी इविंग क्रिश्चि-यन कालेज में चले गए और वहीं से इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अब तक आप विज्ञान के छात्र थे, किन्तु बी० ए० में कला (आर्ट्स) के छात्र हो गये। उन दिनों अंग्रेजी के विशेष अध्ययन पर बल था और चतुर्वेदी जी ने अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। उस समय इविंग क्रिश्चियन कालेज के प्रिंस्पल डॉ० जैनिवर थे जिनकी चतुर्वेदी जी पर विशेष कृपा थी। चतुर्वेदी जी इसी कालेज से बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे और इसके बाद वे वहीं पर यमुना मिशन स्कूल में अध्यापन कार्य में प्रवृत्त हुए। तब तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय आजकल की भाँति शिक्षण संस्था के रूप में विकसित नहीं हुआ था। वहाँ एम० ए० का अध्यापन सायंकाल होता था। चतुर्वेदी जी इसी रूप में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और वहाँ से इतिहास विषय में एम० ए० में उत्तीर्ण हुए। इसके बाद वे एल० एल० बी० में प्रवेश लेना चाहते थे किन्तु उस समय शिक्षा विशेषज्ञ क्लाड डिलाफोस के परामर्श से वे दीक्षा विद्यालय (ट्रेनिंग कालेज) में प्रविष्ट हुए। उन दिनों पूरे प्रदेश में केवल एक ही दीक्षा विद्यालय प्रयाग में था। इसके प्रिंस्पल मेकेंजी

साहब थे। योग्य छात्रों की वे बड़ी सहायता करते थे। वे श्री सम्पूर्णानन्द जी के भी गुरु रह चुके थे। एल० टी० के बाद उन्होंने चतुर्वेदी जी की नियुक्ति सरकारी स्कूल में करा दी किन्तु चतुर्वेदी जी वहाँ नहीं गये। तद्उपरान्त वे कान्यकुब्ज स्कूल, लखनऊ में हेडमास्टर नियुक्त हुए और इस कालेज को इण्टर तक की मान्यता प्राप्त करायी।

चतुर्वेदी जी ने अत्यधिक परिश्रम से कान्यकुब्ज कालेज के शैक्षणिक एवं प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें एक प्रसिद्ध शिक्षाविद माना जाने लगा। प्रदेश सरकार ने उनकी योग्यता से प्रभावित होकर उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए लन्दन भेज दिया। चतुर्वेदी जी ने बड़ी गम्भीरता से मनोविज्ञान, शिक्षा शास्त्र आदि का अध्ययन किया। उन्होंने यूरोप, अमेरिका, जापान की यात्रायें कीं और वहाँ प्रचलित शिक्षण पद्धतियों का निकट से ज्ञान प्राप्त किया। सन् १९२८ ई० में चतुर्वेदी जी स्वदेश लौट आये। कुछ दिनों तक सहायक शिक्षा निदेशक रहे किन्तु बाद में स्थायी रूप में फैजाबाद एवं गोरखपुर कमिश्नरियों के शिक्षा निदेशक नियुक्त हो गये। उन दिनों यह बहुत बड़ा पद माना जाता था और बहुत बड़े शिक्षाविदों को ही यह कार्य सौंपा जाता था। अब चतुर्वेदी जी नौ जिलों—फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी, गोरखपुर, बस्ती एवं आजमगढ़ संभागों के सर्वोच्च शिक्षाधिकारी बन गये। चतुर्वेदी जी जैसे असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति केवल कार्यालय और संभागों के निरीक्षण से ही संतुष्ट रहनेवाले नहीं थे। उन्होंने एक ओर उत्तर प्रदेश के शिक्षकों का स्तर उठाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर छात्रों के विशेष पठन-पाठन की ओर ध्यान दिया। आपने फैजाबाद में इंटर तक के उत्तर प्रदेश के हिन्दी अध्यापकों की एक संगोष्ठी की जिसमें उनके शैक्षणिक स्तर को उठाने के लिए विविध विषयों पर व्याख्यान का प्रबन्ध किया। व्याख्याता के रूप में इस गोष्ठी में वाराणसी के पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० केशवप्रसाद मिश्र, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, पं० रामबहोरी शुक्ल, प्रो० राजनाथ पाण्डेय, प्रो० सत्यनारायण पाण्डेय आदि थे। उनमें आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र हिन्दी साहित्य के विविध विषयों के व्याख्याता थे। पं० जयचन्द्र विद्यालंकार भारतीय इतिहास के विविध कालों के महत्त्वपूर्ण अंशों पर व्याख्यान देते थे। शेष लोग हिन्दी के पाठन विधि के व्याख्याता थे।

हिन्दी भाषा की ओर छात्रों की अभिरुचि बढ़ाने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं से परिचित कराया जाय तथा उन्हें शुद्ध रूप से उच्चरित करने का अभ्यास कराया जाय। इसके लिए चतुर्वेदी जी ने प्रदेश भर में अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता का प्रबन्ध किया। इस प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप छात्रों में प्राचीन एवं अर्वाचीन श्रेष्ठ कवियों की कविताओं को पढ़ने की अभिरुचि जागृत हुई। इसके पूर्व छात्र केवल परीक्षा में निर्दिष्ट गद्य-पद्य की पुस्तकें पढ़ते थे और उन्हें न तो विस्तृत हिन्दी साहित्य का ही ज्ञान था और न वे उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील ही थे। इससे भाषा-शिक्षण एवं उसके अध्ययन अध्यापन का स्तर ऊँचा उठा।

अपने कार्यकाल में चतुर्वेदी जी ने विद्यालयों में कवि-सम्मेलनों की व्यवस्था की, जिसमें गोरखपुर में तो उन्होंने जो कवि-सम्मेलन किया था उसमें लाहौर से, हैदराबाद एवं मध्य प्रदेश से, नेपाल की तराई तक के कवि एवं विद्वान् सम्मिलित हुए थे। इसमें ब्रजभाषा, खड़ी बोली एवं अवधी के अनेक श्रेष्ठ कवि सम्मिलित हुए थे। इस कवि सम्मेलन की यह विशिष्टता थी कि ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली की अनेक शैलियों की उत्कृष्ट कविताओं को लोगों को सुनने का अवसर मिला। कवि सम्मेलन की बैठकों में भी हजारों श्रोताओं की भीड़ थी और सभी लोग आत्मविभोर होकर कविता का रस लेने में मग्न थे। ऐसे अखिल भारतीय स्तर का कवि सम्मेलन उत्तरी भारत में पुनः नहीं हुआ। इस कवि सम्मेलन के स्वागत में लगभग

चालीस-पचास हज़ार रुपया खर्च हुआ था। इसमें आगत कवियों एवं विद्वानों को भलीभाँति सम्मानित किया गया था।

चतुर्वेदी जी कुछ दिनों तक अखिल भारतीय आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र के मुख्य अधिकारी थे। उस समय हिन्दी के नाम पर दिल्ली से प्रसारण के लिए जिस भाषा का प्रयोग होता था वह भ्रष्ट थी और उसको लेकर सर्वत्र असन्तोष था। केन्द्रीय सरकार को इसकी व्यवस्था ठीक करने के लिए एक योग्य संचालक की आवश्यकता थी। बहुत छानबीन के बाद केन्द्रीय शासकों की दृष्टि चतुर्वेदी जी की ओर गयी और वे उसके संचालक नियुक्त किये गये। वहाँ अपने पद पर प्रतिष्ठित होकर चतुर्वेदी जी ने प्रसारण की भाषा को जो एक परिनिष्ठित रूप दिया वह आज भी उसी रूप में चल रही है।

ऊपर चतुर्वेदी जी के कार्यों का जो संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है उसमें सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि भाषा, विशेष रूप से परिनिष्ठित हिन्दी, के प्रचार प्रसार में चतुर्वेदी जी का कितना हाथ था। सरकारी सेवा में, कुछ दिनों तक, चतुर्वेदी जी को शिक्षा प्रसार अधिकारी के रूप में कार्य करने का अवसर मिला था। इसी समय उत्तर प्रदेश में, सरकार द्वारा साक्षरता प्रसार का भी अभियान चलाया गया था। चूँकि चतुर्वेदी जी एक अनुभवी शिक्षा शास्त्री थे, अतः उन्हें यह तथ्य भलीभाँति ज्ञात था कि साक्षरता के बाद भी प्रौढ़ लोगों के लिए कुछ विशिष्ट पठन-सामग्री की आवश्यकता है, अन्यथा वे पूर्ववत निरक्षर हो जायेंगे। इसके लिए चतुर्वेदी जी ने विविध क्षेत्रों की जनभाषाओं का विशिष्ट अध्ययन किया तथा उसके आधार पर कतिपय पुस्तकें भी तैयार कीं। आपने रामचरितमानस का अल्प मूल्य का संस्करण प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त आपने सूर तथा अन्य कवियों की बहुप्रचलित कविताओं का पाठ रूप में चयन किया। इससे साक्षरता का कार्य कुछ आगे बढ़ा। किन्तु यह योजना अपने वास्तविक रूप में सफल न हो सकी क्योंकि इसमें सरकार की ओर से यथेष्ट सहायता न मिली।

उत्तरप्रदेश शिक्षा-विभाग की सेवा से मुक्त होकर चतुर्वेदी जी मध्यभारत के शिक्षा-निदेशक (डाइरेक्टर आफ एजूकेशन) नियुक्त हुए। उस समय आपने उत्तरप्रदेश के आदर्श पर ही ग्वालियर में एक माध्यमिक शिक्षा परिषद् की स्थापना की। जब मध्यभारत का मध्यप्रदेश में विलयन हो गया तो इस परिषद् का स्थान भी भोपाल हो गया। आज भी यह परिषद् मध्यप्रदेश के माध्यमिक शिक्षण का कार्य सुचारु रूप से सम्पादित कर रही है।

मध्यप्रदेश-सेवा से मुक्त होकर चतुर्वेदी जी ने पूरे बीस वर्षों तक अत्यन्त योग्यता से 'सरस्वती' का सम्पादन किया तथा इसके उच्च स्तर को बनाये रखने में पूर्ण प्रयत्न किया। अपने प्रकाशन-काल से हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार में 'सरस्वती' ने जो योगदान किया वह विद्वानों को ज्ञात है और उसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। अपने कार्य-कालमें चतुर्वेदी जी ने इसमें जो सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी हैं उनका मूल्यांकन हिन्दी साहित्य के विद्वान् एवं शोध-छात्र ही कर सकते हैं। इनके सम्पादकीय लेखों एवं टिप्पणियों को उनके सारस्वत समारोह के अवसर पर प्रकाशित किया गया है। वास्तव में चतुर्वेदी जी का यही सच्चा अभिनन्दन है। इन्हें पढ़कर आपकी विविध उपलब्धियों का सहज में ही मूल्यांकन किया जा सकेगा।

चतुर्वेदी जी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन

चूँकि चतुर्वेदी जी के पिता राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के मित्र तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में से थे अतएव सम्मेलन के शैशव काल से ही आपका उससे घनिष्ठ सम्बन्ध एवं सम्पर्क था। चतुर्वेदी जी प्रायः अधिकांश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों के अवसर पर अपने मित्रों एवं

शिष्य-मंडली के साथ सम्मिलित होते थे तथा सम्मेलन में जो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित होते थे उनमें सक्रिय भाग लेते थे। सन् १९३८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन, हिमाचल प्रदेश के प्रसिद्ध नगर शिमला में हुआ था। इसके सभापति वाराणसी के प्रसिद्ध पत्र 'आज' के सम्पादक श्री बाबूराव विष्णु पड़ारकर थे। इस अधिवेशन में हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी को लेकर काफी द्वन्द्व था तथा हिन्दी को इस रूप में परिभाषित करना था कि उसका वास्तविक रूप विकृत न हो और राष्ट्रीय दृष्टि से उसका अखिल भारतीय रूप भी अक्षुण्य रहे। श्री टंडन जी उस समय अत्यधिक चिन्तित थे। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव तैयार किया। इस प्रस्ताव को स्वीकार कराने में चतुर्वेदी जी का सबसे बड़ा हाथ था। इस कार्य में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी टंडन जी की पूर्ण सहायता की थी।

सम्मेलन पर दूसरा संकट उस समय उपस्थित हुआ जब गान्धीजी ने हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर सम्मेलन से त्यागपत्र दे दिया था। उस समय राष्ट्रभाषा समिति का कार्यालय, गान्धीजी की छत्रछाया में वर्धा में चल रहा था और काका साहब कालेलकर उसके मुख्य प्रबन्धक थे। गान्धीजी के त्याग-पत्र के बाद टंडन जी काफी परेशान थे। अब उन्हें राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति का कार्यालय वर्धा में रखना अनावश्यक प्रतीत होने लगा। उनके मन में यह बात आई कि क्यों न राष्ट्रभाषा प्रचार का कार्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान कार्यालय प्रयाग से ही सम्पादित किया जाय। मैं उस समय सम्मेलन से सम्बद्ध था। मैंने जब चतुर्वेदी जी से इस सम्बन्ध में जो परामर्श किया तो उन्होंने टंडन जी के निर्णय का विरोध किया और कहा कि राष्ट्रभाषा प्रचार का केन्द्र वर्धा में ही रहना चाहिए। मैंने चतुर्वेदी जी से इस सम्बन्ध में टंडन जी से बातें करने के लिए अनुरोध किया। चतुर्वेदी जी टंडन जी से मिले और अपने तर्क उनके समक्ष रखे। अन्ततोगत्वा टंडन जी ने चतुर्वेदी जी की बात स्वीकार कर ली। इसके परिणाम स्वरूप भदन्त आनन्द कौशल्यायन राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति के मन्त्री बने और वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार का एक मुख्य केन्द्र बन गया। आज भी हिन्दीतर भाषी क्षेत्र में वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति सुचारु एवं सफल रूप में हिन्दी का प्रचार कार्य कर रही है। यदि टंडन जी के निर्णयानुसार समिति का केन्द्र कहीं प्रयाग बन गया होता तो अब तक राजनीतिक वात्याचक्र में पड़कर वह समाप्त हो गई होती और यदि हिन्दीतर प्रदेशों में राष्ट्रभाषा प्रचार के कार्य में जो बाधा हुई होती, उसकी कल्पना भी आज कठिन है।

चतुर्वेदी जी की हिन्दी-निष्ठा

अपने सरकारी सेवा काल में श्री चतुर्वेदी जी ने हिन्दी के प्रचार प्रसार में जो योगदान किया उसका किंचित दिग्दर्शन कराया जा चुका है। यहाँ उनकी हिन्दी सेवा एवं निष्ठा के सम्बन्ध में एक ऐसे तथ्य का उल्लेख किया जा रहा है जिसे बहुत कम लोग जानते हैं। बात यह है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के पद त्याग के बाद उत्तरप्रदेश में गवर्नर शासन लागू हुआ जिसमें कतिपय सलाहकार नियुक्त किये गये। इस समय श्री हैलेट उ० प्र० के गवर्नर थे। इन सलाहकारों में श्री शेरिफ भी एक थे। उस समय शासन ने बड़ा कठोर रूप धारण किया था। श्री शेरिफ रोमन लिपि के घोर पक्षपाती थे। चतुर्वेदी जी के हाथ में उन दिनों प्रौढ़-शिक्षा का कार्य था। श्री शेरिफ ने चतुर्वेदी जी से रोमन लिपि के द्वारा प्रौढ़-शिक्षा देने का आग्रह किया। जब चतुर्वेदी जी ने शेरिफ महोदय की आज्ञा मानना अस्वीकार कर दिया तो उन्होंने एक दिन उन्हें अपने कमरे में बुलाया और रोष भरे शब्दों में कहा—"तुम मेरी आज्ञा का उल्लंघन क्यों कर रहे हो और यदि तुम रोमन लिपि द्वारा प्रौढ़-शिक्षा नहीं दे सकते तो अपने पद से तत्काल त्यागपत्र दे दो।" चतुर्वेदी जी ने जोर से उत्तर देते हुए कहा—"मैं त्यागपत्र नहीं दूँगा।

मुझे आप सरकारी सेवा से बर्खास्त कर दीजिये, मेरे पिता भी इसी प्रकार से सेवा से मुक्त किये गये थे।" श्री शेरिफ इसके बाद चुप हो गये और चतुर्वेदी जी पं० भैरवनाथ झा के छोटे भाई श्री भोलानाथ झा आई० सी० एस० के कमरे में चले गये। चतुर्वेदी जी ने यह बात नितान्त गोपनीय रखी और अपने घनिष्ठ मित्रों से भी कभी इसकी चर्चा नहीं की। उन्हीं दिनों हिन्दी के कई पत्रकार श्री हैलेड (गवर्नर) के आमन्त्रण पर लखनऊ बुलाये गये। इनमें से प्रयाग से प्रकाशित होनेवाले 'भारत' के सम्पादक पं० बलभद्र प्रसाद मिश्र भी थे। इन पत्रकारों से श्री शेरिफ अपने कमरे में मिले और उन्होंने प्रौढ़-शिक्षा के लिए रोमन लिपि की उपादेयता बतलाते हुए एक भाषण भी दिया। पं० बलभद्र प्रसाद मिश्र ने व्यंग्य में उनसे कहा, "निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए आप रोमन लिपि का प्रयोग क्यों नहीं करते ?" श्री शेरिफ ने तब मिश्र जी को उत्तर देते हुए कहा, "मैं क्या करूँ, श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी नाम के व्यक्ति ने मेरी कुल योजना को धूल में मिला दिया और वे मेरे रोमन द्वारा शिक्षा देने के मार्ग में अवरोधक बन कर खड़े हो गये।" पं० बलभद्र प्रसाद मिश्र ने पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी को यह सूचना एक पत्र में धन्यवाद देते हुए दी थी।

चतुर्वेदी जी के एक महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख भी आवश्यक है। यह है नागरी अंकों के प्रचार एवं प्रसार के सम्बन्ध में। इस सम्बन्ध में तथ्य पूर्ण बात यह है कि भारत से ही अतीत काल में नागरी अंक अरब देश पहुँचे थे जहाँ इन्हें हिन्दसा कहा जाने लगा। अरब देश से ही किंचत परिवर्तन के रूप में समस्त यूरोप में उनका प्रचार-प्रसार हुआ था। भारत में जब इन अंकों को अन्तर्राष्ट्रीय रूप में स्वीकार करने का प्रश्न लोक सभा में आया तो टंडन जी ने इसका घोर विरोध किया। उनका यह पक्ष था कि मूलतः भारतीय अंकों के ही ये परिवर्तित रूप हैं। अतः अपने अंकों का परित्याग कर इन्हें स्वीकार करना न तो उचित ही है और न वांछनीय ही। इस सम्बन्ध में एक और तथ्य उल्लेखनीय है। बात यह है कि इधर पर्याप्त समय से दक्षिण के प्रदेशों ने नागरी अंकों से अपना नाता तोड़कर यूरोपीय अंकों से ही अपना सम्बन्ध स्थापित किया है। लोक सभा में उन लोगों का भी यह आग्रह था कि यूरोपीय अंक ही सम्पूर्ण भारत में चलें। लोक सभा ने विकल्प रूप में दोनों अंक रूपों को स्वीकार कर लिया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में अधिकांश क्षेत्रों में भारतीय अंकों का ही प्रचार प्रसार रहा। संस्कृत में जो वास्तव में एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है, यही अंक हैं और दक्षिणी भारत एवं पूरब अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा जापान आदि के सभी संस्कृत विद्वान एवं प्रेमी इन भारतीय अंकों से आज भी भलीभाँति परिचित हैं। टंडन जी के लिए यह सिद्धान्त का प्रश्न था और सत्य के समक्ष उन्हें झुकना स्वीकार न था। चतुर्वेदी जी उन दिनों सरकारी सेवा में थे। अतः उन्होंने इन अंकों के इस वाद-विवाद में न पड़कर एक अन्य मार्ग अपनाया। उन्होंने अपने मित्र एवं सहयोगी पं० भैरवनाथ झा को यह सुझाव दिया कि माध्यमिक परीक्षाओं में केवल नागरी अंकों का ही प्रयोग किया जाय। झा महोदय ने इसका दृढ़ता से पालन किया और आज इसका परिणाम यह है कि उत्तर प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा में परीक्षार्थियों को उनके परीक्षक नागरी अंकों में ही अंक प्रदान करते हैं। मध्य प्रदेश में भी यही अंक उपयोग में आ रहे हैं। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं भारत में अन्य परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ भी भारतीय अंकों का ही प्रयोग करती हैं। वास्तव में यह भारतीय अंकों की एक बड़ी विजय है।

राष्ट्रीयता का प्रतीक-हिन्दी

महामना मालवीय जी एवं उनके अनुयायी टंडन जी ने हिन्दी के जीवन्त रूप का साक्षात्कार किया था। इन दोनों नेताओं का यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी के द्वारा ही भारतीय राष्ट्र को एकता के सूत्र में

बाँधा जा सकेगा। इनके लिए जिस प्रकार राष्ट्र-ध्वज एवं भारतीय स्वतन्त्रता एक सजीव प्रतीक थे उसी प्रकार राष्ट्र भाषा हिन्दी भी देश की एक सजीव प्रतीक थी। इसी तथ्य को सम्मुख रखकर श्री मालवीय जी महाराज ने सन् १९१० ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की थी। सन् १९१४ ई० में गान्धी जी दक्षिणी अफ्रिका से भारत आये। एक बार उन्होंने अपने एक पत्र में टंडन जी को लिखा—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।" मालवीय जी एवं टंडन जी को गान्धी जी के रूप में राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए एक प्रबल सहयोगी मिला और गान्धी जी ने दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार प्रसार का जो कार्य किया वह सदैव स्मरणीय रहेगा।

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि चतुर्वेदी जी पर मालवीय जी ए ं टंडन जी का सर्वाधिक प्रभाव था। और उन्होंने भी हिन्दी का उसी जीवन्त रूप में साक्षात्कार किया था जिस रूप में इन दोनों महानुभावों ने किया था। सच बात तो यह है कि चतुर्वेदी जी ने सदैव अपने को हिन्दी का एक अकिंचन सेवक माना और हिन्दी प्रचार-प्रसार-कार्य में संलग्न तथा इसके लेखकों को सदैव नमस्य माना। उन्होंने उच्च स्वर में यह घोषणा की—"मैं वैष्णव हूँ और वैष्णव के लिए शालिग्राम के बड़े तथा छोटे विग्रह समान रूप से प्रणम्य हैं।" चतुर्वेदी जी ने हिन्दी लेखकों एवं हिन्दी प्रेमियों को राष्ट्रीयता का जीवन्त रूप माना।

जब कभी किसी व्यक्ति ने हिन्दी के गौरव के मूल्यांकन में कोई त्रुटि पूर्ण बात कही तो चतुर्वेदी जी ने शिष्ट और कभी-कभी व्यंग्यपूर्ण भाषा में उसका सतर्क एवं सही उत्तर दिया। इसके लिए उन्होंने न तो व्यक्तिगत मैत्री का ख्याल किया और न अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ की ही चिन्ता की। वास्तव में जहाँ भी जीवन में हानि-लाभ का प्रश्न आया वहाँ चुपके से व्यवसाय का प्रवेश हो गया और चतुर्वेदी जी व्यवसाय से सदैव दूर रहे। हम दोनों के एक ऐसे उभयनिष्ठ मित्र थे जिनका हमलोग सदैव आदर सम्मान करते थे। वे एक चतुर व्यवसायी थे जो अपने ढंग से साहित्यिकों का भी सम्मान करते थे। एक दिन उन्होंने प्रेमपूर्वक मुझसे कहा—"देखो भाई, चतुर्वेदी को थोड़ा समझाओ, वे यदा-कदा अपने लेखों एवं टिप्पणी में इतने अधिक उग्र हो जाते हैं जिससे अधिकारी भी उनसे असन्तुष्ट हो जाते हैं। मैंने उनसे स्पष्ट शब्दों में कहा कि हिन्दी के प्रश्न पर चतुर्वेदी जी किसी से समझौता के लिए तैयार नहीं हैं। इसके लिए वे अपनी नौकरी की भी परवाह नहीं करते। अतएव किसी के असन्तुष्ट होने की उन्हें चिन्ता नहीं है। जिस प्रकार तुलसीदास जी अपने सभी सम्बन्धों को राम के नाते ही मानते थे, उसी प्रकार चतुर्वेदी जी हिन्दी के नाते ही अपने सभी सम्बन्धों को मानते हैं। उनके लिए हिन्दी वह केन्द्र बिन्दु है जहाँ से सम्बन्ध की सभी शाखाएँ प्रादुर्भूत होती हैं।

चतुर्वेदी जी के प्रति कुछ लोगों का भ्रम

कुछ लोगों का यह भ्रम है कि चतुर्वेदी जी उर्दू के विरोधी हैं। वास्तविक बात यह है कि चतुर्वेदीजी किसी भी भाषा के विरोधी नहीं हैं। जिस युग में उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी उस समय उनके चतुर्दिक एवं विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी भाषा को ही वर्चस्व प्राप्त था। आज भी चतुर्वेदी जी को शेक्सपीयर, मिल्टन एवं अंग्रेजी के अन्य कवियों की अनेक कविताएँ कंठाग्र हैं। वे धारावाहिक रूप से अंग्रेजी बोलते हैं और अंग्रेजी लेखन में तो वे पूर्ण दक्ष हैं। वे लंदन विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं।

अतएव उनके द्वारा किसी भाषा का विरोध एक अकल्पनीय बात है। जहाँ तक उर्दू का प्रश्न है, यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि चतुर्वेदी जी ने अपने प्रारम्भिक जीवन में उर्दू-फारसी की शिक्षा प्राप्त की थी। वह उर्दू को भारतीय भाषा मानते हैं और आवश्यकतानुसार अपने लेखों में उर्दू कवियों के शेरों का

बराबर प्रयोग करते हैं। उन्हें उर्दू में सैकड़ों श्रेष्ठ शेर कंठाग्र है। अतएव उर्दू के प्रति विरोध की भावना का उनके सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इसी प्रकार कुछ लोग चतुर्वेदी जी को संस्कृत का कट्टर पंडित मानते हैं। यह भी एक भ्रान्ति है। चतुर्वेदी जी आरम्भ में विज्ञान के छात्र थे। उन्होंने कभी भी नियमित रूप से संस्कृत का अध्ययन नहीं किया, किन्तु इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह अवश्य है कि उन्हें संस्कृत का ज्ञान अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुआ है और इसी लिए उन्हें संस्कृत के अनेक श्लोक कंठाग्र हैं जिन्हें वे प्रायः अपने लेखों एवं टिप्पणियों में उद्धृत करते हैं।

चतुर्वेदी जी के दो रूप

कवि, लेखक एवं सम्पादक के रूप में चतुर्वेदी जी के दो रूप हैं। इनमें से एक रूप है–पं० श्री नारायण चतुर्वेदी का। यह उनका परम वैष्णव, शान्त एवं गम्भीर रूप है। इस रूप में उन्होंने अनेक कविताएँ, निबन्ध एवं सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी हैं। इनके निबन्धों एवं टिप्पणियों के सम्बन्ध में यह एक उल्लेखनीय बात है कि इनमें केवल साधारण सूचनाएँ ही नहीं होती हैं अपितु इनमें विद्वानों एवं शोध-कर्ताओं के लिए भी मौलिक सामग्री उपलब्ध होती है। जब उन्हें किसी विशिष्ट घटना—युद्ध, विग्रह एवं संधि आदि—के विषय में सम्पादकीय लेख लिखना होता है तो वे तथ्य सम्बन्धी साहित्य का पूर्णरूप से अध्ययन करते हैं और उनके स्थान आदि का मानचित्र एवं उनसे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों के चित्र देकर पूरा विश्लेषण करते हैं। उस समय उनके लेखन की वही प्रवृत्ति होती है जो एक सफल अध्यापक की अपने छात्रों को किसी विषय के हृदयंगम कराने की होती है। ऐसे लेखों से पाठकों के केवल ज्ञान का सम्वर्द्धन ही नहीं होता अपितु उनकी दृष्टि भी निर्भ्रान्त हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप उनके अन्तःकरण में जिज्ञासा एवं जागरण के भाव प्रादुर्भूत होते हैं।

चतुर्वेदी जी का दूसरा विग्रह है—पंडित विनोद शर्मा का। यह उनका व्यंग्य विनोद वाला रूप है, जो मथुरा के चौबे लोगों में जन्म-जात होता है। अपने व्यंग्य विनोद के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए चतुर्वेदी जी 'छेड़छाड़' की भूमिका में लिखते हैं—

ऐ पढ़ने वाले, सावधान!
इस तरकस में हैं व्यंग—बान!
इसमें साहित्यिक छेड़छाड़;
इसमें साहित्यिक चीड़-फाड़,
पर, हिंसा का है नहीं लेश
क्यों हो विनोद में राग-द्वेष?
तू तर्क मान, चाहे न मान,
अज्ञान समझ, या समझ ज्ञान,
पर पढ़कर हँस, औ लूट मोद,
यह कहता
सविनय

श्री विनोद!

हिन्दी में बंगला, मैथिली एवं भोजपुरी की भाँति व्यंग्य एवं हास्य विषयक रचनाओं का प्रायः

अभाव है। इस सम्बन्ध में चतुर्वेदी जी की तीन कृतियाँ—'चोंच महाकाव्य', 'छेड़छाड़' एवं 'राजभवन की सिगरेट दानी' उल्लेखनीय हैं। 'विनोद शर्मा अभिनन्दन' ग्रन्थ के आमुख में व्यंग्य एवं हास्य की प्रचुर सामग्री है। इस अभिन्दन ग्रन्थ में चतुर्वेदी जी के घनिष्ठ मित्रों के व्यंग्यात्मक लेख हैं। इसमें भारत के प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का भी हिन्दी में लिखित एक अत्यन्त मार्मिक लेख है।

'छेड़छाड़' में श्री विनोद शर्मा ने अपने अतिरिक्त अपने जिन मित्रों को अपने विनोद के नागपश में बाँधा है, वे हैं—श्री सुन्दरलाल जी (चतुर्वेदी जी के गुरु एवं नेता), डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० रामनरेश त्रिपाठी, महाकवि निराला, श्री फिराक 'गोरखपुरी', श्री सुमित्रानन्दन पंत एवं पं० सोहनलाल द्विवेदी। 'छेड़छाड़' में अपने दो मित्रों को इस पुस्तक को समर्पित करते हुए जो व्यंग्य पूर्ण कविताएँ चतुर्वेदी जी ने लिखी हैं, उन्हें यहाँ उद्धृत किया जाता है। अपने मित्र पं० बनारसी दास को इस पुस्तक को भेंट करते हुए निम्नलिखित कुण्डलिया लिखी है—

"छेड़छाड़ की बान है, छेड़छाड़ कुल धर्म,
तुमहूँ चौबे वेश में, समझहुगे यह मर्म।
समझहुगे यह मर्म, शर्म कछु मोकों नाहीं;
चारि दिना हँसि बोलि, क्यों न हम समय बिताहीं,
यासों, हँसी कराइकें, राखि लेउ कुल कानि,
छाँड़ि न दीजो भूलि कैं, छेड़छाड़ की बानि !

इसी प्रकार अपने सुहृद डॉ० बाबूराम सक्सेना को छेड़छाड़ की प्रति भेंट करते हुए श्री चतुर्वेदी जी ने निम्नलिखित घनाक्षरी लिखी—

मृग को निहारि सामुहें जो बनस्थली में
सिंह बानि भक्ष्य पै झपटिबे की छोड़ि देय;
लाख औ करोड़ कलदारन के होत हूँ जो
सूम लोग रुपया के जोड़न को छोड़ देय;
छोड़ देय अग्नि जो तपैबो को धर्म निज,
चन्द्र बिरहिन कौ सतैबो हूँ छोड़ देय;
एते छोड़ै धर्म जो निसर्ग जात आपुनें, तौ
चौबेहू बानि ठट्ठा करिबे की छोड़ि देय !

चतुर्वेदी जी की एक अभिनव कृति

चतुर्वेदी जी की एक अभिनव कृति—'आधुनिक हिन्दी का आदिकाल (१८५७–१९०८) है। यह चतुर्वेदी जी के उन दो व्याख्यानों का संकलन है जिन्हें उन्होंने (९–१०) सितम्बर १९७२ में हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग में दिया था। पहले इन व्याख्यानों का शीर्षक था—आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम चरण। किन्तु बाद में जब ये भाषण पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुए तो इन्हें 'आधुनिक हिन्दी का आदिकाल' नाम दिया गया। ये व्याख्यान हिन्दुस्तानी एकेडमी की व्याख्यान माला की उस योजना के अन्तर्गत दिये गये थे जिसमें महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, डॉ० गंगानाथ झा, एवं डॉ० जाकिर हुसेन आदि अठारह शीर्षस्थ विद्वानों के व्याख्यान हो चुके हैं। चतुर्वेदी जी ने अपनी इस कृति में आधुनिक हिन्दी का आरम्भ १८५७ ई० के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम से माना है। यह एक विचित्र घटना

संयोग है कि इससे कुछ दिनों पूर्व ही बंगला साहित्य में नवप्रभात का आगमन हुआ था। नील-दर्पण की भूमिका में डा० महादेव शाहा ने बंकिम चन्द्र को उद्धृत करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि उनके अनुसार सन् १८५९-६० बंगला साहित्य में चिरस्मरणीय है क्योंकि यह नवीन जमीन एवं प्राचीन का संधिस्थल है। ''प्राचीन धारा के अन्तिम प्रतिनिधि ईश्वर गुप्त सन् १८५९ में दिवंगत हुए थे और माइकेल मधुसूदन दत्त नवोदित हुए। १८६० में 'तिलोत्तमा' और १८६१ में 'ब्रजांगना' प्रकाशित हुई। कवीन्द्र रवीन्द्र के गुरु कवि बिहारी लाल के 'स्वप्न दर्शन' और 'संगीत सतर्क' क्रमशः १८५८ और १८६२ में प्रकाशित हुए। इसी बीच बंगला साहित्य में अनेक गद्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।'' यद्यपि भारतेन्दु का जन्म सन् १८५० में हुआ किन्तु बंगला गद्य की भाँति ही इसके पूर्व हिन्दी में परिमार्जित गद्य लिखा जाने लगा था। भारतेन्दु केवल ३५ वर्ष तक ही जीवित रहे किन्तु इस बीच उन्होंने हिन्दी गद्य को सशक्त ही नहीं बनाया अपितु उसकी एक ऐसी सार्वजनीन शैली प्रचलित कर दी जो शनैः शनैः सम्पुष्ट होती गयी।

चतुर्वेदी जी ने इस भाषण में १८५७ के सम्बन्ध में अनेक ऐसे मौलिक तथ्यों की उद्भावना की है जिनका उल्लेख हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास में नहीं मिलता। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इसमें उद्घाटित अधिकांश तथ्य चतुर्वेदी जी के लिए 'आँखों देखी' है 'कागद को लेखी' नहीं। इन्होंने अंग्रेजी राज्य के प्रति तत्कालीन साहित्यकारों की तथाकथित 'भक्ति-भावना' के सम्बन्ध में तर्कपूर्ण एवं युक्ति संगत व्याख्या प्रस्तुत की है। यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि इसे खुशामद वृत्ति समझना भूल है। उनका निम्नलिखित उद्धरण इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—

'प्रायः एक हजार वर्ष से पद दलित, कानून की सुरक्षा से वंचित, निरंकुश शासकों से पीड़ित और नवाबी से त्रस्त हिन्दुओं पर इसका जो नैतिक और मानसिक प्रभाव पड़ा उसकी आज कल्पना करना भी कठिन है। वे उत्तर भारत में स्वयं अपने को उनके शिकंजे से बचाने में असमर्थ थे। इतनी शदियों बाद उन्हें अपने ही देश में पूर्ण नागरिक अधिकार देने और नवाबी के अत्याचारों से बचाने तथा कानून की दृष्टि में विशेषाधिकार प्राप्त मुसलमानों के समान स्तर पर लाने का कारण उन्होंने अंग्रेजों को समझा। अतएव उस समय की नवाबी से पीड़ित हिन्दू पीढ़ी को अंग्रेज उद्धारक के रूप में दीख पड़े थे।

उन्होंने अंग्रेजों को जिस प्रकार अपने उद्धारक के रूप में देखा था, उसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि भारतेन्दु ऐसे देश-भक्त लोगों में भी अंग्रेजों के प्रति हार्दिक राज-भक्ति थी।'

यह प्रवृत्ति उस काल के उनके लगभग सभी सहयोगी साहित्यकारों—चौधरी बद्रीनारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र आदि में भी मिलती है। ठीक यही प्रवृत्ति बंगला साहित्य में भी मिलती है। श्री केदारनाथ बन्द्योपाध्याय ने बड़े परिश्रम से अट्ठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी में 'कवि गानों' को एकत्र कर सन् १८९४ ई० में 'गुप्त रत्नोद्धार' के नाम से प्रकाशित किया था। जिस प्रकार उत्तर भारत में 'लखनी-गायकों' के कलगी और तुर्रा सम्प्रदाय थे और इन दोनों में आपस में पद्यों में वाद-विवाद चलता था उसी प्रकार बंगला के कवि भी किसी विषय को लेकर पक्ष और विपक्ष में कविता-गान करते थे। उनमें एक कवि चितान गाना था तो उसका विपक्षी 'महरा'। विशाल जनता उसको रात भर सुनती थी। बंगाल में मुसल-मानी राज्य तथा निलहे अंग्रेजों से समस्त प्रजा त्रस्त थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बाद जब शासन-सत्ता ब्रिटेन की रानी विक्टोरिया के अधिकार में आयी तो जनता में उल्लास की लहर दौड़ गई। इसका उल्लेख निम्नलिखित कवि-गान (चितान) में मिलता है—

तुमि विश्वमाता बिक्टोरिया थाकें बिलायते !
आमरा माँ सब तोमार अधीन दीन चिरदिन
शुभ दिन माँ भारते !
कोम्पानि राज उठिये निले के बुझे तोमार लीले ?
निले माँ एह भारतेर भार
शेये शुभ समाचार !

इसके अतिरिक्त इस काल की अन्य प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुए व्याख्याता ने आर्य-समाज की स्थापना, शिक्षा के माध्यम, लिपि की समस्या, बिहार-उत्तर प्रदेश के विभिन्न हिन्दी लेखकों के साहित्यिक योगदान, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी शिक्षा की समस्या, सरकारी काम-काज के लिए हिन्दी के प्रवेश के लिए संघर्ष, हिन्दी के प्रयोग में तत्सम एवं देशी शब्दों के प्रयोग में अन्तर्द्वन्द्व, ब्रजभाषा और हिन्दी के पारस्परिक सम्बन्ध एवं हिन्दी भाषा को कुछ अंग्रेजी शासकों की देन आदि प्रमुख विषयों पर एक प्रमुख दृष्टिकोण अपना कर कार्य किया है ।

'सत्यार्थ प्रकाश' को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा स्वामी दयानन्द सरस्वती को श्री केशवचन्द्र सेन एवं मुरादाबाद के राजा जयकृष्ण चतुर्वेदी जी से मिली थी । आर्य समाज ने हिन्दी गद्य के निर्माण में बड़ा योगदान किया । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश की भाषा को इसके दूसरे संस्करण में पर्याप्त मात्रा में परिमार्जित किया । ये सारी बातें हिन्दी के इतिहास में प्रथम बार प्रकाश में आईं ।

हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को कचहरी में स्थान दिलाने के लिए उत्तरी भारत में जो आन्दोलन हुआ था उसका भी चतुर्वेदी जी ने बहुत रोचक वर्णन किया है । मुसलमानों ने उर्दू को अपनी जबान घोषित कर भाषा के रूप में हिन्दी का अस्तित्व भी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था । स्वयं सर सैय्यद अहमद उसे गँवारू बोली बताते थे । कचहरियों में एक भाषा उर्दू लिपि के प्रचलन से बहुसंख्यक जनता को अत्यधिक कष्ट था । अतः कचहरियों में नागरी के वैकल्पिक रूप में प्रवेश के लिए आन्दोलन चल पड़ा, जिसका आरम्भ भारतेन्दु ने किया था । उन्होंने इण्टर कमीशन के सामने जो साक्ष्य दिया था वह बहुत महत्वपूर्ण है । उन्हीं की प्रेरणा से सारे हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी आन्दोलन ने जोर पकड़ा था । उनकी मृत्यु के बाद भी यह आन्दोलन चलता रहा । तत्कालीन अयोध्या नरेश महाराज प्रतापसिंह कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह, अलीगढ़ के बाबू तोताराम इसके नेता थे । बाद में महामना मालवीय जी इस आन्दोलन के नेता हुए । मालवीय जी की अध्यक्षता में एक शिष्ट-मंडल तत्कालीन छोटे लाट सर एन्थोनी मैकडोनेल से मिला । अंग्रेज शासकों में ये पहले व्यक्ति थे जिन्हें हिन्दी के प्रति सहानुभूति थी । वे इस मत के थे कि बहुसंख्यक हिन्दुओं की लिपि देवनागरी की उपेक्षा नहीं की जा सकती । पर यह विषय राजनैतिक बन चुका था और मुसलमान इसका विरोध कर रहे थे । इसलिए वे बिना भारत सरकार की स्वीकृति के कोई आदेश नहीं दे सकते थे । उस समय लार्ड कर्जन भारत के वायसराय थे । यह मामला उनके पास गया । उन्होंने इस समस्या पर तटस्थता से विचार कर न्याय किया और देवनागरी के प्रति अपनी सहानुभूति दिखलाई । इस सम्बन्ध में पं० चतुर्वेदी जी ने जो उद्धरण दिया है, वह इस प्रकार है—

"The howls of mussalmanas merely represent the spleen of a minority from whose hands are slipping away the reins of power and who clutch at any method of arbitrarily relieving them."

अर्थात् होहल्ला मचाने वाले ये मुसलमान एक ऐसे क्षुब्ध अल्पसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं

जिनके हाथ से शासनाधिकार खिसक रहा है । और जिससे वे येन केन प्रकारेण चिपके रहने के लिए कोई भी ढंग अपनाने को तत्पर हैं ।

तत्पश्चात भारत सरकार की अनुमति मिलते ही अप्रैल १९०० में सर एन्थोनी ने देवनागरी का वैकल्पिक प्रयोग कचहरियों और निम्न स्तर के राज काज में करने का आदेश दे दिया ।

चतुर्वेदी जी ने अपनी इस पुस्तक में अनेक ऐसे मौलिक तत्वों का समावेश किया है जिस पर अलग-अलग अधिनिबन्ध लिखे जा सकते हैं । आपने सर्वश्री अम्बिकादत्त व्यास, श्रद्धाराम फुल्लौरी, लज्जाराम मेहता, अमृतलाल चक्रवर्ती, माधवराव सप्रे जैसे हिन्दी प्रेमियों एवं साहित्यिकों के हिन्दी के लिए योगदान का उल्लेख किया है । वास्तव में ये सभी विद्वान लेखक हिन्दी की नींव की ईट थे । इसी प्रकार आर्य समाज के प्रतिक्रिया रूप में व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयाल शर्मा एवं श्री ज्ञानानन्द आर्य ने हिन्दी के सम्बन्ध में अपनी पुस्तकों एवं व्याख्यानों द्वारा जो कार्य किया उनका भी उल्लेख चतुर्वेदी जी ने अपने भाषण में किया है ।

कतिपय लोगों की यह धारणा है कि खड़ी बोली को प्रतिष्ठापित करने में इसके पक्षधरों को ब्रजभाषा से अत्यधिक संघर्ष करना पड़ा था । चतुर्वेदी जी ने अपनी इस पुस्तक में इस तत्थ्य का भी निराकरण किया है। उनके अनुसार खड़ी बोली के अधिकांश कवि ब्रजभाषा के कवि थे और इनमें से किसी को खड़ी बोली के प्रति किसी प्रकार का विद्वेष न था ।

अपने इस भाषण में चतुर्वेदी जी ने खड़ी बोली के उद्‌गम के सम्बन्ध में एक बड़े पते की बात कही है । पं० श्रीधर पाठक के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए आप लिखते हैं—"प्रश्न उठता है कि पाठक जी को खड़ी बोली में कविता लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली ? उनकी मातृभाषा ब्रजभाषा थी और उनके पिता परम वैष्णव थे । उनके घर का वातावरण ब्रजभाषामय होने के कारण उनके संस्कार भी ब्रजभाषा के थे जो उनमें जीवन पर्यन्त बने रहे । बात यह है कि जिन दिनों वे आगरे में पढ़ते थे, उन दिनों वहाँ खयालबाजी की बड़ी धूम थी । साल में दो या चार बार यहाँ खयालबाजों के बड़े दंगल हुआ करते थे । उस युग के प्रसिद्ध खयालबाज पं० हरिवंश, पं० पन्नालाल एवं श्री रूपकिशोर आर्य आगरे ही में रहते थे । चतुर्वेदी जी के अनुसार इनके खड़ी बोली में लिखित खयालों से ही पाठक जी को खड़ी बोली में कविता लिखने की प्रेरणा मिली थी ।

हिन्दी भाषा और शैली के सम्बन्ध में भी चतुर्वेदी जी के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । हिन्दी की अपनी प्रकृति यह है कि इसमें अधिक से अधिक देशी शब्दों का प्रयोग किया जाय और इसे तत्सम शब्दों के भार से बचाया जाय । वास्तव में भाषाएँ दो प्रकार की होती हैं । इनमें एक श्रेणी की भाषाएँ वे हैं जो अपने ही प्रत्ययों से नवीन शब्दों का निर्माण करती हैं किन्तु दूसरी श्रेणी की वे भाषाएँ हैं जो अन्य भाषाओं से बने बनाये शब्दों को उधार ले लेती हैं । इनमें से पहले प्रकार की भाषा जर्मन तथा दूसरे प्रकार की भाषा अंग्रेजी है । आधुनिक आर्य भाषाओं में पहले प्रकार की भाषा हिन्दी और मराठी तथा दूसरे प्रकार की भाषा बंगला है जिसमें लगभग पचास प्रतिशत संस्कृत के तत्सम शब्द हैं । चतुर्वेदी जी हिन्दी की शैली को सरल सार्वजनिक एवं सुबोध बनाने के लिए उसमें देशी शब्दों का प्रयोग आवश्यक मानते हैं । यह वास्तव में प्रयागी शैली है जिसके पं० बालकृष्ण भट्ट, महामना मालवीय, बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन, पं० कृष्णकान्त मालवीय अनुगामी थे और आज भी इस शैली के प्रबल समर्थक पं० पद्मकान्त मालवीय हैं । चतुर्वेदी जी के एकेडमी के भाषण की भाषा उनके विचारों के अनुरूप सहज बोधगम्य एवं प्रसाद गुण युक्त है ।
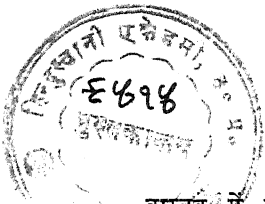
चतुर्वेदी जी का दरबार

वास्तव में दरबार, राजा, महाराजाओं एवं सामन्तों का होता है और चतुर्वेदी जी का इसके साथ सम्बन्ध जोड़ना उचित प्रतीत नहीं होता किन्तु लोगों ने इसका सम्बन्ध चतुर्वेदी जी के साथ जोड़ दिया है। अतः शीर्षक रूप में इस शब्द का प्रयोग ऊपर किया गया है। इस विषय में तथ्य यह है कि चतुर्वेदी जी के आस-पास प्रायः साहित्यिकों की मण्डली आ जुटती है। उनका घर साहित्यिकों का एक प्रसिद्ध अड्डा बन गया है। बंगला के प्रसिद्ध साहित्यकार स्वर्गीय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का घर भी साहित्यिकों का एक प्रसिद्ध अड्डा था। यहाँ बंगला के वयोवृद्ध एवं उदीयमान साहित्यकार एकत्र होकर अपने विचार व्यक्त करते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तरायण में भी आचार्य क्षिति मोहन सेन, पं० विधुशेखर भट्टाचार्य एवं पं० हजारी प्रसाद जी अड्डा देने जाते थे।

इसी प्रकार की संगोष्ठी चतुर्वेदी जी के हॉल में भी होती है। यहाँ हिन्दी की विविध विधाओं के वृद्ध एवं युवक साहित्यिक आ जुटते हैं और चायपान के साथ-साथ साहित्य चर्चा करना आरम्भ कर देते हैं। जिस प्रकार लन्दन के हाइडपार्क में मुक्त रूप से विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है उसी प्रकार यहाँ भी लोगबाग प्रतिबन्ध से मुक्त हैं। यहाँ ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली की सरस कविताओं का पाठ होता है तथा प्राचीन एवं नवलेखन के विविध पक्षों पर तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। विचार व्यक्त करने की शैली प्रायः संयत एवं शान्त होती है। किन्तु कभी-कभी वातावरण उग्र एवं संघर्षपूर्ण भी हो उठता है। इस प्रकार की एक घटना का मुझे आज भी स्मरण है जिसे यहाँ प्रस्तुत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

चतुर्वेदी जी के अड्डे पर साहित्य-चर्चा चल रही थी और लोग चाय का पहला दौर समाप्त कर चुके थे कि इतने में यहाँ संयोग से दो महारथी आ पहुँचे। इनमें से एक थे निराला जी तथा दूसरे थे कानपुर के पं० जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी'। उस युग में निराला जी की दो कविताएँ—'कुकुरमुत्ता' एवं 'खजोहरा' बहुत प्रसिद्ध हो चुकी थीं। न जाने किस प्रकार खड़ी बोली में भावपूर्ण कविता लेखन के संदर्भ में बातें चल पड़ीं और 'हितैषी' जी ने कहा—"तुम्हें अपनी कविताओं पर बहुत नाज़ है। ऐसी कविताएँ तो मैं बात-बात में लिख सकता हूँ। थोड़ी देर लिए ये महारथी बैठे-बैठे बातें करते रहे, इसके बाद खड़े होकर उन्होंने आस्तीन चढ़ाना आरंभ किया और जोर-जोर से बोलने लगे। अन्य साहित्यिकों ने इन्हें बैठाया। इसके बाद हितैषी जी ने स्वच्छन्द रूप से निराला जी पर विशुद्ध खड़ी बोली में भड़ौआ सुनाना आरंभ किया। सभी लोग आनन्द लेने में मग्न हो गए। इसके बाद चाय, नमकीन एवं मिठाई का दूसरा दौर चला और लोग प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घर गए।

चतुर्वेदी जी के यहाँ की संगोष्ठियों की यह विशिष्टता है कि इनका समारंभ साधारण बातों से होता है किन्तु बाद में धीरे-धीरे स्मृतियों एवं अनुभूतियों से प्रसूत विचार वहाँ एकत्र हुए लोगों के सामने आने लगते हैं। उन विचारों में अनेक मौलिक एवं ज्ञानवर्धक तत्व उपलब्ध होते हैं। यद्यपि टेपरिकार्डर का प्रयोग प्रचलित हो गया था किन्तु किसी के ध्यान में यह बात न आई कि इन विचारों को टेप कर लिया जाय। यदि ऐसा हुआ होता तो आज अनेक बहुमूल्य विचार रत्न उपलब्ध होते।

चतुर्वेदी जी का जीवन

औपनिषदिक एवं बौद्ध दर्शनों में जीवन व्यतीत करने के लिए चार तत्वों—उपेक्षा, मुदिता, करुणा एवं मैत्री को अत्यावश्यक बतलाया गया है। चतुर्वेदी जी के जीवन में ये चारों तत्त्व वर्तमान हैं। उन्होंने

अपने जीवन में किसी को न तो कभी कष्ट दिया और न कष्ट देने वालों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया। वे जीवन में अत्यन्त उदार एवं मित्रों के लिए सर्वस्व अर्पित करने के लिए सदैव तत्पर रहे। वे दूसरों का कष्ट सुनकर अत्यन्त करुणा विगलित हो उठते हैं और उसे दूर करने के लिए अनेक प्रकार का प्रयत्न करते हैं। वे प्रेम की मूर्ति और मैत्री के अवतार हैं। वे सदैव अपने मित्रों के दोषों को ढकने एवं भूलने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि उनके मित्र सदैव उनकी ओर आकृष्ट रहते हैं। वे अजात शत्रु हैं क्योंकि उनके अन्तःकरण में सदैव शत्रुता के भाव का अभाव रहता है। उनका जीवन जड़ता या यान्त्रिकता से उपर उठा हुआ सचेत एवं वास्तविक जीवन है। लगभग ५० वर्षों तक उनके अति निकट रहकर मैंने यह अनुभव किया है कि उनमें अतीत की अप्रिय एवं दुखद घटनाओं को भूलने एवं उनसे मुक्त होने की अपूर्व क्षमता है। उन्होंने कभी भी अर्थ एवं शक्ति के पीछे दौड़ नहीं लगाई। उन्हें सदैव इस तत्त्व का बोध रहा है कि मानव जीवन का अन्त कभी जन्म एवं मृत्यु से नहीं होता। वे मृत्यु का भी उसी प्रसन्नता से वरण करने के लिए तैयार बैठे हैं जिस प्रकार वे वर्तमान काल में अपने जीवन को व्यतीत करते हुए जीवन की चुनौतियों से सामना करने के लिए तैयार हैं। इन सभी तथ्यों के प्रमाण मेरे पास उपलब्ध हैं किन्तु उन्हें यहाँ अंकित कर मैं इश लघु संस्मरण के कलेवर की वृद्धि नहीं करना चाहता। चतुर्वेदी जी का जीवन हिन्दी के लिए एक समर्पित जीवन है। हिन्दी के प्रश्न पर एक बार लोक सभा में कतिपय व्यक्तियों को छोड़कर जब टंडन जी के कई हिन्दी प्रेमी अलग हो गये तो टंडन जी ने तनिक भी निराश एवं विचलित न होते हुए कहा था—"मैं यहाँ हिन्दी का एक मात्र प्रतिनिधि हूँ और जो बातें यहाँ मैं नपी-तुली भाषा में कह रहा हूँ वह सर्वाशतः सत्य है। चतुर्वेदी जी लोकसभा के सदस्य नहीं हैं, किन्तु यदि सम्पूर्ण हिन्दी जगत की ओर से एक मात्र प्रतिनिधि का वे दावा करें तो मुझे विश्वास है कि निखिल हिन्दी-जगत उनके इस दावे का एक स्वर से समर्थन करेगा।"

भैया साहब

विद्यानिवास मिश्र

●

भैया साहब के बारे में कुछ भी लिखते समय बड़ा डर लगता है। एक बार गोरखपुर में मेरे घर भैया साहब की ज्येष्ठ पुत्र वधू आयीं, बाहर पिताजी बैंठे हुए थे। उनकी आवाज़ में बड़ी कड़क थी। एक ही पुकार में किसी को तुरन्त पहुँच जाना होता था। बहूजी ने वह आवाज़ सुनी और बोलीं—यह तो भैया साहब जैसी आवाज़ है। मैंने भी भैया साहब को पहली बार जब १९३९ में देखा तो वे विद्यालय निरीक्षक के रूप में मेरे स्कूल में मुआइने में आये थे। मैं नवीं कक्षा में था, हिन्दी की कक्षा चल रही थी, भैया साहब दाखिल हुए, गौरवर्ण, साहबी वेश और 'धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्' (धरती को झुकाती हुई पदचाप), मस्तक पर हल्की सी केशर की श्री, आते ही सन्नाटा छा गया। पंडित जी धर्रा गये, मेरे पास ही बैंठे थे (स्व०) विनोद बिहारी श्रीवास्तव, उनसे भैया साहब ने कहा—पढ़ो, विनोद बड़े लजीले थे, फिर मुझसे कहा—पढ़ो, ढीठ तो मैं था, पर मैं भी सहम गया। पढ़ने लगा—सम्पादक शब्द आया, विनोद फिर शिकार हुए—सम्पादक का क्या अर्थ समझते हो ? उन्होंने कहा—एडीटर। भैया साहब ने कहा—यह तो मघवा की टीका बिड़ौजा हो गयी (मूल से भी अधिक कठिन पर्याय)। अब पंडित जी घबराये कि लुटिया डूबी, तुरत बोल उठे—मुझे मघवा के बावन पर्याय याद हैं। भैया साहब ने डाँटा—मैं आपसे पूछता हूँ, और यहाँ सम्पादक के अर्थ का प्रश्न है। फिर उन्होंने सम्पादक का अर्थ स्वयं समझाया। मुआइना खत्म हुआ। उनकी वह पहली स्मृति आज भी उद्दीप्त है। सोचता हूँ कि जिस सम्पादक का सही-सही अर्थ

उन्होंने बचपन में समझाया, उसी सम्पादक की भूमिका मैं अदा करने जा रहा हूँ—सम्पादकों के सम्पादक की रचनाओं का संकलन प्रस्तुत करते समय। कैसी विडम्बना है! जिन्हें सदा पिता के तुल्य माना, उसी तरह उनसे डाँट पाता रहा हूँ, उनसे अमित स्नेह पाता रहा हूँ, उन्हीं की रचनाओं का चयन मैं करूँ, मैं स्वयं समझ नहीं पाता था, मैं अधिकारी भी हूँ या नहीं। पर अब तो संकलन कर ही लिया, कुछ ढीठ हो गया, अब उनके व्यक्तित्व की झाँकी प्रस्तुत करनी है, यह सोचकर घबरा उठा हूँ। सही-सही लिखूँ तो डाँट पड़ेगी, मुझे प्रशस्ति नहीं चाहिए और उनमें अनुपस्थित अवगुणों की चर्चा करूँ, यह मेरे बूते की बात नहीं। वे कहते हैं कि व्यक्ति के गुण-अवगुण दोनों की चर्चा न की जाय तो व्यक्ति का चित्र अधूरा रहता है। इसलिए लाचार होकर मेरी दृष्टि में जो उनके अवगुण हैं, उन्हीं की चर्चा से प्रारम्भ करूँगा।

पहली बात जो उनकी अखरती है कि वे बड़े बारीक ब्यौरे में जाते हैं और बला की अक्ल रखते हैं। हम लोग ठहरे ढीलेढाले आदमी, उनको जाने किस मास्टर ने पढ़ाया, इंच-पटरी लेकर बैठ जायेंगे और नापजोख शुरू कर देंगे। यहाँ अद्वैतवादी चिन्तन का अभ्यास सब कुछ सपाट दिखता है, इसलिए कहीं कोई काम उन्होंने सौंपा और उसमें किसी ब्यौरे में चूक हुई तो बस खैरियत नहीं। पता नहीं दिमाग है कि अणु-शक्ति का कारखाना, उन्हें कुछ भूलता ही नहीं। उनके अन्दर जिन लोगों ने काम किया है, उनकी पिंडली काँपती थी और आज भी काँपती है, जब सामने उपस्थित होना होता है। श्री बलवन्त सिंह स्याल जैसे छ: फुटे जवान के बारे में भैया साहब के मित्र कहा करते थे—भाई चतुर्वेदी, तुमने इस सिंह को बिल्ली बना दिया है। बस और कोई जादू नहीं, यही ब्यौरे वाला करामाती दिमाग़, हर किसी की आफत, किताब छापने वाले प्रकाशक की आफ़त, रेखाचित्र या डिज़ाइन बनाने वाले कलाकार की आफ़त, अधीन काम करने-वाले अधिकारी और क्लर्क की आफ़त, हर आदमी इसीसे हैरान रहता है कि इस आदमी को झाँसा नहीं दिया जा सकता। अक्ल कुछ फिजूल की भगवान ने दे दी कि कोई भी आदमी आया, आपको पहले से ही पता, किस प्रयोजन से आये हैं। याददाश्त की हालत यह है कि अपने बाल्यकाल का वृत्तान्त लिखने बैठे तो ऐसी ऐसी बातें याद आती गयीं कि दो वर्ष हो गये, अभी प्राइमरी शिक्षा से ही आगे नहीं बढ़ पाये हैं। अब ऐसे आदमी से आदमी भय न खाय तो क्या करे।

इतना ही नहीं, बड़े कठोर अनुशासन वाले आदमी हैं। बिचारा बड़ा लड़का यूनिवर्सिटी में रीडर हो गया, पर हिम्मत नहीं कि सामने प्रणाम के अलावा एक शब्द भी मुँह से निकाल सके। शिकायत करते हैं कि श्री शैलनाथ (बड़े लड़के) लखनऊ आते हैं, मुझे पता ही नहीं चलता क्या करते हैं, कहाँ रहते हैं। अब कोई कैसे पूछे कि कभी आप बुलाते भी हैं बिचारे को, आप तो क्षेत्र सन्यास लिए अपने कमरे में बैठे हैं, वह भागा भागा न फिरे तो करे क्या! यह तो कहिए कि अनुशासन की काट जानने वाले उन्हीं के घर में पैदा हो गये हैं, उन्हीं के छोटे सुपुत्र कैप्टेन आदित्यनाथ चतुर्वेदी, पूरी मिलिटरी डिसिप्लिन के साथ सामने खड़े हो जाते हैं और भैया साहब ने कहा—तुम गधे हो, आदित्य ने तपाक से कहा, जी साहब, भैया साहब ने कहा, तुम निहायत गैरजिम्मेवार हो, आदित्य ने सैल्यूट मारा—जी साहब और चार पाँच जी साहब के बाद भैया साहब का अनुशासन ठंडा, या फिर जयगोपाल मिश्र जैसे 'निघरघट' (बेशर्म) किस्म के आदमी हों—लो भैया साहब, अब जी भर डाँटो, जयगोपाल तो तान कर लेटते हैं, नींद आ रही है। पर मेरे जैसे आदमी के लिए यह अनुशासन बड़ा संकट है। हुक्म हुआ, मेरे सम्मान में कुछ भी करो पर अभि-नन्दन का नाटक मत करो, मेरी रचनाओं के संकलन के साथ मेरे व्यक्तिगत जीवन पर प्रशंसात्मक लेख न छापो, मुझे जो भी पत्र स्नेहपूर्वक दो, उसमें प्रशस्तिवाचक विशेषण न हों। अब मैं सोचने लगा, तो करूँ क्या, चौबेजी लोगों के यहाँ से कोई चूनी-मूनी बुलाऊँ और उन्हीं से भैया साहब को प्रेमवार्त्ता सुनवाऊँ (जिसमें

उनके नकली दाँतों, सफ़ेद केशों और कड़कदार आवाज़ की स्तुति हो) या फिर इतना ही लिखकर चुप हो जाऊँ—"हाज़िरीन जलसा, बड़े विकट आदमी के सम्मान में यह समारोह आयोजित किया गया है, एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा, एक तो वैसे ही करुए चौबे कुल में जनमे, फिर पंडित द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी जैसे जाज्ज्वल्यमान पिता की कठोर दृष्टि की छाया में बड़े हुए और उसी समय स्व० बालकृष्ण भट्ट जैसे प्रचण्ड तपस्वी ब्राह्मण की निष्ठा में तचे, दूसरे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे बीहड़ सेवाव्रती के द्वारा हिन्दी सेवा के व्रत में दीक्षित हुए, इनके सम्मान में एक भी शब्द बोला गया तो ये बौराह वर की तरह मण्डप से भाग खड़े होंगे, इसलिए आपसे अर्ज है, इनके बारे में कुछ न कहें, इनके उस्तादों के बारे में कहें या फिर चाहें तो उन्हें कोसें कि जाने कैसा चेला उन्होंने मूँड़ा कि सही बात भी नहीं कहने देता, अब चौरासी वर्ष के हो गये, तब भी हिन्दी के लिए नाहक सिरदर्द मोल लिए हुए हैं, और हिन्दी के लिए हवा से भी लड़ने पर उतारू हैं, शरीर शिथिल हो तो भी उसको कसे हुए हैं, आज मथुरा जा रहे हैं तो कल मारीशस जा रहे हैं, फ़कीरी ऐसी कि उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कार दिया, आपने उसकी राशि पुस्तकालय को दे दी। स्नेह ऐसा आक्रामक कि अगर दूसरी जगह लखनऊ में ठहरे तो खैर नहीं और ठहरे तो फिर सुबह से रात तक खिलाने की व्यवस्था में ज़बर्दस्ती लगे हुए, मेहमान उम्र में छोटा होगा ही, कुछ बोल नहीं सकता। तो साहिबान, इनकी प्रशंसा में कुछ न कहें। जो माला लाये हुए हैं, उन्हें इनके ऊपर वार कर अपने गले में डाल लें, घर जायँ।"

पर कुशल यह हुई कि उनसे उम्र में एक आदमी आदरणीय रायकृष्ण दास जी कुछ बड़े मिल गये, उनसे मिलकर अभिसन्धि की, राय साहब, आप ही बतलाइए, क्या करूँ, प्रशस्ति में सही बात भी कहने नहीं दे रहे हैं, इस अत्याचार का प्रतीकार बतलाइए। रायसाहब ने लिखकर मुझे दे दिया है, कह दीजिए, मैं यह सब कुछ नहीं सुनूँगा, सम्मानपत्र में प्रशस्ति की जायेगी, कोई ज़बर्दस्ती है क्या! बस थोड़ा सा बल मिल गया तो अपनी बात कहने का साहस हो रहा है, नहीं तो मन मसोस कर रह जाना पड़ता।

भैया साहब अनबूझ पहेली हैं। तत्त्वतः वे कर्त्तव्यकठोर साधक हैं या सहृदय श्रीवर हैं या अपने घर को स्वाधीनता हाल के रूप में जगाने वाले, सारी दुनिया की मसखरी करने वाले श्री विनोद शर्मा हैं या स्नेहकातर गुरुजन हैं, कुछ समझ में नहीं आता। तीस वर्षों से उन्हें जानता हूँ, उन्हें कई रूपों में देखा है, खीझते हुए, रीझते हुए, हँसते हुए, हँसाते हुए और निश्शब्द शोक करते हुए, असंख्य लोगों का प्रतिपालन करते हुए और उस प्रतिपालन से निरपेक्ष हो जाते हुए, बड़ों-छोटों सबको सम्मान देते हुए पर स्वयं सम्मान से सदा भागते हुए, अनेक उत्सवों के आयोजन करके तुरत नेपथ्य में जाते हुए, क्षण में ही तलवार की धार की तरह प्रखर और तप्त लौहपिंड की तरह दुस्सह बन कर फिर नवनीत की तरह पिघल जानेवाले और हिम की तरह शीतल हो जाने वाले। एक तो यह भी है कि कई रंग मिले हैं उनमें, एक तो है इटावे, छिपैंटी वाला विनोदी रंग, जो गहरी से गहरी चोट को फूल की तरह झेल लेता है और जवाब में बस फूल मारता है, जो एकदम अगर आदमी कलेजे वाला हुआ तो कलेजे पर ही चोट करता है, दूसरा है इलाहाबादी रंग (दारागंजवाला नहीं, महामना मालवीय जी के मुहल्ले वाला रंग), जो अभाव और विपन्नता की स्थिति पर भी इठला लेता है, भैया साहब बतलाते हैं कि पूज्य काका साहब (पं० द्वारिका प्रसाद जी चतुर्वेदी) कहा करते थे, 'अपनी गरीबी पर कभी लज्जित न होना, अपने अभाव पर गर्व करना, दूसरों से माँग कर ओढ़ा गया ऐश्वर्य ही लज्जा की वस्तु है'—तीसरा रंग है विशुद्ध दारागंजी रंग जिसमें महाकवि निराला और साँड़ रोज़ एक ही गली में मिल जाते हैं। जीवन के जितने बाँकपन हैं, सब एकमिल हो जाते हैं और एक अजीब भाईचारा उम्र, जाति, पेशा, शिक्षा के स्तरों को ढाहता हुआ स्थापित हो

जाता है। चौथा रंग है ब्रज का, रस में सराबोर, आस्तिकता में सराबोर, 'पीर पराई' में नहलाया हुआ, श्रीकृष्ण के दुर्निवार अकेलेपन की गहरी श्यामलता में डूबा हुआ। पाँचवा रंग निर्मम निस्संग कर्मवीरता का रंग है, जो परिवार, स्वजन सबके लिए चिन्ता कराता है और फिर सबसे निरपेक्ष कर देता है। एक रंग है विलायती व्यवस्था और नियमितता का, जो हर काम समय से करने की अपेक्षा रखता है, हर काम में सलीके पर जोर देता है, हर व्यवहार में मर्यादा और शिष्टता का ध्यान रखता है। पर सब रंगों के ऊपर चढ़ा हुआ रंग है, हिन्दी रंग, हिन्दी के नाम पर तन-मन-धन सब न्यौछावर, और हिन्दी रंग जिसमें न हो, उसके प्रति 'तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही' का निर्मम भाव तन जायेगा, हिन्दी रंग का अर्थ केवल भाषा नहीं, हिन्दी भाषा का पूरा का पूरा स्वदेशी संस्कार है, जो जितना ही स्वाभिमानी है, उतना ही विनम्र, जितना ही उदार है, उतना ही निष्ठा में दृढ़, जितना ही राजा है, उतना ही फकीर। भैया साहब भी उस रंग में डूब कर 'मन को महा महीप' हैं और फकीरी ठाट का तो फिर कहना ही क्या? संग्रह में दुर्लभ से दुर्लभ चित्र, कलाकृतियाँ थीं, उन्हें इधर-उधर दे दिया। किताबें और पुरानी पत्रिकाओं की थाती भी कहीं सौंपने जा रहे हैं, पास में एक से एक धराऊँ कमीजें और सूट हैं, जिनको बड़े गर्व से दिखलाते हैं, यह कमीज अभी शेरवानी के नीचे खप जायेगी। राजर्षि टंडन के शिष्य हैं न, बाबूजी (राजर्षि) चार धोती पर साल गुजार देते थे, धोती फटती थी तो तुरत लुंगी बन जाती थी, लुंगी फटती थी तो रूमाल बन जाती थी, रूमाल फटती थी तो झाड़न। अब झाड़न के बाद क्या होता था यह मैं उनसे पूछ नहीं सका था। यहीं तक का वृत्तांत उन्होंने सुनाया था। अभी भी यह हाल है कि कोई उन्हें कुछ दे नहीं सकता, किसी हिन्दी की संस्था से वे कुछ लेंगे नहीं, उल्टे गाहे-बेगाहे कुछ न कुछ देने की उन्हें बीमारी सी है। हर साल स्व० रामचन्द्र शुक्ल की जयन्ती अपने घर पर बड़ी धूमधाम से मनाते हैं, सुकवि मंडल के कवियों के लिए तो वे शाहंशाह ही हैं। हिन्दी के पुराने और वृद्ध साहित्यसेवियों के योग-क्षेम की चिंता इन्हें नाहक सताती रहती है। दूसरी ओर एकदम निस्पृह और निरा-कांक्ष हैं, ऐसे कि आपरेशन के लिए भर्ती हो गये और बड़े लड़के को खबर तक नहीं दी, बिचारे आये तो उल्टे डाँट पड़ी -- तुम्हारे आने की क्या जरूरत थी, यहाँ और लोग थे ही। पर मुझे लगता है, कमठ पृष्ठ कठोरता का यह कवच इसलिए है कि उन्होंने जिन्दगी में बहुत कुछ झेला है। काका साहब सरकारी नौकरी से अलग हुए, कठिन स्वावलम्बी जीवन बिताने लगे, भैया साहब आधे पेट तक रहकर पढ़ते रहे हैं। समृद्ध जीवन की आकांक्षा कर सकें, इसके लिए भी उस ज़िन्दगी में गुंजाइश नहीं थी। अपने बल पर आगे बढ़े। प्रयाग के जमुना मिशन स्कूल में पढ़ाते हुए उन्होंने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से इतिहास में सन् १९२१ में एम० ए० किया। तीन वर्ष तक उसके बाद कान्यकुब्ज इंटर कालेज में प्रिंसिपल रहे, प्रिंसिपल क्या रहे, उसके एक तरह से निर्माता रहे, कैसे उनकी अनुशासनबाजी के आगे बड़े ज़ालिम किस्म के प्रबन्धक भी नतमस्तक हुए, इसकी बड़ी लम्बी कथा है। सन् १९२५ में उन्हें जब इंगलैंड में शिक्षापद्धति सीखने के लिए छात्रवृत्ति मिली तो कोई यात्रा की तैयारी के लिए आवश्यक द्रव्य देनेवाला नहीं था। पर उनके प्रिंसिपल के रूप में कार्य से प्रसन्न होकर एक सज्जन ने अयाचित रूप से सहायता की। इंगलैंड में निरामिष भोजन का कठिन व्रत निभाते हुए इन्होंने जो योग्यता का प्रतिमान स्थापित किया, वह इनके प्रिंसिपल सर टी० पर्सी नन के शब्दों में इस प्रकार ग्रथित है—

Grade-Excellent

REMARKS : Mr. Chaturvedi is a man whose high character, enthusiasm, energy and professional competence have won the greatest respect from all who have had to deal with him. He came to us from India with an unusually good

experience and a record of excellent original educational activity, and he has established himself in the warm regard of the practising schools—elementary, central and secondary—in which he has taught. It would not be possible in a brief testimonial to catalogue the particulars of Mr. Chaturvedi's enterprise; he has found time and energy to visit and lecture in schools of many kinds in different parts of the country, has studied schools (as well as the League of Nations) at Geneva, is accompanying a school journey to Paris, and has set his pupils corresponding with boys in India. Altogether he is a man of outstanding vigour and earnestness of character, whose services to the education of his countrymen cannot fail to be of high value. His worth has been recognised in a conspicuous manner by his nomination (by the High Commissioner) to represent India upon the Committee of Educational Experts appointed in connexion with the section of the League of Nations for Intellectual Co-operation.

श्रेणी—सर्वोत्तम

टिप्पणी—श्री चतुर्वेदी ऊँचे चरित्र, उत्साह, कार्य-शक्ति और शिक्षण-योग्यता से सम्पन्न ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का अनायास अधिकतम सम्मान मिला है। वे हमारे यहाँ भारत से असामान्य रूप से समृद्ध अनुभव और उत्तम और मौलिक शैक्षणिक कार्य का कीर्त्तिमान लेकर आये और जिन-जिन प्रारम्भिक और माध्यमिक स्कूलों में उन्होंने अभ्यास शिक्षण किया, वहाँ उन्होंने आदर और प्रतिष्ठा पायी। उनकी उपलब्धियों की चर्चा संक्षिप्त प्रमाणपत्र में करना कठिन है, इस देश और अन्य देशों के स्कूलों में जाकर उन्होंने व्याख्यान दिये हैं। कुल ले देकर वे असाधारण क्षमता और निष्ठा वाले शिक्षाविद् हैं, जिनकी शैक्षणिक सेवा की मूल्यवत्ता उनके देशवासी अवश्य समझेंगे। उनकी योग्यता का एक प्रमाण यह भी है कि भारत के उच्चायुक्त ने उन्हें लीग आफ नेशन्स की शिक्षाविशेषज्ञ समिति में भारत का प्रतिनिधि मनोनीत किया है।

सन् १९२५ से सन् १९२७ तक इंगलैंड के अलावा यूरोप के अन्य देशों में भी शैक्षिक उद्देश्य से भ्रमण करते रहे—डेनमार्क, स्वीडेन, फ्रांस, जर्मनी, स्विट्ज़रलैंड और इटली में कभी सैलानी के रूप में, कभी सरकारी प्रतिनिधि के रूप में काफी घूमेघामे। १९२७ में विश्व शिक्षा सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में कनाडा गये। उसके अनंतर संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान की प्रारम्भिक शिक्षा पद्धति का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिए इन देशों में रहे और इस कार्य संकुल अनुभव भरित विदेशयात्रा के बाद स्वदेश लौटे तो १९२८ में शिक्षा विभाग में सीधे प्रथम श्रेणी की सेवा में नियुक्त हुए। शिक्षा विभाग में अनेक पदों पर रहे, अनेक कार्यों का सूत्रपात इन्होंने ही किया, जिनमें मुख्य कार्य हैं ग्राम्य जीवन का ज्ञान कराने वाला पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तक तैयार करना, शिक्षा-सर्वेक्षण, शिक्षा प्रसार-योजना (जिसके फलस्वरूप पहली बार हिन्दी की साहित्यिक रचनाओं की पुस्तकालय खरीद बड़े पैमाने पर शुरू हुई), १९३६–३७ में शिक्षा प्रदर्शिनी का आयोजन। विभिन्न पदों पर रहते हुए उत्तर प्रदेश के प्रायः सभी अंचलों में दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य इन्होंने यह किया कि कवि सम्मेलनों और अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताओं के आयोजनों के माध्यम से काव्य के प्रति जनरुचि का निर्माण किया। १९२८ से १९४८ तक उत्तर प्रदेश की शिक्षा-सेवा में इन्हें मधु-तिक्त दोनों प्रकार के अनुभव हुए। अंग्रेजी शासन में दो बार संकट में पड़े। एक बार तो इसलिए कि एक प्रख्यात राजनीतिक नेता की जेलयात्रा हुई। इस बीच उनकी पुस्तक खरिदवा कर उन्हें कुछ आर्थिक राहत उन्होंने दिलायी, इस पर सरकार का कोप हुआ। पर इन्होंने दृढ़ता से उसका सामना किया और

अपने कार्य को विशुद्ध रूप से अराजनीतिक सिद्ध कर दिखाया। दूसरी बार ऐसा हुआ कि गवर्नरी शासन में एक सलाहकार थे मार्श। उनके ऊपर रोमन की झक सवार थी। उन्होंने भैया साहब से कहा (ये उस समय शिक्षा-प्रसार अधिकारी थे)—तुम रोमन में छपी हिन्दी पुस्तकें ही वितरित करो। भैया साहब ने कहा कि अब तो यह असम्भव है, देवनागरी में हिन्दी की किताबें इतनी छप गयीं, शिक्षा का इतना प्रसार हो गया कि इतिहास की धारा पलटी नहीं जा सकती। मार्श बहुत नाराज़ हुए पर भैया साहब की उपपत्तिपूर्ण टिप्पणी के रहते हुए कुछ कर न सके। एक बार पत्रकारों के बीच उन्होंने अपने मन का अनुताप व्यक्त किया—शिक्षा विभाग में एक अड़ियल चतुर्वेदी है, वह मेरी रोमन चलने नहीं देता। इस प्रकार दोनों बार अपनी सूझबूझ से नौकरी के संकट से पार हुए।

ठीक उल्टे स्वाधीनता के बाद ये ऐसी अभिसन्धि के शिकार हुए कि कुछ न कर सके। इनकी शिक्षा निदेशक पद पर नियुक्ति का प्रश्न था। योग्यता क्रम में इन्हीं की सम्भावना थी, इनके एक सहयोगी ने यत्न किया कि एक पर्चा इनके विरुद्ध छपवा दिया जाय, जिससे इनकी पदोन्नति खटाई में पड़ जाय। पर्चा छपा तो ऊपर के लोगों ने कहा—आप प्रतिष्ठा भंग का मुकदमा दायर करके सिद्ध कीजिए कि पर्चा छपाने वाले ने असत्य बातें छपा कर आपका चरित्र हनन किया है, तब आपका चरित्र परिशुद्ध प्रमाणित होगा। वह मुकदमा लम्बा खिचा, उसी समय मैं उनके सम्पर्क में आया। झूठ कितना आसान है और सत्य कितना कठिन है, यह उसी समय अनुभव हुआ। भैया साहब का उसी समय तबादला हो गया था। इलाहाबाद में फौजदारी का यह मुकदमा था, उन्हें बार-बार आना पड़ता था। उसी बीच बड़ी लड़की कमला (जो अकेली संतान ऐसी थी कि भैया साहब की मुहलगी थी, एक प्रकार से वही पारिवारिक स्नेह सूत्र थी) जाती रहीं, उसका दुस्सह शोक अलग और अपने घनिष्ठ मित्रों द्वारा की गयी अभिसन्धि का मनस्ताप अलग, मुकदमे की झंझट अलग, भैया साहब कहते थे कि यह अग्नि परीक्षा हो रही है। पर मैंने देखा कि वे जानते थे, मुकदमा जीतने तक बीच में कार्रवाई ऐसी हो जायेगी कि उनकी पदोन्नति बाधित हो जायेगी, पर किसी से मिलने नहीं गये। हुआ भी यही, अभिसन्धि सफल हुई, जो आदमी नियुक्त हुए वे कालांतर में पाई-पाई भुगतान लेकर दूसरे देश में पलायन भी कर गये, भैया साहब मुकदमा तब भी लड़ते रहे, मुकदमे में जीत से उन्हें खुशी नहीं थी, एक बहकाये आदमी को (जिसके नाम से पर्चा छपा था) सज़ा हुई, उससे भैया साहब को बड़ा क्लेश था। केवल यह नहीं कि उस अवधि में भैया साहब का धैर्य अडिग बना रहा, बल्कि इससे भी बड़ी बात यह है कि उनमें कटुता नहीं आयी।

मुझे स्मरण है, मैं भी विश्वविद्यालय सेवा में एक भयंकर उलझन में पड़ा। भैया साहब ने लखनऊ बुलाया। पहले मुझे कुछ खीझ हुई कि यहाँ इलाहाबाद में मुकदमा लड़ रहे हैं, इस बीच क्या बुला रहे हैं, पर उन्होंने बुला कर यही कहा, देखो जिस जीवन की परीक्षा नहीं हुई, वह जीने योग्य नहीं (a life untes-ted is not worthliving)। केवल लड़ना ही नहीं काफी है, ऊँचे मनोबल से लड़ने की तारीफ़ है, विपक्षी या अत्याचारी को आभास न होने पाये कि तुम्हारे मन में कहीं टूटन है, कहीं मलिनता है, कहीं तिक्तता है, तब तुम्हारी लड़ाई लड़ाई है। कैसे शब्दों में कहूँ, उनकी बात ने मुझे बड़ा बल दिया, सरस्वती में उन्होंने मेरे सम्बन्ध में जो सम्पादकीय लिखा, उसमें वे एकदम भावुक हो गये (प्रायः सम्पादकीय में आवेश की भाषा कम प्रयोग करते हैं), वह पढ़ कर मुझे मन में बड़ा संकोच हुआ। पर उन्होंने संघर्ष से जो पाठ पढ़ा था, वही सिखाया और मैं संघर्ष पार कर सका। इसका श्रेय उनके प्रोत्साहन को है और स्व० डाक्टर लोहिया के सहारे को है।

भैया साहब के व्यक्तित्व का यही पक्ष सबसे अधिक श्रद्धास्पद है। वे अपने से छोटों का इतना ख्याल

रखते हैं कि उनकी डाँट न मिले तो सूना सा लगता है, हर डाँट के पीछे मंगल-कामना छिपी रहती है। जहाँ तक स्नेह-कातरता का प्रश्न है, उसका स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। ऊपर से बड़ा नाटक करेंगे, हमसे क्या मतलब, पर भीतर से ऐसी अकुलाहट रहती है कि निकट के लोगों से दुराये नहीं दुरती। आदित्य बंगला देश युद्ध के बाद लौट रहा था, भैया साहब बनारस आये हुये थे, आदित्य बनारस होते हुए युद्ध बन्दियों की ट्रेन ले जा रहा था। हम लोग काशी स्टेशन मिलने गये, भैया साहब गये नहीं, वही निस्संगता वाला बानक, पर हम लोग लौट कर आये और जब हालचाल पूछने लगे तो स्वर एकदम गद्‌गद् हो आया, पुत्र की शौर्य-गाथा से आनन्द विह्वलता प्रकट हुए बिना नहीं रही। पिछले कुछ वर्षों में उन्हें कई शोक के आघात मिले, दो छोटे भाई सामने जाते रहे, सबसे बड़े लड़के के रूप में जिन्हें पाला, वे उपेन्द्र दादा जाते रहे, लखनऊ में प्रतिदिन के सुख-दुःख के अभिन्न मित्र पं० निर्मलचन्द्र चतुर्वेदी जाते रहे, कई प्रिय शिष्य विदा हुए, जिनमें स्व० कान्तानाथ पाण्डेय को बहुत मानते थे। इन शोकों को उन्होंने निश्शब्द वहन किया, पर भीतर से वे जर्जर हो गये हैं। रात-रात भर उपेन्द्र दादा, प्रताप चाचा और निर्मलजी को ही बिसूरते रहे हैं, पर इस शोकसम्भार को झेल कर भी जहाँ तक जीवनव्रत के रूप में हिन्दी-सेवा का प्रश्न है, आज भी उतने ही सक्रिय हैं, उतनी ही स्फूर्ति है। शरीर नहीं भी साथ देता तो भी उसे जोते रहते हैं। इस उम्र में उन्होंने विश्व हिन्दी सम्मेलन के लिए मारीशस यात्रा की, और मारीशसवासियों को भारतीय गरिमा के अनुकूल पवित्र भेंट दी, महीने भर से तैयारी करते रहे, रामनामी दुपट्टा है, गंगाजल है, चन्दन है, पुस्तक है, सच्चे अर्थ में जो जीवन का पाथेय हो सके, ऐसा पाथेय अपने समुद्र पार के बन्धुओं को भेंट करने की ऐसी कल्पना उनके सिवा कौन कर सकता है।

'सरस्वती' के सम्पादक होकर लखनऊ आये तो उनका घर भारतीयता की पाठशाला बन गया। उनके कृतित्व का जादू सबसे अधिक उनकी टिप्पणियों में प्रकट हुआ।

स्व० राहुल जी कहते थे—चतुर्वेदीजी से बड़ा डर लगता है, वे ऐसे चौकस पहरुआ हैं कि किसी से चूक हो जाय, बख़्शते नहीं और उनकी टिप्पणी ऐसी है जो सैकड़ों वर्ष बाद ऐतिहासिक अभिलेख के रूप में अमर रहेगी। कैसे भैया साहब ने सम्पादक के दुर्घर्ष रूप को और व्यक्ति के रूप में अत्यन्त विनम्र और कोमल रूप को एक साथ निबाहा, यह मेरे लिए बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। अपने व्यक्तित्व को ऐसा विभक्त करके भी सन्तुलित रखना मेरी दृष्टि में तो गहरी योगसाधना है, शायद सबसे सार्थक साधना है।

'सरस्वती' के सम्पादन-काल में भैया साहब ने न केवल नये लेखकों को प्रतिष्ठा दी, बल्कि जो लेखक नहीं थे, उनसे युद्ध, शिकार, अफसरी जिन्दगी, बीहड़ यात्रा, पुराने लोगों के संस्मरण लिपिबद्ध कराये। 'सरस्वती' से कुछ लोगों को शिकायत रहती थी—समसामयिक रचनात्मक प्रतिभा को अपेक्षित स्थान उसमें नहीं मिलता है, पर भैया साहब के लिए 'सरस्वती' एक थाती थी, वे 'सरस्वती' को सब तरह से पूरे हिन्दी जगत की पत्रिका बनाने के लिए संकल्प-बद्ध थे। प्राचीन-नवीन, हिन्दीभाषी, अहिन्दीभाषी, प्रख्यात-अनाम, सभी प्रकार के लेखकों के सहयोग से 'सरस्वती' का भण्डार भरने के लिए वे सचेष्ट रहे जिससे हर आदमी 'सरस्वती' में अपनी सेवा के योगदान का अभिमान कर सके। उन्होंने इसे व्यावसायिक पत्रिका नहीं होने दिया, इसी से कदाचित् व्यावसायिक बुद्धि वाले प्रकाशकों ने उसे बन्द कर देने में ही अपना हित समझा। 'सरस्वती' का सम्पादन जिस परिश्रम, मनोयोग और निस्पृह भाव से उन्होंने किया, वह पत्रकारिता के लिए तो आदर्श है ही, व्यक्तिगत कर्त्तव्यपरायणता और कौशल-योग का भी प्रतिमान है। हमारे जैसे लोग तो उसे छू भी नहीं सकते।

सरस्वती-सम्पादन के साथ-साथ वे हिन्दी से सम्बन्धित अनेक समितियों का कार्य करते रहे, पर जब कभी उन्हें लगा कि उनके विवेक पर कोई दबाव पड़ रहा है तो उससे अलग हो गये, सिद्धान्त के स्तर पर

कभी भी उन्होंने सिर नहीं झुकाया। पर इसके साथ ही कभी भी व्यक्तिगत सम्बन्धों में उन्होंने कटुता नहीं आने दी। यही कारण है कि उनके विवेक के आग्रह की कठोरता के कारण कभी-कभी लोग उनसे परेशानी का अनुभव करते हैं, कभी-कभी अल्प परिचित व्यक्ति स्तब्ध हो जाता है कि इस जमाने में भी ऐसा आदमी है, सचमुच यह आदमी ही है न; पर ज्योंही आग्रह वाला प्रसंग बीत जाता है और निजी प्रसंग उपस्थित होता है त्योंही लोगों को लगता है, वे एकदम बदल गये हैं, एकदम बराबरी के दरजे पर उतर कर हँसी-मज़ाक कर रहे हैं, ऐसा लगता है जैसे युगों-युगों से परिचित हैं।

उनका विनोदी रूप सबसे ज्यादा प्रकट होता है बच्चों के साथ। मुझे याद है उनका छोटा पौत्र बेटू बड़ा ही तेज है। मुद्रा ऐसी बनायेगा कि बिल्कुल साधू है, पर है बड़ा शरारती। भैया साहब से बड़ी मीठी-मीठी बातें करता, और अपनी दादी से एक की दो जोड़ता है, दादी को वह पहले सीता कहता था। वे रहती थीं ऊपर, नीचे रहते थे भैया साहब। बेटू जी ही संचार-साधन थे। भैया साहब कहते—जाओ, सीता से कह दो, देवी अपने मन्दिर में रहें, ऊपर से प्रति सन्देश लाता—सीता कहती हैं, बाबा अपनी मठिया में रहें। दोनों ओर से बेटू सन्देशवहन की फीस लेता और भैया साहब अत्यन्त प्रसन्न होते। घर में बहू-बेटे, नाती-पोते सभी भैया साहब कहते हैं। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है, भैया साहब से बात करने की हिम्मत कम होती जाती है, कोई अपनी बात मनवाना ही चाहे तो नाटक करके ही मनवा सकता है। नाटक भैया साहब भी समझते हैं, पर उन्हें मज़ा आता है। किसी को मोटर साइकिल चाहिए, पहले बड़ा लेक्चर पिलायेंगे—पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी रिटायर हो गये हैं, इतना फिजूल का पैसा नहीं है, फिर सूदखोरी पर आयेंगे, अन्त में मोटर साइकिल आ जायेगी। केवल उनकी पुत्री मुन्नो जीजी (मोहिनी) हैं, जिनको नाटक करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वह आकर कुछ कह दें तो चुपचाप मान लेंगे, पर उनको भी जल्दी कुछ कहने का साहस नहीं होता, अधिकतर किसी से कहला देती हैं और उनके नाम से कुछ और (नाजायज) किस्म के काम भी करा लिये जाते हैं। परन्तु परिवार के प्रति इतने स्नेहालु होते हुए भी अजीब बात यह है कि वे बड़े कठोर हैं। किसी से भी अपेक्षा नहीं रखते। अस्वस्थ भी रहें तो अकेले ही पड़े रहेंगे, बस एक नौकर लछमन रहेगा, किसी को सेवा का अवसर भरसक नहीं देना चाहेंगे, उल्टे बीमारी में भी परिवार के ही नहीं, बाहर के भी किसी उम्र में छोटे या बड़े आदमी की बीमारी का समाचार पा जायँ तो उनका स्नेह अनाचारी हो जाता है, सौ तरह का प्रबन्ध करने पर उतारू हो जाते हैं और जिद्दी तो हैं ही, उस बिचारे आदमी की सुनते नहीं—भैया साहब आप चिन्ता न करें, आप स्वयं अस्वस्थ हैं, उस समय वे एकदम स्वस्थ और जवान बन जाते हैं। इस प्रकार का इकहरा स्वभाव पाया है उन्होंने, देना ही जानते हैं, लेना जानते ही नहीं।

ऐसे संन्यासी, पर ममतापरायण भैया साहब का कृतित्व (इस लेख के परिशिष्ट में संक्षिप्त ब्यौरा दिया गया है) कुछ लिखित अक्षरों में बँध नहीं सकता। मैं मूल्यांकन करना भी चाहूँ तो कर नहीं सकता। उनकी रचनाओं का संकलन तैयार करके ही मैंने उनके कृतित्व की पार्श्वच्छवि देनी चाही, पर जब मैंने इस संकलन का नाम दिया हिन्दी सेवामय जीवन—पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, तो बस बिगड़ गये—व्यक्ति की गन्ध आती है। क्या करूँ, हर पृष्ठ पर छप चुका था—हिन्दी सेवामय जीवन, पर पुस्तक का नाम बदल कर दिया—'हिन्दी सेवा की संकल्पना।' सन्तुष्ट इस नाम से भी नहीं होंगे, इसमें भी उन्हें गन्ध आयेगी, पर मैं भी इससे ज्यादा समझौता करने के लिए तैयार नहीं। मेरी पीठ पर श्रद्धेय रायसाहब का हाथ है, मुझे डाँट का इस समय कोई भय नहीं है। मैं इन्हीं शब्दों के साथ उनके चरणों में प्रणाम करता हूँ और आशीर्वाद माँगता हूँ, उनकी स्नेहभरी डाँट की पात्रता बनी रहे।

पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी का साहित्यिक कृतित्व

अंग्रेजी में शिक्षा से संबद्ध :

1. Educational Survey of Itawa District, 1927.
2. History of Rural Education in U. P., 1932.

हिन्दी रचनायें :

१. महात्मा टाल्सटाय की जीवनी (उनकी सर्वप्रथम रचना)
२. रत्नदीप (काव्य-संकलन)
३. छेड़छाड़ (व्यंग कविताओं का संकलन)
४. राजभवन की सिगरेटदानी (साहित्यिक निबन्धों का संकलन)
५. मनोरंजक संस्मरण (साहित्यिकों के जीवन से सम्बद्ध)
६. पावन संस्मरण (दिवंगत महापुरुषों पर लिखी श्रद्धांजलियों का संकलन)
७. विश्व-इतिहास
८. मेकियावेली के 'प्रिंस' का हिन्दी अनुवाद
९. विश्वभारती (विश्वज्ञान कोश, हिन्दी में प्रथम प्रयत्न, चार खण्ड तक प्रकाशित)
१०. सचित्र संसार (मासिक पत्र)
११. सरस्वती (बीस वर्ष तक १९५५-१९७५)
१२. पुण्य संस्मरण (स्व० पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी-स्मृतिग्रन्थ)

पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी के जीवन की
चित्रमय झाँकी

●

इंटर के विद्यार्थी काल में ली गयी फोटो ।
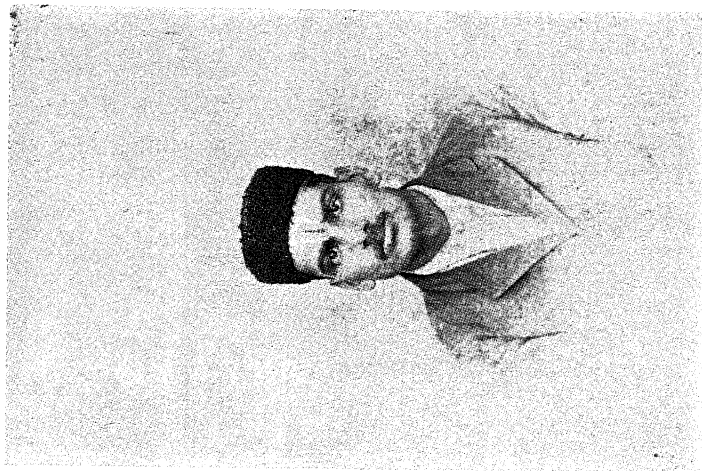
अध्यापक, जमुना मिशन हाईस्कूल, इलाहाबाद १९१९ ।

इंगलैंड में प्रशिक्षण काल में १९२६ ।
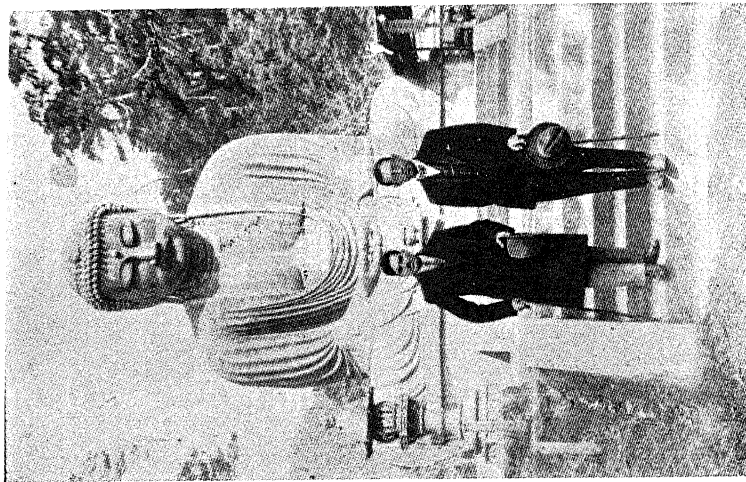
जापान, कामाकुरा का विशाल कांस्य बुद्ध-मूर्ति के सामने ली गयी फोटो, १९२७ ।

उपमहानिदेशक आकाशवाणी, दिल्ली १९४९।

मध्यभारत के शिक्षा निदेशक की हैसियत से बीच में मध्य भारत कला संगम का उद्धार करने के लिए माननीय सम्पूर्णानंद को निमंत्रित किया था। भोपाल स्टेशन पर उनका स्वागत करते हुए उनके पीछे खड़े हैं।
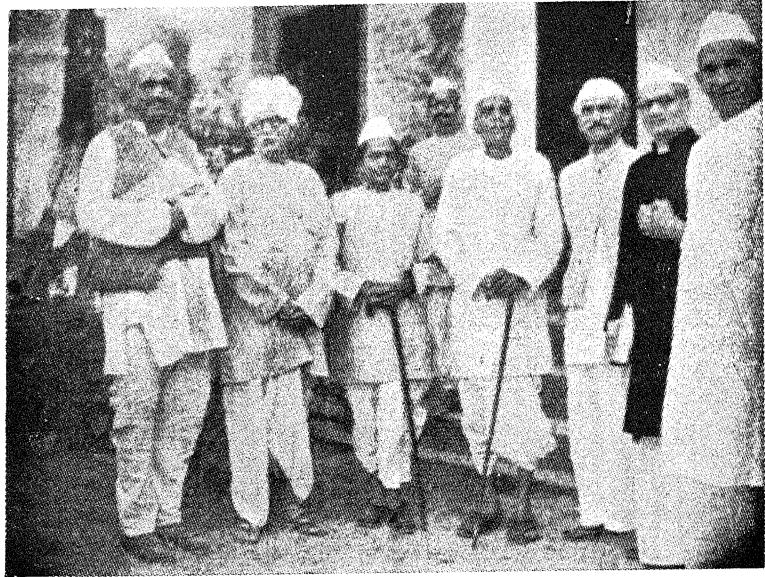
सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, हीरालाल खन्ना, सियाराम शरण, मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्रीनारायण चतुर्वेदी और ब्रजमोहन व्यास कानपुर में हीरालाल खन्ना जयंती के अवसर पर।

श्री हीरालाल खन्ना अभिनन्दन समारोह के समय लिया गया एक चित्र
सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी और मैथिलीशरण गुप्त।

मध्यभारत के शिक्षा निदेशक के रूप में मार्शल टीटो को ग्वालियर का गूजरी महल संग्रहालय (१९५३) दिखाते हुए।
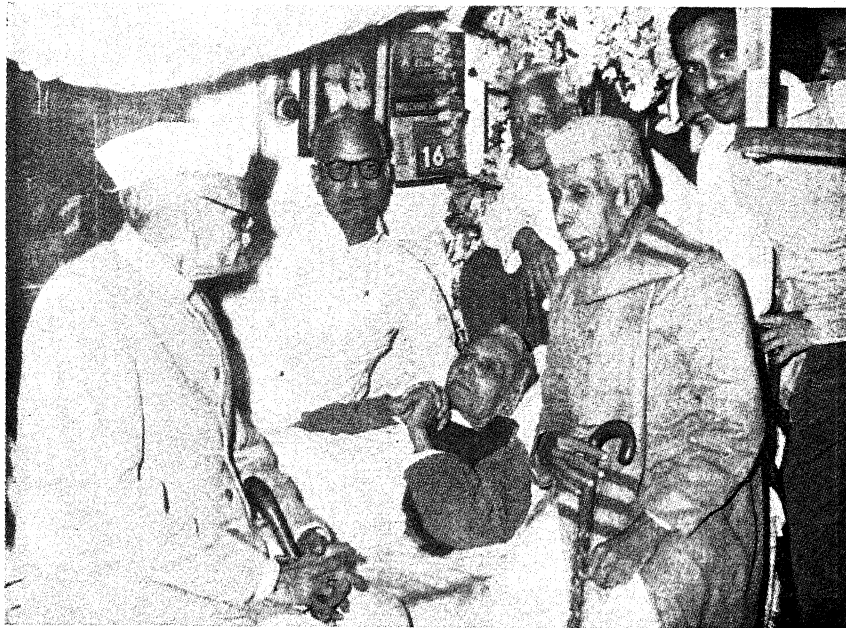
रोगशैयाशायी पं० माखनलाल चतुर्वेदी से अन्तिम भेंट के साथ पं० झावरमल शर्मा।

सरस्वती हीरक जयन्ती समारोह का संचालन करते हुए
मंच पर बाएँ से सुमित्रानंदन पंत अध्यक्ष मैथिलीशरण गुप्त से बात करते हुए
उनके बाद क्रमशः हरिभाउ उपाध्याय, अलगूराम शास्त्री, दिनकर, चतुर्वेदी
सियारामशरण गुप्त, पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल (ललाट का तिलक मात्र)
श्रीकृष्णदास और सुधाकर पाण्डेय खड़े हैं।

सरस्वती हीरक जयन्ती समारोह में उसके संरक्षक राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन
का संदेश पढ़ते हुए।

साहित्य वाचस्पति का ताम्रपत्र सम्मेलन के अध्यक्ष से ग्रहण करते हुए ।

हिन्दुस्तान समाचार समिति की रजत जयन्ती समारोह में श्रीमती सरोजिनी महिषी द्वारा अभिनन्दन पत्र लेते हुए १९७४ ।
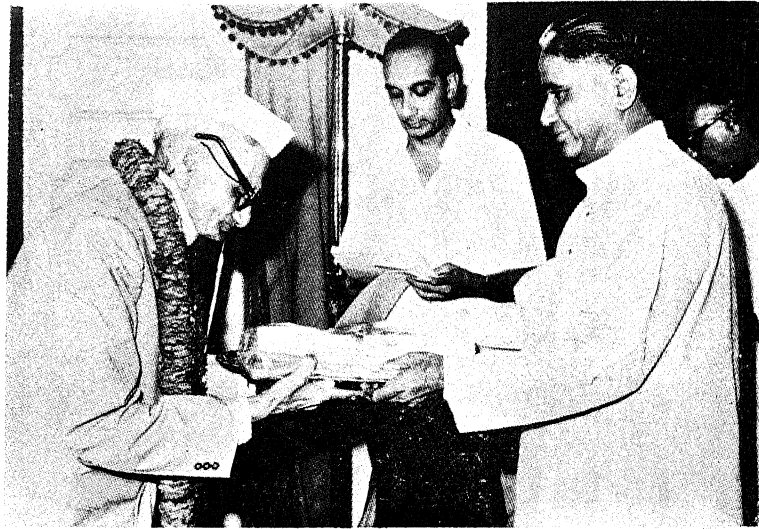
१५००० का विशेष पुरस्कार उत्तरप्रदेश के माननीय राज्यपाल से प्राप्त करते हुए ।
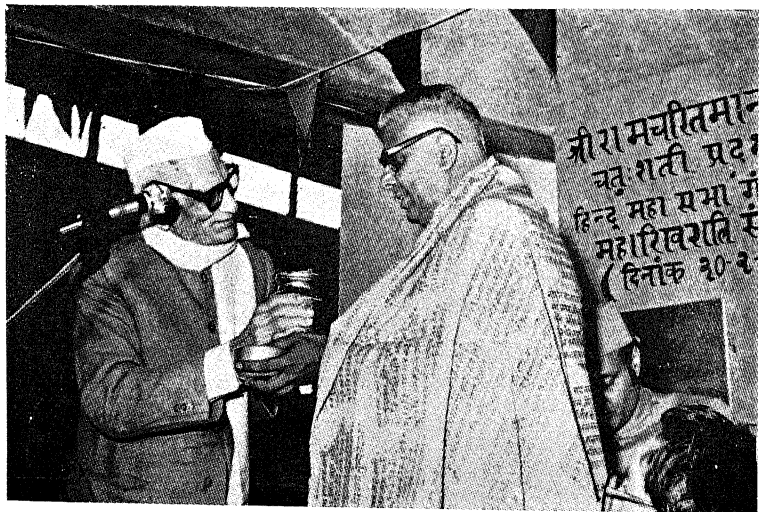
मारीशस हिन्दू सभा के अध्यक्ष श्री वसन्तराम जी को गंगा तालाब, मारीशस में ३१ अगस्त १९७६ में आयोजित सभा में गंगाजल भेंट करते हुए ।

खण्ड १

हिन्दी निष्ठा के अभिलेख

हिन्दी निष्ठा के अभिलेख

●

हिन्दी के दो रूप

•

केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त हिन्दी का प्रयोग क्षेत्रीय भाषा के रूप में कई राज्यों में होता है जहाँ की वह मातृभाषा है। इस प्रकार हिन्दी के दो रूप हैं : (१) केन्द्रीय सरकार की राजभाषा का रूप, जिसका मुख्य उपयोग अंतर्राज्य पत्र-व्यवहार, संचरण आदि के लिए है। और (२) उन राज्यों की राजभाषा और मातृभाषा का रूप जिनकी वह क्षेत्रीय भाषा है। जिस प्रकार बंगाल में बँगला, मद्रास में तामिल, महाराष्ट्र में मराठी, गुजरात में गुजराती वहाँ की राजभाषाएँ रहेंगी (केन्द्रीय भाषा चाहे अंग्रेजी हो या हिन्दी हो), उसी प्रकार केन्द्र की कोई भी भाषा क्यों न हो, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि की राजभाषा हिन्दी ही रहेगी। वहाँ के बालक आरम्भ से उसी में शिक्षा पायेंगे।

इन राज्यों में जो हिन्दी का रूप है वह संविधान ने निश्चित नहीं किया। इनमें वह क्षेत्रीय भाषा है। अतएव केन्द्रीय सरकार अपने यहाँ हिन्दी के रूप में जो कुछ भी परिवर्तन करती है, वह केवल अपने कामों के लिए। हिन्दी क्षेत्र वाले उन्हें मानने को बाध्य नहीं और न वे उन पर लागू हैं।

लखनऊ के दूसरे देवनागरी लिपि-सुधार-सम्मेलन में अंकों का प्रश्न उठा था, और उसने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया था कि देवनागरी लिपि के साथ देवनागरी अंक ही स्वीकार किये जायँ, और उसने कुछ अंकों के विशिष्ट रूपों को स्वीकार करके स्वीकृत देवनागरी लिपि के साथ उन्हें उसके अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार किया था। उत्तर प्रदेश सरकार नैतिक और वैधानिक दृष्टि से उन्हें मानने को बाध्य है। सारांश यह कि संविधान के कारण केन्द्रीय सरकार देवनागरी लिपि में हिन्दी लिखते समय राष्ट्रपति के

आदेशानुसार हिन्दी या अंग्रेजी अंकों का प्रयोग कर सकती है, किन्तु हिन्दीभाषी सरकारों के लिए उनका प्रयोग अनुचित है, क्योंकि (१) हिन्दी में वे नहीं चलते, (२) हिन्दी साहित्य जगत् के नेताओं ने उनका बराबर विरोध किया है, (३) लखनऊ के द्वितीय लिपि-सुधार-सम्मेलन ने केवल हिन्दी अंकों को स्वीकार किया है और (४) अंग्रेजी अंक देवनागरी अक्षरों की प्रकृति के साथ मेल नहीं खाते।

भारत सरकार द्वारा हिन्दीवालों पर अंग्रेजी अंक लादने का प्रयत्न—गत मास हमने दो समाचार पढ़े। पहिला समाचार दिल्ली के नवभारत टाइम्स में छपा था। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में एक हिन्दी विश्वकोश तैयार किया जा रहा है; इसका व्यय भारत सरकार दे रही है। उसका प्रथम खण्ड छपकर हाल ही में तैयार हुआ है। नवभारत टाइम्स में जो समाचार छपा है उसका आशय यह है कि इस कोश में बीजाक्षर और वैज्ञानिक सूत्र (फार्मूले) देवनागरी अक्षरों और अंकों में छापे गये हैं। जैसे एच २ एस ओ ४। इस पर आपत्ति की गयी है और यह कहा गया है कि चूँकि यह कोश सरकारी सहायता से छप रहा है, इसलिए वैज्ञानिक सूत्रों को अंतर्राष्ट्रीय ढंग से छापा जाय अर्थात् H_2SO_4 लिखा जाय। यदि हमने इस समाचार को ठीक तरह से समझा है तो इसका अर्थ यह है कि हिन्दी पुस्तकों में केवल अंग्रेजी अंकों ही को घुसेड़ने का प्रयत्न नहीं हो रहा, किन्तु अंग्रेजी अक्षरों के भी प्रवेश कराने का प्रयत्न हो रहा है। यह हिन्दी को रोमन लिपि में लिखने की भूमिका मालूम होती है।

दूसरा समाचार यह है कि १७ जनवरी को दिल्ली में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की बैठक हुई। इसमें राज्यों के शिक्षा-मन्त्री भी सम्मिलित हुए थे। कहा जाता है कि इस पर जोर दिया गया कि पाठ्य-पुस्तकों में देवनागरी अंकों का प्रयोग न करके अंग्रेजी अंकों का प्रयोग किया जाय। यह भी कहा जाता है कि उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मन्त्री आचार्य जुगलकिशोर ने इस बात को स्वीकार कर लिया। मध्य प्रदेश के शिक्षा-मन्त्री डॉ० शंकरदयाल शर्मा ने भी इसे मान लिया।

हमें आश्चर्य है कि उत्तर प्रदेश की जनता की भावना का विचार किये बिना आचार्यजी ने ऐसे विवादग्रस्त और हिन्दी के लिए अहितकर प्रस्ताव को एकाएक कैसे स्वीकार कर लिया? आचार्यजी ने शिक्षा-मन्त्री का पद कुछ सप्ताह पहिले ही सँभाला था और शायद वे इस समस्या के पूर्व इतिहास से अपरिचित थे। इस समाचार से हिन्दी जगत् में बड़ी बेचैनी फैल गयी है। हम आशा करते हैं कि उत्तर प्रदेश की नयी सरकार और विशेषकर उसके मुख्यमन्त्री और शिक्षा-मन्त्री—जल्दबाजी में कोई ऐसा निर्णय नहीं लेंगे। हिन्दी संसार इस घातक प्रस्ताव का विरोधी है और वह इसे कभी स्वीकार नहीं करेगा कि हिन्दी के घर में ही हिन्दी के अंक बहिष्कृत हो जायँ। फिर, उत्तर प्रदेश की सरकार ने ही लखनऊ का द्वितीय देवनागरी लिपि-सुधार-सम्मेलन बुलाया था। उसके निर्णय को इस प्रकार ठुकरा देना अनुचित ही नहीं, किन्तु राज्य के विद्वानों और विचारकों का अपमान भी है। हम आशा करते हैं कि उत्तर प्रदेश सरकार और आचार्य जुगलकिशोर इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

संविधान में कहीं नहीं कहा गया है कि राज्यों में नागरी अंकों का बहिष्कार कर दिया जाय और अंग्रेजी अंकों का ही प्रयोग किया जाय। शिक्षा का विषय भी संविधान ने राज्यों को ही दिया है। केन्द्र को केवल उच्च शिक्षा, वैज्ञानिक व टेक्निकल शिक्षा तथा अनुसंधान में मेल मिलाने और स्तर-निर्धारण का कुछ अधिकार दिया गया है। क्या उत्तर प्रदेश तथा अन्य हिन्दी राज्यों के शिक्षा-मन्त्री इन व्यवस्थाओं को भूल गये थे जो उन्होंने बिना ननुनच किये पाठ्य पुस्तकों में अंग्रेजी अंक चलाने की हामी भर दी? क्या देवनागरी लिपि में छपने वाले पञ्चांगों और संस्कृत पोथियों में भी वे अंग्रेजी अंक ही चलावेंगे? क्या उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मन्त्री हिन्दी समिति के प्रकाशनों में भी देवनागरी अंकों का प्रयोग वर्जित कर देंगे, या उन्हीं पुस्तकों को पुरस्कार देंगे जिनमें अंग्रेजी अंकों का ही प्रयोग किया गया हो? ●

भारत में हिन्दी की उपेक्षा पर विदेशों की प्रतिक्रिया

•

कहा जाता है कि जिसका आदर घरवाले ही नहीं करते, उसे बाहर के लोग भी दुरदुराते हैं। अँगरेजी और अमरीकन तो इस देश में अँगरेजी बनाये रखना चाहते हैं। उन्होंने कभी हिन्दी को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। हिन्दी उनके स्वार्थ में बाधक है। इसलिए हिन्दी के प्रति जो उनका रुख है, उसे हम समझ सकते हैं। वे करोड़ों रुपये की पुस्तकें, पत्रिकायें और समाचारपत्र, प्रतिवर्ष हमारे देश में बेचते हैं। उनका साहित्य, उनके उपन्यास और उनकी पत्र-पत्रिकायें बराबर पढ़ते-पढ़ते पाठकों के अवचेतन में अमरीका और इँगलैंड के प्रति एक विशेष प्रकार की कोमलता उत्पन्न हो जाती है। हम अपना पैसा देकर, स्वेच्छा से उनके इस "आंग्लीकरण" या "अमरीकीकरण" के प्रचार के शिकार बनते हैं। अतएव हिन्दी की उन्नति उनके स्वार्थों के लिए घातक है। वे उतना ही काम हिन्दी में करते हैं जितना यहाँ की अँगरेजी अभिज्ञ जनता से संपर्क स्थापित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वे हिन्दी संस्थाओं और हिन्दी पत्रों से संपर्क भी वाजिब ही वाजिब रखते हैं। इनके दूतावासों में अच्छी हिन्दी बोलने वाले व्यक्ति कम ही मिलेंगे। इनके विपरीत रूस हिन्दी-प्रचार के पक्ष में मालूम होता है। वह उसे यहाँ की राजभाषा मानता है और उसमें बहुत रुचि लेता है। उसके दूतावास में कितने ही लोग अच्छी हिन्दी बोलनेवाले मिलेंगे, और वे हिन्दी जगत् में काफी रुचि भी लेते हैं। वे उत्तर भारत में पत्रकारों से—विशेषकर हिन्दी पत्रकारों से—

हिन्दी ही में पत्र-व्यवहार करते हैं। किन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि अब उन्होंने भी समझ लिया है कि हिन्दी केवल कागजी राजभाषा है। वास्तविक राजभाषा अँगरेजी है जो शीघ्र ही 'छोटी रानी' बनायी जानेवाली है, किन्तु जिसका मान 'पटरानी' से अधिक अभी भी है। रूसियों के रूख के इस परिवर्तन की चर्चा करते हुए एक हिन्दी पत्र ने लिखा है—"रूसी दूतावास ने इस बार सामग्री केवल अँगरेजी में ही भेजी और हिन्दी पत्रकारों को भी अँगरेजी में ही पत्र लिखा है।" सहयोगी लिखता है—"इससे उस समाजवादी राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़ती नहीं है।" हम इसमें उसकी प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा की कोई बात नहीं देखते। जब हमारा 'समाजवादी' राष्ट्र अँगरेजी को प्रधानता देता और हिन्दी की उपेक्षा करता है, तब हमें यह शोभा नहीं देता कि हिन्दी की उपेक्षा करने, या अँगरेजी में काम करने के लिए दूसरे किसी राष्ट्र के 'समाजवादीपन' की दुहाई दें। ये हिन्दी के पत्र अपनी समाजवादी सरकार पर हिन्दी के उपयोग के लिए कितना दबाव डालते हैं? जो काम आप अपनी सरकार से ही नहीं करा सकते, उसे करने की अपेक्षा दूसरे राष्ट्रों से क्यों करते हैं? यदि आप चाहते हैं कि हिन्दी का सम्मान दूसरे देश करें तो पहिले अपने देश में उसका सम्मान कराइए।

संसद में हिन्दी

संसद के इस सत्र में कुछ ऐसे लोगों ने अँगरेजी में भाषण दिये जिनसे हिन्दी में बोलने की अपेक्षा की जाती थी। उनमें तीन व्यक्ति प्रमुख थे—श्री काका कालेलकर, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और उत्तर प्रदेश के एक नवनिर्वाचित लोकसभा के कांग्रेसी सदस्य। इन तीनों ने अँगरेजी में भाषण देने के जो कारण दिये हैं वे बड़े मनोरंजक और विचारणीय हैं। काका साहब ने अपना पहिला भाषण अँगरेजी में दिया। उसके बाद पं० बनारसीदास चतुर्वेदी बोले। उन्होंने अपने भाषण के आरंभ में कहा—

I had prepared my speech in Hindi, but when I found that my colleagues, KaKa Saheb Kalelkar and prof. Malkani Saheb had forgotten their Hindi, I thought, for their benefit, I should speak in the foreign language.

(मैंने अपना भाषण हिन्दी में तैयार किया था, किंतु जब मैंने देखा कि मेरे सहयोगी काका साहेब कालेलकर और प्रोफेसर मलकानी साहब हिन्दी भूल गये हैं तब मैंने सोचा कि उनके लाभ के लिए मैं विदेशी भाषा में बोलूँ।)

काका साहब जब दुबारा बोले तब उन्होंने पं० बनारसीदास के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा—

Shri Banarasi Das Chaturvedi criticised me because I spoke in English. I want to repeat the same crime, if he thinks so, because I want to reach the ears of

the Hindi-speaking people. My experience is that people like him admire my style- it is fairly Sanskritised, almost exclusive style and ordinary people understand it. But I have found that only when I speak something in English I get response, I get congratulatory letters etc; from the Hindi-speaking people. I am not speaking for all. There are good many people who admire my Hindi. But only when I speak in English, they give response. That is why I am speaking in my broken English. I think I can speak better in Hindi. But I want to reach the ears of the Hindi-speaking people.

(श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुझ पर आक्षेप किया है क्योंकि मैं अँगरेजी में बोला था। मैं उसी अपराध को दुहराना चाहता हूँ, यदि वे ऐसा समझते हैं, क्योंकि मैं अपनी बात हिन्दीभाषियों तक पहुँचाना चाहता हूँ। मेरा अनुभव है कि उनके समान व्यक्ति मेरी शैली की प्रशंसा करते हैं—वह काफी संस्कृतनिष्ठ है, प्रायः निराले ढंग की है—और सामान्य जन उसे समझ लेते हैं। किन्तु मैंने यह देखा है कि हिन्दी-भाषियों पर मेरी बात का प्रभाव तभी पड़ता है जब मैं कोई बात अँगरेजी में कहता हूँ। तब हिन्दीभाषियों से मुझे बधाई के पत्र आदि मिलते हैं। मैं इस समय सब लोगों को सुनाने के लिए नहीं बोल रहा। कितने ही मित्र मेरी हिन्दी की प्रशंसा करते हैं। किंतु वे तभी प्रत्युत्तर देते हैं जब मैं अँगरेजी में बोलता हूँ। इसीलिए मैं अपनी टूटी-फूटी अँगरेजी में बोल रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैं हिन्दी में अधिक अच्छा बोल सकता हूँ। किंतु में हिन्दीभाषियों तक अपनी बात पहुँचाना चाहता हूँ।)

तीसरे महाशय जब लोकसभा में प्रथम बार बोलने को खड़े हुए तब कुछ सदस्यों ने चिल्लाकर उनसे हिन्दी में बोलने को कहा। उन्होंने उत्तर में (अँगरेजी में) जो कहा उसका आशय था कि मैं उत्तर प्रदेश से आ रहा हूँ। इसलिए मैं अँगरेजी में बोल रहा हूँ। जब तक अहिन्दीभाषी मुझसे हिन्दी में बोलने को नहीं कहेंगे तब तक मैं अँगरेजी में ही बोलूँगा क्योंकि हिन्दी तभी चल सकती है जब उसे अहिन्दीभाषी चाहें।

अतएव विचित्र स्थिति यह है कि संसद में अहिन्दीभाषी (काका साहब और प्रो० मलकानी आदि) अँगरेजी में इसलिए बोलते हैं कि हिन्दीवाले हिन्दी में कही हुई बात नहीं सुनते। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की तरह के लोग अँगरेजी में भाषण इसलिए देते हैं कि काका साहब और प्रोफेसर मलकानी उनकी बात समझ लें। तीसरे प्रकार के सदस्य उत्तर प्रदेश के होने के कारण तब तक हिन्दी में बोलना पाप समझते हैं जब तक कि अहिन्दीभाषी हिन्दी में बोलने की माँग न करें। "न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी।" न अहिन्दीभाषी हिन्दी की माँग करेंगे, और न हमारे उत्तर प्रदेश के ये और इनके समान सदस्य हिन्दी में बोलेंगे। तब संसद में भारत की संविधान-सम्मत राजभाषा में कौन बोलेगा ? केवल वे ही हिन्दीभाषी जिन्हें टूटी-फूटी भी अँगरेजी नहीं आती।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का तर्क हमारी समझ में नहीं आया। क्या संसद में भाषण केवल दो-चार सदस्यों के लाभ के लिए किया जाता है ? क्या वास्तव में उन्हें विश्वास था कि काका साहब और प्रो० मलकानी हिन्दी को इतना भूल गये हैं कि वे उनका भाषण न समझ सकते ? एक हिन्दी पत्रकार और हिन्दी साहित्यिक होने के नाते हिन्दी के प्रति उनका कुछ उत्तरदायित्व था। क्या वह उत्तरदायित्व काका साहब के अँगरेजी में बोलने के कारण समाप्त हो गया ? उन्हींकी प्रिय अँगरेजी में एक कहावत है—Two wrongs never make a right. "दो भूलें मिलकर एक सही बात नहीं बना सकतीं।" यदि वे समझते थे कि काका साहब ने भूल की तो उनकी भूल से स्वयं बनारसीदासजी की भूल कैसे क्षम्य हो सकती है ?

किंतु काका साहब ने जो कारण दिया है वह विचारणीय है। हम स्वयं कुछ अंशों में उनसे सहमत

हैं। किंतु इसका वह कारण नहीं है जो काका साहब समझते हैं। बात यह नहीं है कि हिन्दीवालों पर उनके हिन्दी भाषणों का प्रभाव नहीं होता। उनकी हिन्दी पुस्तकों और लेखों का प्रभाव तो होता है, फिर भाषणों का क्यों नहीं होता। इसका कारण यह है कि संसद में दिये जानेवाले हिन्दी भाषणों की रिपोर्टिंग समाचार-पत्रों में या तो होती ही नहीं, और यदि होती भी है तो अत्यल्प। इसका कारण यह है कि प्रेस ट्रस्ट अँगरेजी की समाचार एजेंसी है। भारत में संवाद प्रेषण का उसका प्रायः एकाधिपत्य है। जिस प्रकार अँगरेजी के बड़े-बड़े समाचार-पत्र अपने विशेष संसदीय संवाददाता रखते हैं उस प्रकार हिन्दी समाचार-पत्र नहीं रखते। अधिकांश बड़े हिन्दी समाचार-पत्र उन पूँजीपतियों के हाथ में हैं जो अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए अँगरेजी समाचारपत्र निकालते हैं और जो व्यावसायिक या अन्य स्वार्थ के कारण हिन्दी में 'भी' पत्र निकालते हैं किंतु उनका सारा ध्यान अँगरेजी पत्रों की उन्नति में केंद्रित रहता है। वे अपने हिन्दी पत्रों के लिए उस पाये के सम्पादक नहीं रखते जिस पाये के अँगरेजी पत्रों के लिए रखते हैं। उन्हें हिन्दी में केवल व्यावसायिक रुचि है। पी० टी० आई० का स्वार्थ अँगरेजी में है। अतएव हिंदी भाषणों की रिपोर्टिंग या तो की ही नहीं जाती, या केवल खानापूरी करने के लिए अत्यल्प ढंग से की जाती हैं। यदि काका साहब पता लगावें कि संसद में पी० टी० आई० के कितने संवाददाता हिंदी भाषणों को ठीक तरह से समझ सकते हैं, तो उन्हें स्थिति स्पष्ट हो जायगी। यदि हमारी सरकार को हिंदी में वास्तविक रुचि होती तो वह हिन्दी की संवाद समिति की स्थापना की ओर ध्यान देती, या उन लोगों को प्रोत्साहन देती जो हिन्दी संवाद समिति बनाने को उत्सुक हैं। हमें मालूम है कि राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने हिंदी संवाद समिति की स्थापना का कई बार प्रयत्न किया, किंतु आज के 'समाजवादी' तंत्र में सरकार की सहायता के बिना यह काम असंभव है। धन का एकत्र करना, टेलीप्रिंटर पाना, तार की लाइन लेना—आदि सभी कुछ सरकार की कृपा पर निर्भर है। अस्तु। वर्तमान स्थिति की यह कृपा है कि हिंदीवालों को उनके हिन्दी भाषणों की खबर ही नहीं होती। और सिवाय मंत्रियों और कुछ चुने हुए लोगों को छोड़कर अन्य वक्ताओं के अँगरेजी भाषणों की भी नहीं के बराबर ही खबर होती है। क्या काका साहब का यह अँगरेजी का भाषण हिंदीवालों के पास पहुँचा ? जी नहीं। पी० टी० आई० ने दो-चार चुनी हुई बातें—जिनसे उनके भाषण के प्राण नष्ट हो गये—दस-बारह पंक्तियों में प्रसारित की थीं। हमने तो विशेष प्रयत्न करके उनके भाषण की प्रतिलिपि प्राप्त की। यदि हिन्दीवालों तक पहुँचने का ध्येय हो तो वह भाषण की भाषा पर निर्भर नहीं है। वह संवाद समितियों और समाचार-पत्रों के सम्पादकों की कृपा पर निर्भर है। काका साहब की हिन्दी पुस्तकें और लेख हिन्दी जगत् में पढ़े और सराहे जाते हैं। यदि हिन्दीवाले उनकी हिन्दी न पढ़ते तो हिन्दी संसार में उनकी आज जो प्रतिष्ठा है, वह न होती। संवाद समितियों और संवाददाताओं का दोष हिन्दीभाषियों के सिर मढ़ना कहाँ तक उचित है ? किंतु आज हिन्दीवालों की भर्त्सना करना 'फैशन' है। हम हिंदीवालों का एक ही अपराध है : हम भारत में रहकर वह भाषा बोलते हैं जिसे भारत के संविधान ने देश की राजभाषा माना है। यदि अँगरेजों की अँगरेजी की तरह हमारी भाषा भी अभारतीय होती तो जिस प्रकार अँगरेजीभाषी अँगरेजों की भर्त्सना नहीं होती, उसी प्रकार हमारी भी न होती। काका कालेलकर यदि युग की इस 'फैशन' में बह गये और हिंदीवालों की भर्त्सना कर बैठे तो उन्होंने 'युगधर्म' ही का पालन किया है।

रहे उत्तर प्रदेश के वे कांग्रेसी सदस्य जिन्होंने उत्तर प्रदेश के होने के कारण तब तक हिन्दी में भाषण न देने की प्रतिज्ञा की है, जब तक अहिंदीभाषी उनसे हिन्दी में बोलने का आग्रह न करें। हम उनकी बातों पर विशेष ध्यान नहीं देते। वे करोड़पती हैं। उच्च पुलिस अधिकारी रह चुके हैं। जिस वर्ग के वे हैं उसमें मित्रों की तो बात कौन कहे, पिता और पत्नी को भी अँगरेजी में ही पत्र लिखे जाते हैं। उनके लिखा-

पढ़ी के जीवन में हिन्दी का स्थान नगण्य है। वे केवल जनता से 'वोट' लेने के लिए हिन्दी में बोलने की कृपा करते हैं। वहाँ अहिंदीभाषियों के आग्रह की राह नहीं देखते। वहाँ वे हिन्दी बोलने को मजबूर हैं। उनके अभिजात्यवर्ग से हिन्दी ने कभी कोई आशा नहीं की। यदि उन लोगों को उत्तर प्रदेश के उस अभिजात्य वर्ग के 'हिन्दी प्रेम' का हाल मालूम होता जिसकी वे उपज हैं, तो वे उनसे हिन्दी में बोलने का आग्रह नहीं करते। "मैं उत्तर प्रदेश का हूँ इसलिए हिंदी में नहीं बोलूँगा जब तक........" वास्तव में बड़ा मौलिक तर्क है। संसद में हिंदी तो वे बड़े उच्च आदर्श के कारण नहीं बोले, किंतु कोई उनसे पूछे कि आप अपने निजी जीवन में कितना पत्रव्यवहार हिंदी में करते हैं तो उनके उत्तर से मालूम हो जायगा कि उनका अँगरेजी-प्रेम और अँगरेजी का अभ्यास कितना गहरा है। यह उत्तर प्रदेश का दुर्भाग्य है कि हिन्दी से इतने निरपेक्ष लोग उसका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

हिन्दी क्यों अक्षम रही

संविधान में हिन्दी को केन्द्र की राजभाषा स्वीकार करते हुए यह व्यवस्था की गयी थी कि सन् १९६५ तक भारत-सरकार हिन्दी में काम करने की पूरी तैयारी कर ले जिससे १९६५ से केन्द्र का सारा या अधिकांश काम हिन्दी में होने लगे। किंतु स्पष्ट है कि सरकार आवश्यक तैयारी नहीं कर सकी और अब अंग्रेजी को 'सखी' भाषा बनाने जा रही है जिससे अनिश्चित काल तक अंग्रेजी भारत की—नाम में 'सखी' किंतु वास्तव में मुख्य—राजभाषा बनी रहे। केन्द्र में हिन्दी की तैयारी का काम शिक्षा-मंत्रालय को सौंपा गया था जिसके मंत्री स्वर्गीय मौलाना आजाद थे। मौलाना साहब देश के उन नेताओं में थे जिनमें जनता का पूरा-पूरा विश्वास था, जिनका आदर हिंदू-मुसलमान समान रूप से करते थे। किंतु यह बात छिपी नहीं है कि मौलाना साहब 'हिंदुस्तानी' को भारत की राजभाषा बनाना चाहते थे। उनकी भारत-भक्ति और राष्ट्रीयता १२५ प्रतिशत असंदिग्ध थी, किंतु उनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा अरब और मिस्र में हुई थी जिससे उनका साहित्यिक, सांस्कृतिक और भाषा-सम्बन्धी संस्कार एक विशेष प्रकार का हो गया था। उससे उनका दृष्टिकोण प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उनके जीवनकाल ही में लोग शिकायत करते थे कि शिक्षा-मंत्रालय हिन्दी के प्रचार और प्रसार में उदासीन है। गत मास बंबई राज्य के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में बोलते हुए केंद्रीय सरकार के एक भूतपूर्व मंत्री तथा पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल श्री न० वि० गाडगिल ने कहा कि "यद्यपि मौलाना साहब बड़े विद्वान्, प्रशासक और शिक्षा-शास्त्री थे तथापि उनमें हिन्दी का वह प्रगाढ़ प्रेम नहीं था जो होना चाहिए था, और इससे केन्द्र में जो वातावरण बन गया उसके

फलस्वरूप हिन्दी कोई वास्तविक उन्नति नहीं कर पायी। यदि ऐसा न हुआ होता तो आज देश में हिन्दी प्रशासन की भाषा हो गयी होती।"

श्री गाडगिल देश के प्रमुख नेताओं में हैं। सरकार में वे अत्यन्त उत्तरदायी पदों का भार ग्रहण कर चुके हैं। उन्होंने जो बात कही है वह एक ऐतिहासिक तथ्य है। मौलाना साहब ने हिन्दी का सारा काम अपने हाथ में ले लिया था। जो दूसरे लोग कुछ करना चाहते थे, उन्हें करने नहीं दिया। जिस दिन संविधान सभा ने हिंदी को राजभाषा स्वीकार किया उसके दूसरे दिन हमारी भेंट स्वर्गीय रविशंकरजी शुक्ल से हुई। हमने उनसे कहा कि प्रशासन में शीघ्र हिन्दी लाने के लिए यह आवश्यक है कि शीघ्रातिशीघ्र प्रशासनिक शब्दावली हिन्दी में बना ली जाय। यदि आप इस काम को अपने हाथ में ले लें तो आपकी बनायी शब्दावली सभी हिन्दीभाषी राज्यों में चल जायगी, और इन राज्यों में हिन्दी का प्रवेश तुरन्त किया जा सकेगा। उन्हें यह सुझाव पसन्द आया और उन्होंने कुछ दिनों बाद नागपुर में राज्यों के प्रतिनिधियों को निमंत्रित करके एक सम्मेलन किया भी। जब एक-डेढ़ वर्ष बाद हमें उनसे भेंट करने का फिर अवसर मिला तो हमने इस विषय की प्रगति पूछी। उन्होंने कहा कि मौलाना साहब का कहना है कि अंतर्राज्य उपयोग के लिए हिन्दी की शब्दावली बनाना केन्द्र का काम है। अतएव हमने उस काम से हाथ हटा लिया है। और केन्द्र ने क्या काम किया? इतने दिनों बाद अभी कुछ दिन पहिले एक परिभाषिक कोश निकाला है जिसमें 'अंतर्राष्ट्रीय' शब्दावली के नाम पर ढेरों अंग्रेजी शब्द ले लिये गये हैं, और फिर भी वे सब अभी "कच्चे" हैं। उन्हें 'पक्का' करने में न मालूम अभी कितना समय और लगेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि हिन्दी का काम उस समय शिक्षा-मंत्रालय को न सौंपकर एक स्वतन्त्र मंत्रालय को सौंप दिया जाता और उसके मंत्री, सचिव आदि चुनते समय यह ध्यान रखा जाता कि वे हृदय से हिन्दी के समर्थक हैं, तो केन्द्र में हिन्दी ने अभी तक बहुत कुछ उन्नति कर ली होती। किंतु केवल मौलाना साहब ही उस स्थिति के लिए उत्तरदायी नहीं थे। केन्द्र में अन्य महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ भी रही हैं जो हृदय से अंग्रेजी चाहती हैं। मौलाना साहब का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष था, किंतु परोक्ष हिन्दी-विरोधियों ने भी हिन्दी के रास्ते में अड़ंगे लगाने में कसर नहीं की।

हिन्दी संस्थाओं में हिन्दी साहित्यकारों का स्थान

●

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन पिछले कई वर्षों से विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त समारोह के अनुकरण पर अपनी परीक्षाओं में सफल परीक्षार्थियों का दीक्षान्त संस्कार करने लगा है। इस बार हमें उसे देखने का सुयोग मिला क्योंकि संयोग से उन दिनों हम प्रयाग ही में थे। दीक्षान्त की सारी कार्यवाही बड़ी सादगी से, किंतु बड़े गौरवपूर्ण ढंग से, सम्पन्न हुई। दीक्षान्त भाषण देने के लिए हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यकार और बिहार की विधान सभा के अध्यक्ष श्री सुधांशुजी पधारे थे। उनका भाषण बड़ा मार्मिक, उपयोगी और समयोचित था। समारोह की अध्यक्षता श्री श्रीप्रकाशजी ने की। वे भारत-सरकार द्वारा नियुक्त अस्थायी प्रबंध समिति के अध्यक्ष हैं। उनका भाषण बड़ा मनोरंजक और सारगर्भित रहा। गैरिक गाउन धारण किये हुए स्नातकों को संस्कृत में परम्परा से चली आती हुई वैदिक प्रतिज्ञा करायी गयी। सम्मेलन के आदाता और प्रबंध समिति के मंत्री श्री गोपालचंद्र सिंह उन प्रतिज्ञाओं का हिंदी अनुवाद करते जाते थे। सारा कार्य बड़ी सुरुचि के साथ सम्पन्न हुआ।

किन्तु एक बात हमें खटकी। मंच पर अध्यक्ष और दीक्षान्त भाषणकर्ता तथा समिति के मन्त्री का बैठना तो ठीक ही था। आगत सज्जनों में इलाहाबाद हाईकोर्ट के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश तथा हिन्दुस्तानी एकाडमी के भूतपूर्व अध्यक्ष न्यायमूर्ति कमलाकान्तजी वर्मा उथा मध्यप्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री डाक्टर

कैलाशनाथ काटजू भी थे। वे आकर मंच के सामने की दर्शकों की प्रथम पंक्ति में बैठ गये थे। प्रबंधक उन्हें आग्रहपूर्वक मंच के ऊपर ले गये। इसके अतिरिक्त इन सम्मानित सज्जनों को जो सम्मान दिखाया गया, वह ठीक ही था। किन्तु दर्शकों की उसी पंक्ति में सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति श्री वियोगी हरिजी और ८४ वर्ष के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी साहित्यवाचस्पति पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल भी बैठे थे। प्रबंधकों ने उनसे मंच पर बैठने का आग्रह नहीं किया। प्रश्न यह उठता है कि मंच पर आसन देना सम्मान दिखाना है या नहीं, और यदि वह सम्मान दिखाना है तो क्या हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में भी वह सम्मान केवल उच्च राजकीय पदाधिकारियों को ही देना चाहिए? क्या साहित्य-क्षेत्र में भी सम्मेलन का सभापति और साहित्यवाचस्पति इस योग्य नहीं समझा जायगा कि उसे वह सार्वजनिक सम्मान दिया जाय जो वर्तमान या भूतपूर्व राज-पुरुष को दिया जाता है? राजपुरुषों का सम्मान होना चाहिए। उस पर हमें आपत्ति नहीं है। किन्तु यदि हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के मंच पर भी हमारे चोटी के साहित्यकार और साहित्यिक नेता इस योग्य नहीं समझे जाते कि उनका उसी प्रकार का सार्वजनिक सम्मान किया जाय, तो इसे हम हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों का दुर्भाग्य ही समझेंगे। हमारा यह दृढ़ मत है कि साहित्यक समारोहों में साहित्यकारों के साथ इस प्रकार का भेद भाव बरतना साहित्य और साहित्यकारों का अपमान है। साहित्यकार स्वभाव ही से विनम्र होते हैं। वे इस बात की माँग न करेंगे। शायद इसकी शिकायत भी न करें। किन्तु हम लोग, जो स्वयं साहित्यकार नहीं हैं किन्तु उनका सम्मान करते हैं, अवश्य ही इसे उचित समझते हैं कि कम से कम साहित्यिक समारोहों और साहित्यिक-मंचों पर राजपुरुषों से कम उनका सम्मान न होना चाहिए। हम लोग इस स्थिति को इतने दिनों से सहन करते आये हैं कि हमारा ध्यान ही इस विषमता की ओर नहीं जाता। हम आशा करते हैं कि भविष्य में साहित्यिक समारोहों के आयोजक इस मामले में अधिक सजग और सावधान रहेंगे।

हिन्दी के प्रति अमरीका और रूस का रुख तथा रूसी कोशकार

•

रूस में भारतीय भाषाओं के अध्ययन का काम बड़े उत्साह से हो रहा है। इसके कई कारण हैं। एशिया और अफ्रीका के सद्यः स्वतन्त्र देश वड़ी लम्बी अवधि तक योरोपियन साम्राज्यवादियों के अधीन रहे। ये साम्राज्यवादी अपने अधीनस्थ देशों को संसार के दूसरे राष्ट्रों से मुक्त सम्पर्क नहीं रखने देते थे क्योंकि इससे उन्हें अपने साम्राज्य के लिए खतरा मालूम होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब ये देश स्वतन्त्र हुए तब उनमें संसार के अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित करने की प्रबल उत्कंठा हुई। संसार के पुराने स्वतन्त्र देश भी इन सद्यः स्वतन्त्र देशों से सम्पर्क बढ़ाने को उत्सुक हैं। रूस और पाश्चात्य देशों की राजनीतिक स्पर्द्धा ने रूस को इन सद्यः स्वतन्त्र देशों से सम्पर्क स्थापित करने की प्रबल प्रेरणा दी। इसी-लिए रूस केवल भारत ही में नहीं, प्रत्युत एशिया और अफ्रीका के प्रायः सभी सद्यः स्वतन्त्र देशों की उन्नति में रुचि लेने लगा। अमरीका भी रूस ही की तरह इन सद्यः स्वतन्त्र देशों से सम्पर्क स्थापित करना चाहता था क्योंकि इन देशों में उसका कोई साम्राज्य न था। दोनों ही इन देशों की आर्थिक उन्नति में सहायता करने लगे। दोनों की प्रभाव विस्तार की स्पर्द्धा ने इस सहायता को बहुत कुछ राजनीतिक रूप दे दिया। जो भी हो, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए सद्यः स्वतन्त्र देशों को इनकी आर्थिक सहायता से बहुत लाभ हुआ।

मानवता की भावना से तो यह सहायता प्रेरित है ही, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक है। आज के भौतिकवादी युग में 'मानवता' का नारा भी राजनीति की दृष्टि से परिचालित होता है। यह कोई वैसी आपत्तिजनक बात भी नहीं है। किन्तु जो भी प्रेरणा हो, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस सहायता से पिछड़े हुए देशों को बहुत लाभ हुआ है।

किन्तु अमरीका और रूस में अन्तर है। रूस इन सद्यः स्वतन्त्र देशों की संस्कृति, साहित्य, भाषा आदि में रुचि लेता है, उनसे सहानुभूति प्रकट करता है तथा उनकी उन्नति में परोक्ष योगदान भी देता है। वह उन्हें सहानुभूति के साथ समझने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत, अमरीका तथा इंगलैण्ड हमारी संस्कृति या भाषा से प्रायः उदासीन हैं। वे हमारे यहाँ अपनी पाश्चात्य संस्कृति (अमरीकन या ब्रिटिश ''वे आफ लाइफ'') और अपनी भाषा (अँगरेजी) का प्रचार करना चाहते हैं। इसकी उन्हें सुविधा भी है क्योंकि दीर्घकाल तक ब्रिटिश सत्ता में रहने के कारण हम पर पहले ही से अँगरेजी भाषा और अँगरेजी सभ्यता लाद दी गयी थी। स्वतन्त्र होने पर हम चाहते थे कि हम उन्हें उतार कर दूर कर दें, किन्तु अमरीकन और ब्रिटिश चाहते हैं कि उनकी भाषा और सभ्यता हम पर अनन्त काल तक सिंदवाद जहाजी के समुद्री बुड्ढे की तरह चढ़ी गाँठे रहें। राजनीतिक साम्राज्य समाप्त होने पर भी भारत में उनका भाषायी और सांस्कृतिक साम्राज्य अक्षुण्ण बना रहे। रूस का ऐसा कोई भाषायी या सांस्कृतिक साम्राज्यवादी ध्येय हमें नहीं मालूम पड़ता। इसीलिए रूस भारतीय भाषाओं में सांस्कृतिक दृष्टि से रुचि लेता है। वह भारतीय भाषाओं की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद अपनी भाषा (रूसी) में छापता है और रूस में उनका प्रचार करता है जिससे वहाँ की जनता को भारत का ठीक-ठीक परिचय मिले। वहाँ की जनता में भारत के कितने ही लेखकों की कृतियाँ लोकप्रिय हो गयी हैं। भारतवासियों को अपने देश के साहित्य का परिचय देने के लिए वह कितनी ही रूसी भाषा की पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करता है। वह भारतीय भाषाओं में 'सोवियत भूमि' और 'सोवियत नारी' के समान अत्यन्त सुन्दर साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करके भारतीय भाषाओं की सेवा करता है। इसके विपरीत, अमरीका केवल अमरीकी प्रचार के लिए सस्ते कागज पर छपा एक सस्ता पत्र प्रकाशित करता है जिसका नाम 'अमरीकन रिपोर्टर' है। अमरीका को भारतीय भाषाओं की शब्दावली से कितनी विरक्ति है, यह इसी बात से मालूम पड़ सकता है कि उसने हिन्दी में छपे प्रोपगंडा पत्र का नाम भी हिन्दी में रखना पसन्द नहीं किया। वह अँगरेजी नाम 'अमरीकन रिपोर्टर' हिन्दीवालों के गले उतारना चाहता है। वास्तव में अमरीकन और अँगरेज प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से करोड़ों रुपया खर्च करके इस देश में अँगरेजी की जड़ मजबूत कर रहे हैं। वे देशी भाषाओं के हितचिन्तक नहीं हैं। उन्हें जनता में अपना प्रचार करने के लिए लाचार होकर हिन्दी का उपयोग करना पड़ता है। किन्तु वे उसे भी सस्ते ढंग से करते हैं। किन्तु उनका हार्दिक ध्येय इस देश में अँगरेजी का प्रचार करना है। उन्हें धन की कमी नहीं, और वे इस देश में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अपना धन अँगरेजी के प्रचार में उसी तरह बहा रहे हैं जिस प्रकार अमरीकन और ईसाई मिशनरी लोगों को ईसाई बनाने के ध्येय से तरह-तरह के कामों में लाखों रुपये खर्च किया करते रहे हैं। उन्होंने अँगरेजी के प्रचार के लिए सारे देश में जगह-जगह अँगरेजी के अत्यन्त सुव्यवस्थित, सुन्दर और बड़े पुस्तकालय खोल रखे हैं जिनमें बहुमूल्य और अद्यतन अँगरेजी प्रकाशन पाठकों को बिना मूल्य पढ़ने को उपलब्ध हैं। वे भारत के स्कूलों और विश्वविद्यालयों में अँगरेजी को एक अनिवार्य भाषा और शिक्षा का माध्यम सदा सर्वदा को बनाये रखने के लिए सस्ती पाठ्यपुस्तकें (तिहाई या चौथाई दाम पर) दे रहे हैं। उन्होंने हमारे स्कूलों में अँगरेजी की पढ़ाई अधिक कुशल बनाने के लिए अपार धन लगाकर अँगरेजी के अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालय (ट्रेनिंग कालिज) आदि खोले हैं।

रूसी भारत में अपनी भाषा का प्रचार करने का प्रयत्न नहीं करते। वे भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देते हैं। अमरीकन और अँगरेज भारतीय भाषाओं की उपेक्षा करते हैं। अभी तक हमारी दृष्टि में ऐसा कोई उदाहरण नहीं आया जिसमें अमरीकनों या अँगरेजों ने हिन्दी के प्रति कोई सहानुभूति दिखायी हो या उसमें कोई विशेष रुचि ली हो। हमें बतलाया गया है कि भारत स्थित रूसी सरकार के कार्यालयों से जब कभी पत्र हिन्दी में भी लिखे जाते हैं; किन्तु हमारी सूचना के अनुसार अमरीकन या अँगरेजी दूतावासों के कार्यालयों से हिन्दीवालों से भी पत्र-व्यवहार अँगरेजी में ही होता है। भारत स्थित अमरीकन या अँगरेजी संस्थानों में साधारण हिन्दी भी जाननेवाले अमरीकन या अँगरेज कर्मचारी का मिलना अपूर्व और कौतूहलपूर्ण चमत्कार होगा। इसके विपरीत रूसी संस्थानों में कितने ही रूसी कर्मचारी मिल सकते हैं जो शुद्ध और धाराप्रवाह हिन्दी बोल सकते हैं। यही नहीं, अमरीकन और ब्रिटिश संस्थानों में जो भारतीय रखे जाते हैं वे अपनी अँगरेजी की योग्यता के कारण। उनके यहाँ भारतीय भाषाओं की कद्र नहीं है। इसी प्रकार भारतीय साहित्यिकों के प्रति उनके रुख में भी अन्तर है। रूसी प्रतिवर्ष कितने ही भारतीय साहित्यकारों को दस-पंद्रह दिन के लिए अपने देश में निमन्त्रित करते हैं। वे उन्हें अपने यहाँ ले जाते, और वहाँ भाषा और साहित्य सम्बन्धी जो काम हो रहा है, उसे उन्हें दिखाते हैं। अमरीकन और ब्रिटिश भारतीय साहित्यकारों की ओर से उदासीन हैं। और यदि वे उन्हें अपने देश में ले भी जायें तो उन्हें वहाँ क्या दिखलावें ? वहाँ भारतीय भाषा और साहित्य सम्बन्धी ऐसा कोई काम नहीं हो रहा जो ऊँचे दर्जे के साहित्यकारों को ले जाकर दिखाया जा सके। रूस में भारतीय भाषाओं को पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक बतायी जाती है। अमरीका के कुछ ही विश्वविद्यालयों में (शायद दो-तीन प्रतिशत में) कुछ-कुछ भारतीय भाषाएँ पढ़ायी जाती हैं। किन्तु वहाँ पढ़नेवालों की संख्या भी कम है और कहा जाता है कि स्तर भी बहुत ऊँचा नहीं है। भारतीय साहित्य के प्रकाशन का, या वहाँ की जनता को उसके परिचय देने का, वहाँ ऐसा काम नहीं हो रहा जैसा रूस में।

अमरीका और इंगलैंड का निहित स्वार्थ इसी में है कि यहाँ अँगरेजी जमी रहे। इससे उन्हें प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभ है। अभी तक जितना अँगरेजी का प्रचार हुआ है उसी के कारण विदेशी मुद्रा की कमी और कड़े नियंत्रण के इस युग में भी भारत में प्रतिवर्ष पाँच-छः करोड़ रुपये की अँगरेजी पुस्तकें इंगलैंड और अमरीका से आती हैं। यदि मुद्रा का नियंत्रण ढीला हो जाय और मनमाने ढंग से अँगरेजी पुस्तकें मँगाने की छूट दे दी जाय तो हमारे अँगरेजी-परस्त मित्र प्रतिवर्ष दस-बारह करोड़ की अँगरेजी पुस्तकें इन देशों से मँगाया करें। ज्यों-ज्यों अँगरेजी का प्रचार अधिक होगा त्यों-त्यों इस देश में अमरीका और इंग्लैंड की पुस्तकों की खपत बढ़ेगी। केवल ज्ञानवर्द्धक अँगरेजी पुस्तकें ही नहीं मँगायी जातीं। अधिकांशतः अँगरेजी साहित्य जो इस देश में आता है उसमें सस्ती मैगजीन, यौन साहित्य, जासूसी तथा अपराध के उपन्यास होते हैं जिनसे इस देश की सुरुचि और नैतिकता को हानि पहुँचती है। यही नहीं, इन पुस्तकों के कारण भारतीय लेखकों और भाषाओं की पुस्तकों की बिक्री कम हो जाती है क्योंकि पढ़ने वालों की संख्या सीमित है। अँगरेजी पुस्तकों और पत्रिकाओं की खरीद के बाद उनके पास भारतीय भाषा की पुस्तकें खरीदने को पैसा बचता ही नहीं। इससे यहाँ के साहित्यकार को कभी उचित पारिश्रमिक नहीं मिल पाता। अमरीका और इंग्लैण्ड को एक बड़ा परोक्ष लाभ यह है कि भारतवासी अपना रुपया देकर उनकी पत्र-पत्रिकायें और पुस्तकें पढ़ते हैं जिनमें राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रश्नों पर उन्हीं के दृष्टिकोण की व्याख्या और समर्थन रहता है। वे बराबर उन्हें पढ़ते रहने के कारण अज्ञात रूप से उनकी विचारधारा से प्रभावित हो जाते हैं। यदि अमरीका और इंग्लैण्ड को अँगरेजी द्वारा प्रचार की यह बहुमूल्य सुविधा न हो तो उसे अपने प्रचार के लिए

पूरी तरह से देशी भाषाओं का सहारा लेना पड़े, और उसे अन्य भाषी राष्ट्रों के समान ही प्रचार की सुविधा या असुविधा हो। यहाँ वह हमारे ही रुपये लेकर हमें अपने प्रचार का शिकार बना रहा है। "मियाँ की जूती, मियाँ की चाँद" वाली कहावत हम पर चरितार्थ हो रही है। इस देश में दीर्घकालीन अँगरेजी प्रचार के कारण यहाँ कितने ही अँगरेजी-परस्त पैदा हो गये हैं जो अधिकार के पदों पर हैं, और उनसे बाहर भी। वे अँगरेजी के प्रचार में इन अमरीकनों और अँगरेजों की प्रत्यक्ष और परोक्ष सहायता करते और उन्हें नाना प्रकार की सुविधायें देते हैं।

सारांश यह है कि औसत अमरीकन और अँगरेज भारतीय भाषाओं के यदि प्रत्यक्ष विरोधी नहीं तो उससे उदासीन अवश्य हैं। उन्हें हमारी भाषाओं की उन्नति में कोई रुचि नहीं है। वे चाहते हैं कि अँगरेजी भारत की प्रमुख भाषा बनी रहे। उसका प्रचार बढ़े। इसके लिए वे मुक्तहस्त होकर खर्च भी करते हैं। यदि उन्हें सफलता मिली तो आगे चलकर पुस्तकों की बिक्री, व्यापार की सुविधाओं तथा प्रचार के सुभीते से उन्हें प्रचुर लाभ होगा।

रूस का ऐसा कोई ध्येय नहीं है। वह रूसी भाषा को भारत पर नहीं लादना चाहता। उसके राजनीतिक उद्देश्य अवश्य हैं, किन्तु हमारी भाषाओं के विकास के प्रति उसकी सहानुभूति है। वह जो भी काम इस देश में करना चाहता है वह मुख्य रूप से भारतीय भाषाओं के द्वारा। यही नहीं, वह अपने यहाँ के भी अधिकाधिक लोगों को भारतीय भाषायें पढ़ने को प्रोत्साहित करता है। इसके लिए वहाँ कितनी ही योजनायें चल रही हैं। उनमें एक योजना भारतीय भाषाओं के कोश तैयार करने की भी है, अर्थात् भारतीय भाषाओं के ऐसे कोश जिनमें शब्दों के पर्याय रूसी भाषा में दिये हों। ऐसे कई कोश (जिनमें हिन्दी-रूसी कोश भी हैं) कई वर्ष पहले प्रकाशित हो चुके थे। अब उनका दूसरा संस्करण होने जा रहा है। छपाने के पहिले वे उनका पूरी तरह से संशोधन करना चाहते हैं। यह काम रूस में बैठकर नहीं हो सकता। इसलिए रूस की सरकार ने कुछ रूसी विद्वानों को (जो यह काम कर रहे हैं) भारत भेजा है कि वे यहाँ के विद्वानों और साहित्यकों से मिलकर कोश संबंधी समस्याओं पर विचार-विनिमय करें। रूसी कोश विशेषज्ञों का यह दल पिछले महीने उत्तर भारत में आया था।

संयोग से पिछले सप्ताह हमारी भेंट इलाहाबाद के अहिन्दीभाषी वरिष्ठ प्रोफेसर से हो गयी। बातों ही बातों में उन्होंने हमें यह उलाहना दिया कि हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इन विशेषज्ञों से नहीं मिले, और उन्हें उनसे जैसी चाहिए वैसी सहायता नहीं मिली। हमने समाचारपत्रों में उनके आने की सूचना पढ़ी अवश्य थी, किन्तु हमें उनकी गतिविधि का कोई हाल नहीं मिला। हमने भी उसे जानने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि जो रूसी विद्वान् भारत में आते हैं वे बहुधा यहाँ के "प्रगतिशील" साहित्यकारों और विद्वानों से ही मिलकर लौट जाते हैं। हम ऐसे निर्दलीय हिन्दी-सेवी से आज तक कोई रूसी विद्वान नहीं मिला, यद्यपि 'सरस्वती' का स्थान हिन्दी संसार में नगण्य नहीं है। इसलिए हमने समझा था कि ये विशेषज्ञ भी 'प्रगतिशील' विद्वानों से मिलकर लौट गये होंगे। हमने अपने कई प्रगतिशील साहित्यकार मित्रों से पूछताछ की। उन्होंने भी यही कहा कि हमें उनके कार्यक्रम की सूचना नहीं मिली। हम नहीं जानते कि इन विशेषज्ञों की यात्रा का कार्यक्रम किसने बनाया था। किन्तु जिस किसी ने भी बनाया हो, उसने अधिकांश प्रमुख हिन्दी विद्वानों से उन्हें न मिलाकर अभ्यागतों के साथ अन्याय किया। हमें खेद है कि हिन्दी के बहुत से विद्वान और साहित्यकार उनसे मिलकर लाभ न उठा सके। हम यह भी समझते हैं कि यदि ये विशेषज्ञ बहुत से उन हिन्दी के साहित्यकों से मिलते जिनसे वे नहीं मिल सके, तो उन्हें भी कुछ लाभ ही हुआ होता।

●

हिन्दी का अवमूल्यन

भारत-सरकार की हिन्दी नीति अब धीरे-धीरे प्रकट होती जा रही है। यद्यपि केन्द्र के नेता अब भी हिन्दी के प्रति मौखिक सहानुभूति प्रकट करते रहते हैं तथापि अब उस सहानुभूति का स्वर बदल गया है। संविधान ने पंद्रह वर्षों में हिन्दी को केन्द्र में पूरी तरह से राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था की थी। स्वर्गीय मौलाना आजाद शिक्षा-मंत्री होने के नाते हिन्दी को केन्द्र में राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उत्तरदायी थे। उन्होंने आश्वासन भी दिया था कि ऐसा प्रबंध किया जा रहा है कि सन् १९६५ में हिन्दी केन्द्र की राजभाषा हो जायगी। किन्तु प्रधान मंत्री ने संविधान और मंत्रियों के आश्वासनों पर हरताल फेर कर संसद में एकाएक घोषित कर दिया कि अँगरेजी भी केन्द्र की सह-राजभाषा रहेगी, और तब तक रहेगी जब तक अहिन्दी-भाषी हिन्दी को एकमात्र राजभाषा बनाने की माँग न करेंगे। हमारे पाठक जानते हैं कि किस प्रकार संसद में काला कानून बनाकर अँगरेजी को अनिश्चित काल के लिए देश की वास्तविक राजभाषा बना दिया गया है।

किन्तु ऐसा मालूम होता है कि हिन्दी को और भी पीछे हटाने का प्रयत्न आरंभ हो गया है। पहिला लक्षण तो यह है कि अब हमारे केन्द्र के नेता हिन्दी को 'राजभाषा' न कहकर 'लिंक लैंग्वेज' कहने लगे हैं। 'लिंक लैंग्वेज' के अर्थ 'आपसी सम्पर्क की भाषा' है। यह आवश्यक नहीं है कि 'लिंक लैंग्वेज' ही राजभाषा भी हो। नेताओं द्वारा बार-बार हिन्दी को 'लिंक लैंग्वेज' कहते रहने से संभव है कि थोड़े दिनों में लोग यह

भी भूल जायँ कि हिन्दी 'राजभाषा' है, और वे उसे केवल 'लिंक लैंग्वेज' समझने लगें। जब जनता इस बात को भूल जायगी कि हिन्दी राजभाषा है तब इस देश में अँगरेजी अपने आप चिरस्थायी हो जायगी।

इतना ही नहीं, ऐसा भी मालूम होता है कि अब सरकारी कामकाज में 'हिन्दी' शब्द के प्रयोग को निरुत्साहित किया जा रहा है। इसका एक उदाहरण हमारे सामने आया है। केन्द्रीय शिक्षा सचिवालय का कर्तव्य है कि वह हिन्दी को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने के योग्य बनाने का काम करे। उसमें इस कार्य के लिए एक विभाग बनाया गया था जिसका नाम 'हिन्दी विभाग' (हिन्दी सैक्शन) रखा गया था। वहाँ हिन्दी का अलग विभाग बनाने की आवश्यकता इसलिए थी कि उसे राजभाषा के रूप में विकसित करने का शिक्षा मंत्रालय का विशेष उत्तरदायित्व है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के सामान्य विकास में भी शिक्षामंत्रालय सहायता देता है। अभी तक अन्य भारतीय भाषाओं के सामान्य विकास का विभाग अलग संस्कृति सचिवालय में था। अब दोनों विभागों का एकीकरण कर दिया गया है और 'हिन्दी विभाग' से 'हिन्दी' शब्द हटाकर उसका नाम 'भाषा विभाग' (लैंग्वेज सेक्शन) रख दिया गया है। हिन्दी को राजभाषा के रूप में विकसित करने का जो विशेष उद्देश्य था वह अन्य भाषाओं के सामान्य विकास में लीन कर दिया गया है। इस परिवर्तन से मालूम होता है कि अब हिन्दी के विकास पर शिक्षा सचिवालय उतना ही ध्यान देगा जितना अन्य भारतीय भाषाओं के विकास पर। सरकार को सभी भारतीय भाषाओं के विकास में सहायता देनी चाहिए। किन्तु हिन्दी के सामान्य विकास का प्रश्न सचिवालय के सामने नहीं है। उसका वैधानिक कर्तव्य तो हिन्दी को राजभाषा के लिए उपयुक्त बनाना है। दोनों के उद्देश्य भिन्न हैं। अन्य तेरह भाषाओं के साथ मिला देने से वह विभाग हिन्दी पर $\frac{१}{१४}$ ध्यान ही दे सकेगा। हिन्दी-प्रेमी इससे जो चाहें वह निष्कर्ष निकाल सकते हैं। सचिवालय ने विभाग के नाम से 'हिन्दी' शब्द हटाकर हिन्दी के महत्त्व को समाप्त कर दिया और उसे केवल सामान्य विकास का अधिकारी बना दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि सचिवालय में अलग 'हिन्दी विभाग' समाप्त हो गया, और अब अँगरेजीपरस्तों को सचिवालय में 'हिन्दी' शब्द लिखा देखकर जो झुँझलाहट होती थी, वह न हुआ करेगी। आश्चर्य नहीं कि धर्म-निरपेक्षता के नाम पर जिस प्रकार 'हिन्दू' शब्द का बहिष्कार किया जाता है, उसी प्रकार हमारे नेता यह फतवा भी दे दें कि भावात्मक एकता के लिए 'हिन्दी' शब्द का बहिष्कार भी आवश्यक है।

डॉ० जाकिर हुसेन और अंग्रेजी की पढ़ाई

डॉ० जाकिर हुसेन मूलतः शिक्षक हैं, और शिक्षाशास्त्री हैं। जब महात्माजी ने 'बुनियादी' शिक्षा की कल्पना की तब उसकी रूपरेखा और योजना तैयार करने के लिए उन्होंने डॉ० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में ही समिति बनायी थी। वे 'जामिया मिल्लिया' नामक राष्ट्रीय मुस्लिम विद्यापीठ के संस्थापक हैं और वे बहुत दिनों उसका संचालन करते रहे। वे देश के चोटी के शिक्षाशास्त्रियों में हैं। अतएव शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचारों का वजन है।

गत मास सनोसरा (गुजरात) में बुनियादी शिक्षा के कार्यकर्त्ताओं का एक सम्मेलन हुआ जिसमें बुनियादी शिक्षा की स्थिति और समस्याओं पर विचार किया गया। डॉ० जाकिर हुसेन उसमें सम्मिलित हुए। उन्होंने वहाँ एक विचारोत्तेजक भाषण दिया जिसमें उन्होंने नयी शिक्षा की कई उलझी हुई समस्याओं का निराकरण किया। भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय की नयी नीति देश में अंग्रेजी का प्रचार करने की है। वह ऊपर से तो हिन्दी को 'लिंक लैंग्वेज' (अन्तःप्रान्तीय उपयोग की भाषा) बनाने की बात कहता है, किंतु उसकी शक्ति भारत में अंग्रेजी को दृढ़ करने में लगती है। वह चाहता है कि सारे देश में प्रारंभिक (प्राइमरी) पाठशालाओं की तीसरी कक्षा से अंग्रेजी पढ़ायी जाय। अंग्रेजों ने भी देहाती प्रारंभिक पाठशालाओं में अंग्रेजी पढ़ाने का विचार नहीं किया। किन्तु 'नया मुसलमान अधिक प्याज खाता है'—वाली

कहावत के अनुसार यह नया अंग्रेजी-परस्त शिक्षा मंत्रालय शिक्षा में जगह-जगह अंग्रेजी ठूँसने का प्रयत्न करता है, उसके लिए मुक्तहस्त होकर जनता का पैसा खर्च करता है और अंग्रेजी के प्रचार के लिए अपने महान् प्रभाव का प्रयोग करता है। उसके प्रभाव में आकर राज्यों की सरकारें उसकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने लगती हैं, और आज यह हास्यास्पद स्थिति हो गयी है कि तीसरी कक्षा में, जिसमें बालक-बालिकाओं को मातृभाषा का भी पूरा ज्ञान नहीं हो पाता, उनके ऊपर अंग्रेजी ऐसी एक विदेशी भाषा का बोझ लादा जा रहा है। उन्हें पढ़ाने के लिए हाईस्कूल उत्तीर्ण अध्यापक रखे जाते हैं जो उन्हें तीसरी, चौथी और पाँचवीं कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाते हैं। आज हाई स्कूल उत्तीर्ण व्यक्ति के अंग्रेजी ज्ञान का स्तर क्या है, यह छिपा नहीं है। वे स्वयं शुद्ध अंग्रेजी लिख या बोल नहीं सकते। उनके उच्चारण के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही ठीक है। फिर भी हमारी अंग्रेजी-परस्त सरकार अपने दुराग्रह पर डटी है। यदि इससे बालक-बालिकाओं पर अनावश्यक बोझ न पड़ता, यदि अंग्रेजी की शिक्षा को दिये गये समय से मातृभाषा, गणित आदि की परमावश्यक विषयों की शिक्षा का समय कम न किया जाता, और यदि इस पर जनता की गाढ़ी कमाई का पैसा बर्बाद न होता, तो हम इसे सरकार का शेखचिल्लीपन कहकर हँसी में उड़ा देते। सरकार के इस कार्य का जनता में विरोध भी हुआ, किन्तु सरकार को अंग्रेजीपरस्त वाइसचांसलरों, शिक्षा विभाग के अधिकारियों और 'विशेषज्ञों' का समर्थन प्राप्त है। वह अपनी जिद् पर अड़ी है और हमारे ग्रामीण बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने का हास्यास्पद प्रयत्न कर रही है।

इसलिए हमें डॉ० जाकिर हुसेन के सनोसरा के भाषण के उस अंश को पढ़कर प्रसन्नता हुई जिसमें उन्होंने हमारे विद्यालयों में अंग्रेजी पढ़ाने के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके भाषण का जो सारांश अंग्रेजी समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ है वह इस प्रकार है—"विद्यार्थियों को अंग्रेजी उनकी आवश्यकताओं के अनुसार पढ़ाई जानी चाहिए। अधिकांश विद्यार्थी (बड़े होने पर) खेती करेंगे या ऐसे कामों में लगेंगे जिनमें उन्हें अंग्रेजी की आवश्यकता न होगी।"

हम इस मत से पूर्णरूप से सहमत हैं। अंग्रेजी पढ़ाई जाय, किन्तु वह अनिवार्य न हो। वह उन्हें ही पढ़ाई जाय जिन्हें उसकी आवश्यकता हो। इस देश में केवल अपनी मातृभाषा जाननेवाले के लिए उच्चतम शिक्षा उपलब्ध होनी चाहिए। जिन्हें अंग्रेजी की आवश्यकता हो, उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने का प्रबन्ध हो। किन्तु भारत सरकार आवश्यकतानुसार अंग्रेजी नहीं पढ़ाती। ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेजी का प्रचार करने के लिए अंग्रेजी पढ़ाती है जिससे कालान्तर में, जब प्राइमरी पाठशालाओं में पढ़े हुए लोगों तक में, अर्थात् सभी साक्षरों में उसका ज्ञान व्यापक हो जाय, तब वह यह कहकर कि सारे देश के लोगों को अंग्रेजी का ज्ञान है, वह अंग्रेजी को भारत के 'लिंक लेंग्वेज' (अंतःप्रान्तीय उपयोग की भाषा) के पद पर स्थायी कर दे। नाम के लिए हिन्दी भी बनी रहे, किन्तु यह निश्चय है कि ये अंग्रेजीपरस्त और इनके उत्तराधिकारी हिन्दी की उपेक्षा करके, उसमें काम न करके, धीरे-धीरे उसे पूरी तरह से समाप्त कर देंगे। हमारी दृष्टि से आज भारत सरकार अंग्रेजी को जो प्रोत्साहन दे रही है उसका कारण 'शिक्षा सिद्धान्त' नहीं, वह आंतरिक राजनीति है जिसमें अंग्रेजी एक वर्गविशेष (शासक वर्ग) के स्वार्थसाधन का आधार हो गयी है और उसके द्वारा वे इस देश पर अपने वर्ग का प्रभुत्व कायम रखना चाहते हैं। यदि 'शिक्षा' की दृष्टि से अंग्रेजी पढ़ानी है तो भारत सरकार को डा० जाकिर हुसेन के मत के अनुसार उसके पढ़ाने का प्रबंध करना चाहिए।

●

अहिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी

●

भारत सरकार के जनगणना विभाग ने १९६१ की जनगणना की रिपोर्ट के कई खंड प्रकाशित कर दिये हैं। उनके अध्ययन से भारत से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक बातें मालूम होती हैं। उदाहरण के लिए, उसमें भारत के अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या दी गयी है। उन अहिन्दीभाषियों की संख्या भी दी गयी है जो हिन्दी जानते हैं। उन आँकड़ों का सार इस प्रकार है :—

(१) भारत में **अंग्रेजी जाननेवालों** की संख्या :—

अंग्रेजी जाननेवालों की मातृभाषा	संख्या
असमिया	१,५८,४८१
बंगला	१५,६३,०७६
गुजराती	४,२४,१८८
कन्नड़	३,२६,३९१
कश्मीरी	८,२७५
मलयाली	७,६२,३३४
मराठी	५,२७,६५५
उड़िया	२,०९,१७५

पंजाबी	४,०६,९५५
तमिल	१२,६१,७६२
तैलगू	८,५५,०३०
हिन्दी	३३,१५,०३८
उर्दू	४,४६,८५१
अंग्रेजी	२,२३,७८१
कुल संख्या	१,०४,८८,९९२

(२) राज्यवार उन लोगों की संख्या **जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है किन्तु जो हिन्दी जानते हैं :**

राज्य (कोष्ठक में उसकी भाषा दी गयी है)	संख्या
आंध्र (तेलगू)	३,००,६२३
असम (असमिया)	२,७४,५६९
बिहार (के अहिंदी भाषी)	१७,१२,७७०
गुजरात (गुजराती)	५,२५,३६४
कश्मीर (कश्मीरी)	६१,५६६
केरल (मलयाली)	३५,२७५
मध्य प्रदेश (के अहिंदी भाषी मात्र)	१६,०६,९५५
मदरास (तमिल)	२९,८१८
महाराष्ट्र (मराठी)	२४,३५,७११
मैसूर (कन्नड़)	२,१९,०४६
उड़ीसा (उड़िया)	१,३९,२५०
पंजाब (पंजाबी भाषी और अन्य अहिंदीभाषी)	४,७१,८७०
राजस्थान (अहिंदीभाषी मात्र)	१,६९,४२५
उत्तर प्रदेश (के अहिंदीभाषी)	६,३१,०७१
पश्चिमी बंग (बँगला)	४,३४,१०३
	९३,६३,०६८

जिस प्रकार से ये गणनाएँ की गयी हैं और जिस प्रकार ये प्रदर्शित की गयी हैं, उन पर हमें बहुत कुछ कहना है। किन्तु वह किसी और अवसर पर कहेंगे।

इन आँकड़ों से सामान्य पाठक पर यह प्रभाव पड़ेगा कि भारत के लोगों में हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी अधिक लोकप्रिय है।

यह सर्वविदित है कि अंग्रेजों ने अपने दीर्घकालीन शासन में जानबूझकर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी कि लोगों को विवश होकर अंग्रेजी पढ़नी पड़े। वे विवश करनेवाली परिस्थितियाँ अब भी बनी हुई हैं। सरकार हमारे बालक और बालिकाओं पर तीसरी कक्षा से ही अंग्रेजी लादने में लगी हुई है। सरकारी नौकरी के लिए उसका ज्ञान आज भी अनिवार्य है।

दूसरी ओर हिन्दी का विरोध किया जा रहा है। और सरकार हिन्दी राज्यों के भी राजकाज में उसे चलने नहीं देती। सरकारी नौकरी पाने के लिए उसका जानना आवश्यक है। देखना है कि ऐसी स्थिति में भी अंग्रेजी अधिक लोकप्रिय है या हिन्दी।

किन्तु सूक्ष्म रूप से इन सरकारी आँकड़ों पर विचार करने से प्रत्यक्ष हो जाता है कि **स्वेच्छा से हिन्दी जानने वाले अहिन्दी भाषियों की संख्या अधिक है। या हम यों कहें कि भारत के अहिन्दी-भाषियों में अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी अधिक लोकप्रिय है।**

इसे समझने के लिए पहले तो अंग्रेजी जाननेवाले भारतीयों की संख्या में से उन लोगों को अलग कर देना चाहिए जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी है क्योंकि वे अंग्रेजी द्वितीय भाषा के रूप में नहीं सीखते। अंग्रेजी मातृभाषी लोगों की संख्या भारत में २,२३,७८१ दी गयी है। यदि इसे भारत के अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या में से निकाल दिया जाय तो १,०४,८८,९९२—२,२३,७८१ = १,०२,६५,२११ लोग ऐसे बच रहेंगे जिनकी मातृभाषा कोई भारतीय भाषा है, किन्तु वे अंग्रेजी जानते हैं।

किन्तु हमारा उद्देश्य तो यह जानना है कि अहिन्दीभाषियों में हिन्दी अधिक प्रचलित है या अंग्रेजी, इसलिए हम केवल उन अहिन्दीभाषियों की संख्या प्राप्त करने के लिए, जो अंग्रेजी जानते हैं, उपर्युक्त संख्या में से हिन्दीभाषी अंग्रेजी ज्ञाताओं को निकाल देते हैं :—

१,०२,६५,२११ कुल भारतीय भाषा-भाषी अंग्रेजी जानने वाले
३३,१५,०३८ हिन्दीभाषी अंग्रेजी जाननेवाले

६९,५०,१७३ अहिन्दीभाषी अंग्रेजी जाननेवाले

यह संख्या उन अंग्रेजी जाननेवालों की है जिनकी मातृभाषा न तो हिन्दी है और न अंग्रेजी। हम उर्दू को हिन्दी की एक शैली ही मानते हैं। अतएव यदि उर्दू मातृभाषी अंग्रेजी ज्ञाताओं को भी इस संख्या में से निकाल दिया जाय (६९५०१७३—४४६८५१) तो भारत के उन अहिन्दी और अ-उर्दू-भाषियों की संख्या जो अंग्रेजी जानते हैं केवल ६५,०३,३२२ रह जाती है, जब कि इन्हीं (हमारी दृष्टि से दोषपूर्ण) सरकारी आँकड़ों के अनुसार भारत के ९३,६३,०६४ अहिन्दीभाषी हिन्दी जानते हैं। किन्तु यदि तर्क का लाभ हिन्दी-विरोधियों को देने के लिए उर्दूभाषियों को हिन्दीभाषियों में सम्मिलित न भी किया जाय, फिर भी सैंसस रिपोर्ट के अनुसार स्थिति इस प्रकार है :

भारत में ९३,६३,०६४ अहिन्दी भाषी व्यक्ति हिन्दी जानते हैं।
भारत में ६९,५०,१७३ अहिन्दी भाषी व्यक्ति अंग्रेजी जानते हैं।

अतएव आज भी—सरकारी आँकड़ों के अनुसार ही—अहिन्दीभाषियों में अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी अधिक लोकप्रिय है। ये वे अहिन्दीभाषी लोग हैं जिनके सामने अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी या अंग्रेजी, या दोनों भाषाओं को सीखने का विकल्प है। अंग्रेजी पढ़ने के लिए आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक विवशताएँ हैं, हिन्दी सीखने के लिये ऐसी कोई विवशता नहीं है। फिर भी भारत के राष्ट्रप्रेमी अहिन्दी-भाषी स्वेच्छा से हिन्दी ही अधिकतर सीखते हैं। हिन्दी और अंग्रेजी में वे वरीयता हिन्दी ही को देते हैं। उनमें अंग्रेजी जाननेवालों से हिन्दी जाननेवालों की संख्या सवाये से अधिक (३० प्रतिशत से अधिक) है। यह स्थिति तब है जब देश में हिन्दी के लिए वातावरण दूषित कर दिया गया है। जब हिन्दी के विरुद्ध शक्तिशाली अंग्रेजी-परस्त लोग राजकाज में हिन्दी की प्रगति रोकने में प्राणपण से लगे हुए हैं, जब निहित स्वार्थवाले अंग्रेजी के दास अमरीका और इंग्लैण्ड ऐसी समृद्ध विदेशी शक्तियों के रुपयों और

सहयोग से इस देश में अंग्रेजी की जड़ मजबूत करने में लगे हैं, और जब हमारी केन्द्रीय और राज्य सरकारें हिन्दी विरोध से आतंकित होकर संविधान की विवशता से हिन्दी के प्रति मौखिक सहानुभूति प्रकट करने के अतिरिक्त हिन्दी की प्रगति के लिए ठोस कदम उठाने में संकोच करती हैं। असंख्य विदेशी रुपये अंग्रेजी के प्रचार में व्यय हो रहे हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अपने अंग्रेजी प्रेम के कारण प्रति वर्ष लाखों रुपये परोक्ष रूप से अंग्रेजी को दृढ़ करने में व्यय करता है। नौकरशाही अंग्रेजी को हर प्रकार से प्रोत्साहन देती और हिन्दी की प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाती है। फिर भी, अंग्रेजों के अंग्रेजी फैलाने के डेढ़-दो सौ वर्षों के प्रयत्न और हमारी सरकार की हिन्दी के प्रति उदासीनता की नीति के बावजूद, भारत के अहिन्दी-भाषियों में अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी का प्रचार अधिक है।

आज के इस हिन्दी-विरोधी वातावरण के कारण और हिन्दी की प्रगति में गतिरोध आ जाने के कारण, हमारे देश के विभिन्न भागों के हिन्दीप्रेमियों, राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं और हिन्दी का काम करनेवालों में कहीं-कहीं कुछ कुंठा और निराशा की झलक दिखायी पड़ती है। इन आँकड़ों से उन्हें आश्वस्त होना चाहिए। सरकार विदेशी धन, शक्तिशाली निहित स्वार्थों तथा अंग्रेजी-परस्त नेताओं और अधिकारियों की संयुक्त शक्ति इस देश के राष्ट्रप्रेमी अहिन्दीभाषियों में हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी को अधिक लोकप्रिय नहीं बना सकी। जिस दिन जनता जागेगी उस दिन अंग्रेजी का यह बालू का भवन अपने आप भूमिसात् हो जायगा क्योंकि उसकी नींव इस देश की धरती में नहीं है। और यह निश्चय है कि एक दिन जनता जागेगी। चीन में अफीम ने जनता को सदियों निकम्मा और निस्तेज बना रखा था। जब जनता जागी तब उसने अफीम से अपने को मुक्त कर लिया। अंग्रेजी की अफीम ने भी हमें निस्तेज, निकम्मा और परावलम्बी बना रखा है। हमारे देश की जनता भी जागने पर हमारे राष्ट्र का तेज हरण करनेवाली, उसकी मौलिक विचार शक्ति को कुंठित करनेवाली और दृष्टि को धूमिल करनेवाली अंग्रेजी रूपी अफीम से अपने को उसी तरह मुक्त कर लेगी जिस प्रकार चीनियों ने अपने को अफीम से मुक्त करके खोए हुए तेज को पुनः प्राप्त कर लिया है। हमारी जनता के जागरण का वह दिन शीघ्र आवे!

दक्षिण भारत में हिन्दी जाननेवालों के सरकारी आँकड़े और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा—हमें १९६१ की जनगणना की रिपोर्ट में यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मदरास राज्य में केवल २९, ८१८ अहिन्दीभाषी व्यक्ति हिन्दी जानते हैं। दक्षिण भारत में प्रायः पचास वर्ष से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा हिन्दी का प्रचार कर रही है। उसकी रिपोर्टों से पता लगता है कि उसने लाखों व्यक्तियों को वहाँ हिन्दी सिखलायी है। सरकारी आँकड़ों में मदरास के तमिल और तैलगूभाषियों के अतिरिक्त मदरास के बाहर के, किंतु वहाँ रहनेवाले, वे लोग भी सम्मिलित हैं जो हिन्दी जानते हैं। उदाहरण के लिए, मदरास नगर के साहूकार पेठ ही में कई हजार गुजराती रहते हैं जो बखूबी हिन्दी बोलते हैं। अतएव हमने एक पत्र दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अधिकारियों को लिखा है। उसका मुख्य अंश यह है :

"इस रिपोर्ट में उन लोगों की राज्य-वार संख्या भी दी गयी जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है, किन्तु जो हिन्दी जानते हैं। दक्षिण के चार राज्यों की वह संख्या इस प्रकार दिखायी गयी है :

आन्ध्र	३,००,६२३
केरल	३५,२७४
मैसूर	२,१९,०४६
मद्रास	२९,८१८

मुझे संदेह है कि सैंसस रिपोर्ट के आँकड़े सही हैं।

मैं अपनी बात को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करूँगा। मदरास राज्य में कुल २९,८१८ ऐसे लोग बतलाये गये हैं जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है पर जो हिन्दी जानते हैं। इसे पढ़कर आश्चर्य होता है क्योंकि मदरास नगर ही में कई हजार तो केवल ऐसे गुजराती ही हैं जो बखूबी हिन्दी जानते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी जाननेवाले मराठे आदि भी हैं। यदि उत्तर भारत के ऐसे अहिन्दी भाषी हिन्दी जानने-वालों की संख्या मदरास राज्य में पाँच-छः हजार भी मान ली जाय तो सैंसस रिपोर्ट के अनुसार मदरास राज्य में केवल चौबीस-पचीस हजार ऐसे तमिल और तैलगूभाषी हैं जो हिन्दी जानते हैं। किन्तु जब इस तथ्य की ओर हम ध्यान देते हैं कि वहाँ दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा कई दशकों से हिन्दी प्रचार का कार्य कर रही है, और उसकी रिपोर्टों में यह दावा किया गया है कि अकेले उसी ने मदरास में कई लाख लोगों को हिन्दी पढ़ायी है तो सैंसस रिपोर्ट के आँकड़ों और सभा के दावे में कोई मेल नहीं बैठता। या तो सैंसस रिपोर्ट के भाँकड़े गलत हैं और या फिर सभा का दावा गलत है।

इस रिपोर्ट से अँगरेजी जाननेवालों और अहिन्दीभाषी हिन्दी जाननेवालों की संख्याओं के अनुपात का गलत चित्र ही सामने नहीं आता, बल्कि उसके आँकड़ों से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के कार्य पर भी यह लांछन लगता है कि उसने इतने वर्षों में हिन्दी प्रचार का कोई विशेष कार्य नहीं किया। क्या सभा के बहु-प्रचारित कार्य का यही परिणाम हुआ कि भारत में सबसे कम हिन्दी का प्रचार मदरास ही में है? मैं इस परिणाम को मानने को तैयार नहीं हूँ क्योंकि मुझे सभा के कार्य का थोड़ा बहुत परिचय है। किन्तु सामान्य जनता में सरकारी आँकड़ों के बल पर सभा के कार्य के संबंध में यह धारणा फैल सकती है।

अतएव भारत में अहिन्दीभाषियों में हिन्दी प्रचार का सही चित्र देने के लिए इन आँकड़ों की सत्यता की जाँच आवश्यक है। यह जाँच इसलिए भी आवश्यक है कि सैंसस रिपोर्ट के आँकड़ों से सभा के कार्य को जो परोक्ष रूप से अप्रभावी और प्रायः निष्फल दिखलाया गया है, उसका भी निराकरण हो सके।

अतएव यदि सभा अपने कार्य-क्षेत्र में उन अहिन्दीभाषियों की ठीक संख्या जान सके जो हिन्दी जानते हैं तो इस शंका का समाधान हो सकता है। इससे सैंसस द्वारा दिये गये दूसरे राज्यों के ऐसे आँकड़ों की सत्यता का भी अनुमान किया जा सकेगा।

अतएव मेरा विनम्र सुझाव है कि सभा को अपने प्रचारकों के द्वारा कम से कम मदरास राज्य में ऐसे हिन्दी जाननेवाले अहिन्दीभाषी लोगों की गणना करानी चाहिए। यदि यह कार्य उसकी शक्ति और उसके साधनों से बाहर हो तो कम से कम मदरास राज्य के उन बड़े नगरों में (जैसे मदरास, तिरुचिनापल्ली, मदुरई, कोइम्बटूर, आदि में), जहाँ उसके कार्यालय या केन्द्र हैं, यह गणना करा ले। मुझे विश्वास है कि इन सीमित और थोड़े से क्षेत्रों से ही जो आँकड़े प्राप्त होंगे वे सैंसस के आँकड़ों के सत्यासत्य होने का कुछ अनुमान दे सकेंगे, और उससे उनकी विश्वसनीयता या अविश्वसनीयता का कुछ अनुमान हो सकेगा।

मेरी सम्मति में केरल के संबंध में भी ऐसी ही जाँच आवश्यक है क्योंकि वहाँ भी हिन्दी जानने-वालों की संख्या बहुत कम (केवल ३५,२७४) बतलायी गयी है। वह भी सभा का कार्य-क्षेत्र रहा है और सभा वहाँ भी यह जाँच कर सकती है।

आशा है कि आप इस पत्र पर गंभीरता से विचार करके उचित कार्रवाई करेंगे जिससे सैंसस रिपोर्ट में दिये गये आँकड़ों से जो भ्रम उत्पन्न हो गया है वह दूर हो सके।''

सभा के कार्यकर्ता सारे दक्षिण भारत में फैले हुए हैं। मदरास राज्य में तो उसका संगठन बहुत व्यापक और सुव्यवस्थित है। तिरुचिनापल्ली, मदुरई आदि कई नगरों में उसके महत्त्वपूर्ण शाखा-कार्यालय

हैं। यदि वह चाहे तो बड़े अच्छे ढंग से राज्य में व्यापक रूप से या केवल सीमित क्षेत्रों में प्रस्तावित गणना कर सकती है। उसका परिणाम प्रकाशित किया जाय और उसके अभिलेख सुरक्षित रखे जायँ जिससे जो चाहे उसकी जाँच कर सके।

सभा के सर्वेक्षण के बाद ही यह जाना जा सकेगा कि सैंसस रिपोर्ट में दिये आँकड़े विश्वसनीय हैं या नहीं। और यदि उनमें गलती है तो उसके क्या कारण हैं? क्या गणना के नियमों या विधि में कोई मौलिक दोष था, अथवा गणक को आँकड़े ही गलत दिये गये? यदि गलत दिये गये तो क्यों? इसके विपरीत, यदि ये आँकड़े सभा के सर्वेक्षण के बाद लगभग ठीक प्रमाणित होते हैं तो यह सोचना पड़ेगा कि मदरास में महात्माजी के लगाये और मदरास की जनता द्वारा सिंचित इस विशाल वृक्ष में फल क्यों नहीं आये।

केरल में भी यह सभा वर्षों से हिन्दी प्रचार का कार्य कर रही है। केरल में हिन्दी का विरोध नहीं है। वहाँ वर्षों से स्कूलों में हाई स्कूल तक हिन्दी अनिवार्य है। वहाँ भी सैंसस रिपोर्ट में दी गयी हिन्दी जाननेवालों की संख्या हमें कम मालूम होती है। उसकी भी जाँच होनी आवश्यक है।

हम आशा करते हैं कि सभा हमारे निवेदन पर विचार करके उचित कार्यवाही करेगी।

विवेकहीन अंग्रेजी परस्ती

हिन्दीभाषा राज्यों में उत्तर प्रदेश अपनी राजभाषा हिन्दी की उपेक्षा करने के लिए धीरे-धीरे कुख्यात होता जा रहा है। उसकी इस उपेक्षा का प्रभाव उसके द्वारा स्थापित संस्थाओं पर भी पड़ रहा है। उत्तर प्रदेश में बिजली उत्पादन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। इस काम के लिए उसने एक "उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत् परिषत्" (U. P. State Electricity Board) बना रखा है जो एक उच्च सरकारी अधिकारी की अध्यक्षता में काम करता है। इसका प्रायः सारा काम जंग्रेजी में होता है। इसमें हिंदी का उपयोग दाल में हलके नमक के बराबर ही होगा। इसकी अंग्रेजीपरस्ती का एक नमूना अभी देखने को मिला है। अब बिजली का उपयोग गाँवों में भी होने लगा है और किसान भी खेती के लिए (नलकूप चलाने आदि के लिए) उसका उपयोग करते हैं। १७ अप्रैल के 'पायोनियर' में इस "यू० पी० स्टेट एलैक्ट्रिसिटी बोर्ड" ने पश्चिमी जिले के किसानों के लिए एक सूचना निकाली है। यह उस पत्र में विज्ञापन के रूप में बड़े-बड़े अक्षरों में छपी है। वह इस प्रकार आरंभ होती है—

APPEAL FROM U. P. STATE ELECTRICITY BOARD

TO

Farmers of Western Districts.

इसके नीचे २३ पंक्तियों में अंग्रेजी में देहरादून, सहारनपुर, मुजफ़्फरनगर, मेरठ, बुलंदशहर,

बिजनौर, मुरादाबाद, बदाऊँ, अलीगढ़, मथुरा, आगरा, एटा, मैनपुरी, इटावा, फर्रुखाबाद, रामपुर, बरेली, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, लखीमपुर-खेरी, हरदोई और सीतापुर के नलकूपों का प्रयोग करनेवाले किसानों (Farmers) को अंग्रेजी में सलाह दी गयी है कि गर्मियों में वे नलकूप रात्रि में चलावें।

प्रश्न उठता है कि उत्तर प्रदेश के इन २२ जिलों के कितने किसान अंग्रेजी पढ़े हैं जो यह सूचना अंग्रेजी में निकाली गयी है? उत्तर प्रदेश के इन जिलों के गाँवों में अंग्रेजी समाचार-पत्रों (विशेषकर 'पायोनियर' का) कितना प्रचार है? इनमें से चार-छः जिलों को छोड़कर शेष के नगरों में भी पायोनियर की कितनी प्रतियाँ बिकती हैं? क्या उसमें अंग्रेजी में छपी सूचना उन जिलों के किसानों के पास पहुँच जायगी? फिर सिद्धान्त और नीति के प्रश्न ये हैं कि क्या जनता (जिनमें किसान प्रमुख हैं) के हित की सूचना अंग्रेजी में निकाली जानी चाहिए, और क्या ऐसे मामलों में भी अंग्रेजी से चिपके रहना (जो न तो उत्तर प्रदेश की राजभाषा है और न वहाँकी जनता ही की भाषा है) राज्य की घोषित नीति के विरुद्ध नहीं है?

कृषि की उन्नति में वर्षों अरबों रुपये व्यय करने के बाद भी इस देश ने खाद्यान्नों की समुचित पैदावार नहीं बढ़ाई। उसका एक बड़ा कारण यह है कि सरकार में उस अभियान का संचालन करनेवाले वे लोग हैं जिनके और जनता के बीच में बड़ी गहरी खाई है। वे अंग्रेजी भाषा के प्रेमी हैं, वे अपने भाव जनता की भाषा में या तो व्यक्त नहीं कर सकते या उसमें व्यक्त करना अपनी शासकीय शान और पद-मर्यादा के विरुद्ध समझते हैं। वे किसानों को, किसानों की भाषा में, बात समझाते ही नहीं, या समझा नहीं सकते। वे क्रीजदार पतलून, बुशशर्ट और पालिशदार चमचमाते बूट पहिनकर जीपों में चढ़कर धूल उड़ाते हुए जब किसानों के पास पहुँचते हैं तो आधे-उघारे, प्रायः नंगे पाँव रहनेवाले ठेठ हिन्दी बोलनेवाले किसान उनसे आतंकित हो जाते हैं और उन दोनों में न तो तादात्म्य स्थापित हो सकता है, न सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है और न विचारों का आदान-प्रदान ही हो सकता है। कृषि अभियान की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है। किन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि हमारी सरकार और उसके अधिकारियों ने अंग्रेजी के उपयोग करने का 'सत्याग्रह' कर दिया है। इस उदाहरण के बाद हमें बचपन की सुनी हुई एक कहानी, जिसे अभी तक हम कपोलकल्पना समझते थे, सही मालूम होने लगी। मुस्लिम राज में उसी प्रकार 'फारसीपरस्त' थे जैसे आज 'अंग्रेजीपरस्त' हैं। उस समय एक सज्जन काबुल गये—जैसे आजकल लोग इंग्लैण्ड जाते हैं। वहाँसे लौटकर उन्होंने हिन्दी बोलना छोड़ दिया और घर बाहर फारसी ही बोलने लगे। एक बार वे बीमार पड़े। प्यास लगी। "आब" "आब" चिल्लाने लगे। घरवाले समझे ही नहीं कि वे क्या माँगते हैं। कथा की अतिशयोक्ति के अनुसार वे प्यासे मर गये। इस पर किसी तुक्कड़ ने तुक जोड़ी:

काबुल गये, मुगल ह्वै आये बोलें अटपट बानी।
"आब" "आब" कर मर गये सिरहाने रक्खा पानी॥

इस समय स्थिति उलटी है। रोगी (किसान) तो हिन्दी बोलता और समझता है, किन्तु डाक्टर (अधिकारी) अंग्रेजी बूँकता है। परिणाम यही है कि रोगी को राहत नहीं मिलती—कृषि का उद्धार नहीं होता। हमारी सरकार और उसके लाड़ले अधिकारियों की समझ में यह सीधी और सरल बात नहीं आती कि उत्तर प्रदेश के किसानों को अंग्रेजी में सूचना देना "विशुद्ध मौर्ख्य" है।

●

न्यायालयों की भाषा

●

संविधान के अनुसार, जब तक संसद नया अधिनियम न बनावे, सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों में काम अंग्रेजी में होगा अर्थात् बहस अंग्रेजी में होगी, कागज अंग्रेजी में रखे जायेंगे, निर्णय, डिक्रियाँ और आदेश अंग्रेजी में लिखे जायेंगे। किन्तु संविधान की धारा ३४८ (२) में राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त कर अपने राज्य के हाईकोर्ट में हिन्दी में या राज्य की राजभाषा का उपयोग करने की अनुमति दे देवे। किन्तु फिर भी हाईकोर्ट के निर्णय, डिक्री और आदेश अंग्रेजी ही में लिखे जायँगे। इस धारा के अनुसार कई वर्ष पूर्व राज्यपाल ने राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त कर इलाहाबाद हाईकोर्ट में फौजदारी मुकद्दमों में हिन्दी में बहस करने की अनुमति दे दी थी। तब से यह माँग की जा रही थी कि दीवानी मुकद्दमों में भी हिन्दी में बहस करने की अनुमति दे दी जाय। हाल ही में राज्यपाल ने राष्ट्रपति की सहमति से कृपावंत होकर यह अनुमति दे दी है। यद्यपि अभी हाईकोर्ट में निर्णय, डिक्री आदि अंग्रेजी में लिखी जायँगी, तथापि हिन्दी में बहस करने का अधिकार प्राप्त हो जाना हम न्यायालयों के 'स्वदेशीकरण' की महत्त्वपूर्ण प्रगति समझते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर बतालाया है, राज्यपाल ने कोई नयी बात नहीं की। जो सुविधा उन्होंने पहिले ही से फौजदारी मुकद्दमों में दे रखी थी, और जिसे दीवानी मुकद्दमों में न देने का कोई कारण न था, वही सुविधा उन्होंने दीवानी मुकद्दमों के लिए भी सुलभ कर दी है। किन्तु इससे अंग्रेजी-परस्त क्षेत्रों में

बेचैनी फैल गयी है। 'टाइम्स आफ इण्डिया' ने इस पर इस प्रकार टीका की है कि मानों राष्ट्रपति और राज्यपाल ने कोई नया काम कर दिया। जो आपत्तियाँ और तर्क उसने दिये हैं वे उसे कई वर्ष पूर्व उस समय देने चाहिए थे जब यही आज्ञा फौजदारी मुकद्दमों के लिए दी गयी थी। किन्तु शायद उस समय या तो उसने विरोध करना ठीक न समझा, अथवा उधर उसका ध्यान ही नहीं गया। जो भी हो, अब उसने यह प्रश्न उठाया है कि हमारी संघीय प्रणाली तब तक ठीक तरह से काम नहीं कर सकती जब तक सारे देश में कानून और कानूनी कार्यवाही एक ही भाषा में न हो। उसका कहना है कि (१) सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों के जज और वकील भारत के विभिन्न भागों से आते हैं। (अर्थात् वे विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं।) (२) १९६१ के ऐडवोकेट ऐक्ट के अनुसार सारे भारत के ऐडवोकेटों का नाम एक ही सूची पर रहेगा, यदि एक प्रदेश के ऐडवोकेट को दूसरे भाषायी प्रदेश में जाकर वकालत करने का अधिकार है। (३) संविधान में राष्ट्रपति को अधिकार है कि वे चाहें तो सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश से सलाह करके एक हाईकोर्ट के जज को किसी दूसरे हाईकोर्ट में स्थानान्तरित कर दें। अतएव सभी न्यायालयों की कार्रवाई एक ही भाषा में होनी चाहिए, नहीं तो अन्य भाषा-भाषी ऐडवोकेटों और जजों को असुविधा होगी।

टाइम्स आफ इण्डिया का कहना है कि : Despite the special role of Hindi, its acceptance must be based on the clear policy of the Government which recognises Hindi as the alternative language to English in High Courts throughout the Union. In the absence of a uniform policy it would be difficult to resist the claims of the other regional languages leading to a babel of confusing arguments in High Courts. A common language which makes it possible for advocates to practice in any part of the country has helped to maintain the unity of our judicial system, and nothing should be done to impair this bond which contributes to the cohesion of federation and encourages a uniformity in decision.

(इस बात के बावजूद कि हिन्दी को विशेष स्थान मिला है, हाईकोर्टों में उसके प्रयोग की स्वीकृति सरकार की स्पष्ट नीति के आधार पर होनी चाहिए क्योंकि सरकार उसे संघ के सभी हाईकोर्टों में अंग्रेजी के विकल्प के रूप में मानती है। यदि देश में सब जगह एक-सी नीति न बर्ती गयी तो (हाईकोर्टों में) स्थानीय क्षेत्रीय भाषाओं के उपयोग की माँग को अस्वींकार करना कठिन हो जायगा, और तब हाईकोर्टों में अनेक भाषाओं के प्रयोग से गड़बड़ी फैल जायगी। सारे देश के हाईकोर्टों में एक ही भाषा के प्रयोग के कारण ऐडवोकेटों को भारत के किसी भी भाग में जाकर वकालत करना संभव हो गया है। इससे हमारी न्याय-प्रणाली में एकरूपता आ गयी है। ऐसा कोई काम न होना चाहिए जिससे इस जोड़ने वाले सूत्र को किसी प्रकार की क्षति पहुँचे, क्योंकि इससे संघ के बन्धन दृढ़ होते हैं और न्यायालयों के निर्णयों में एकरूपता आती है।

हम सिद्धान्ततः 'टाइम्स आफ इण्डिया' के इस तर्क से पूर्ण रूप से सहमत हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस देश में अंग्रेजी नहीं चल सकती। हमारे अंग्रेजीपरस्त मित्र चाहे जितना प्रयत्न करें, अंग्रेजी को चाहे जितना 'आक्सीजन' दें, वह इस देश की जलवायु और वातावरण में बहुत दिनों उस प्रकार जीवित नहीं रह सकती जिस प्रकार अंग्रेजी-राज्यकाल में कृत्रिम उपायों से जीवित रखी जाती थी। सारे देश के लिए एक भाषा की आवश्यकता का अनुभव करके ही हमारे संविधान बनाने वालों ने भारत की एकता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हिन्दी को संघीय राजभाषा बनाया था। यदि अंग्रेजीपरस्त और संकुचित प्रान्तीय भावनाओं के कुछ प्रभावशाली लोग आड़े न आते तो इन पन्द्रह-बीस वर्षों में देश का भाषायी एकीकरण

बहुत अधिक प्रगति कर गया होता। भारत में शायद ही कोई राज्य हो जहाँ आज से पन्द्रह-बीस साल बाद अंग्रेजी का प्रभुत्व बना रह सके। अमरीकन और अंग्रेज संस्थाओं के जोरदार प्रयत्न और परोक्ष अंग्रेजी प्रचार के बावजूद, और चागला-कुंजरू-सप्रू एण्ड कम्पनी के भगीरथ प्रयत्नों के बावजूद, विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ हो जायँगी और अंग्रेजी का स्तर दिनोंदिन गिरता जायगा। प्रकृति में कहीं भी शून्यता या रिक्तता (वैकुअम) नहीं रह सकती। जब अंग्रेजी नहीं चल पाएगी, और यदि हिन्दी को उसके संविधान सम्मत-पद पर बैठने का विरोध होता रहेगा, तब क्षेत्रीय भाषाएँ हाईकोर्टों में अंग्रेजी का स्थान लेने को विवश हो जायँगी, और तब 'टाइम्स आफ इण्डिया' ने भारत की न्यायप्रणाली की एकता के लिए जो आशंकाएँ प्रकट की हैं, वे वास्तविक हो जायँगी। जो लोग भारत की एकता में, उसकी न्यायप्रणाली की एकता में, उसकी सांस्कृतिक एकता में, उसकी राजनीतिक एकता में विश्वास करते हैं उन्हें संकुचित और प्रान्तीय भावनाओं से ऊपर उठकर गम्भीरता से विचार करना होगा। उस विखण्डन और अराजकता को दूर करने का उपाय संविधान में दिया हुआ है। यदि देश को अखण्ड और एक रखना है तो संविधान के अनुसार हिन्दी को उसका स्थान दिलाने का साहसपूर्ण प्रयत्न कीजिए। हम जानते हैं कि ऐसे परिवर्तनों में कितना समय लगता है। उसके लिए कितना परिश्रम करना पड़ता है। इंगलैण्ड में भी राजकाज और न्यायालयों से फ्रेंच भाषा को हटाने में कोड़ियों वर्ष लग गये थे। समय जरूर लगेगा, किन्तु यदि हमारा लक्ष्य स्पष्ट है और हमारे हृदयों में लगन है तो देर-सबेर लोगों को कम से कम कष्ट और असुविधा पहुँचाए बिना, हम मृतप्राय अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिष्ठित कर देश की एकता बनाये रख सकेंगे।

उच्च शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषायें और अंग्रेजी परस्तों की बेचैनी

●

इस मास की १५ तारीख को केन्द्रीय सरकार शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी नीति घोषित करेगी। यह नीति कोठारी शिक्षा आयोग की सिफारिशों पर आधारित होगी और प्रारंभिक शिक्षा से लेकर उच्चतम शिक्षा तक के प्रत्येक स्तर के सम्बन्ध में वह अपना निर्णय देगी। उस नीति के सम्बन्ध में हम अपने विचार उस घोषणा के बाद ही प्रकट कर सकते हैं। किन्तु शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में केन्द्रीय मंत्री श्री त्रिगुण सेन ने संसद में अपना निर्णय बतला दिया है। संक्षेप में वह निर्णय यह है कि शिक्षा के प्रत्येक सोपान में, और प्रत्येक विषय में, शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ होंगी। उन्होंने यह भी कहा है कि कृषि, विधि, तकनीकी, डाक्टरी और इंजिनियरी के कालिजों में भी क्षेत्रीय भाषाओं ही के माध्यम से पढ़ाई होगी। पाँच वर्षों में यह निर्णय पूरी तरह से लागू कर दिया जायगा।

यदि यह निर्णय लागू हो गया तो इस देश में अंग्रेजी का प्रभुत्व कालान्तर में समाप्त हो जायगा और भारतीय भाषाओं को उन्नति करने तथा भारतीय प्रतिभा को विकसित होने का अवसर मिलेगा। अंग्रेजी भारतीय भाषाओं पर अमरबेल की तरह छायी हुई है। उसके कारण वे पनप नहीं पातीं। इसके हट जाने से वे मुक्त रूप से उन्नति कर सकेंगी। भारतीय विद्यार्थियों को विवश होकर एक अनजान संस्कृति और अनजान देश की एक अनजान भाषा को पढ़ने में जो शक्ति और समय नष्ट करना पड़ता है, वह बच

जायगा। इस बचे हुए समय को वे अन्य विषयों के पढ़ने और उनमें अधिक ज्ञान प्राप्त करने में लगा सकेंगे। इससे शिक्षा का स्तर अवश्य ही ऊपर उठेगा।

शिक्षा की दृष्टि से यह बड़ा वांछनीय सुधार है। किन्तु अंग्रेजी-परस्तों को यह पसन्द नहीं आ सकता। वे उसका विरोध कर रहे हैं। भारत के अंग्रेजी पत्र, जिनका अंग्रेजी के प्रचार में निहित स्वार्थ है, प्रायः नित्य प्रति इसका विरोध कर रहे हैं। उनके मुख्य तर्क हैं : (१) भारतीय भाषाएँ बहुत अविकसित हैं। उनके माध्यम से उच्च शिक्षा नहीं दी जा सकती। (२) भारतीय भाषाओं में विभिन्न विषयों के उच्च स्तर की पाठ्य और सामान्य पुस्तकें या शोध पत्रिकाएँ नहीं है। (३) उनमें अनुवाद कराने का काम असाध्य है। (४) अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग भाषा पढ़ाने से देश में सम्पर्क स्थापित करने के लिए कोई भाषा नहीं रह जायगी। इससे देश की एकता भंग हो जायगी। (५) एक क्षेत्र के अध्यापक, विद्यार्थी तथा विद्वान दूसरे क्षेत्रों में न जा सकेंगे।

इन तर्कों को टाला नहीं जा सकता क्योंकि ये निःसार नहीं हैं। किन्तु इन सबका उपाय किया जा सकता है। विशेष रूप से हम यह नहीं मानते कि अधिकांश देशी भाषाएँ एकदम अविकसित या आधुनिक विचारों को व्यक्त करने में अक्षम और असमर्थ हैं। बँगला, मराठी, गुजराती, हिन्दी, तमिल, मलयालम, तेलगू, कन्नड़, आदि में प्रत्येक विषय पर निबन्ध लिखे जाते हैं और पुस्तकों का प्रणयन भी होता है। यदि इनकी संख्या कम है और इनका स्तर भी बहुत ऊँचा नहीं है तो इसका कारण यही है कि हमारे प्रोफेसर और विद्वान अपनी मातृभाषाओं में पुस्तकें न लिखकर अंग्रेजी में लिखते हैं क्योंकि वे अंग्रेजी के मोह-पाश में फँसे हुए हैं और उनमें मातृभाषा का इतना प्रेम नहीं है कि वे अपने ज्ञान से उसकी सेवा करें। जब अधिकारी विद्वान् अपनी भाषा में अपने विषय में लिखेंगे ही नहीं तो उसमें पुस्तक कहाँ से आवेंगी ? कवि, उपन्यास-लेखक और नाटककार (जो अपनी भाषा में लिखते हैं) ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें नहीं लिखेंगे क्योंकि यह काम उनके क्षेत्र से बाहर है। और वे प्रोफेसर जो अपनी भाषा में लिख भी सकते हैं इसलिए नहीं लिखते कि उनकी भाषा में लिखी पुस्तकों की माँग नहीं है। विद्यार्थी अँग्रेजी की पुस्तकें चाहते हैं क्योंकि वही शिक्षा का माध्यम है। वे जब अंग्रेजी में पढ़कर निकलते हैं तो अपनी भाषा में लिखी पुस्तकें पढ़ते ही नहीं, क्योंकि उन्होंने इन विषयों को अँग्रेजी में पढ़ा है। उन्हें उन विषयों को अपनी भाषा में पढ़ने का अभ्यास ही नहीं है। अतएव आज भारतीय भाषाओं में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों का अभाव उनकी अक्षमता के कारण नहीं, प्रत्युत इस देश में अंग्रेजी के प्रभुत्व के कारण है। अंग्रेजी ने बुद्धिवादी वर्ग को मोहित करके देशी भाषाओं का विकास रोक रखा है। जब इंग्लैण्ड में फ्रेंच और लैटिन हटाकर अंग्रेजी चलायी गयी तब वह इतनी भी विकसित नहीं थी जितनी आज भारत की कई भाषायें हैं। किन्तु जब अंग्रेजी में ज्ञान-विज्ञान, कानून, डाक्टरी आदि की पुस्तकों की आवश्यकता हुई तो अंग्रेजी ने प्रमाणित कर दिया कि उसमें इन विषयों के भावों को व्यक्त करने की क्षमता है। यदि देशी भाषाओं को अवसर दिया गया तो बहुत शीघ्र ही उनमें इन विषयों पर ऊँची से ऊँची पुस्तकें लिखी जाने लगेंगी।

हमारे प्रोफेसर अंग्रेजी में लिखते हैं। किन्तु कितने प्रोफेसरों की पुस्तकों ने उस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है जैसी अमरीका और इंगलैण्ड के प्रोफेसरों की अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों ने प्राप्त की है ? हम केवल एक ऐसी पुस्तक जानते हैं—डा० मेघनाद साहा की लिखी 'हीट'। सम्भव है कि ऐसी दो चार पुस्तकें और भी हों। क्या कारण है कि जब अंग्रेजी ने इस देश में शिक्षा का स्तर ऊँचा कर दिया, और प्रोफेसर लोग अंग्रेजी ही में पुस्तकों का निर्माण करते हैं तब हमें उच्च कक्षाओं के लिए विदेशी प्रोफेसरों की लिखी अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तकें बाहर से मँगानी पड़ती हैं। हमारी समझ में इसका मुख्य कारण यही है

कि अंग्रेजी ने हमारे प्रोफेसरों की मौलिक प्रतिभा कुंठित कर दी है, और इस कारण वे ऐसी पुस्तकें लिखने में असमर्थ हैं जो विदेशी पुस्तकों से टक्कर ले सकें। यह स्थिति या तो इस कारण से है कि विदेशी भाषा में वे आत्मविश्वास के साथ लिख ही नहीं सकते, या उनमें अच्छी पुस्तकें लिखने की योग्यता ही नहीं है। हमारी सम्मति में पहिली बात इसका कारण है। जब वे अपनी भाषा में लिखने लगेंगे तो अधिकारपूर्वक और आत्मविश्वास से लिखेंगे। अंग्रेजी ने उनमें जो एक हीन भावना उत्पन्न कर दी है वह गायब हो जायगी और वे अपनी भाषा के माध्यम से अच्छी से अच्छी पुस्तकें दे सकेंगे।

इन अंग्रेजीदाँ प्रोफेसरों और विद्वानों ने अपनी मातृभाषाओं के प्रति जो घोर उपेक्षा और तिरस्कार दिखलाया (वैसे वे बड़े 'देशभक्त' बनते हैं) उसीका फल है कि आज जनता और विद्यार्थियों को अपनी भाषा में ज्ञान-विज्ञान का उच्च साहित्य उपलब्ध नहीं है। आज देशी भाषाओं के द्वारा उच्च शिक्षा देने में जो कठिनाइयाँ आड़े आ रही हैं, उनकी जिम्मेदारी मुख्य रूप से इन्हीं प्रोफेसरों और विद्वानों की है जिन्होंने देश, समाज और अपनी भाषा के प्रति अपना कर्तव्य पूरा नहीं किया। और अब मातृभाषा की उपेक्षा करने-वाले ये ही प्रोफेसर और विद्वान् अपनी अकर्मण्यता या अंग्रेजी-परस्ती के कारण यह कह कर उच्च शिक्षा में देशी भाषाओं के माध्यम का विरोध कर रहे हैं कि उनमें इन विषयों का साहित्य है ही नहीं।

इस स्थिति की वास्तविकता शिक्षामंत्री तथा वे दूसरे लोग भी समझते हैं जो देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि देशी भाषाओं में ऐसा मौलिक साहित्य एकदम तैयार नहीं हो सकता। हमारे आज के अंग्रेजीदाँ प्रोफेसर (जिनका देशी भाषाओं का ज्ञान सामान्यतः पुराने अंग्रेज अधिकारियों से कुछ ही अधिक होगा) इन विषयों में मौलिक पुस्तकें नहीं लिख सकते। अतएव तात्कालिक कठिनाई को दूर करने और शिक्षा के लिए देशी भाषाओं में उच्च स्तर की पुस्तकें उपलब्ध करने के लिए शिक्षा मंत्रालय ने विदेशी भाषाओं की पुस्तकों के अनुवाद की एक वृहत् योजना बनाई है। इन अनूदित पुस्तकों से देशी भाषाओं में शिक्षण आरंभ हो सकेगा, और जब अपनी भाषा में उच्च शिक्षा प्राप्त कर लोग विश्वविद्यालयों से निकलेंगे तब वे अपनी भाषा में मौलिक पुस्तकें लिख सकेंगे, और इस प्रकार देशी भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान के मौलिक साहित्य का श्रीगणेश होगा। किंतु हमारे अंग्रेजी-प्रेमी विद्वानों और प्रोफेसरों को यह बात मूर्खतापूर्ण मालूम होती है। ६ अगस्त के 'टाइम्स आफ इंडिया' में बंबई के एक प्रोफेसर लिखते हैं :

"Of course, one will be here reminded of the ambitious translation programme. The idea is not merely infantile, it is idiotic. It the entire viability of the mother-tongue approach is based on this translation idea, it is best to examine it as ruthlessly as possible."

(यहाँ अवश्य ही हमें अनुवाद की विशाल योजना की याद दिलायी जायगी। यह (अनुवाद का) विचार बचकाना ही नहीं, नितान्त मूर्खतापूर्ण है। यदि मातृभाषा माध्यम के जीवन का सारा आधार यह अनुवाद ही है तो हमें इसकी परीक्षा निर्ममतापूर्वक करनी होगी।)

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया है, अनुवाद की यह विशाल योजना संक्रमण काल में एक आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए बनायी गयी है। यह स्थायी नहीं है। जब तक देशी भाषाओं के माध्यम से पढ़े हुए युवक कालिजों में प्रोफेसर नहीं होते तब तक देशी भाषाओं में मौलिक पुस्तकें लिखनेवाले आवश्यक संख्या में मिल ही नहीं सकते क्योंकि वर्तमान भारतीय विद्वद्वर्ग अपनी भाषाओं में मौलिक पुस्तकें लिखने में असमर्थ है।

उपर्युक्त बंबैया प्रोफेसर (जो वास्तव में दक्षिण भारत के हैं) आगे लिखते हैं :

And what about learned journals ? A great deal goes on in these journals

before they find their place in a book format......If it were possible for us to translate a significant part of scholarly output (and significant will be sizeable) whether in books or in journals, in all the Indian languages immediately one could then support the switch-over to Indian languages. It should be clear to the meanest intelligence that it is not so. And therefore, take the view that since it is not feasible, it is not desirable.

(और फिर शोध-पत्रिकाओं का क्या होगा ? इन पत्रिकाओं में बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें निकलती हैं और वे पुस्तकों में बहुत देर में पहुँचती हैं।.........यदि इन शोधों का महत्त्वपूर्ण अंश (और उनका महत्त्वपूर्ण अंश भी आकार में बहुत बड़ा होगा) सभी देशी भाषाओं की पुस्तकों या पत्रिकाओं में अनुवाद के रूप में तुरंत लाना संभव होता तो हम देशी भाषाओं के माध्यम का समर्थन करते। महामूर्ख व्यक्ति भी समझ सकता है कि यह संभव नहीं है। इसलिए मेरा मत है कि चूँकि यह संभव नहीं है, इसलिए वांछनीय नहीं है।)

ऊपर से देखने में तर्क अकाट्य मालूम होता है, किन्तु आज शोध-पत्रिकाएँ अंग्रेजी ही में नहीं, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, इटालवी, जापानी, स्पेनिश आदि अनेक भाषाओं में निकलती हैं। हमारे कितने प्रोफेसर इन भाषाओं को जानते हैं ? उनमें बहुत बड़ी संख्या (शायद ९८ प्रतिशत) केवल अंग्रेजी शोध-पत्रिकाओं को पढ़ सकती है। दूसरे देशों के प्रोफेसर अपनी भाषा के अतिरिक्त दो-चार अन्य भाषाएँ भी पढ़ते हैं जिससे वे उनमें प्रकाशित पुस्तकें और पत्रिकाएँ पढ़ सकें। किंतु हमारे अधिकांश प्रोफेसर हिन्दू सती स्त्री की तरह केवल अंग्रेजी के प्रति निष्ठा रखते हैं। वे अन्य विदेशी भाषाओं की बात ही क्या, अपनी भाषा भी ठीक तरह से नहीं जानते। अंग्रेजी शोध-पत्रिकाओं में दूसरी भाषाओं में प्रकाशित पत्रिकाओं के महत्त्वपूर्ण अनुवाद छापे जाते हैं। इसी प्रकार से देशी भाषाओं की शोध-पत्रिकाओं में भी महत्त्वपूर्ण शोधों को स्थान दिया जायगा। योरप, अमरीका और इंगलैण्ड में शोध-पत्रिकाएँ एक दिन में विकसित नहीं हुईं। यदि हमारी भाषाओं में काम होने लगे तो उनमें भी ये विकसित होंगी। अभी तक देशी भाषाओं में इनकी आवश्यकता ही न थी। आवश्यकता होने पर ये निकलेंगी। किंतु यदि इन प्रोफेसर महोदय की बात मानी जाय तो चूँकि तत्काल ही हम योरप और अमरीका के समान विकसित शोध-पत्रिकाएँ नहीं निकाल सकते, इसलिए उनका आरंभ ही न किया जाय, और सदा सर्वदा के लिए अंग्रेजी की गुलामी स्वीकार कर ली जाय ! फिर, शोध-पत्रिकाओं आदि से मुख्य रूप से लाभ प्रोफेसर लोग उठाते हैं, सामान्य विद्यार्थी नहीं। प्रोफेसरों और शोध-विद्यार्थियों को अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, जापानी, स्पेनिश आदि भाषाएँ पढ़ने से कौन रोकता है ? सामान्य बी० ए०, बी० एस्-सी०, एम० ए०, या एम० एस्-सी० के विद्यार्थी तो मुख्यतः पाठ्य-पुस्तकों पर निर्भर रहते हैं। उन्हें शोध-पत्रिकाओं की आवश्यकता नहीं, अतएव शिक्षा के माध्यम में उनका अभाव कोई व्यवधान पैदा न करेगा।

फिर प्रोफेसर साहब फर्माते हैं—

What will happen to India as a nation if the switch-over is completed within five years ? There is only one answer : disaster. Our sense of nationhood is so brittle that we need to nurture it carefully. While the government has done precious little in this respect, it is now seeking to strike a deadly blow.

(यदि देशी भषाओं का माध्यम पाँच वर्ष में कर दिया गया तो देश का क्या होगा ? इसका केवल एक ही उत्तर है : विपत्ति या सर्वनाश। हमारी राष्ट्रीयता की भावना इतनी कोमल और कमजोर है कि उसे सावधानी से पुष्ट करना आवश्यक है। सरकार ने इस सम्बन्ध में कुछ किया नहीं और अब वह उस (बची-खुची भावना) पर भीषण प्रहार करने का विचार कर रही है।)

प्रोफेसर साहब की प्रिय अंग्रेजी ने जिस राष्ट्रीयता की तथाकथित भावना को जन्म दिया वह कमजोर ही हो सकती है। जो इंगलैण्ड के दृश्यों, फल-फूलों, नद-नदियों, कवियों, लेखकों, संस्थाओं का प्रेम उत्पन्न करे और भारत की संस्कृति से अपरिचित रखे, क्या वह भारतीय राष्ट्रीयता उत्पन्न कर सकती है? उसने इस देश में कितनी राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की? क्षेत्रीय प्रेम की अधिकता और समग्र भारतीय दृष्टि की कमी क्षेत्र में प्राय: अंग्रेजी प्रचार के अनुपात पर दीख पड़ती है। अंग्रेजी का सबसे अधिक समर्थन और प्रचार मद्रास और बंगाल में है। अंग्रेजीदाँ मद्रास ने ही द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम को जन्म दिया जो भारत से अलग होकर स्वतंत्र द्रविड़िस्तान की माँग करने लगा था। यद्यपि आज उसने यह माँग बंद कर दी है, तथापि कौन यह कह सकता है कि वह भावना आज भी परोक्ष रूप से विद्यमान नहीं है? बंगाल की बात करने की आवश्यकता ही नहीं। देश को एक सूत्र में विदेशी संस्कृति की वाहक कोई विदेशी भाषा नहीं बाँध सकती। जब उसके स्थान पर एक भारतीय भाषा को देश की राष्ट्रभाषा बनाने का निर्णय किया गया तब इन्हीं प्रोफेसर साहब के क्षेत्र के लोगों ने उसका सक्रिय विरोध किया। हमारा दृढ़ मत है कि अंग्रेजी ने अभारतीय दृष्टि उत्पन्न करके विघटनकारी और क्षेत्रीय भावनाओं को प्रोत्साहित किया। भारत की राष्ट्रीय एकता यदि केवल अंग्रेजी ही के बल पर जीवित रह सकती है, तो हमारा राष्ट्रीय भवन बालू की नींव पर बनाया जा रहा है। अंत में बड़ी तिरस्कार भावना से ये प्रोफ़ेसर कहते हैं कि "घबड़ाने की कोई बात नहीं है।" वे कहते हैं—

But, I am not so despondent—I derive my optimism from the incompetence of this government. After all, what date line has this government ever fulfilled that we need fear their fulfilling this one!

(किन्तु मैं इतना निराशावादी नहीं हूँ। मुझमें इस सरकार की अदक्षता से आशा उत्पन्न होती है। आखिर, इस सरकार ने क्या कभी अपने किसी काम को निर्धारित अवधि में पूरा किया है जो हम इस बात की शंका करें कि इसी काम को वह निर्धारित समय पर कर गुजरेगी?) हम एक इसी बात में प्रोफेसर साहब से सहमत हैं। हम देख चुके हैं कि इस सरकार ने हिन्दी को संविधान द्वारा निर्धारित अवधि में राजभाषा बनाने में क्या तमाशा किया। हिन्दी के मामले में तो प्रधान मंत्री से लेकर छोटे-बड़े नौकरशाह 'एक दिल' थे। इससे हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए आवश्यक तैयारी करने के काम की बुरी तरह उपेक्षा की गयी। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम भारत सरकार दिल से बनाना चाहती है। यदि वह अपने 'छोटे-बड़े' नौकरशाहों और विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों, वाइस चांसलरों आदि को अनुशासन में ला सकी तो सफल हो सकती है। राज्यसभा में कई सदस्यों ने ५ वर्षों की अवधि बहुत कम बतलायी है। संभव है कि वह १० वर्ष कर दी जाय। किंतु तब भी भारत की शक्तिशाली अंग्रेजीपरस्त नौकरशाही और विश्वविद्यालयों का बहुसंख्यक अंग्रेजी-भक्त वर्ग इसमें रोड़े अवश्य अटकाएगा। देखना है कि यह सरकार भी उतनी ही अदक्ष है जितनी पिछली सरकारें थीं, या उसका मेरुदंड अधिक कड़ा है और वह अपने निर्णयों को अपने अधीनस्थ लोगों से कार्यान्वित कराने में सफल होती है कि नहीं।

●

वस्तुतः विधितः राजभाषा

•

राज्यसभा के पिछले सत्र में एक पूरक प्रश्न के उत्तर में केन्द्रीय उपगृह मन्त्री श्रीमोहसिन ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि सरकार का कोई इरादा नहीं है कि उत्तर प्रदेश में उर्दू द्वितीय राजभाषा बनायी जाय। हम सरकार की इस स्पष्ट घोषणा के लिए उसे हार्दिक धन्यवाद देते हैं। इधर प्रायः एक वर्ष से उत्तर प्रदेश में उर्दू के सम्बन्ध में जो कुछ हो रहा है, उससे राज्य की जनता बहुत आन्दोलित हो उठी थी और वह उसका प्रतिकार करने की योजनाएँ बना रही थी। सम्भव था कि उसका वह प्रतिकार विद्यार्थियों और असंख्य हिन्दी प्रेमी जनता में फैलकर उसके नेताओं के काबू के बाहर होकर उग्ररूप ले लेता। भारत सरकार ने अपनी घोषणा से उसे सम्प्रति बहुत कुछ शान्त कर दिया है। सरकार और जनता दोनों ही के लिए यह शुभ है। अब देश में अपनी सरकार है, और जब हम उस सरकार से जनता का उग्र टकराव देखते हैं तब हमें दुःख होता है क्योंकि उसका प्रभाव देश की व्यवस्था पर प्रतिकूल पड़ता है, सरकार की शक्ति बहुत कुछ उसमें नष्ट हो जाती और देश के सर्वोदय के काम में गम्भीर बाधा पड़ती है। इसीलिए राज्यसभा में सरकार की घोषणा से हमें बहुत प्रसन्नता हुई।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि राज्य की जनता पूर्णतया आश्वस्त हो गयी है क्योंकि उर्दू को राजकाज में स्थान देने के लिए जो बातें की गयी हैं, उनका तर्कसंगत परिणाम यह हो सकता है कि

विधित: (de jure) राजभाषा न होते हुए भी वह इस राज्य में वस्तुत: (de facto) राजभाषा हो जाय। अदालतों में उर्दू में प्रार्थना-पत्र देने और उनका तथा उर्दू के पत्रों का उत्तर उर्दू ही में देने के आदेश को लीजिए। प्रायः तीस वर्ष से उत्तर प्रदेश में इंटरमीडिएट तक हिन्दी का पढ़ना अनिवार्य है। अतएव आज यहाँ का ३५/४० वर्ष का प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति हिन्दी पढ़-लिख सकता है। कहीं-कहीं शायद चालीस वर्ष से ऊपर के कुछ लोग मिल जायँगे जो हिन्दी पढ़-लिख नहीं सकते। उनकी संख्या दिनोंदिन कम होती जाती है और दस-बीस वर्ष में ऐसे लोग बहुत कम, या एकदम नहीं मिलेंगे जो हिन्दी न जानते हों। आज भी इस अल्प साक्षरता के देश में पढ़े-लिखे लोगों का अनुपात बहुत कम है, और उनमें भी हिन्दी न जाननेवालों का अनुपात और उनकी संख्या अत्यल्प है, तब कितने हिन्दी न जाननेवाले लोग आज ऐसे हैं और आगे होंगे जिन्हें हिन्दी में प्रार्थना-पत्र या पत्र लिखने या पढ़ने में असुविधा होगी? सरकार के इस आदेश का परिणाम यह होगा कि सरकारी सेवाओं में जानेवालों पर उर्दू लादनी पड़ेगी और उनके लिए उर्दू का ज्ञान अनिवार्य कर दिया जायगा, क्योंकि उसके बिना वे उर्दू में लिखे प्रार्थना-पत्रों को किस प्रकार पढ़ सकेंगे? परोक्षरूप से इस आदेश से सरकार ने हिन्दीभाषियों पर उर्दू लाद ही नहीं दी है उसे राजकाज की भाषा की हैसियत भी दे दी है।

मुन्सिफी की परीक्षा के लिए उर्दू का एक प्रश्न अनिवार्य कर दिया गया है। क्यों? क्या सरकार अदालतों में फिर उस घसीट उर्दू को लाना चाहती है जिससे यहाँकी जनता प्रायः १५० वर्ष त्रस्त रही?

इधर उत्तर प्रदेश में जो शिलान्यास हुए उनमें शिलापट्ट लेख हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू में भी अंकित किये गये। राजभाषा के अतिरिक्त राज्य के औपचारिक कामों में उर्दू का उपयोग क्या उसे परोक्षरूप से राजभाषा का दर्जा नहीं देता?

हमने ये केवल कुछ उदाहरण दिये हैं। बातें तो और भी हैं। केन्द्रीय सरकार ने अपना मत स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया। अब यह उत्तरदायित्व उत्तर प्रदेश सरकार का है कि वह उर्दू को राजकाज में चोर दरवाजे से एक्ज़िक्यूटिव आर्डर द्वारा—प्रवेश कराने का प्रयत्न न करे। हमने यह भी सुना है कि वह प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आठवीं कक्षा तक उर्दू को द्वितीय भाषा के रूप में अनिवार्य करने की बात सोच रही है। हम सरकार से कहना चाहते हैं कि वह ऐसी भूल न करे। यदि उसने यह किया तो जनता तो इसका तीव्र विरोध करेगी ही, सारा विद्यार्थी समुदाय इसका विरोध करेगा और उसके विरोध को प्रबल जन-समर्थन मिलेगा। उर्दू को वस्तुतः (डी फैक्टो) राजभाषा बनाने की चेष्टा उसे छोड़ देनी चाहिए।

हम उर्दू के भाषा या साहित्य के विरोधी नहीं हैं। जो लोग उसे पढ़ना चाहते हों वे उसे पढ़ें और उसके लिए उन्हें सब तरह की सुविधाएँ दी जानी चाहिए। उर्दू संविधान में मान्य १५ भाषाओं में एक है। इसलिए हम उसे हिन्दी की एक शैली न मानकर एक स्वतन्त्र भाषा मानते हैं। उसकी शब्द-सम्पत्ति हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति से भिन्न है। उसकी लिपि हिन्दी की लिपि से भिन्न एक विदेशी लिपि है। वह हिन्दी व्याकरण का भी पूरा पालन नहीं करती। उदाहरण के लिए, बहुत से उर्दू शब्दों के बहुवचन हिन्दी व्याकरण के अनुसार न बनाये जाकर अरबी या फारसी व्याकरण के अनुसार बनाये जाते हैं—जैसे वकील का वकला, शरीफ का शुर्फा, साहब का असहाब या साहबान आदि। वह मध्यपूर्व (अरब, इराक, ईरान) की संस्कृति की वाहिनी है और वह मध्यपूर्व-मुखी है। वह भारत में उन लोगों ने अपनी सुविधा के लिए उत्पन्न की जिनके संस्कार भारतीय न थे और जो मध्यपूर्व की संस्कृति से अनुप्राणित और उससे ओत-प्रोत थे। हजारों उर्दू पुस्तकों में ऐसी पुस्तकें एक दर्जन भी न मिलेंगी जिनका आधार भारतीय संस्कृति हो। कुछ भारतीय संस्कृति पर पुस्तकें होने से वह भाषा और उसका साहित्य भारतीय नहीं हो सकता। उर्दू की अपेक्षा

भारतीय संस्कृति पर अंग्रेजी में कहीं अधिक पुस्तकें मिलेंगी। तो क्या उन थोड़ी-सी पुस्तकों के होने से अंग्रेजी भारतीय भाषा हो जायगी ? उर्दू का विकास विदेशियों (ईरानी, तूरानी, अफगान, मुगल, तुर्क आदि) की सुविधा के लिए हुआ था और उन्होंने अपनी सुविधा के लिए उसे विदेशी लिपि में लिखना आरम्भ किया था। मुगल साम्राज्य के ह्रासोन्मुखी काल में वह उन्नत हुई, किन्तु राजभाषा तब भी नहीं बनी। अन्त तक मुगल राज्य की राजभाषा फारसी रही। अनेक कारणों से (जिनके विवरण को यहाँ देना अनावश्यक है) वह उत्तर भारत में अंग्रेजों के समय में निम्न स्तर के राजकाज की भाषा बन गयी। मुगल साम्राज्य के बाद भी उत्तर प्रदेश में भूतपूर्व शासक वर्ग के मुसलमान उसे अपने स्वर्णिम युग की यादगार के रूप में तथा अपनी सुविधा के लिए ग्रहण किये रहे। मुसलमान जनता (विशेषकर वह जो गाँवों में रहती थी) स्थानीय भाषाएँ बोलती रही और आज भी वही बोलती है। वह प्रायः शुद्ध उर्दू का उच्चारण भी नहीं कर सकती और 'सीन' 'शीन' का भेद भी नहीं जानती। मुस्लिम लीग ने अलग मुस्लिम राष्ट्र की कल्पना की और यह प्रचारित किया कि मुसलमानों की भाषा उर्दू है। अतएव भाषा का प्रश्न राजनीति का अंग बन गया। दुर्भाग्य से अभी भी वह उससे मुक्त नहीं हो पाया। बाँगला देश के मुसलमान लीग के इस 'मुस्लिम भाषा' के चक्कर में नहीं आये, और उसका परिणाम सामने है। हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि जिस उर्दू भाषा ने विभाजन कराया, जिसे बाँगला देश ने त्याग दिया, जिसे पाकिस्तान के सिंध, बलूचिस्तान, पख्तूनिस्तान—यहाँ तक कि पंजाब भी अपनी भाषा नहीं मानते, उसे उत्तर प्रदेश सरकार उसी प्रकार छाती से चिपकाने का प्रयत्न कर रही है जिस प्रकार मरे बच्चे को बंदरिया चिपकाये घूमती है। उत्तर प्रदेश के शिक्षित मुसलमानों ने भी इधर २०/२५ वर्षों में हिन्दी को सीख ही नहीं लिया, उस पर अच्छा अधिकार भी प्राप्त कर लिया है। उ० प्र० सरकार अपनी अदूरदर्शिता से समय की धारा को रोकने का वृथा प्रयास करके राज्य की भाषायी एकता के दृढ़ होने में बाधा दे रही है। क्या वह चाहती है कि राज्य के मुसलमान राज्य की सांस्कृतिक और साहित्य की मुख्य धाराओं से अलग रहें ? यदि उर्दू वस्तुतः राजभाषा बना दी गयी तो राज्य के एकीकरण में अवश्य ही बाधा पड़ेगी तथा द्विराष्ट्र-सिद्धान्त को बल मिलेगा। यदि उत्तर प्रदेश के मुसलमान फारसी, अरबी या उर्दू भी पढ़ना चाहते हों तो इसके लिए उन्हें राज्य से पूरी सुविधाएँ मिलें, किन्तु उर्दू को वस्तुतः द्वितीय राजभाषा बनाने से कट्टर मुसलमान नेता मुस्लिम बालकों को प्रथम भाषा के रूप में हिन्दी पढ़ने से विमुख रखेंगे और अधिक से अधिक वे अनिवार्य हिन्दी का ही अल्प ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। वह ज्ञान इतना न होगा कि वे राज्य की साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में बराबरी के साथ भाग ले सकें और उनके विकास में अपना उचित योगदान दे सकें।

मानस चतुःशती

•

गोस्वामी तुलसीदास ने अयोध्या में संवत् १६३१ वि० को रामनवमी (चैत शुक्ल ९) को रामायण का प्रणयन आरम्भ किया। उसे इस वर्ष (संवत् २०३१ वि० को) रामनवमी को पूरे चार सौ वर्ष हो जायेंगे।

संसार में महापुरुषों की जयन्तियाँ मनायी जाती हैं, किन्तु किसी पुस्तक की जयन्ती मनाने की चाल नहीं है। शायद इतिहास में पहली बार एक महान् ग्रन्थ की चार सौ वर्ष पूरे होने की जयन्ती मनाई जा रही है। वह ग्रन्थ है—रामचरितमानस। यह उचित ही है क्योंकि प्रत्येक दृष्टि से यह ग्रन्थ अनुपम है। एक अंग्रेज विद्वान् ने पिछली शती के मध्य में कहा था कि उत्तर भारत में जितना प्रचलन और लोकप्रियता तुलसीकृत रामायण की है उतनी इंगलैण्ड में बाइबिल की नहीं है। आज भी उत्तर भारत की जनता में वह सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। प्रयाग के कुम्भ मेले (और प्रत्येक वर्ष माघ मेले) में उत्तर भारत की जनता लाखों की संख्या में आती है। उसमें जो बाजार लगता है उसमें पुस्तकों की दुकानें भी आती हैं। हमने एक बार उसके एक प्रमुख विक्रेता से पूछा कि कौन-सी पुस्तकें अधिक बिकती हैं। उसने उत्तर दिया—९० प्रतिशत रामायण, ५ प्रतिशत अगले वर्ष के पंचांग और शेष ५ प्रतिशत में अन्य धार्मिक ग्रन्थ। यह उत्तर भारत की उस हिन्दू जनता की रुचि और निर्णय है जो गाँवों में रहती और जो हमारे समाज की मेरुदण्ड है। अतएव जहाँ तक उत्तर भारत की हिन्दू जनता का सम्बन्ध है, रामायण की लोकप्रियता आज भी निर्विवाद है। उत्तर भारत के नगरों में रहने वाले मध्यवर्ग में भी उसका बड़ा आदर है। हम लखनऊ

में जिस मोहल्ले में रहते हैं उसमें केवल सौ-सवा सौ मकान हैं, किन्तु वर्ष में ध्वनिविस्तारक लगाकर उसके पन्द्रह-बीस अखण्ड पाठ हो ही जाते हैं। और याद रहे कि लखनऊ उत्तर प्रदेश का शायद सबसे अधिक "प्रोग्रैसिव" नगर है। हाँ, तथाकथित उच्च शिक्षित वर्ग में वह बहुत लोकप्रिय नहीं है और न नये शिक्षित युवाओं में। इनके सम्बन्ध में हम फिर कहेंगे।

संस्कृत में उस कवि को सारस्वत कवि कहते हैं जिसकी पुस्तक महलों से लेकर झोपड़ियों तक में पढ़ी जाये। हिन्दी में रामायण ऐसी पुस्तक है जो इस कसौटी पर खरी उतरती है। यही ग्रन्थ हिन्दी का "सार्वभौम" और "चक्रवर्ती" ग्रन्थ है। विदग्ध विद्वानों से लेकर अपढ़ गँवार भी उसके रस में डूब जाते हैं। शर्त यह है कि वह सहृदय हो। एक अहिन्दीभाषी विद्वान् का उदाहरण देना पर्याप्त है। हमारे परम आदरणीय मित्र डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की गणना इस देश ही के नहीं, प्रत्युत सारे संसार के मूर्धन्य भाषा-विज्ञानियों में की जाती है। वे अप्रतिम विद्वान् हैं। उनमें अधिकांश विद्वानों की शुष्कता नहीं, सहृदयता और साहित्य-विदग्धता भी है। उन्होंने रामायण का अध्ययन भाषा विज्ञान की दृष्टि से आरम्भ किया था। परिणाम जो हुआ वह उन्होंने अपने एक पुराने हिन्दी निबन्ध में लिखा है। उसे उन्हींके शब्दों में पढ़िये। वे कहते हैं—

"तुलसी के चरणों में बैठने का अवसर मुझे कोई पचास वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था, जब मैंने पहली बार रामचरितमानस का पाठ किया था। मैंने उसे भाषा तात्त्विक दृष्टि से ही पढ़ना शुरू किया था। पर मेरे पाखण्डी मन पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। व्याकरण के सु-ङति, भाषा तत्त्व का सूक्ष्म विचार, उच्चारण की नुक्ताचीनी सब हृदय के भावोद्वेग में बह गये, अन्तःकरण भर गया और सूखी आँखें आँसुओं से भींग गयीं। तब से मैं तुलसी को छोड़ नहीं सका। अपने व्यक्तिगत जीवन में उनको ऊँचे से ऊँचे आसन पर बिठाकर अपने आपको उनका दास ही माना है।"

दूसरा उदाहरण महात्मा गांधी का है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सत्य के प्रयोग की मेरी कहानी' (द स्टोरी आव माइ एक्सपेरिमेण्ट्स विद् ट्रुथ) में लिखा है "····मेरे पिता प्रतिदिन रामायण सुनते थे। इसका मेरे ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी बीमारी में, कुछ दिनों तक, मेरे पिता पोरबन्दर में थे। वहाँ प्रतिदिन, संध्या समय, उन्हें रामायण सुनायी जाती थी। सुनाने वाले भगवान् राम के परम-भक्त थे। ये बालकेश्वर के लछाराम महराज थे।········उस समय मेरी अवस्था तेरह वर्ष की रही होगी, किन्तु यह मुझे अच्छी तरह से याद है कि उनके रामायण के पाठ से मैं आनन्दविभोर हो जाता था। इसके परिणामस्वरूप, मेरे हृदय में, रामायण की भक्ति की नींव पड़ी। आज तो मैं तुलसीकृत रामायण को भक्ति-साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ।"

रामायण के राम ने गांधीजी के जीवन को इतना प्रभावित किया कि हत्यारे की घातक गोली लगने के बाद उनके मुख से केवल "हे राम" ही निकला—राम ही याद आये। तुलसीदास ने लिखा है कि "कोटि-कोटि मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।" यह सौभाग्य राम में अनन्य भक्ति रखनेवाली मुक्त आत्माओं को ही प्राप्त होता है। उनकी राम में इतनी निष्ठा थी कि वे राम को सत्य का रूप मानते थे। उनके लिए राम ही सत्य थे, और सत्य ही राम था। "कहियतु भिन्न न भिन्न।" यह उन सात्त्विक संस्कारों का प्रभाव था जो रामायण ने उनमें उत्पन्न और दृढ़ किये थे।

अतएव रामचरितमानस केवल ग्रन्थ नहीं है। वह हिन्दू समाज का गुरु, उपदेशक, प्रेरणा देनेवाला, जीवन का मार्गदर्शक और साहित्य का सुमेरु है। उसने चार सौ वर्ष हिन्दू समाज को प्रेरणा दी है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आगे भी देता रहेगा। आज की भौतिकता अस्थायी है। पश्चिम में भौतिकता के विरुद्ध

प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी है। और इस देश में भी देर-सबेर उसका होना अवश्यम्भावी है। रामायण की महिमा तो यह है कि नास्तिकता के सबसे बड़े गढ़ रूस में भी रामायण का अनुवाद ही नहीं हुआ, उस अनुवाद का व्यापक प्रचार भी हुआ। क्या उस नास्तिक देश में रामायण के उपदेशों का प्रभाव हुए बिना रह सकेगा ?

हम रामायण को कालिदास, भवभूति, शेक्सपियर, टालस्टाय आदि के महान् ग्रन्थों की श्रेणी में नहीं रख सकते। वे अनुपम साहित्य हैं, किन्तु वे ग्रन्थमात्र हैं। रामायण उनसे भिन्न है। वह एक जीवन्त अपौरुषेय शक्ति है। हिन्दू जनता ने इसीलिए उसे इतना महत्त्व दिया कि उसकी "आरती" करने की प्रथा चलायी—ध्यान देने की बात है कि उसने न तो तुलसीदास के मन्दिर खड़े किये, न उनकी ऐसी आरती ही बनाई। इस आरती में तुलसी का नाम एक ही बार आया है और आश्चर्य यह है कि वह भी उसके जनक के रूप में नहीं, उसकी सन्तान के रूप में। रामायण को हिन्दू जनता ने जिस दृष्टि से अपनाया ही नहीं, अपना सर्वस्व समझा, वह इस आरती में किसी अनाम और अज्ञात व्यक्ति ने इतनी सच्चाई से व्यक्त किया कि जनता ने उसमें अपने भावों को व्यक्त रूप में पाया और उसे अपना लिया। रामायण की उस आरती में कहा गया है—

आरति श्री रामायण जी की कीरति कलित ललित सिय-पी की।
गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद बाल्मीक विज्ञान-विसारद
सुक, सनकादि, सेष अरु सारद, बरनि पवन-सुत कीरति नीकी।
गावत वेद पुरान-अष्टदस, छहों सास्त्र सब ग्रन्थन को रस
मुनि-जन-धन, सन्तन को सर्बस, सार अंस संमत सबही की।
गावत संतत संभु-भवानी अरु घट-संभव मुनि विज्ञानी
व्यास आदि कविवर्यं बखानी काग-भुसुंडि-गरुड़ के हिय की।
कलिमल-हरनि, विषय-रस फीकी, सुभग-सिंगार मुक्ति-युवती की
दलन-रोग-भव भूरि अमी की, तात-मात सब बिधि तुलसी की।

इस आरती से स्पष्ट है कि हिन्दू समाज ने इसे अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपने विश्वासों का सच्चा, प्रामाणिक और अधिकृत एवं सरस समुच्चय मानकर उसे अपना धार्मिक ग्रन्थ स्वीकार किया। दूसरी बात जो स्पष्ट है वह यह कि उन्होंने उसके निर्माता को विशेष महत्त्व नहीं दिया, और न उनमें कोई विशेष रुचि दिखायी। उन्होंने तो उनकी कृति ही को उनका माता-पिता बना दिया।

अतएव रामचरितमानस को हम सामान्य ग्रन्थों की श्रेणी में नहीं रख सकते। संसार में वह अपने ढंग का अनुपम और अकेला ग्रन्थ है—ऐसा ग्रन्थ जो ग्रन्थमात्र न रहकर उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और जीवन्त वस्तु बन गया है।

रामचरितमानस की चतुःशती जयन्ती मनाने का यही समीचीन कारण है। अस्तु इस जयन्ती को मनाते समय हमें अर्जुन के समान लक्ष्य बेध करते समय अपने लक्ष्य का ध्यान रखना है। हम रामायण की चतुःशती मना रहे हैं, न कि रामायणकार की।

एक और बात जो हमें इस अवसर पर स्पष्ट रूप से याद रखनी है वह यह कि हम इस अवसर का उपयोग रामायण और उसमें दिये संदेश का प्रचार करने को अपना मुख्य उद्देश्य समझें। तभी इस जयन्ती की सार्थकता है।

किन्तु हमें खेद है कि इन चार वर्षों में जो असंख्य लेख निकले उनमें से बहुत कम हमारे उपर्युक्त विचारों के अनुसार थे। लेख ही नहीं, उपन्यास और पुस्तकें भी निकलीं। एक जोड़ ग्रामोफोन रिकार्ड का भी निकला। ग्रामोफोन रिकार्ड के संबंध में हम यहाँ कुछ नहीं कहेंगे सिवाय इसके कि ग्रामोफोन, चलचित्र आदि व्यापार की दृष्टि से तैयार किये जाते हैं और आज की लाभ-प्रधान और लाभोद्देशीय व्यवस्था में उनसे हम मानस चतुःशती ऐसे अनुष्ठान में सहयोग की आशा भी नहीं करते। इसी प्रकार लाभ की दृष्टि ही से एक प्रकाशक ने रामायण का संक्षिप्त संस्करण भी निकाला है जिसमें रामायण की कहानी (स्टोरी) मात्र के अंशों को संकलित कर दिया है। वे अंश जो रामायण की आत्मा हैं, उससे निकाल दिये गये हैं। प्रकाशक ने शायद यह समझा कि अधिक बिकनेवाले उपन्यासों और कहानी की पुस्तकों की तरह रामायण के पाठक केवल राम की कहानी के लिए उसे पढ़ते हैं, अतएव यह संक्षिप्तीकरण रामायण का आत्माहीन शव होकर रह गया है।

रामायण की जयन्ती मनाते समय, या उसकी चर्चा करते समय कभी-कभी तुलसीदास की चर्चा भी आवश्यक हो जाती है। किन्तु यदि ऐसे आयोजन में तुलसीदास ही विचार और ध्यान के केन्द्र हो जायें और रामायण गौण स्थान ले-ले तो हम उसे असफल आयोजन समझेंगे। चित्र को उभारने के लिए कभी-कभी पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है। किन्तु यदि पृष्ठभूमि ही इतनी चटकीली कर दी जाये कि चित्र की वस्तु या नायक को दवा दे तो वह चित्र असफल हो जायेगा। अतएव इस अवसर पर हमें अपने कार्य-क्रमों एवं चर्चाओं, भाषणों आदि के विषय में सतर्कतापूर्वक संतुलन रखने की आवश्यकता है। हमें ऐसा मालूम होता है कि बहुत से लोगों को इसका उद्देश्य स्पष्ट नहीं है, और वे उसे मानस चतुःशती न समझकर तुलसी जयन्ती समझ रहे हैं, और इस अस्पष्टता के कारण बहुत से कार्य-क्रम, लेख आदि इस चतुःशती के लिए अप्रासंगिक और असंगत हैं। हम तुलसी जयन्ती मनाने के विरुद्ध नहीं हैं। उसके पक्ष में हैं। किन्तु इस अवसर पर हमें रामचरितमानस पर अपने ध्यान और शक्ति को केन्द्रित रखना ही उचित है। इसमें रामायण प्रधान होगी, तुलसीदास गौण।

रामायण जनता का काव्य है, उसका हृदय-हार है, उसका सर्वाधिक प्रिय धर्म-ग्रन्थ है, उसके जीवन के व्यवहार और आदर्शों का सबसे बड़ा प्रेरक है। अतएव मानस-चतुःशती के आयोजकों की सफलता हम इस मापदंड से नापेंगे कि वह जनता के हृदय को कितना उद्वेलित करती है और इस भौतिक-युग की भावी पीढ़ी में कितनी प्रचारित होती है तथा जनता की आस्था को कितना दृढ़ करती है। किन्तु यदि वह कुछ राज-पुरुषों के लोकप्रिय या विज्ञापित होने का साधन मात्र बनी, कुछ किराया-भाड़ा लेकर जानेवाले व्यवसायी, कथावाचकों तक सीमित रह गयी, यदि वह तुलसी के विशेषज्ञ और हिन्दी साहित्य में विद्वानों के ऐसे वाक्विलास तक रह गयी जिससे विशाल जनता को कोई लाभ नहीं है। और यदि वह कुछ पेशेवर साहित्यिक महन्तों के लिए अपना कर्तब दिखाने का एक अवसर मात्र बनकर रह गयी तो हमारी दृष्टि में वह असफल रहेगी। अगले अंक के प्रकाशन तक इस चतुःशती के चरम उत्सव हो चुकेंगे। उनके प्रतिवेदन पढ़ने के बाद हम उन पर अपने विचार प्रकट करेंगे।

●

मानस चतुश्शती आयी और निकल गयी
मानस चतुश्शती का मुख्य उद्देश्य

●

जिस मानस चतुश्शती का शोर चार वर्ष से हो रहा था, वह विगत रामनवमी (१ अप्रैल) को हो गयी। इसे देखकर सोमनाथ का यह छन्द बरबस याद आ जाता है—

उमड़ि घुमड़ि घेर लीन्ह्यौ नभ मंडल कौं, छोड़ि दीने धुरवा जवासे जूथ जरिगे।
डहडह भये द्रुम रंचक हवा के गुन, जहाँ तहाँ मोरवा पुकारि सोर करिगे।
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही 'सोमनाथ' कहूँ बूँदाबाँदी हू न करिगे।
सोर भयो घोर चहुँ ओर महिमंडल में–'आये घन!' 'आये घन !'आइ कें निकरिगे।

चार वर्षों के धुआँधार प्रचार, राष्ट्रपति के संरक्षण में बनी अनेक केन्द्रीय मंत्रियों से अलंकृत केन्द्रीय अखिल भारत मानस चतुश्शती समिति, राज्यों की समितियों तथा अन्य कितनी ही समितियों के शोर के कारण ऐसा मालूम होता था कि उस चरम दिवस को सारे देश में मानस के प्रति अभूतपूर्व उत्साह और उसका प्रचार होगा। किन्तु "**जो कि देखा ख्वाब था और जो सुना अफसाना था।**" कहीं-कहीं कुछ अवश्य हुआ, पर अधिकांश लीक ही पीटी गयी। सांस्कृतिक और नैतिक जनजागरण का एक बहुत सुंदर अवसर हमारे तथाकथित 'नेताओं' और साहित्यिक महन्तों की अकर्मण्यता ने खो दिया। कल्पनाशील दिल्ली प्रदेशीय सम्मेलन ने

दिल्ली के विविध भागों में रामायण की कथा-प्रवचन आदि के आयोजन किये भी थे और नौ दिन तक उस नगरी में (जिसे हमारे एक मित्र ईश्वरहीन —'गॉडलेस' कहते हैं) रामायण की काफी चर्चा रही। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ आदि में कुछ 'सेमिनार' भी हुए जिनमें अनेक विद्वानों ने भाग लिया और उनसे उन्हीं के समान उच्च शिक्षित वर्ग ने कुछ लाभ भी उठाया। इस अवसर पर कुछ समितियों ने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ भी निकाले जो विद्वानों या तुलसी पर शोध करने वाले विद्यार्थियों के काम आ सकते हैं। केन्द्रीय समिति ने दिल्ली में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री ए० एन० राय की अध्यक्षता में मावलंकर हाल में एक सभा की जिसमें कई केन्द्रीय मंत्री सम्मिलित हुए और श्रोता भी उच्च वर्ग के थे। उत्तर प्रदेश की 'राज्य मानस समारोह समिति' ने गत वर्ष इस रामनवमी को होने वाले उत्सव का आयोजन करने के लिए एक 'प्रिपरेटरी' समिति बनायी थी। शायद वह कुम्भकर्णी निद्रा में है क्योंकि उसने उस दिन कोई आयोजन नहीं किया। राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री की संरक्षता और अनेक केन्द्रीय मंत्रियों के पदाधिकारी होने के बावजूद वह और उसकी जननी केन्द्रीय समिति इस अर्थ में असफल रही कि वह देश में इस चतुश्शती के लिए कोई उत्साह या अनुकूल वातावरण उत्पन्न नहीं कर सकी। अन्य स्थानों में स्थानीय मानस-प्रेमियों के उत्साह में छोटे-बड़े उत्सव अवश्य हुए। रामायण और तुलसी-प्रेमी श्री जनार्दनदत्त शुक्ल (अवकाश प्राप्त आई० सी० एस०) द्वारा उत्तर प्रदेश में स्थापित जिला समितियों ने भी जिला स्तर पर अवश्य कुछ आयोजन किये। संभल की समिति ने डा० रामस्वरूप आर्य के सम्पादन में 'तुलसी मानस सन्दर्भ' नामक ४०० पृष्ठों का एक सुन्दर ग्रन्थ निकाला। सीतापुर की समिति ने उस दिन 'मानस भवन' का शिलान्यास किया। मध्यप्रदेश में, जहाँ राज्यपाल श्रीसत्यनारायण सिंह और श्रीशम्भूनाथ शुक्ल (भूतपूर्व वित्तमन्त्री, मध्यप्रदेश और वर्तमान उपकुलपति रीवाँ विश्वविद्यालय) के सदृश अनन्य रामायण भक्त हैं, यह उत्सव प्रायः प्रत्येक जिले में उत्साह से मनाया गया और भोपाल में कई दिन विद्वानों के भाषण तथा अन्य कार्यक्रम हुए। जनता ने (जो किसी संस्था से प्रभावित या प्रेरित नहीं थी) स्वतः असंख्य छोटे-बड़े स्थानों में उस दिन रामायण के अखण्ड पाठ या नवाह्न पारायण समापन करके इस पवित्र दिन उत्सव मनाये। प्रयाग में श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी की प्रेरणा से नौ दिन तक कल्याणी देवी पर विशेष आयोजन होते रहे जिनमें मध्यवर्गीय जनता ने उत्साह पूर्वक भाग लिया।

हिन्दी की संस्थाओं का कार्य इस अवसर के अनुरूप न था। प्रयाग का हिन्दी साहित्य सम्मेलन तो प्रायः मृत संस्था है। वह आपसी मुकदमेबाजी में फँसी है। वह ऐसे किसी बड़े आयोजन करने की स्थिति ही में नहीं है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उस दिन एक सभा करने की लकीर अवश्य पीटी थी। यदि वह उसे न करती तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि उसमें सम्मिलित होकर उसमें भाषण देनेवाले एक विद्वान् ने हमें बतलाया कि उपस्थित वक्ताओं, सभा के कर्मचारियों और श्रोताओं की कुल संख्या १५ (पन्द्रह) थी। हाँ, उस दिन संध्या को वहाँ के तुलसी मठ के महन्त ने एक आयोजन किया था जिसमें स्थानीय जनता ने बड़ी संख्या में भाग लिया।

जब श्रीसत्यनारायण सिंह सूचना और प्रसारण मन्त्री थे, तब उनके आदेशानुसार उनके अधीनस्थ विभागों ने इस अवसर के लिए कार्यक्रम बनाये थे। जहाँ तक हमें याद है, तुलसीदास के जीवन पर एक चलचित्र तथा कई प्रकाशनों का कार्यक्रम बनाया गया था। आकाशवाणी को भी इस अवसर पर विशेष कार्यक्रम करने थे। पता नहीं कि इन विभागों ने क्या किया। यदि कोई प्रकाशन किये भी गये हों तो उनका प्रचार नहीं हुआ। हमने अभी तक उनका एक भी प्रकाशन नहीं देखा और न वह 'सरस्वती' के पास भेजा गया। जब हम ऐसे व्यक्ति और सरस्वती ऐसी पत्रिकाओं को भी उनकी जानकारी नहीं है, तब यदि उन

विभागों ने कुछ किया भी हो तो उसका समुचित प्रचार नहीं हुआ। शायद मन्त्रालय के अधिकारियों तथा कुछ और आदमियों ने उसे देखा हो ।

केन्द्रीय समिति ने अपने आयोजनों और कार्यक्रमों के लिए भारत सरकार से एक करोड़ रुपये की माँग की थी। हमें विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि सरकार ने समिति के कार्यक्रमों के लिए नकद एक लाख देना स्वीकार किया था और प्रकाशन तथा स्मारक के लिए ५६ लाख स्वीकृत किये थे, किन्तु शर्त यह लगायी कि प्रकाशन और स्मारक का कार्य समिति की सलाह से उसका शिक्षा मन्त्रालय करेगा। समिति दिल्ली में तुलसीदास का एक स्मारक भवन बनाना चाहती थी जिसमें तुलसीदास की कृतियों पर शोध का एक केन्द्र स्थापित किया जाय और जहाँ तुलसीदास के और उनसे सम्बन्धित साहित्य का संग्रह हो। सुना है कि 'बहावलपुर हाउस' को 'तुलसीभवन' बना दिये जाये जाने की बात सोची जा रही है। अंग्रेजी की एक कहावत के अनुसार यह 'पोएटिक जस्टिस' है कि एक नवाब के भवन को तुलसीबाबा का नाम दे दिया जाय। 'हल्दी लगै न फिटकरी, रंग चोखा आये।' साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता भी बढ़े, किन्तु उसमें केवल तुलसीदास के ही नहीं, प्रत्युत भारत के सभी सन्तों के सभी भाषाओं के सन्त-साहित्य का शोध प्रतिष्ठान स्थापित होगा। तुलसीदास और उनके ग्रन्थ भारत की अनेक भाषाओं के सन्तों और उनके अपरिमित साहित्य में खो जायँगे, और मानस चतुश्शती के आयोजकों की तुलसी स्मारक की जो कल्पना थी और उसका जो उद्देश्य था वह असंख्य सन्तों की भीड़ में गौण हो जायगा। कुछ वर्ष पूर्व सेठ गोविन्ददासजी ने सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य की शोध और आदान-प्रदान के लिए महाराज बड़ौदा की सहायता से एक 'साहित्य संगम' की स्थापना की थी। जमीन ले ली गयी थी और भवन बनाने की तैयारी भी की जाने लगी थी। पता नहीं कि उसकी वर्तमान स्थिति क्या है। सुना है कि उसमें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भी कई लाख रुपये लगे हैं। भारतीय भाषाओं के इस 'संगम' के कार्य-क्षेत्र में सभी भारतीय भाषाओं के सन्त साहित्य का अध्ययन और शोधकार्य आ जाता है। तब फिर तुलसी भवन की परिधि में (जिसका उद्देश्य केवल तुलसीदास के साहित्य की शोध और प्रचार था) सारे भारत के सन्त-साहित्य को लाकर उसके व्यक्तित्व और उद्देश्य को बदलने, अवमूल्यन करने या विकृत करने का प्रयत्न क्यों किया जाय? किसी प्रतिष्ठान को तुलसीदास का केवल नाम देकर उसमें उनके साहित्य को अध्ययन का केन्द्र बिन्दु न बनाना उनका स्मारक नहीं हो सकता। उसका मखौल हो सकता है। भारत के सन्त साहित्य का अध्ययन और शोधकार्य बहुत महत्त्वपूर्ण काम है। वे होने भी चाहिए किन्तु इन कार्यों को 'साहित्य संगम' करे, अथवा इसके लिए 'भारतीय सन्त साहित्य प्रतिष्ठान' अलग बनाया जाय। तुलसी स्मारक के आयोजकों का उद्देश्य इस अवसर पर तुलसीदास केन्द्रीय संस्थान बनाने का था। वह सरकार की योजना से नष्ट हो जायगा। तुलसी भवन का उद्देश्य केवल उनके साहित्य के अध्ययन और शोध तक सीमित न था। कल्पना यह थी कि वह उनके साहित्य के प्रचार और प्रसार का केन्द्र होगा। किन्तु सरकार उसे जो रूप देना चाहती है वह उससे एकदम भिन्न है। हमें मालूम नहीं कि केन्द्रीय मन्त्रियों और कांग्रेसी नेताओं के प्रभुत्ववाली केन्द्रीय समिति में यह साहस भी है कि वह दिल्ली में स्वतन्त्र तुलसी-स्मारक बनाने का आग्रह कर सके।

हमें आश्चर्य है कि डाक-तार विभाग ने, जिसने तुलसीदास से कम महत्त्व के मनीषियों पर भी स्मारक डाक टिकट निकाले हैं, उस दिन कोई स्मारक टिकट नहीं निकाला। सब मिलाकर जो कुछ इस मानस चतुश्शती में हुआ वह अधिकांशतः थोथा, अप्रभावी और दिखाऊ उपचार मात्र था। शेक्सपियर आदि महान् कवि हुए हैं किन्तु वे भी अपने देश की अपढ़ जनता के हृदयहार नहीं हो सके। तुलसी को यह गौरव प्राप्त है,

और इस मामले में वे अप्रतिम हैं और इसीलिए वे हमारे राष्ट्रीय कवि हैं जिनकी स्पर्द्धा महाकवि कालिदास भी नहीं कर सकते, क्योंकि शायद काव्य में वे तुलसी से इक्कीस हों, पर प्रभाव के विस्तार और लोकप्रियता में वे उनको स्पर्श भी नहीं कर सकते। वे उच्चवर्ग (क्लासेज़) के कवि हैं—तुलसी उच्चवर्ग और जनता (क्लासेज़ और मासेज़) दोनों के कवि हैं। यदि वे राष्ट्रीय कवि नहीं हैं तो इस देश में और कौन उस पद को ग्रहण कर सकता है ? किन्तु यह भी सत्य है कि इस मानस चतुश्शती में हमने राष्ट्रीय काव्य और राष्ट्रीय कवि की जितनी अवमानना की है उतनी और किसी जाति ने अपने किसी महान् कवि या कृति की नहीं की। हमारे एक साहित्यिक मित्र ने हमें अपने एक निजी पत्र में लिखा है—''मानस चतुश्शती के नाम पर हमने अपने कवि का जितना अपमान किया है उतना शायद ही किसी जाति ने अपने 'नेशनल पोएट' का कभी किया हो। हम इतने 'धन्य' हैं कि इतिहास से हमारा अस्तित्व मिट जाना अस्वाभाविक नहीं होगा।''

यह सात्विक आक्रोश में लिखा गया है पर हम स्वयं प्रायः इसी मत के हैं। इसका मुख्य उत्तरदायित्व उन उच्च पदाधिकारियों पर है जो लोकेषणा की प्रबल प्रेरणा से प्रेरित होकर अपनी ख्याति, लोकप्रियता और प्रभाव बढ़ाने के लिए ऐसे आयोजनों की समितियों के उच्चपद स्वीकार कर समय या रुचि—अथवा दोनों—न होने के कारण उनका काम नहीं देख सकते और अपने अधीनस्थ लोगों को चुनने में भी विशेष रुचि नहीं लेते। उनकी रुचि एक मात्र अधिकार की राजनीति में है। जो और काम वे करते हैं वह उसीको प्रभावी बनाने के लिए। उनके अधीनस्थ कर्मचारी भी ठीक से नहीं चुने जाते। उनमें बहुत कम लोग योग्य, कल्पनाशील या कार्य-कुशल और दलबन्दी से ऊपर होते हैं। किन्तु उच्च पदाधिकारियों की छत्रछाया में वे मनमानी करते हैं। वे जनता की कौन कहे, हिन्दी में रुचि लेनेवाले सभी दलों और विचारों के लोगों तक को संगठित या एकत्र नहीं कर सकते। अतएव उन परिस्थितियों में जो परिणाम होता है, वह इस मानस चतुश्शती ने स्पष्ट कर दिया। भगवान् हमें इन 'संरक्षकों' और हिन्दी कार्यकर्ताओं से बचावे।

मानस चतुश्शती का मुख्य उद्देश्य—नगरों में सभाएँ करके उनमें विशेषज्ञ विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण भाषण करा देना या विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ निकाल देना ही इस चतुश्शती का ध्येय नहीं था। ये भाषण और ये ग्रन्थ अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु ये केवल उच्च शिक्षित वर्ग के एक छोटे-से अंश के ही काम के हैं। तुलसीदास ने मानस की रचना इन बुद्धिजीवियों के लिए नहीं की थी। वह की गयी थी भारत की विशाल जनता के लिए जो गाँवों में या नगरों के छोटे मोहल्लों में रहती है। दिल्ली ऐसे विशाल नगर में (जिसकी जनसंख्या तीस-चालिस लाख है) मावलंकर हाल की सभा में उपस्थित मंत्रियों, न्यायाधीशों, उच्च अधिकारियों, वीआईपियों, प्रोफेसरों तथा उच्चस्तरीय व्यक्तियों के समकक्ष, जिनकी संख्या हजार-दो हजार होगी, दिये गये विद्वत्तापूर्ण भाषणों से वहाँ की जनता पर कोई विशेष संघात नहीं होता। लखनऊ में जो आयोजन हुए उनमें से अधिकांश में उपस्थिति ५०, ६० ही थी। इन आयोजनों का मुख्य लाभ समाचारपत्रीय प्रचार है। ऐसे आयोजनों में यदि किसी मंत्री, नेता या न्यायाधीश का भाषण हुआ तो समाचार पत्र उसका अति संक्षिप्त सार दे देते हैं। विद्वानों के भाषणों का सार देने का भी उन्हें अवकाश नहीं। इन आयोजनों के प्रबन्धक उन्हें 'सफल' बनाने के लिए किसी मंत्री या उच्च अधिकारी का लाना आवश्यक समझते हैं। मंत्री के आकर्षण से कुछ उच्च स्तरीय अधिकारी भी आ जाते हैं जो सामान्यतः ऐसे आयोजनों में नहीं जाते। मंत्रियों की कृपा के कारण सरकार से कुछ अनुदान भी मिल जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि अखबारी प्रचार के अतिरिक्त (जो मुख्य रूप से भाषणकर्ताओं या आयोजकों का होता है) उनसे जो लाभ होता है क्या वह उनमें लगाये गये श्रम, समय और व्यय के अनुरूप होता है ?

मानस ने उत्तर भारत की जनता का नैतिक उत्थान किया, संकट-काल में उसका मनोबल बढ़ाया, उसको नैतिक मूल्य दिये, परिवार और समाज के प्रति कर्तव्य और आचरण की एक संहिता दी, उसे जड़-वाद का दास हो जाने से बचाया तथा उसे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की ओर प्रवृत्त किया। सोहन-लाल द्विवेदी की कविता (है अपना भारतवर्ष कहाँ ? वह बसा हमारे गाँवों में) के अनुसार जनता तो गाँवों और नगरों के जनसंकुल छोटे तथा उपेक्षित मोहल्लों में रहती है। क्या इन भड़कीले आयोजनों, विद्वत्तापूर्ण 'सेमिनारों' और शोधपूर्ण लेखों के संग्रहों से उस जनता के मानस पर कोई संघात हुआ ? क्या इनसे उस वर्ग को, जो रामायण नहीं पढ़ता, उसे पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई ? सेमिनार, ग्रन्थ तथा भाषण अपनी भाषा, विषयवस्तु और शैली के कारण हमें विद्वानों के ऐसे वाग्विलास मालूम हुए, जो जनता और हम ऐसे सामान्य लोगों की समझ से परे हैं और न हमें उनमें आलोचित अधिकांश विषयों में रुचि ही है। यदि जनता की दृष्टि से देखा जाय तो इस मानस चतुश्शती के ऐसे आयोजनों का उस पर कोई विशेष संघात नहीं हुआ। हाँ, उसने उसे इस बात का स्मरण अवश्य दिला दिया कि रामायण को बने चार सौ वर्ष हो गये। रामायण प्रेमी जनता ने 'रामायण के बारे' में विचार नहीं किया। उसने स्वयं रामायण के अखंड या नवाह्न पारा-यण करके इस अवसर पर रामायण को फिर एक बार पढ़ा या सुनकर मानसिक और आध्यात्मिक तृप्ति का अनुभव किया।

इस चतुश्शती के अवसर पर उन वर्गों में रामायण के प्रचार का कार्य होना चाहिए था जिनमें उसका प्रचार नहीं है। साथ ही उन लोगों में उसके प्रति श्रद्धा को दृढ़ करना था जिनकी श्रद्धा कम होती जा रही है। हमारी शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि हम तुलसीदास का कोई ग्रन्थ पढ़े बिना ही प्रारंभिक कक्षाओं से आरम्भ करके हिन्दी में एम० ए० करके 'उच्च शिक्षित' हो सकते हैं। हमारे विद्यार्थी-जीवन में हिन्दी पाठ्यपुस्तकों में तुलसी और सूर के अंश अवश्य रहते थे। अब वे धीरे-धीरे संख्या और आकार में बहुत कम होते जा रहे हैं। उनके लम्बे प्रसंग तो प्रायः दिये ही नहीं जाते। कहने के लिए दस-बीस पंक्तियाँ कभी-कभी दे दी जाती हैं जिससे पाठ्य पुस्तक प्रणेताओं और शिक्षा विभागों पर तुलसी, सूर आदि का बहिष्कार करने का आरोप न लगाया जा सके, किन्तु उन थोड़ी-सी पंक्तियों से छात्रों को तुलसी, सूर आदि का सम्यक् परिचय नहीं होता। मेट्रिक में तो किसी समय सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड पढ़ना पढ़ता था। यही कारण है कि हमारी नवशिक्षित पीढ़ी, हिन्दी माध्यम से शिक्षा पाने पर भी तुलसी की कृतियों से इतनी अपरिचित रहती है। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा पाये लोग तो तुलसी, सूर आदि से और भी अधिक अपरिचित हैं। हम हिन्दी के कितने ही एम० ए० पास लोगों, विद्वानों, लेक्चररों को जानते हैं जिन्होंने कभी पूरी रामायण भी नहीं पढ़ी। अतएव पहिला वर्ग तो यह 'शिक्षित' वर्ग है जिसमें रामचरितमानस का प्रचार करना आवश्यक है। उच्च, मध्यम और निम्न अधिकारी वर्ग भी इसी में आ जाता है। इनके तुलसी और रामायण-निरपेक्ष होने के कारण बड़ी हानि हो रही है। यह तभी सम्भव है जब हम अपनी सम्पूर्ण पाठ्यपुस्तकों में रामायण, कवितावली आदि के अधिक अंश योजनाबद्ध रूप से देने के लिए शिक्षा-विभाग और सरकार को राजी कर सकें तथा हाईस्कूल, इंटर और बी० ए० में रामायण का एक पूरा काण्ड (क्रमशः सुन्दर, अयोध्या और बाल या उत्तर) हिन्दी के पाठ्यक्रम में अनिवार्य कर सकें। वर्तमान रामायण-निरपेक्ष पीढ़ी को रामायण से (केवल रामकथा से नहीं) परिचित कराने के उपाय खोजने होंगे।

हम अपने नेताओं, मंत्रियों तथा शासकों के बारे में कुछ न कहेंगे क्योंकि उनको रामायण के प्रति आकर्षित करने के लिए शायद ब्रह्मा और सरस्वती मिलकर भी योजना नहीं बना सकते। किन्तु यदि वे जनता में उसके प्रति श्रद्धा और उसमें उसका प्रचार देखेंगे तो वे उसके प्रति स्वयं सद्भावना प्रकट करने

लगेंगे। और इससे अधिक वे कुछ कर भी नहीं सकते। 'संस्कृति' के नाम पर उन्हें रामकथा का बैले (ballet) दिखाया जा सकता है या बड़ी रामलीलाओं में उन्हें प्रमुख अतिथि बनाया जा सकता है।

जनता में अब भी रामायण का प्रचार है किन्तु अब शिक्षा प्रायः अनिवार्य होती जा रही है। शिक्षालयों और पाठ्यपुस्तकों का 'नेशनलाइज़ेशन' हो रहा है और हमारी सरकार सेक्युलर है। एक दो पीढ़ियों बाद इन नये शिक्षितों के संस्कार वर्तमान जनता से भिन्न होंगे। परिवर्तित परिस्थिति में गाँवों में रामायण की वर्तमान लोकप्रियता बनाये रखने, उसे बढ़ाने तथा भावी पीढ़ी में भी रामायण के उपदेशों और संस्कारों को बनाये रखने के लिए हमें अभी से विशेष प्रयत्न करने होंगे। हमारी समझ से यह तभी हो सकता है, जब हम तुलसीदास से ही प्रेरणा लेकर उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करें। उन्होंने दो काम किये थे। राजापुर ही में नहीं, उन्होंने काशी में हनुमानजी के बारह मंदिर स्थापित किये थे। उन्होंने रामलीला का आरम्भ किया था। हमारी सम्मति में मानस चतुश्शती के अवसर का लाभ उठाकर भविष्य का ध्यान रखते हुए एक हजार या पाँच सौ जनसंख्या के प्रत्येक हिन्दू-प्रधान गाँव में (जहाँ वह न हों वहाँ) हनुमानजी का एक मंदिर और चबूतरा स्थापित करना चाहिए। केवल एक मंदिर स्थापित कर देना ही पर्याप्त नहीं है। एक छोटी मठिया में मूर्ति पधरा दी जाय तब भी काम चल जायगा। लेकिन उसके सामने का चबूतरा भरसक बड़ा हो। इनकी स्थापना को गाँव और आस-पास की जनता के लिए रामायण के प्रचार का विशेष साधन बनाया जाय। इस मंदिर के लिए न जमीन के मिलने में, मठिया या मंदिर बनाने में और न चबूतरा बनाने के लिए दिक्कत होगी। गाँव वाले स्वयं सब प्रबन्ध कर देंगे—यदि उनमें उसके लिए उत्साह उत्पन्न किया जा सके। राम और रामायण के स्थानीय कर्मठ प्रेमियों की समिति बनाकर उसके द्वारा उनमें चैत्र और आश्विन की नवरात्रियों में रामायण के नवाह्न पारायण करने और श्रावण शुक्ल ७ को तुलसी जयन्ती मनाने के कार्यक्रम की परम्परा डाली जाय। जहाँ आस-पास रामलीला न होती हो वहाँ आश्विन में रामलीला करने की प्रेरणा भी दी जानी चाहिए। साधनों के अनुसार अन्य कार्यक्रम भी बन सकते हैं। इसके साथ ही बड़े अक्षरों में सरल टीका समेत रामायण का ऐसा संस्करण निकालना चाहिए जो लागत मात्र पर ग्रामीण जनता को दिया जाय। वह लाखों की संख्या में छपाया जाय। अच्छे चित्रकारों से रामायण के विविध प्रसंगों के जनता की रुचि के अनुकूल शैली में बड़े चित्र बनवाकर उन्हें नाम मात्र के मूल्य पर या बिना मूल्य वितरित किया जाय जिससे वे उन्हें घरों में लगा सकें। इससे उनके सौन्दर्य बोध की तुष्टि ही न होगी प्रत्युत उन्हें मानस के प्रसंगों का स्मरण बार-बार होता रहेगा। तुलसी की सूक्तियाँ भी बड़े और सुन्दर अक्षरों में छपाकर जनता में वितरित की जायँ। ग्रामीणों को अपने घरों में भी समय-समय पर रामायण का अखंड पाठ करने को प्रेरित किया जाय तथा रामायण के अतिरिक्त तुलसी के कम से कम दो अन्य ग्रन्थ (विनयपत्रिका और कवितावली) का भी उनमें प्रचार किया जाय। इसके लिए आवश्यकतानुसार प्रचारक रखे जायँ।

विद्यार्थियों तथा अन्य पुरुषों और स्त्रियों में रामायण के प्रचार के लिए रामायण की परीक्षाएँ प्रत्येक हिन्दीभाषी राज्य में इसी काम के लिए निर्मित समिति द्वारा ली जायँ। बाबा राघवदासजी ने कई वर्ष ऐसी परीक्षाएँ चलायी थीं, जो बड़ी लोकप्रिय थीं और रामायण के प्रचार में उनसे बड़ी सहायता मिली थी। उनके पाठ्यक्रम तथा प्रबन्ध की योजना बनायी जा सकती है।

आज रामायण के अनेक संस्करण प्राप्त हैं, किन्तु हमारी समझ से दो संस्करणों की अभी भी आवश्यकता है। एक तो 'जनता संस्करण' जो व्यावसायिक दृष्टि से प्रकाशित न किया जाय। वह ऊपर

के सुझाव के अनुसार लागत मात्र पर जनता को प्राप्त हो। सरकार से अनुमति लेकर समिति बी० डी० ओ० के द्वारा उसे ग्रामवासियों को उपलब्ध करावे। दूसरे, एक राजसंस्करण (डि-लक्स) संस्करण की भी आवश्यकता है। हम विवाह इत्यादि के अवसरों पर उपहार के रूप में रामायण ही देते हैं। किन्तु हमें बाजार में उपहार में देने योग्य अच्छे कागज पर, अच्छे चित्रों सहित और आकर्षक जिल्दवाली बढ़िया छपी रामायण नहीं मिलती। कई वर्ष पहिले ही वेंकटेश्वर प्रेस ने ८० रुपये का एक राज-संस्करण निकाला था। किन्तु वह बहुत दिनों से अलभ्य है। यह काम समिति का नहीं है। कोई कल्पनाशील और साहसी प्रकाशक ही इस काम को कर सकता है।

रामायण-कथावाचक रामायण के प्रचार में बड़े सहायक होते हैं। रामायण के प्रचार के लिए सस्वर रामायण पढ़ने और उसकी सरल व्याख्या तथा सन्दर्भों को स्पष्ट कर सकनेवाले रामायण-कथावाचकों की बड़ी आवश्यकता है। मानस का प्रचार करनेवाली संस्थाओं को वर्तमान कथावाचकों का सहयोग प्राप्त कर होनहार कथावाचकों को प्रोत्साहन देने तथा आवश्यकतानुसार उन्हें संगठित करने तथा प्रशिक्षण देने की भी योजना बनानी चाहिए। उसके अतिरिक्त उन्हें उनकी कथाओं का ऐसा कार्यक्रम बनाना चाहिए जिससे नगर और ग्रामों में बराबर उनकी कथाएँ होती रहें, और कोई क्षेत्र उनसे छूटने न पावे।

जनता में मानस का प्रचार करने के लिए हम उपर्युक्त बातों को केवल सुझाव के रूप में रख रहे हैं। जब तक हमारी संस्थाएँ नगर-मुखी, प्रोफेसर-मुखी और मंत्री-अधिकारी मुखी न होकर ग्राम-मुखी और जनता-मुखी नहीं होतीं, तब तक उनके कार्यकलाप का जनता पर कोई विशेष संघात (इम्पैक्ट) नहीं हो सकता। हमें याद रखना चाहिए कि तुलसीदास तथा अन्य संत कवि कभी राज्याश्रयी नहीं रहे। उनका काव्य जनता ने समादृत किया और अपनाया। आज भी मंत्रियों और अधिकारी वर्ग द्वारा उन्हें वास्तविक आश्रय नहीं मिलेगा। ऐसे मंत्री भी, जिन्हें रामायण से प्रेम नहीं है और जो न रामभक्त ही हैं तथा जिन्होंने कभी रामायण पढ़ी भी नहीं, हिन्दीवालों में लोकप्रिय होने के लिए ऐसे आयोजनों में सम्मिलित होना स्वीकार कर लेते हैं। उनमें से बहुतों के भाषण सुनकर हमें सेंट पाल के कारिंथियनों को लिखे एक पत्र के इस अंश का स्मरण हो आता है—

Eventhough thou speakest with the tongue of manna, if there is no love and sincerety in it, it sounds like tinkling brass.

[चाहे तू अमृत-घुले शब्द ही क्यों न बोलता हो किन्तु यदि उनमें प्रेम और हार्दिकता नहीं है तो वे पीतल के घंटे के टुनटुन करते हुए शब्द की तरह (अर्थ और प्रभाव से हीन) होंगे।]

●

हिन्दी दिवस

●

अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी 'हिन्दी दिवस' मनाया गया। लखनऊ में भी एक आयोजन किया गया जिसमें उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति के अधिवेशन में आये हुए कुछ विद्वानों ने और मुख्य मन्त्री ने भी भाषण किया। हम उस सभा में नहीं गये किन्तु हमारे एक आदरणीय साहित्यकार के शब्दों में उसमें एक-दो वक्ताओं ने हिन्दी का 'तबर्रा' भी पढ़ा, सारा दोष हिन्दीभाषियों के सिर मढ़ा गया और सरकार की हिन्दी नीति की प्रशंसा की गयी।

हिन्दी दिवस १४ सितम्बर को मनाया जाता है क्योंकि उसी दिन संविधान सभा ने देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था। संक्रमण काल में सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की सुविधा के लिए पन्द्रह वर्ष तक अंग्रेजी को हिन्दी के साथ-साथ राष्ट्रभाषा के रूप में चलाते रहने का निर्णय किया गया, यद्यपि राजर्षि इतना अधिक समय देना उचित नहीं समझते थे। भारत सरकार पर अंग्रेजी-परस्तों, अंग्रेजी 'फैनेटिक्स' और हिन्दी विरोधियों का इतना प्रभाव है कि उन्होंने हिन्दी को 'कागजी' राजभाषा बनाये रखने में कोई कसर नहीं की। बाद में अंग्रेजी को संसद् में 'सह राजभाषा' स्वीकृत करा दिया। उसके साथ यह शर्त भी लगा दी कि जब तक भारत गणतन्त्र का एक भी राज्य विरोध करेगा तब तक हिन्दी भारत की एकमात्र राष्ट्रभाषा न हो सकेगी। अतएव भारत में अंग्रेजी की जड़ें और भी मजबूत हो गयीं, और वह अनन्त काल के लिए जम गयी। उन तीन चार राज्यों का नाम लेने की

आवश्यकता नहीं है जो कभी भी हिन्दी को भारत की एकमात्र राजभाषा न होने देंगे। अतएव अंग्रेजी अनन्त काल तक यहाँ की कहने को सहराजभाषा, किन्तु यथार्थ में मुख्य राजभाषा बनी रहेगी। वास्तव में संविधान में १४ सितम्बर को जो उपलब्धि की गयी थी वह बाद के संसद्के संकल्प से केवल एक मृग-मरीचिका भर रह गया है। भारत-सरकार का कार्य मुख्य रूप से आज भी अंग्रेजी में होता है। सेवा आयोग में हिन्दी के साथ १४ और भारतीय भाषाओं को केवल 'दो' प्रश्नपत्रों में उत्तर देने का विकल्प देने का 'क्रान्तिकारी' कदम बड़े प्रयत्नों और दबाव के कारण उसने स्वीकार किया। हिन्दी का राजभाषा के रूप में अलग कोई महत्त्व नहीं समझा गया। उसे उड़िया, असमी आदि भाषाओं के समकक्ष बना दिया गया।

किन्तु भारत सरकार की क्या शिकायत की जाय ? हिन्दीभाषी राज्यों में कानून से राजभाषा हिन्दी है, किन्तु वहाँ भी हिन्दी में कितना प्रतिशत काम होता है, इसका पता कोई उच्चस्तरीय जाँच कमेटी ही लगा सकती है। अंग्रेजों के समय में प्रत्येक कार्यालय में दो भाग होते थे—१—इंगलिश आफिस, २—वर्नाक्यूलर आफिस। वर्नाक्यूलर आफिसों में अब अवश्य देवनागरी में काम होता है, किन्तु इंगलिश आफिस और उच्च अधिकारियों का काम कितना हिन्दी में होता है, यह जानना हमारे लिए कठिन है। तार विभाग ने हिन्दी में तार देने की व्यवस्था की है। उत्तर प्रदेश के सिंचाई और पुलिस विभाग में अपनी संचार व्यवस्था है। यदि उत्तर प्रदेश का कोई विधायक हिन्दी के मामले में जागरूक होता तो वह सरकार से पूछता कि १९७१-७२ और १९७२-७३ में सचिवालय से कितने तार अंग्रेजी और हिन्दी में दिये गये तथा कितने तार हिन्दी में वहाँ आये। नहर तथा पुलिस के तार और वायरलेस के कितने संदेश इन वर्षों में हिन्दी और अंग्रेजी में भेजे गये। वोट देनेवाली जनता को प्रसन्न करने के लिए हमारे नेता हिन्दी के प्रति मौखिक सहानुभूति तो बहुत दिखलाते हैं किन्तु उनमें हिन्दी के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं है—आग्रह होना तो दूर की बात है। जिस कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में किसी समय बड़े और छोटे नेता हिन्दी में भाषण देते थे, उसमें अब कई वर्षों से हिन्दी की उपेक्षा चर्चा का विषय बन गयी है। उत्तर प्रदेश का बजट कई सौ करोड़ (९०० करोड़ के लगभग) है। उसमें से हिन्दी पर यह सरकार क्या व्यय करती है ? उसका सारे बजट में क्या अनुपात है ? राजर्षि के प्रताप से केवल विधान सभा में पूर्णतः हिन्दी चलती है और विधायक भी इस विषय में जागरूक हैं।

वास्तविक बात यह है कि जिस पीढ़ी में राष्ट्र को वाणी देने के लिए हिन्दी का आग्रह था, वह समाप्त हो गयी। नये नेताओं में न भाषा की चेतना है और न हिन्दी का आग्रह। दुर्भाग्य से हिन्दी स्वयं नेताहीन हो गयी है। उसकी संस्थाएँ दलबन्दी और झगड़ों के अखाड़े बन गयी हैं। इस अर्थ प्रधान युग में हिन्दी का लेखन और पत्रकारिता व्यवसाय हो गया है और वे दोनों प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरकार पर आश्रित या कृपाकांक्षी हैं। नेताओं की पहली और अन्तिम निष्ठा अपने दल के प्रति है और उनमें जो हिन्दी प्रेमी और हिन्दीनिष्ठ हैं भी, वे अपने दलों की भाषा नीति या भाषा सम्बन्धी कार्यों के विरुद्ध बोलने का साहस नहीं कर सकते। राजर्षि के बाद—कम से कम उत्तर प्रदेश में—हिन्दी का कोई नेता नहीं रह गया। कोई अखिल उत्तर प्रदेशीय हिन्दी नेता नहीं है जिसमें हिन्दी का दर्द हो और जो हिन्दी के लिए राजनीतिक लाभ की बाजी लगाकर हिन्दी के हितों की रक्षा का आग्रह कर सके। हिन्दी में साहित्यकार अवश्य हैं। वे प्रतिष्ठित और उच्च स्तर के हैं। किन्तु रचनात्मक लेखक भाषा के आंदोलन में पड़कर अपनी प्रतिभा और कला को हानि नहीं पहुँचा सकते क्योंकि हिन्दी का आंदोलन आज भी कंटकों का मार्ग है और समय और श्रम चाहता है। नेतृत्व के बिना आंदोलन नहीं हो सकता, और हिन्दी के

प्रति मौखिक सहानुभूति प्रकट करनेवाली सरकार पर जनमत को संगठित करके कोई दबाव नहीं डाला जा सकता। हिन्दी संस्थाएँ या तो 'सरकारी' हैं, या सरकार से अनुदान प्राप्त करने के कारण उसकी कभी-कभी औपचारिक आलोचना भले ही कर दें, किन्तु गम्भीर रूप से उसका विरोध नहीं कर सकतीं। यही हाल सरकार की कृपा के आपेक्षी हिन्दी कार्यकर्ताओं, पत्रकारों और साहित्यिकों का है। इस वातावरण में कहीं जो दो-चार व्यक्ति ऐसे मिल जाते हैं जिन्हें पुरानी पीढ़ी की तरह हिन्दी का दर्द है तो वे यह याद कर चुप हो जाते हैं—'तुलसी चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।''

वास्तव में हिन्दी दिवस आत्म-परीक्षण और अपनी असफलता के लिए शोक मनाने का दिन होना चाहिए। हिन्दी ने उस दिन जो उपलब्धि की थी, वह क्यों 'कागजी' रह गयी, क्यों वह नामपटों से बहुत आगे नहीं बढ़ी, क्यों केन्द्रीय कार्य में आज भी—संविधान लागू होने के चौथाई शती के बाद भी ५ या ६ प्रतिशत से अधिक कार्य नहीं हो रहा, आदि अनेक प्रश्न हैं जिन पर गंभीरता से विचार करना और यह सोचना आवश्यक है कि इस स्थिति के लिए हमारी अकर्मण्यता कितनी जिम्मेदार है और इस सम्बन्ध में हम क्या कर सकते हैं।

कई वर्ष हुए हम मदरास गये थे। वहाँ उस समय कांग्रेस सरकार थी। हम वहाँ के एक वरिष्ठ मंत्री से मिलने गये और हिन्दी की चर्चा चलने लगी। उन्होंने कहा—"आप हिन्दीभाषी क्षेत्रों में शत-प्रतिशत हिन्दी कर दें। तब आप देखेंगे कि हम तीन वर्ष में अपने यहाँ उतनी हिन्दी कर देंगे जितनी कि आप हमसे अपेक्षा करते हैं।" क्या उत्तर प्रदेश ही में सरकारी और गैर-सरकारी काम हिन्दी में पूर्णतः आज भी—हिन्दी को प्रान्त की राजभाषा बनने के प्रायः तीस वर्ष बाद भी—होने लगा है? क्या यहाँ विश्वविद्यालयों, मेडिकल कालिजों, इंजीनियरिंग कालिजों, बिरला के रेणुकूट ऐसे संस्थानों, जे० के०, स्वदेशी, मोदी आदि बड़े उद्योगपतियों के संस्थानों के काम-काज की भाषा हिन्दी हो सकी है? क्या बड़े नगरों में अब भी बड़ी संख्या में दूकानों के नामपट केवल अंग्रेजी ही में नहीं हैं? क्या सचिवालय और सरकारी कार्यालयों से बड़ी संख्या में तार आज भी अंग्रेजी में नहीं दिये जाते? हाईकोर्ट में कितनी हिन्दी है? जब हम उत्तर प्रदेश ऐसे हिन्दी राज्य में पूरी तरह हिन्दी नहीं करा सके तो किस मुँह से भारत सरकार से हिन्दी में काम कराने की माँग कर सकते हैं?

इस देश में लकीर पीटने की पम्परा बहुत पुरानी है और अनेक, 'क्रान्तियों' के बाद भी वह फल फूल रही है। अतएव हम 'हिन्दी दिवस' के दिन भी कुछ सभाएँ कर और कुछ उन्हीं नेताओं से, जो पूरी तरह से हिन्दी को चलाते पर नहीं चला सके, और सरकार मुखापेक्षी हिन्दी 'महापुरुषों' से भाषण दिला-कर इस लकीर को पीटकर अपनी पीठ ठोंक लेते हैं और समझने लगते हैं कि उसे पीटकर हमने वाटरलू की लड़ाई जीत ली। अंग्रेजों में एक कहावत है कि छटाँक भर काम मनों भाषणों से अच्छा होता है। हम हितैषीजी के शब्दों में 'विभीषण को भयौ भीषण-भषण' के अनुसार उस दिन भाषण कराकर वर्ष भर के लिए सुख की नींद सोते हैं या अपने 'पेशों' में लग जाते हैं।

यह अब स्पष्ट है कि हिन्दी को प्रभावी राजभाषा बनाने और बनवाने में हिन्दीवालों—हिन्दी संस्थाबाजों, साहित्यकारों, पत्रकारों और हिन्दी कवियों की वर्तमान पीढ़ी असफल रही है। भविष्य की आशा नयी पीढ़ी से है जो तीस वर्ष से कम की है—विशेषकर छात्रों, सरकारी और गैर-सरकारी कार्यालयों में काम करनेवाले युवकों से। उनमें जीवन है, उत्साह है और वे हिन्दी ही में पले और विकसित हुए हैं। उन्हें आगे बढ़कर हिन्दी का कार्य और नेतृत्व सँभालना चाहिए। उन्हींके ऊपर हिन्दी का भविष्य निर्भर

है। उन्हें चाहिए कि हम ऐसे निकम्मों की पीढ़ी से हिन्दी का नेतृत्व लेकर नये उत्साह से हिन्दी आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में लें। यह भी याद रखें कि सरकारी और सरकार के अनुदान पर आश्रित संस्थाएँ हिन्दी के लिए संघर्ष करने में असमर्थ हैं। उनकी अपनी मजबूरियाँ हैं।

हिन्दी दिवस तो हमें उस दिन जो उपलब्धि हुई थी उसकी आपूर्ति का स्मरण दिलाता है। वह हमें अपनी विफलता, अकर्मण्यता और स्वयं अपने हिन्दी-प्रेमी होने के दम्भ का अनुभव कराता है। इसीलिए हम उसमें भाग नहीं लेते। यदि वह दिन हमें कुछ करने की प्रेरणा दे सके, और वह प्रेरणा वंध्या न हो, तो वह दिन सार्थक हो सकता है। केवल भाषणों और मिनिस्टरबाजी से हिन्दी का कल्याण होनेवाला नहीं है।

उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री और हिन्दी के प्रति उनका रुख

•

लखनऊ में गत हिन्दी-दिवस पर सरकारी हिन्दी समिति में एक समारोह हुआ था। उसी समय उस सरकारी संस्था की प्रथम वार्षिक बैठक भी हुई थी जिसमें अनेक हिन्दी के गण्यमान्य लेखक और पत्रकार भी आये थे। इस समारोह में वे भी मौजूद थे। अन्य लोगों के अतिरिक्त इसमें उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री हेमवतीनन्दन बहुगुणा भी कुछ देर के लिए तशरीफ लाये थे और उन्होंने 'तक़रीर' भी करने की मेहरबानी की। स्थानीय पत्रों में उस समारोह के बहुत सूक्ष्म समाचार प्रकाशित हुए थे। दिल्ली के 'दिनमान' ने उसका अधिक विवरण दिया और भाषणों के भी कुछ उद्धरण दिये। माननीय मुख्य मंत्री के भाषण के जो उद्धरण उसमें छपे हैं, वे ये हैं :

> "सम्मेलन में उपस्थित उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री बहुगुणा ने कहा, "हिन्दी में कोई सुर्खाब के पर नहीं लगे हैं कि दूसरी भाषाओं को उनके दर्जे से मरहूम रखा जाये। केवल हिन्दी पर बल देकर हम वही गलती नहीं कर सकते जो गलती पाकिस्तान के निर्माताओं ने की। सिर्फ उर्दू की जिद ने ही उस देश को दो हिस्सों में तोड़कर रख दिया। यदि हमारा देश टूटने से बचा है तो इसका कारण हमारी भाषा नीति है। यदि कोई प्रदेश हिन्दी के कारण घबराता है तो

इसके पीछे कहीं न कहीं हिन्दीवालों के आचरण और क्रियाकलाप का हाथ है। उन्होंने प्रश्न किया कि क्या डा० लोहिया वाला भाषा संबंधी गुस्सा वाजिब था ? मैं तो कहूँगा तत्कालीन हिन्दी आन्दोलन का ही यह दुष्परिणाम है कि आज दक्षिण के एक प्रदेश में द्रमुक की हिन्दीविरोधी सरकार है। पाकिस्तान के 'उर्दूयाने' की नकल पर हमें 'हिन्दियाना' नहीं है। पंजाब और हर-याणा जब एक थे तो हिन्दी की लड़ाई वहाँ उर्दू ने लड़ी थी। उत्तर प्रदेश ने अपने यहाँ उस भाषा को शुक्रिया तक नहीं कहा····।" (दिनमान, ६ अक्तूबर, पृष्ठ ३९)

इन्हें पढ़कर हमें आश्चर्य भी हुआ और खेद भी। किन्तु इन उद्धरणों पर टीका करने से पूर्व एक उत्तरदायी पत्रिका के सम्पादक के रूप में हमने माननीय मुख्य मंत्री जी द्वारा उनकी पुष्टि कराना आवश्यक समझा क्योंकि ठीक उद्धरण या वाक्य भी कभी-कभी संदर्भ से अलग होने पर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। वैसे तो 'दिनमान' ऐसे प्रतिष्ठित और उत्तरदायी पत्र की रिपोर्ट हम विश्वसनीय समझते हैं, किन्तु मामला राज्य के मुख्य मंत्री का था और कभी-कभी अनजाने ही में भूल हो सकती है। हम चाहते थे कि यदि इन उद्धरणों में कोई त्रुटि या भ्रमात्मक बात आ गयी हो तो वह मालूम हो जाय। अतएव हमने मुख्य मंत्री जी को यह पत्र १४-१०-७४ को लिखा।

प्रिय मुख्य मंत्रीजी,

....

६ अक्तूबर, १९७४ के 'दिनमान' (पृष्ठ ३९ पर) आपके उस भाषण के कुछ उद्धरण छपे हैं जो आपने हिन्दी दिवस की सभा में दिये थे। मेरी समझ से उसमें हिन्दी और हिन्दीवालों पर काफी प्रहार किया गया है। स्थानीय पत्रों में उस सभा का विशेष विवरण नहीं छपा। अतएव मैं अपनी टिप्पणी लिखने से पहिले यह उचित समझता हूँ कि मैं आपसे 'दिनमान' में छपे उद्धरणों की पुष्टि कर लूँ। आपकी सुविधा के लिए मैं उनकी प्रतिलिपि संलग्न कर रहा हूँ। यदि 'दिनमान' के विवरण में कोई गलती हो तो कृपया सूचित करें। मैंने श्री अशोकजी से सुना है कि आपके भाषण की टेप-रेकर्डिंग भी की गयी थी। क्या वह 'टेप' आप मुझे उपलब्ध करा सकेंगे जिसे मैं अपने टेप रेकर्डर पर सुनकर लौटा दूँगा ? यदि उस 'रेकर्डिंग' से भाषण उतरवा कर उसकी प्रति (स्क्रिप्ट) ही दिलवा सकें तो भी मेरा काम चल जायगा। कम से कम मैं इतनी अपेक्षा तो करता ही हूँ कि आप 'दिनमान' में प्रकाशित भाषण की सत्यता या असत्यता पर अपने विचार सूचित करने की कृपा और कष्ट करेंगे। मैं तब तक कोई टिप्पणी नहीं लिखना चाहता जब तक मुझे निश्चित न हो जाय कि 'दिनमान' में प्रकाशित बातों में कितनी यथार्थता है। मैं इस मास के अंत तक आपके उत्तर की प्रतीक्षा करूँगा और यदि तब तक आपका कोई उत्तर न मिला तो समझ लूँगा कि 'दिनमान' में प्रकाशित विवरण सही है और उसीके आधार पर अपनी टिप्पणी लिखूँगा।

भवदीय
श्रीनारायण चतुर्वेदी

३१ अक्तूबर तक इसका उत्तर नहीं मिला। माननीय मुख्य मंत्री जी अत्यन्त व्यस्त रहते हैं और पत्रों के उत्तर में विलम्ब हो जाना बड़ी बात नहीं है। तब हमने २ नवम्बर को एक स्मरण-पत्र भेजा। उसका उन्होंने कृपा कर तुरन्त उत्तर दिया।

नवम्बर ५, १९७४

प्रियवर श्री चतुर्वेदीजी,

२-११-७४ का आपका पत्र मिला। आप 'सरस्वती' में क्या छापें, यह आपकी इच्छा पर निर्भर करता है।

सादर,

आपका

हेमवतीनन्दन बहुगुणा

इस पत्र का हमने यह उत्तर दिया :

११-११-७४

प्रिय मुख्य मंत्रीजी,

आपका ५-११-७४ का कृपापत्र प्रयाग से लौटने पर मिला। उसके लिए अनेक धन्यवाद। आपने प्रकारान्तर से 'दिनमान' में प्रकाशित उद्धरणों की पुष्टि कर दी है। इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

विनीत

श्रीनारायण चतुर्वेदी

यद्यपि हमने केवल 'उद्धरणों' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी, टिप्पणी लिखने की अनुमति नहीं माँगी थी, तथापि प्रकारान्तर से उन्होंने उनकी पुष्टि करके अपनी ओर से हमें टिप्पणी लिखने के लिए अयाचित हरी झंडी देने की कृपा की, जिसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

अब मुख्य मन्त्रीजी के उद्धृत भाषण की मुख्य बातों पर विचार करें। वे ये हैं :

१. (क)—हिन्दी में कोई सुर्खाब के पर नहीं लगे हैं

(ख)—कि दूसरी भाषाओं को उनके दर्जे से मरहूम रखा जाय। (शायद 'मरहूम' (मृत) मुद्राराक्षसों की कृपा है। मुख्य मंत्रीजी का आशय 'महरूम' (वंचित) से मालूम होता है।)

२. केवल हिन्दी पर बल देकर हम वह गलती नहीं कर सकते जो गलती पाकिस्तान के निर्माताओं ने की। सिर्फ उर्दू की ज़िद ने ही उस देश को दो टुकड़ों में तोड़ कर रख दिया।

३. यदि हमारा देश टूटने से बचा है तो इसका कारण हमारी भाषा नीति है।

४. यदि कोई प्रदेश हिन्दी के कारण घबराता है तो उसके पीछे हिन्दी वालों के आचरण और क्रिया कलाप का हाथ है।

५. क्या लोहिया वाला भाषा सम्बन्धी गुस्सा वाजिब था ?

६. तत्कालीन हिन्दी आन्दोलन का यह दुष्परिणाम है कि आज दक्षिण के एक प्रदेश में द्रमुक की हिन्दी-विरोधी सरकार है।

७. पाकिस्तान के 'उर्दूयाने' की नकल पर हमें 'हिन्दियाना' नहीं।

८. पंजाब और हरियाना जब एक थे तो हिन्दी की लड़ाई वहाँ उर्दू ने लड़ी थी। उत्तर प्रदेश ने यहाँ उस भाषा को शुक्रिया तक नहीं कहा।

इन सब भ्रमपूर्ण बातों का ठीक तरह से उत्तर एक सामान्य टिप्पणी में नहीं दिया जा सकता। किन्तु हम अपनी सीमा के भीतर संक्षेप में उनके भ्रमों का निराकरण करने का प्रयास करेंगे। हम यहाँ इनका पूरा उत्तर नहीं दे सकते किन्तु साथ ही हम बिना उन्हें चुनौती दिये छोड़ देना भी उचित नहीं

समझते, क्योंकि तब यह कहा जा सकेगा कि किसी ने इन भ्रमात्मक बातों के विरुद्ध आवाज भी नहीं उठायी, या जैसे अंग्रेजी में कहते हैं, "नॉट इवेन ए डॉग बार्क्ड" (एक कुत्ता भी नहीं भौंका।) हमें विवश होकर उस पहरेदार और सजग कुत्ते की भूमिका अदा करनी पड़ रही है।

एक बात विशेष ध्यान देने की है। मुख्य मंत्रीजी ने बार-बार 'हिन्दीवालों' की बात कही है। वे स्वयं अपने को 'हिन्दीवाला' नहीं मानते। यदि मानते होते तो कहते—"हम हिन्दीवालों ने ये भूलें या ये गलतियाँ की हैं।" अतएव जब मुख्य मंत्रीजी अपने को हिन्दीवाला नहीं मानते तो हम उन्हें 'हिन्दीवाला' मानने की गुस्ताखी कैसे कर सकते हैं? यह भविष्य ही बतलाएगा कि वे क्या हैं। वे हिन्दी निरपेक्ष हैं या हिन्दी-विरोधी? हम उनके कृतज्ञ हैं कि उन्होंने उत्तर प्रदेश के हम हिन्दीवालों को 'मुग़ालते' में नहीं रखा और हमें बतला दिया कि हमें कैसे मुख्य मंत्रीजी मिले हैं।

अब उनके उठाये प्रश्नों पर सरसरी तौर से विचार कर लिया जाय। सबसे पहले वे फ़तवा देते हैं—
"हिन्दी में कोई सुर्ख़ाब का पर नहीं लगा है।"

हमारा विनम्र निवेदन है—जनाब! आपका ख़याल ग़लत है। हिन्दी में कई सुर्ख़ाब के पर लगे हैं, उनमें केवल कुछ की चर्चा यहाँ करेंगे :—

१. आपके राजनीतिक पूर्वजों ने अनेक भारतीय भाषाओं में से इसे ही भारत की राजभाषा बनाया। यह पहला सुर्ख़ाब का पर है।

२. हिन्दी की यह विशेषता रही है कि इसकी दृष्टि सदैव अखिल भारतीय रही है। हिन्दी साहित्य ने सदैव 'भारत' या 'हिन्दुस्तान' की बात कही, सोची और प्रचारित की। उसके लेखकों ने संकुचित प्रान्तीयता की भावना अपने साहित्य में कभी नहीं आने दी। नाम लेने की आवश्यकता नहीं, किन्तु आप भी जानते हैं कि कई प्रान्तीय भाषाएँ अपने प्रान्तों से आगे बड़ी मुश्किल से देख सकीं, या किसी ने अरब, ईरान, इराक़ आदि को अपना आदर्श और प्रेरणा स्रोत बनाया। हिन्दी के आदिकाल से उसकी यह अखिल भारतीय दृष्टि—आसेतु हिमालय को अपना देश समझना—किसी सुर्ख़ाब के पर से कम नहीं है।

३. अनेक शतियों से परिव्राजक सन्तों, उत्तर से दक्षिण, दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व जानेवाले तीर्थ यात्रियों तथा अन्तर्प्रान्तीय व्यापारियों ने सारे देश में इसी को व्यावहारिक रूप से सम्पर्क भाषा बनाया और माना।

४. कितने ही अहिंदीभाषी सन्तों ने, यहाँ तक कि अठारवीं शती के केरल के शासक महाराज स्वाति तिरुनाल ने भी, मध्य युग में अपनी मातृभाषाओं के अतिरिक्त इस भाषा में भी पदों, अभंगों आदि की रचना कर इसकी सार्वदेशिकता पर अपनी मोहर लगायी।

५. मुख्य मंत्रीजी को शायद मुसलमानों का प्रमाण अधिक मान्य होगा। अमीर ख़ुसरू (जन्म १२५४ ई०) ने अपनी एक फारसी रचना में कहा था—

तुर्क हिन्दुस्तानियम् मन हिन्दवी गोयम् जनाब,
चु मन तूतिए हिन्दम्, अर असन पुर्सी,
जे-मन हिन्दवी पुर्स, ता नग्ज़ गोयम्।

(मैं हिंदुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदवी (हिंदी) में पूछो। मैं तुम्हें हिंदवी में अनुपम बातें बता सकूंगा।)

अपनी 'मसनवी किरानुस्सादन' में उसने एक जगह जो लिखा है उसका अनुवाद यह है—"मैं भूल पर था। अच्छी तरह सोचने पर हिंदवी भाषा मुझे फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई।"

याद रहे कि अमीर ख़ुसरू पटियाली जिला एटा में पैदा हुए थे और वहीं की हिन्दी भाषा यदि उनकी मातृभाषा नहीं तो धातृभाषा अवश्य थी। वे उसी हिंदी या हिंदवी से परिचित थे जो वहाँ बोली जाती थी। उनकी छुटपुट अनेक हिन्दी कविताएँ मिलती हैं। तेरहवीं शती के अमीर ख़ुसरू की श्रेणी के महान् मुस्लिम मनीषी और साहित्यकार का यह 'सर्टिफ़िकट' शायद हमारे मुख्य मंत्रीजी को हम हिंदीवालों की बकवास से अधिक ग्राह्य हो।

६. अंत में, मुख्य मंत्रीजी के लिए यह भी एक 'सुर्ख़ाब के पर' की बात होनी चाहिए कि विधि के विधान से वे इस समय जिस राज्य के मुख्य मंत्री हैं उसकी राजभाषा तो हिन्दी है ही, वह हिन्दी का गढ़ भी है और उसमें भारतेन्दु तथा महामना से लेकर राजर्षि और डॉ० सम्पूर्णानन्द तक के हिन्दी के स्तंभों की परम्परा रही है।

हम और भी तर्क और कारण दे सकते थे, किन्तु इतने काफ़ी होने चाहिए। मुख्य मंत्रीजी 'अक्ल-मंदारा इशारा काफ़ीस्त' खूब समझते हैं। किंतु "इतने हूपर करहिं जे संका। मोहु तें अधिक ते जड़ मति रंका।"

इसी प्रश्न के उत्तरार्द्ध में उन्होंने कहा है कि "(हिन्दी के कारण) दूसरी भाषाओं को उनके दर्जे से (क्यों) मरहूम रखा जाय?" (यहाँ मुद्राराक्षस के कारण महरूम–वंचित–के स्थान पर मरहूम–मृत–हो गया मालूम होता है क्योंकि मुख्य मंत्रीजी इतनी 'सलीस' उर्दू बोलते हैं कि वे यह भोंड़ी भूल नहीं कर सकते।) इसके साथ ही उनके इस कथन पर भी विचार कर लिया जाय कि "यदि कोई प्रदेश हिन्दी के कारण घबड़ाता है तो उसके पीछे हिन्दीवालों के आचरण और क्रियाकलाप का हाथ है।" अपने इस दूसरे आक्षेप के समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। हम उन्हें ही नहीं, अन्य कोरे राजनीतिज्ञों को (जिन्होंने न कभी हिन्दी आन्दोलन में भाग लिया और न जिनका हिन्दी में कोई कृतित्व है) हिन्दी की ओर से बोलनेवाला अधिकृत व्यक्ति नहीं मानते। पं० कमलापति त्रिपाठी, स्व० राजर्षि, स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्दजी आदि राजनीतिज्ञ होते हुए भी 'हिन्दीवाले' थे और हिन्दी की ओर से बोलने के अधिकारी थे। अतएव हिन्दीभाषी केवल राजनीतिज्ञों के कथनों के हिन्दीवाले ज़िम्मेदार नहीं हैं। हम व्यक्तियों को छोड़कर देखें कि वास्तविक हिन्दी की अधिकृत संस्थाओं के इस सम्बन्ध में क्या विचार रहे हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन (वर्तमान गतिरोध से पहिले अर्थात् १९५१ से पूर्व) हिन्दी संसार की एकमात्र प्रतिनिधि और अधिकृत संस्था थी। उसके विचार हिन्दीवालों के प्रामाणिक विचार हैं। उसने जो कहा और जो प्रस्ताव पारित किये वे ही हिन्दीवालों के असली, सच्चे और अधिकृत विचार हैं। उनमें से कुछ देखिए—

१९३४ के इंदौर अधिवेशन के प्रस्ताव (संख्या ७) में उसने कहा—

> "यह सम्मेलन हिन्दी के लेखक और विद्वानों का ध्यान दक्षिण भारत की ओर आकर्षित करता है और अनुरोध करता है कि वे दक्षिण भारत की भाषाओं का भी अन्य भाषाओं के समान अध्ययन करके दक्षिण भारतीय उच्च भावों का समावेश हिन्दी साहित्य में करें।"

प्रस्ताव १८ का अंतिम अंश—

> "साथ ही यह सम्मेलन यह भी स्पष्ट करता है कि (हिन्दी) भाषा के प्रचार का उद्देश्य केवल यह है कि उसके द्वारा अंतःप्रान्तीय संबंध दृढ़ हों। उसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति में किसी प्रकार का आघात पहुँचे।"

अबोहर (१९४०) सम्मेलन का प्रस्ताव संख्या ४ कहता है—

"राष्ट्रीय सजगता के विस्तार और राष्ट्रीय भावना के उत्थान के साथ-साथ हिन्दी का राष्ट्रीय रूप दिन-दिन विकसित हो रहा है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये हुए तथा भिन्न-भिन्न प्रभावों से उत्पादित नये शब्दों का भी इसमें धीरे-धीरे स्वभावतः समावेश होगा। जीवित, क्रियाशील तथा हिन्दी की सार्वभौमिक प्रतिनिधि संस्था के कर्तव्यपालन में सम्मेलन इस विकास का आवाहन और स्वागत करता है।"

मुख्य मन्त्रीजी और उनके समान हिन्दी आन्दोलन की भावना और उद्देश्यों से अनजान लोगों का ध्यान हम विशेष रूप से अबोहर के नवें प्रस्ताव की ओर आकर्षित करते हैं—

"राष्ट्रभाषा होने के कारण प्राचीन समय से हिन्दी सब प्रान्तीय भाषाओं की बहन है, और उसके और छोटी बहनों के स्वरूप में माता (संस्कृत) का अमर सौन्दर्य झलकता है। बहनें एक दूसरे के रूप में अपना रूप भी देखती हैं। उनका आपस का प्रेम स्वाभाविक है। बड़ी बहन छोटी बहनों के अधिकार सुरक्षित रखती है। उसका अपना घर सब बहनों को आपस में मिलने, और मिलकर राष्ट्रोपासना करने की सुविधा देता है।"

स्थानाभाव के कारण हम और अधिक प्रमाण नहीं दे रहे। ये 'हिन्दीवालों' के 'आचरण' और 'क्रियाकलाप' के प्रेरक तत्त्व और सिद्धान्त हैं जिन पर वे सदैव चलते रहे हैं। कोई उत्तरदायी और प्रबुद्ध हिन्दीवाला यह मूर्खतापूर्ण माँग न करेगा कि (हिन्दी के कारण) "दूसरी (भारतीय) भाषाओं को उनके दर्जे से मरहूम (महरूम ?) रखा जाय।" केवल वे लोग जो हिन्दी और हिन्दीवालों के विरुद्ध पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं उन पर इस प्रकार का गलत आरोप लगावेंगे। हम हिन्दीवालों पर उनके इस आधारहीन आक्षेप को अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समझते हैं और उसका तीव्र विरोध करते हैं।

मुख्य मन्त्रीजी ने पूछा है कि "क्या लोहिया वाला भाषा सम्बन्धी गुस्सा वाजिब था ?" लोहियाजी देश के अति उच्चस्तर के मौलिक चिन्तक, विचारक, अप्रतिम विद्वान् और बुद्धिवादी थे। किन्तु वे मुख्य मन्त्रीजी ही की तरह सबसे पहले राजनीतिज्ञ थे, और उतने ही 'हिन्दी वाले' थे जितने मुख्य मंत्रीजी हैं। राजनीतिज्ञ की बातें और भाषा राजनीतिज्ञ ही समझ सकते हैं। 'खग जाने खग ही की भाषा।' चाहिए तो यह था कि हम 'केवल' हिन्दी वाले आप ऐसे राजनीतिज्ञ से दूसरे राजनीतिज्ञ के वक्तव्य या गुस्से का कारण पूछते। हम 'हिन्दी वाले' लोहियाजी के वक्तव्यों और क्रिया कलापों के किस प्रकार उत्तरदायी हो सकते हैं जो आप हमसे उनकी कही बातों का जवाब तलब करते हैं ? यदि आपको उनके कथन पर आपत्ति थी तो आपको उसी समय (या जब वे जीवित थे) उनसे इस सम्बन्ध में प्रश्न करना था। वे आपका उचित समाधान कर देते। खुदा के लिए हुजूर हम बेचारे हिन्दी वालों को राजनीतिज्ञों की कथनी और करनी के लिए जिम्मेदार न बनाइए। हम दलित और उपेक्षित हिन्दी वालों को तो आपने फ़ारसी के कवि अनवरी की तरह बना दिया है, जिसने अपने दुर्भाग्य के सम्बम्ध में कहा था :

हर बलाए कज़ आस्माँ आयद
गर्चे बर दीगराँ क़ज़ा बाशद
बर ज़मीं नारसीदा मी पुर्सद
खानए अनवरी कुजा बाशद ?

इसका आशय यह है कि आसमान से हर बला जो किसी के लिए भी भेजी गयी हो, ज़मीन पर उतरते-न-उतरते पूछने लगती है कि अनवरी का मकान कहाँ है ?

'आन करै कोउ कर्म अरु आन पाव फल-भोग' वाला अंधेर मत कीजिए। 'तबेले की हर बला बन्दर के सिर' वाली कहावत को हिन्दीवालों पर चरितार्थ न कीजिए।

इस सिलसिले में क्या आप हमें भी एक प्रश्न करने की अनुमति देंगे ? यह प्रश्न आपके ही दल के एक नेता से सम्बन्ध रखता है। क्या केन्द्रीय सरकार के गृह-विभाग के हिन्दी सम्बन्धी एक आदेश के विरोध में आपके दल के एक प्रमुख मन्त्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम् का त्यागपत्र देना वाजिब था ?

यह टिप्पणी काफी लम्बी हो गयी है। इसलिए हम आपके अन्य आक्षेपों का उत्तर संक्षेप ही में देंगे। हमारी सम्मति में आपके कई आक्षेप चालू इतिहास को गलत दृष्टि से देखने के कारण किये गये हैं। तमिलनाडू में द्रमुक सरकार हिन्दी विरोध के कारण शक्ति में नहीं आयी। तमिल के द्रमुक और कांग्रेसी नेताओं में हिन्दी के सम्बन्ध में दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है। श्री करुणानिधि और श्री सुब्रह्मण्यम् के हिन्दी सम्बन्धी रुख में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वहाँ की द्रमुक सरकार का इतिहास आपको 'जस्टिस पार्टी' की स्थापना से अध्ययन करना चाहिए। वहाँ वास्तविक विरोध उत्तर भारत और उत्तर भारत की प्रत्येक वस्तु से है। संस्कृत तो हिन्दी नहीं है। फिर वे संस्कृत के इतने विरोधी क्यों हैं कि उन्होंने तमिल-नाड् के मन्दिरों में संस्कृत श्लोकों से अर्चना बन्द करके तमिल में अर्चना करने का आदेश दिया है ? क्या वे इतने अज्ञानी हैं कि वे संस्कृत और हिन्दी का भेद नहीं जानते ? रामस्वामी नायकार ने सड़कों पर सार्वजनिक रूप से भगवान् राम की प्रतिमा पर जूतों और चप्पलों से प्रहार कर उनका अपमान किया। क्या यह हिन्दी विरोध के कारण था ? और तो और, वहाँ लोगों ने खुले आम हमारे चक्रांकित राष्ट्रध्वज को जला कर सारे राष्ट्र का अपमान किया। क्या यह भी हिन्दी विरोध के कारण था ? आपकी वाग्मिता हम हिन्दीवालों के काल्पनिक 'आचरण और क्रियाकलापों' पर तो बड़ी प्रखर हो गयी, किन्तु तमिल के उपर्युक्त क्रिया-कलापों पर आपकी बोलती बन्द हो गयी थी। ऐसे गम्भीर आपत्तिजनक क्रिया-कलापों पर आप क्यों नहीं बोले ? यदि वास्तव में आप द्रमुक की सफलता का कारण हिन्दी विरोध को समझते हैं तो न आप वहाँ की समस्या का ठीक निदान ही कर सकेंगे और न उसका उचित समाधान। तमिलनाडू में उत्तर के विरुद्ध कई दशकों से जो घृणा फैलायी जा रही है, उसका शिकार वहाँ हिन्दी भी हुई है। वह द्रमुक सरकार बनने का कारण नहीं, उस सरकार का शिकार हुई है। किन्तु हमें तमिल की जनता और तमिल के राजनीतिक नेताओं में अन्तर करना चाहिए, और हम हिन्दी वाले वह अन्तर करते हैं। इसीलिए हमलोगों ने उनके अत्यन्त उत्तेजक कार्यों की जवाबी प्रतिक्रिया अपने यहाँ नहीं होने दी। हमें सामान्य तमिलभाषी की हिन्दी के प्रति सद्भावना में विश्वास है। यदि आप उसे जानना चाहें तो पता लगावें कि अब तक कितने लाख तमिलभाषियों ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं, और आज भी प्रतिवर्ष कितने हजार तमिलभाषी उन परीक्षाओं में बैठते हैं। और मजा यह है कि जो नेता हिन्दी के विरुद्ध चिल्लाते हैं, वे स्वयं ही हिन्दी सीखते हैं। रामस्वामी नायकर और स्वर्गीय श्री अन्नादुराईजी द्रमुक के संथापक और स्तंभ थे, और दोनों ही ने हिन्दी सीखी थी और वे हिन्दी अच्छी तरह से जानते थे। यदि राजनीतिज्ञों ने अपनी लपेट में हिन्दी को न ले लिया होता तो आज स्थिति वहाँ दूसरी ही होती। किन्तु हम हिन्दीवाले भविष्य के लिए आश्वस्त हैं क्योंकि हमें अपने तमिल भाइयों के हृदय की स्वच्छता और सद्भावना में पूरा विश्वास है।

पाकिस्तान को उर्दू ने दो टुकड़ों में तोड़कर नहीं रख दिया। बाँगला देश के स्वतन्त्रता संग्राम के बहुत पहले ही पाकिस्तान ने उर्दू के साथ बँगला को भी राजभाषा बना दिया था। यहाँ तक कि लाहौर आकाशवाणी से राजभाषा होने के कारण समाचार आदि बँगला में भी प्रसारित होते थे। पूर्वी बंगाल में

तो सारा राजकाज बँगला में ही होता था। बाँगला-युद्ध के बहुत पहिले भाषा की समस्या हल हो चुकी थी, वह तब तक मृत समस्या (डैड इशू) हो चुकी थी। बाँगला स्वतन्त्रता-संग्राम के कारण राजनीतिक और आर्थिक थे। यदि केन्द्रीय संसद में जनसंख्या के अनुपात से पूर्वी बंगाल को बहुमत मिल जाता तो यह समस्या इतना उग्र रूप धारण न कर लेती। बाँगला स्वतन्त्रता-संग्राम में उर्दू की कहीं चर्चा भी न थी। अतएव आपका यह कहना कि उर्दू की ज़िद ने पाकिस्तान को दो टुकड़ों में तोड़ कर रख दिया, ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है। अवश्य ही आरम्भ में उर्दू पर बल दिया गया था, किन्तु बाद में बंगालियों को इस मामले में संतुष्ट कर दिया गया था।

हम न "हिन्दियाना" चाहते हैं और न अन्य भारतीय भाषाओं को उनके पदों से वंचित करना चाहते हैं। आपका दल कम्युनिस्टों के साथ है। रूस आपका आदर्श है। सोवियत संघ को रूस ने रूसियाया? उसकी प्रक्रिया यह थी कि प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा को उसने उन्नत और विकसित किया, किन्तु देश की एकता के लिए सबको रूसी भाषा भी पढ़ायी। हम हिन्दीवाले इससे अधिक कुछ नहीं चाहते। हम नहीं जानते कि 'उर्दूयाने' से आपका क्या तात्पर्य है। 'हिन्दियाना' शब्द आपके श्रीमुख से निकलने से पहले हमने सुना नहीं था। यह शब्द आपकी हिन्दी को देन है। हम उसका अर्थ भी नहीं समझे। पर हमारा उद्देश्य और आकांक्षा यही है कि भारत में हिन्दी की स्थिति वही रहे जो सोवियत संघ में रूसी भाषा की है।

यह कथन कि हरियाना और पंजाब में हिन्दी की लड़ाई उर्दूवालों ने लड़ी—जितना भ्रमात्मक है, उतना ही आधारहीन है। उत्तर प्रदेश में हिन्दी देवनागरी स्वीकार कराने की लड़ाई भारतेन्दु, महामना मालवीयजी, राजा रामपाल सिंह, बाबू तोताराम आदि ने—यहाँ तक कि नागरी प्रचारिणी सभा ने भी लाट साहब को अंग्रेजी में मैमोरियल देकर, हंटर कमीशन के सामने अंग्रेजी में साक्ष्य देकर, अंग्रेजी पत्रों में लेख लिखकर लड़ी, क्योंकि सरकार वही भाषा समझती थी। अंग्रेजी में लड़ने के कारण हिन्दी की यह लड़ाई उत्तर प्रदेश में "अंग्रेजीवालों" ने नहीं लड़ी, और न हमें—हिन्दीवालों को—उसके लिए उन्हें 'शुक्रिया कहने' की जरूरत है। उसी प्रकार ऐतिहासिक कारणों से हरियाना, हिमाचल प्रदेश और पंजाब पर एक शती तक उर्दू लदी रही और सामान्य शिक्षा केवल उर्दू में दी जाती थी। अतएव हिन्दीभाषियों और हिन्दवालों को भी जबर्दस्ती उर्दू पढ़नी पड़ती थी। भारतमित्र के प्रसिद्ध सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त हरियाने के थे और उन्हें उर्दू ही की शिक्षा लेनी पड़ी थी। इसलिए हिन्दीवालों को भी विवश होकर अपनी बात उस जनता को समझाने के लिए जो हिन्दीभाषी थी, पर जिसे जबर्दस्ती उर्दू सीखनी पड़ी थी और जो उस समय केवल उर्दू लिख-पढ़ सकती थी, किन्तु उर्दू की विरोधी थी, उर्दू समाचार-पत्रों के द्वारा कहनी पड़ती थी। यहाँ तक कि "आर्य-भाषा" के घोर प्रचारक आर्यसमाज को भी परिस्थितिवश पंजाब में अपना प्रचार उर्दू पत्र-पत्रिकाओं द्वारा करना पड़ा। किन्तु विवशता के कारण उर्दू का साधन इस्तेमाल करने से वे "उर्दूवाले" नहीं हो गये। वे वास्तव में हिन्दीवाले थे क्योंकि वे हिन्दीनिष्ठ थे। वे मजबूरी से उर्दू को साधन बनाये हुए थे। उन्हें "उर्दूवाला" कहना ऐतिहासिक गलती तो है ही, उनका अपमान भी है। हमने अंग्रेजी में भी पुस्तकें लिखी हैं, हमने उर्दू और फ़ारसी भी सीखी है। हम उनका अवसरानुकूल प्रयोग भी करते हैं, किन्तु इस कारण हमें 'अंग्रेजीवाला', 'उर्दूवाला' या 'फारसीवाला' नहीं कहा जा सकता। इसी तरह जो हिन्दीवाले विवशतावश उर्दू माध्यम में हिन्दी की लड़ाई अविभाजित पंजाब में लड़ रहे थे वे उर्दूवाले नहीं, थे, और इसलिए उस संघर्ष के लिए उर्दू वालों को कोई सुविधा अदा करने की बात नहीं उठती। हिन्दीवाला कौन है? हिन्दी बोलने या हिन्दी का अध्ययन मात्र करने से कोई

वाला नहीं हो जाता। हम नाम न लेंगे, किन्तु कितने ही लोगों को जानते हैं जो हिन्दी के विद्वान् हैं पर हिन्दी विरोधी हैं। हिन्दीवाला होने के लिए हिन्दी जानने की शर्त नहीं है। शर्त यह है कि उसमें हिन्दी के प्रति निष्ठा हो। पंजाब और हरियाना में जिन लोगों ने हिन्दी की लड़ाई लड़ी, वे हिन्दीनिष्ठ थे और इसलिए हिन्दीवाले थे।

हमें खेद है कि हमने इस टिप्पणी में सरस्वती का इतना स्थान ले लिया और फिर भी हम इस सम्बन्ध में जितना लिखना आवश्यक समझते थे उसका एक अंश ही लिख पाये। किन्तु "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" कम से कम स्वतन्त्र विचार के और सरकार की कृपा के आकांक्षी न रहनेवाले हिन्दीवालों की ओर से प्रतीक रूप में मुख्य मंत्रीजी की भ्रमात्मक बातों पर कुछ कह सकने का संतोष हमें मिल गया। हम इतना ही पर्याप्त समझते हैं। हमें खेद है कि मुख्य मंत्रीजी ने ऐसा भाषण हिन्दी-दिवस ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर की एक हिन्दी सभा में दिया। उत्तर प्रदेश में हिन्दी उनके शासनकाल में कितना न्याय पा सकेगी, यह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है और भविष्य ही इसका उत्तर दे सकेगा।

खण्ड २

शिक्षा की भारतीय परिकल्पना

शिक्षा की भारतीय परिकल्पना

१. नैतिकता की और धर्म की शिक्षा	मार्च १९६०
२. राष्ट्रीय दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता	जनवरी १९६३
३. त्रिभाषा सूत्र की असलियत	जनवरी १९६५
४. राजभवन की सिगरेटदानी और गणेशजी	मार्च १९६६
५. यह दयनीय मानसिक दासता	मई १९६६
६. तमिलनाड की सांस्कृतिक स्थिति	फरवरी १९६८
७. नैतिक मूल्यों की उपेक्षा	दिसम्बर १९६८
८. हिन्दू कौन है ?	जुलाई १९७०
९. ईश्वरचंद्र विद्यासागर की जयन्ती	नवम्बर १९७०
१०. पुरातत्त्व विभाग की प्रथम जन्म-शती	फरवरी १९७१
११. भगवान राम का अपमान	मार्च १९७१
१२. दो वीर देश	मई १९७२
१३. बुद्धिजीवियों को निमंत्रण	अप्रैल १९७३
१४. छत्रपति शिवाजी का ३००वाँ राज्यारोहण वर्ष	मई १९७४
१५. जब जड़ ही में कीड़े लग जायँ	जनवरी १९७५

●

नैतिकता की और धर्म की शिक्षा

भारत सरकार ने कुछ दिनों पहिले महामान्य श्री श्रीप्रकाशजी की अध्यक्षता में धार्मिक और नैतिक शिक्षा समिति नाम की एक समिति नियुक्त की थी। यद्यपि इस समिति के साथ 'धर्म' का नाम भी जुड़ा हुआ था, तथापि समिति को जो काम सौंपा गया था उसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया था—"शिक्षा संस्थाओं में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों (गुणों) की शिक्षा देने के निर्धारित प्रबंध करने की वांछनीयता और साध्यता पर विचार करना।" धर्म-निरपेक्ष होने के कारण भारत सरकार धार्मिक शिक्षा देने का विचार ही नहीं कर सकती। किन्तु इधर इस देश के लोगों का चरित्र जिस तेजी से गिर रहा है, उससे उसका चिन्तित होना भी स्वाभाविक है। इस समिति ने स्थिति की गंभीरता को स्वीकार करते हुए अपने प्रतिवेदन में लिखा है—"हमें यह कहना पड़ता है कि जिन अनेक रोगों से आज हमारा शिक्षा-संसार और समाज पीड़ित है उनका कारण यह है कि हमारे देशवासियों के हृदयों पर से धर्म के मूल सिद्धान्तों का प्रभाव दिनोंदिन क्षीण होता चला जा रहा है।" किन्तु समिति ने इस ह्रास के कारणों को स्पष्ट करने या उनका विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं समझी। उसकी सम्मति में "शिक्षा के आरम्भ से ही विद्यार्थियों को सच्चे नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए।" हम ऐसे किसी विद्यालय को नहीं जानते जहाँ सच बोलने, ईमानदारी बरतने आदि के उपदेश न दिये जाते हों। कुछ विद्यालयों में तो धर्म के दश लक्षण याद भी करा दिये जाते हैं। किन्तु फिर भी विद्यार्थियों पर इस शिक्षा का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। केवल शिक्षा देने से,

खड़े होकर यंत्रवत् सामूहिक प्रार्थना करने से या व्याख्यानों से कोई व्यक्ति नैतिक नहीं बनाया जा सकता। हमारे देश में लोगों को मौखिक शिक्षा पर दयनीय विश्वास है। वे समझते हैं कि यदि कोई बात पढ़ा भर दी जाय तो विद्यार्थी उसे ग्रहण ही न कर लेगा, परन्तु उसके अनुसार काम भी करने लगेगा। वे भूल जाते हैं कि कभी-कभी सत्य बोलने से जो हानि उठानी पड़ती है, या जो कष्ट भोगना पड़ता है, उसे व्यक्ति तभी सहन करने को तैयार होता है जब सत्य उसके जीवन का अंग बन गया हो और जब दृढ़ धार्मिक विश्वास के कारण उसमें सत्य की निष्ठा के लिए सब कुछ बलिदान करने की शक्ति उत्पन्न हो गयी हो। नास्तिक व्यक्ति भी चरित्रवान् हो सकते हैं, और हुए हैं; किन्तु वे अपवाद हैं। बिना धर्म के आधार के नैतिक बना रहना यद्यपि असंभव नहीं, तथापि साधारण व्यक्ति के लिए दुष्कर है। 'पाप' और 'पुण्य' तथा 'धर्म' और 'अधर्म' की भावनाएँ धार्मिक विश्वासों पर—'कर्म', 'लोक-परलोक', 'स्वर्ग-नरक' आदि से सम्बन्धित विश्वासों पर—आधारित हैं। वे ऐसे मूर्त कारण हैं जो साधारण व्यक्ति को ठीक रास्ते पर चलने को प्रेरित करते हैं। जो नैतिकता "नैतिकता के लिए" अर्थात् निष्काम भाव से की जाती है, जिसमें व्यक्ति को परलोक या दूसरे जन्म में उसका कोई फल मिलने की बात नहीं होती, वह बहुत ऊँची है और साधारण व्यक्ति की समझ, व्यवहार और पहुँच से बाहर है। अतएव जन साधारण के लिए कोई ऐसी नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षा जिसका आधार कोई धर्म न हो, अव्यावहारिक है क्योंकि साधारणतः उसका कोई फल नहीं होता। उससे लोग केवल तोते की तरह नैतिकता की बातें दुहराना सीख जाते हैं। वे जीवन में उन्हें नहीं उतार पाते। हमारी सरकार 'धर्म' से अलग है। वह 'रोटी' "उच्च जीवन स्तर" "भौतिक समृद्धि" का लक्ष्य ही जनता के सामने रखती है। ये सब चीजें आवश्यक हैं, किन्तु इन पर आज इतना बल दिया जाता है कि सामान्य व्यक्ति उन्हीं को 'येन केन प्रकारेण' प्राप्त करना जीवन की सार्थकता समझता है। जब तक राष्ट्र के जीवन में भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समन्वय नहीं होता, और जब तक हमारे नेता भौतिक चीजों पर एकांगी जोर दिये जाते हैं, तब तक नैतिक उन्नति की आशा व्यर्थ है—और वह भी जब समय-असमय 'धर्म' को 'अन्धविश्वास, प्रतिक्रियावादिता, रूढ़िवाद, दकियानूसी' आदि कहकर लोगों में उसके प्रति बराबर अवज्ञा उत्पन्न की जाती हो। समिति का कहना है कि विद्यार्थियों को सब धर्मों के सिद्धान्त सिखाये जाने चाहिए जिससे उनमें धार्मिक सहिष्णुता उत्पन्न हो और इसके लिए उसने स्वर्गीय डॉ० भगवानदास के 'सर्वधर्मसमन्वय' और मौलाना अबुल कलाम 'आजाद' के 'तर्जमानुल कुरान' (कुरान की टीका) का नाम लिया है। हमारा दृढ़ मत है कि इस देश में बहुत से अन्य देशों की अपेक्षा धार्मिक सहिष्णुता अधिक है। यहाँ उस प्रकार के कोई आंदोलन नहीं हुए जैसे कुछ 'सभ्य' देशों में यहूदियों के विरुद्ध हुए हैं। न यहाँ दूसरे धर्मावलंबियों के लिए वे भावनाएँ ही हैं जो "काफिर" "हीदन" आदि शब्दों के प्रचुर प्रयोग से व्यक्त होती हैं। वास्तव में इस देश में उदारता का अतिरेक है। इस देश में धार्मिक सहिष्णुता की बात करना यहाँ के लोगों के चरित्र और स्वभाव के प्रति अन्याय है। यहाँ जो भी धार्मिक झगड़े हुए हैं वे अधिकतर धार्मिक नहीं, प्रत्युत राजनीतिक रहे हैं। हमारे गाँवों में करोड़ों भिन्न धर्मावलंबी सैकड़ों वर्षों से मिलजुल कर रहते आये हैं। उन्हें धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा नहीं मिली थी, न उन्हें 'धर्मसमन्वय' या 'तर्जुमानुल कुरान' ही पढ़ाया गया और न उन्हें पढ़ाने की आवश्यकता ही थी। इस समिति ने कुछ अच्छी बातें कही हैं, किंतु समस्या का कोई संतोषजनक समाधान नहीं किया। उसने सुझाव दिये हैं कि छोटे स्कूल में आरंभ में कुछ मिनिट "ग्रूप सिंगिग" (सामूहिक गान) हो। हम इसे समझने में असमर्थ हैं कि 'ग्रूप सिंगिग' से "नैतिक" शिक्षा कैसे मिल सकती है। इसी प्रकार धार्मिक नेताओं के जीवनचरित्र पढ़ाने, भिन्न-भिन्न धर्मों की पुस्तकों के उद्धरणों के अध्ययन, संसार-प्रसिद्ध पुस्तकों के उद्धरणों आदि से विद्यार्थियों की

जानकारी अवश्य बढ़ेगी, किन्तु यह संदेहास्पद है कि उनसे उनके नैतिक व्यवहार पर भी कोई वांछित असर पड़ेगा। अंगरेजी में कहा जाता है कि "ज्ञान ही शक्ति है" (नॉलेज इज़ पॉवर), किन्तु ज्ञान तभी शक्ति हो सकता है जब उसका व्यवहार किया जाय। नहीं तो हम वाचालु और जानकार लोग ही उत्पन्न करते चले जायँगे जिनकी कथनी और करनी में कोई सामंजस्य नहीं होगा। हम ज्ञान और जानकारी के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु वही पर्याप्त नहीं है। हमें इतनी आवश्यकता अच्छे जानकारों (well-informed) की नहीं है जितनी चरित्रवान (well-formed) लोगों की। इस समिति ने दुर्भाग्य से जानकारी पर ही बल दिया है, और मनुष्य की प्रकृति के उन मूल स्रोतों को जाग्रत और सक्रिय करने के उपाय नहीं बतलाये जो हमारे कार्य और व्यवहार को परिचालित करते हैं, और जिनसे हमारे चरित्र का निर्माण होता है।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता

•

राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने अभी हाल में कहा है कि उत्तर-पूर्वी सीमान्त में हमारी जो पराजय हुई है वह हमारे लिए खेद, लज्जा और अपमान की बात है। हमारे हृदयों की भावना और वेदना राष्ट्र-पति की वाणी में मुखर हो उठी है। इस लज्जा और अपमान ने इस सद्यः स्वतन्त्रता-प्राप्त प्राचीन गौरव-शाली देश की आत्मा को इतना झकझोर दिया है कि हम आत्म-चिन्तन के लिए विवश हो गये हैं। प्रधान-मन्त्री ने भी चीनी आक्रमण के बाद कहा था कि भारत अभी तक अपने ही बनाये कल्पित लोक में पड़ा हुआ था। इस आक्रमण ने हमें वास्तविकता का साक्षात्कार करा दिया है। वह कल्पित जगत् कौन-सा है ? हम सैनिक दृष्टि से क्यों इतने निर्बल हो गये ? हमारे राष्ट्रीय जीवन में ऐसा कौन-सा सिद्धान्त या आदर्श आ गया है जो हमें सैनिक दृष्टि से बलवान होने से रोकता है ? हमारे सिपाही वीर हैं। हमारे पास धन-जन की कमी नहीं है। हमारे यहाँ प्रतिभाशाली और तीव्र बुद्धि के व्यक्तियों की भी प्रचुरता है। इन सबके बावजूद हम युगों से अपनी सैनिक शक्ति ऐसी न कर सके कि जिसके कारण आक्रमण करने की इच्छा करनेवालों का हम पर आक्रमण करने का साहस न होता। यह एक ऐसा मौलिक प्रश्न है जिस पर आज निर्मम तटस्थता से विचार करने की बड़ी आवश्यकता है।

एक बात जो सहसा हमारे सामने आ जाती है वह यह है कि हम युद्ध को बर्बरता का चिह्न समझते रहे हैं। शायद यह ठीक भी है, किन्तु सारा संसार उस बर्बरता से आक्रान्त है। हम अपने को इतना सभ्य और सुसंस्कृत समझने लगे कि हमने युद्ध को बर्बर समझकर वास्तविकता से आँख मूँद ली। हम सात्त्विक, विचारशील और स्व नदर्शी लोगों के चरम आदर्श शान्ति के पुजारी ही नहीं, उसके श्रीमहन्त बन बैठे। हम प्रत्येक सम्भव और असम्भव अवसर पर 'शान्ति'-पाठ करते हैं। ''द्यौः शान्तिः, पृथ्वी शान्तिः आपः शान्तिः।'' इस शान्ति के अतिरेक को इसकी बहिन 'अहिंसा' ने अपूर्व बल और सहारा दिया। वैष्णव, जैन, बौद्ध—प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण धर्म जो भारत में उत्पन्न हुए—अहिंसा के मामले में प्रायः एकमत मालूम होते हैं। बौद्ध-अहिंसा भारत के बाहर जाकर वहाँ के वातावरण में अपंगु और निर्बल हो गयी, किन्तु भारत के शान्तिमय वातावरण में वह हास्यास्पद और भयंकर सीमा तक पहुँच गयी। व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा एक सीमा तक बड़ी वांछनीय है। आध्यात्मिक जीवन के लिए तो वह परमावश्यक है। किन्तु हमने उसे राष्ट्रीय जीवन का आदर्श और अंग बना डाला, और यह न सोचा कि अपनी भौतिक उन्नति के बावजूद संसार अभी तक अपनी पशुता पर विजय नहीं पा सका है। हमने इस बात का विचार नहीं किया कि जब संसार के सारे राष्ट्र पशुबल में विश्वास करते हैं, तब केवल एक देश के अहिंसा के ऊँचे आध्यात्मिक सिद्धान्त पर चलने से उसकी क्या दशा होगी। व्यक्तिगत जीवन में भी हम अहिंसा को नहीं उतार सके। अहिंसा का अर्थ केवल 'रक्त न बहाना' ही नहीं है, आध्यात्मिक दृष्टि से उसका अर्थ 'दूसरों से घृणा न करना' और अपने विरोधियों से भी बन्धुत्व का भाव बनाये रखना है। हम सभी जानते हैं कि हम इसमें कितने विफल रहे हैं। किन्तु जिस आदर्श सिद्धान्त को व्यक्तिगत जीवन में भी नहीं उतारा जा सका, उसे हमारे देश ने राष्ट्रीय जीवन में लागू करने का मन्तव्य किया। यह दशा आज से नहीं, युगों से चली आ रही है।

यह कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत काल में हमारी सैनिक शक्ति का जो वर्णन है, वह कोरी कविकल्पना है। रघु की दिग्विजय को भी लोग उसी प्रकार मनगढ़न्त कहकर टाल सकते हैं। किन्तु जब इस देश के प्रामाणिक इतिहास का पर्दा उठता है तब हम देखते हैं कि उस समय की संसार की सबसे बड़ी सैनिक शक्ति से हमारी टक्कर हुई। संसार-विजेता सिकन्दर महान् की विजयवाहिनी के दाँत एक मांडलिक राजा पुरु ने ऐसे खट्टे कर दिये कि उसका आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। उसके बाद उसी के एक विजयी सेनापति सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त ने ऐसी करारी हार दी कि उसने अपनी पराजय की स्वीकारोक्ति अपनी राजकुमारी का उससे विवाह करके की। यह निर्विवाद है कि उस समय ग्रीक सेना संसार की सर्वश्रेष्ठ सेना थी। उसने सारे पश्चिमी एशिया को ही नहीं, ईरान की महान् और शक्तिशाली सेना को भी हराया था। और उस समय हमारी सैनिक शक्ति इतनी प्रबल थी कि हमने उससे बराबर की टक्कर ही नहीं ली, उसे परास्त भी कर दिखाया।

चन्द्रगुप्त मौर्य की वही प्रथम श्रेणी की सेना अशोक को उत्तराधिकार में मिली। उसकी मुठभेड़ कलिंग की शक्तिशाली सेना से हुई। वहाँ भी उसकी विजय हुई। इस प्रकार सेना की रणकुशलता फिर प्रमाणित हुई। किन्तु अन्त में अशोक ''अहिंसा'' के ''मुरीद'' हो गये। उन्होंने अहिंसा के धर्मचक्र-प्रवर्तन करनेवाले चक्र को अपने स्तम्भ-शिखर पर स्थान दिया। वे ''देवानांप्रिय'' बन गये। धर्म की विजय करने लगे। उस विजय के लिए योद्धाओं की जगह भिक्खुओं की सेना की आवश्यकता थी। मौर्यों की अनुपम सैनिक शक्ति को अहिंसा-जनित उपेक्षा के कारण जंग लग गयी। तत्कालीन राष्ट्र-नायकों का ध्यान लौकिक वास्तविकता से हटकर एक कल्पित आदर्श में लग गया। अहिंसा की अंधभक्ति ने हमारी सैनिक शक्ति का ह्रास कर दिया।

तब से किसी न किसी रूप में अहिंसा हमारे चेतन और अवचेतन में गहरी पैठ गयी है । बीच-बीच में कई बार इसकी प्रतिक्रिया हुई । शकारि विक्रमादित्य ने अहिंसा को ताख पर रखकर शकों से देश की रक्षा की । मंदसौर का कीर्तिस्तंभ आज भी विदेशियों पर यशोधर्मन की विजय का साक्षी है । गुप्त सम्राटों ने भी अहिंसा को तिलांजलि देकर अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी । वे वैष्णव थे जिनका विश्वास अहिंसा में स्वाभाविक है, किन्तु उन्होंने "हरे मुरारे मधुकैटभारे" कहकर भगवान् विष्णु के आततायी-नाशक और अत्याचारी-संहारक रूप की आराधना करके अपनी वैष्णवी-हिंसा को उचित ठहराया, और सैनिक बल को राष्ट्रीय जीवन में पुनःप्रतिष्ठित किया । किन्तु देश में हर्ष के युग से अहिंसा का फिर बोलबाला हुआ । और मुसलमानों के आगमन के समय तक तो सारे देश में, विशेषकर मध्य और पूर्वी भारत में, अहिंसा का ऐसा जोर हो गया था कि राजाओं ने सेना तक रखना छोड़ दिया था । कहते हैं कि बख्तियार खिल्जी केवल मुट्ठी भर सवारों को लेकर बंगाल तक नरसंहार करता चला गया । उसने नालंदा का विश्वविद्यालय ध्वस्त करके जला दिया । अहिंसा की बलिवेदी पर राष्ट्र ने अपनी शक्ति का बलिदान करके, स्वयं अपने को दूसरों की हिंसा का सहज शिकार बना डाला ।

लम्बी पराधीनता ने, और हमारी असहाय अवस्था ने, हमें अपने शक्तिशाली अंग्रेज प्रभुओं से लड़ने के लिए, "अहिंसा" का अस्त्र ग्रहण करने को विवश किया । किन्तु जिस सिद्धान्त को हमने पराधीनता की असहायावस्था में स्वीकार किया था, उसका राग हम स्वतन्त्र होने के बाद की उस परिवर्तित स्थिति में भी अलापते रहे जब हमें शक्ति संचय की, और राष्ट्र के तेज, बल और शक्ति बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता थी । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद "अहिंसा" में हमारा विश्वास इतना दृढ़ हो गया था कि हमने अपने राष्ट्रीय ध्वज पर उस अशोक के धर्मचक्र को रखकर अपने को गौरवशाली समझा जिसने उत्तराधिकार में पायी हुई तत्कालीन संसार की सर्वोत्तम सेना को अपनी उपेक्षा से पंगु और निकम्मा कर दिया था । आज भी, जब हम चीन से लड़ रहे हैं, हमारे कितने ही नेता बीच-बीच में अहिंसा का बेसुरा राग अलापने और शान्ति सेना बनाने की बात करने लगते हैं ।

यदि हम कल्पनालोक में अब और अधिक विचरण नहीं करना चाहते, यदि हम देश को सचमुच ऐसा शक्तिशाली बनाना चाहते हैं कि विस्तार और लूट की कामना करनेवाले दुराचारी हमारी ओर आँख उठाने का साहस न करें, तो हमें अपने दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन करने की आवश्यकता पर गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा । आध्यात्मिक जगत् में अहिंसा रहे । वह उसका उचित स्थान है । किन्तु सोचने की बात है कि क्या उस क्षेत्र में, जिसमें राष्ट्र के जीवित रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, अहिंसा का घुसना उसका अनधिकार प्रवेश नहीं है ? हमने इस बात पर कभी विचार नहीं किया कि युद्ध की भावना जीवित रखने से राष्ट्र को कुछ लाभ भी होता है । हम सृजनात्मक बातों की चर्चा करते समय यह भूल जाते हैं कि इतिहास में राष्ट्रों ने युद्धकाल ही में सबसे अधिक भौतिक विकास और सृजन भी किया । पेरिक्लीज़ के समय का ग्रीस अपने इतिहास में सबसे अधिक युद्धशील और युद्धरत रहा । किन्तु उसी समय वह सबसे अधिक सृजनशील भी था । गुप्तकाल युद्धों का युग था, किन्तु वह हमारी कला और साहित्य का ऐसा सृजनशील युग था कि वह 'स्वर्णयुग' कहलाता है । नैपोलियन के समय के फ्रांस, एलिजाबेथ के समय के इंगलैण्ड, अकबर के समय के भारत, शाह अब्बास के समय के ईरान, या इतिहास के अन्य उदाहरण ले लीजिए । स्पष्ट दीख पड़ता है कि जब कोई राष्ट्र युद्धशील रहा, तब वह सृजनशील भी रहा । दूर क्यों जायें, हमारे ही समय में युद्धशील योरप और अमरीका ने आश्चर्यजनक सृजनशीलता और भौतिक उन्नति कर दिखायी है, और जीवन के उच्च आदर्शों में भी वे पीछे नहीं हैं । अतएव हमें इस आपत-काल में विशेष रूप से गम्भीरतापूर्वक सोचना होगा कि क्या हम शक्ति और स्वतन्त्रता को कमजोर करनेवाली

अहिंसा को वरीयता दें। हम चन्द्रगुप्त मौर्य को आदर्श मानें या अशोक को? हम धर्म-निरपेक्ष रहते हुए एक धर्म-राज्य चलानेवाले राजा अशोक के धर्म-चक्र को अपना मार्गदर्शक मानें या एक दार्शनिक, तत्त्वज्ञानी और राजनीतिज्ञ के सुदर्शन-चक्र को? क्या इस पशुबल-प्रधान संसार में हम अहिंसा का पाठ पढ़कर अपनी स्वतन्त्रता बनाये रख सकते हैं? क्या 'अहिंसा' सैनिक उपायों का अवलम्बन करने में सदैव संशय उत्पन्न नहीं करती? क्या संशय उत्पन्न होने पर राष्ट्र के सैनिक-प्रयत्न, सैनिक मनोबल और विजय का संकल्प कमजोर नहीं हो जाते? हमें यह महान् वाक्य न भूल जाना चाहिए कि 'संशयात्मा विनश्यति।'

हम जानते हैं कि इस देश में अहिंसा के प्रति कोमल भावना इतनी गहरी पैठी हुई है कि उसके विरुद्ध कुछ भी कहना, अपने लिए मुसीबत मोल लेना है। किन्तु फिर भी हम अपने पाठकों के सामने अपने विचार इस आशा के साथ रखते हैं कि हमसे असहमत होते हुए भी कृपा करके उन पर निर्लिप्त और तटस्थ भाव से गम्भीरतापूर्वक विचार करें, क्योंकि हमारी दृष्टि में हम इस समय अपने राष्ट्रीय जीवन के ऐसे मोड़ पर आ गये हैं जहाँ हम इस गम्भीर प्रश्न की ओर से आँख नहीं मूँद सकते।

त्रिभाषा सूत्र की असलियत

केन्द्रीय मंत्री श्री चागला ने कुछ दिन पहिले कहा था कि अहिन्दीभाषी राज्य त्रिभाषा सूत्र का ईमानदारी से पालन कर रहे हैं, किंतु हिन्दीभाषी राज्यों ने उसका पालन नहीं किया। इस त्रिभाषा सूत्र के अनुसार हिन्दीभाषी राज्यों को भारत की मान्य भाषाओं में से किसी एक को पढ़ाना अनिवार्य है। उत्तर प्रदेश में अधिकांश स्कूलों में, इस सूत्र के अनुसार, संस्कृत पढ़ायी जाती है। अन्य भारतीय भाषाओं के पढ़ाने पर कोई रोक नहीं है। जहाँ किसी अन्य भारतीय भाषा के पढ़ाने का प्रबंध हो सकता है, वहाँ वह भी पढ़ायी जाती है। जो भाषा इस सूत्र के अंतर्गत पढ़ायी जाती है उसकी कक्षाओं में विद्यार्थियों का उपस्थित रहना तथा परीक्षा उत्तीर्ण करना अनिवार्य है। किन्तु अन्य राज्यों में क्या स्थिति है? बंगाल में माध्यमिक पाठशालाओं की दो-तीन कक्षाओं में हिन्दी पढ़ायी जाती है, किंतु वहाँ वह अनिवार्य नहीं है। एक वर्ष तो "मौखिक" हिन्दी की पढ़ायी होती है। शेष काल में अति सामान्य हिन्दी पढ़ायी जाती है। उसमें उत्तीर्ण होना अनिवार्य नहीं है। मदरास में विद्यार्थियों को हिन्दी की कक्षाओं में उपस्थित न रहने और परीक्षा न देने की छूट है। उसमें उत्तीर्ण होना भी आवश्यक नहीं है। मैसूर में तीन वर्षों से हाई स्कूल के विद्यार्थियों को हिन्दी की परीक्षा से मुक्त किया जा रहा है। वास्तव में इन राज्यों में हिन्दी केवल "नाम के लिए" पाठ्यक्रम में सम्मिलित है। यदि ये राज्य इस त्रिभाषा सूत्र का सचमुच पालन करने के इच्छुक होते तो विद्यार्थियों को उसकी कक्षाओं में उपस्थित रहने तथा उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए बाध्य

करते। इन राज्यों को हिन्दी शिक्षकों के प्रशिक्षण और वेतन के लिए केन्द्र से सहायता मिलती है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान को भारत की ११ भाषाओं (संस्कृत और उर्दू को छोड़कर) के अध्यापकों का प्राप्त करना, उनको अपने कोश से प्रशिक्षित करना तथा उनके वेतन का भार सहन करना कितना कठिन है, इसपर आलोचक विचार नहीं करते। ज्यों-ज्यों अन्य भाषाओं के अध्यापक उपलब्ध होते जायँगे त्यों-त्यों उन भाषाओं का अध्यापन भी आरंभ किया जायगा। तब तक यदि संविधान द्वारा अनुमोदित संस्कृत का अध्यापन किया जाता है तो त्रिभाषा सूत्र की अवज्ञा कैसे हुई? त्रिभाषा सूत्र में न तो यही कहा गया है कि उसके अंतर्गत संस्कृत नहीं पढ़ायी जा सकती, और न यह कहा गया है कि केवल दक्षिण भारत की भाषाएँ पढ़ायी जा सकती हैं। हम चाहते हैं कि हिन्दीभाषी राज्यों के विद्यार्थियों में से कुछ बँगला, कुछ गुजराती, कुछ मराठी, कुछ असम, कुछ उड़िया, कुछ पंजाबी और कुछ दक्षिण की कोई न कोई भाषा पढ़ें। त्रिभाषा सूत्र का मुख्य तर्क यह था कि अहिन्दीभाषी विद्यार्थियों को अंग्रेजी और मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी भी पढ़नी पड़ेगी। यदि हिन्दीभाषी कोई तीसरी भाषा न पढ़ेंगे तो अहिन्दीभाषी विद्यार्थियों की तुलना में उन्हें समय और परिश्रम की बचत होगी जो अहिन्दीभाषी विद्यार्थियों के प्रति अन्याय होगा। अतएव हिन्दी और अहिन्दीभाषी विद्यार्थियों पर "समान भार" रखने के लिए इस त्रिभाषा सूत्र की कल्पना की गयी थी। इसका प्रयोजन इतना ही था कि हिन्दीभाषी विद्यार्थियों को अपने अहिन्दीभाषी भाइयों की अपेक्षा अधिक सुविधा न मिलने पावे। इसलिए उन्हें भी तीन भाषाएँ पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया। श्री चंद्रभान गुप्त ने जो उत्तर श्री चागला को दिया है उसमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि त्रिभाषा सूत्र के अनुसार संस्कृत को पढ़ाने का अनुमोदन स्वर्गीय प्रधान मंत्री ने भी किया था। त्रिभाषा सूत्र में किसी आधुनिक भारतीय भाषा या दक्षिण की किसी भाषा को पढ़ाने का बंधन नहीं है। यह तो भावनात्मक एकता की दृष्टि से प्रस्तावित किया गया था।

उत्तर प्रदेश में त्रिभाषा सूत्र के अंतर्गत अधिकतर संस्कृत पढ़ायी जाती है क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से इस सूत्र को लागू करने के लिए संस्कृत के ही अध्यापक उपलब्ध थे। इससे सूत्र की भावना (कि हिन्दीभाषी विद्यार्थियों पर भी शिक्षा का उतना ही भार पड़े जितना अहिन्दीभाषी विद्यार्थियों पर हिन्दी पढ़ने के कारण पड़ेगा) पूरी तरह से पूरी हो गयी। उत्तर प्रदेश ने उसकी कक्षाओं में उपस्थिति और उत्तीर्ण होना अनिवार्य कर दिया जिससे विद्यार्थियों को काफी परिश्रम करना पड़ता है। किन्तु श्री चागला द्वारा प्रशंसित राज्यों में इस सूत्र के अनुसार पढ़ायी जाने वाली हिन्दी की क्या दशा है? क्या वहाँ के विद्यार्थियों पर हिन्दी पढ़ाने से उतना ही भार पड़ता है जितना हिन्दीभाषी विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से संस्कृत में परीक्षा उत्तीर्ण करने पर? यदि निष्पक्ष भाव से इस स्थिति पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दीभाषी राज्यों ने त्रिभाषा सूत्र का वास्तविक अर्थ में पालन किया है। यदि उसकी भावना को भंग किया है तो उन राज्यों ने जिन्होंने 'नाम के लिए' हिन्दी को तृतीय भाषा के रूप में रख छोड़ा है, किन्तु उसकी पढ़ाई को केवल दिखावटी और मज़ाक बना रखा है।

●

राजभवन की सिगरेटदानी और गणेशजी

•

'मूक होंहि वाचालु, पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन' के अनुसार संयोग से सरस्वती-सम्पादक को "भारत दैट इज़ इंडिया" के एक राजभवन की अतिथिशाला में ठहरने का दुर्लभ संयोग प्राप्त हो गया। एक तो राजभवन, और फिर उसकी अतिथिशाला। मूल्यवान् और कलापूर्ण मोटे गलीचों, सुन्दर उपस्करों और अद्यतन सोफासेटों से सज्जित। स्प्रिंगदार पलंग जिन पर दुहरे डनलिपपिलो रबड़ के ऐसे मोटे गद्दे कि उनमें सरस्वती-सम्पादक का हल्का शरीर भी बित्ते भर घुस जाय! गरम और ठंडे पानी के चलते हुए नल! कक्ष में सुंदर नयनाभिराम प्राचीन चित्रों की सजावट और मूर्तियों का प्रदर्शन! यद्यपि सरस्वती-सम्पादक सिगरेट नहीं पीते, तथापि राजभवन के कितने ही अतिथि धूम्रपान करते हैं। अतएव पलंग के पास एक सुन्दर छोटी मेज पर एक प्राचीन भारतीय पीतल की कलाकृति सिगरेटदानी (ऐश ट्रे) के रूप में रखी हुई थी। उसकी सुन्दर और अनोखी बनावट के कारण सम्पादक का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि प्राचीन भारतीय हस्तकला में उनकी विशेष रुचि है। सो उन्होंने उसे उठाकर उसका निरीक्षण किया। यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि वह कलाकृति, जो राजभवन की अतिथिशाला में सम्मानित अतिथियों की जूठी सिगरेटों को ग्रहण करती है, वास्तव में एक आरती है। उसकी प्राचीनता से बोध होता था कि संभवत: किसी समय उसका उपयोग किसी राजकीय मंदिर में किसी देवता की अर्चना में किया जाता रहा होगा।

यह "सिगरेटदानी" खरबूजे के आकार के एक छोटे गड़ुए को बनी थी। पीछे के भाग में उसे पकड़ने के लिए एक हत्था लगा था जो टूट गया है, किंतु जहाँ यह हत्था लगा हुआ था वहाँ गरुड़ की एक छोटी सी मूर्ति बनी हुई है। आगे के भाग में कमल दल के आकार का दीपदान बना है जो बीच में गहरा है। जहाँ यह दीपदान गड़ुए से जुड़ा है वहाँ कमलदलों के मण्डल से परिवेष्टित गणेशजी की सुन्दर छोटी सी मूर्ति बनी है। दीपदान में जब अधजली सिगरेट रखी जाती होगी तब उसका धुआँ सीधे गणेशजी पर पहुँचकर उन्हें धूम्रपान का आनन्द देता होगा। इस गड़ुए में धूप जलाकर और दीपदान में घी की बत्ती या कपूर जला कर, मंदिर में, या रनिवास में, उससे देवता की आरती की जाती थी। इसकी ऊँचाई सात अंगुल से कुछ अधिक है। पुरानी होने के कारण इस पर हरी काई जम गयी है और यह पीतल या काँसे की है।

राजभवनों और उनकी अतिथिशालाओं को सजाने का काम नौकरशाही के उच्च अधिकारी करते हैं। जिस किसी अधिकारी ने इस राजभवन और अतिथिशाला को सजाया है उसमें अच्छा कलाबोध और सुरुचि रही होगी। किन्तु अवश्य ही वह पूरा "सैक्यूलर" भी होगा क्योंकि यदि उसमें तनिक भी भारतीय संस्कार होते, या उसे इस देश के निवासियों की धार्मिक भावना का तनिक भी ज्ञान या आदर होता तो वह गणेशजी की प्रतिमा से मंडित दीपदान से 'सिगरेटदानी' का काम न लेता। हमारी सरकार ही 'सैक्यूलर' है। अभी जब श्रीमती इन्दिरा गांधी के मन्त्रिमण्डल ने पद की शपथ ग्रहण की तब स्वयं श्रीमती गांधी तथा सर्वश्री चागला, अशोक मेहता, स्वर्णसिंह, संजीवैया, मनुभाई शाह और जगजीवन राम ने ईश्वर के नाम पर शपथ न लेकर सत्यनिष्ठा से दृढ़ संकल्प (सौलेम ऐफर्मेशन) की प्रतिज्ञा करके अपनी धर्मनिपेक्षता का सार्वजनिक परिचय दिया। नौकरशाही तो सामान्यत: भौतिक सफलता के कारण वैसे ही धर्म की आवश्यकता नहीं समझती, और लोगों के धार्मिक विश्वासों को अंधविश्वास समझती है। अधिकांश देश-वासियों के सम्मानित देवताओं की मूर्तियों की इस प्रकार अवमानना करने का साहस इसी अनोखे 'सैक्यूलर' राज्य में संभव है।

सरस्वती-सम्पादक उस सिगरेटदानी को बहुत देर तक देखते रहे, और फिर उन्होंने गणेशजी को सम्बोधित करते हुए कहा : 'हे ऐशट्रे के गणेशजी! आपने महर्षि वेदव्यास के आशुलिपिक का काम करके इस देश को वह पंचम वेद उपलब्ध कर दिया था जिसमें भारत की सारी संस्कृति सुरक्षित है और जिसके विषय में कहा गया है—यन्न भारते तन्न भारते! इस सुन्दर कलाकृति में प्रतिष्ठित होकर आपने किसी विशाल मन्दिर में, या किसी प्रतापी महाराजा के पूजागृह में, प्रातःकालीन मंगला आरती से लेकर रात्रि की शयन आरती तक कितने ही दिनों नित्यप्रति भगवान् की सेवा की होगी। किन्तु 'समय एव करोति बलाबलम्' अब इस स्वतन्त्र भारत में आप इस देश की सर्वशक्तिशाली, सभ्य, अर्द्धसंस्कृत, संस्कारहीन और जनता की भावना तथा धर्म से निरपेक्ष नौकरशाही के पंजे में आ गये हैं। अब आपको राजभवन की अतिथिशाला में ठहरनेवाले आधुनिक देवताओं की जूठी और अधजली सिगरेटों से दग्ध होने और विवश होकर उनके धुएँ को पान करने का दंड दिया गया है। अगरु और चन्दन मिश्रित धूप की सुगंधि से आप तृप्त हुआ करते थे, अब गोल्ड फ्लेक, कैप्स्टन और ५५५ की निकोटीन की गन्ध का आनन्द लीजिए। आपने इस शान्ति के मतवाले देश में 'महाभारत' संभव करके जो पाप किया था उसका प्रायश्चित्त यही है कि आप आज के स्वतन्त्र, पश्चिमी संस्कृति से दीक्षित, सैक्यूलर 'इण्डियन' नागरिकों की जूठी और अध-जली सिगरेटों को वहन करें। भारत के शासक अब प्रबुद्ध हो गये हैं। वे स्वयं समर्थ हैं। वे अपने विघ्न स्वयं या अमरीका और रूस की सहायता से दूर कर सकते हैं। उन्हें अब आपकी 'विघ्नविनाशक' शक्ति

की आवश्यकता नहीं है। अब वे देवी-देवताओं और उनकी मूर्तियों का आदर करने के अंधविश्वास से ऊपर उठ गये हैं। किन्तु वे मूर्तिभंजक नहीं हैं; और न वे आपको तोड़कर राष्ट्रीय क्षति करना ही पसन्द करते हैं। अतएव अब आप इस स्वर्णयुग में आधुनिक युग की सभ्यता के प्रतीक धूम्रपान की अवशिष्ट अधजली सिगरेटों से संभावित अग्निकांड को बचाने के लिए उनको वहन करके राजभवन के इस सुन्दर कक्ष की रक्षा किया कीजिए। इस देश के सभ्य, प्रबुद्ध और सुसंस्कृत लोगों की इससे अधिक सेवा आप कर ही क्या सकते हैं ?"

(पुनश्च—बाद में सरस्वती सम्पादक ने माननीय राज्यपाल तक गणेशजी की दुर्दशा का समाचार पहुँचा दिया था जिससे उन्हें साश्चर्य खेद हुआ। बहुत संभव है कि उनकी कृपा से गणेशजी को मुक्ति मिल गयी हो या शीघ्र ही मुक्ति मिल जाय।)

यह दयनीय मानसिक दासता

●

हमारी सरकार सीमा की चौकीदारी का काम सामान्यतः पुलिस से लेती है। प्रत्येक राज्य में सशस्त्र पुलिस की कई बटालियनें हैं। केन्द्रीय सरकार भी अपनी सशस्त्र पुलिस रखती है जिसे केन्द्रीय सुरक्षित पुलिस (सेंट्रल रिजर्व पुलिस या सी० आर० पी०) लहते हैं। इसका मुख्य कार्यालय नीमच में है। सीमा की चौकीदारी के लिए केन्द्रीय सशस्त्र पुलिस के अतिरिक्त राज्यों की सशस्त्र पुलिस भी भेजी जाती है।

चीन ने हमारे लद्दाख क्षेत्र के अकसई चीन पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया था। लद्दाख का यह पूर्वी क्षेत्र बहुत दुर्गम और ऊँचा है। शायद ही कोई स्थान बारह हजार फुट से कम नीचा हो, अर्थात् श्री बदरीनाथजी से भी अधिक ऊँचा है। अकसई चीन से लगे हुए क्षेत्र में हमारी पुलिस के सिपाही नियुक्त थे। वहाँ गर्म झरना (हॉट स्प्रिंग) नामक एक स्थान है। पहाड़ों में कहीं-कहीं (जैसे श्री बदरीनाथ में) खौलते हुए पानी के सोते मिलते हैं। ऐसा ही एक गर्म पानी का सोता इस स्थान पर भी है। इसी के कारण इसका यह नाम पड़ा है। घटना २१ अक्टूबर १९५९ की है। सशस्त्र पुलिस की एक टुकड़ी, डिप्टी सुपरिंटेंडेंट पुलिस श्री करमसिंह की कमान में, इस क्षेत्र की गश्त कर रही थी कि अचानक चीनी सेना की एक कम्पनी ने उस पर आक्रमण कर दिया। इस मुठभेड़ में पुलिस टुकड़ी के दस जवान ठौर खेत रहे और बचे हुए घायल और बे-घायल लोगों को चीनी सेना ने पकड़ लिया। प्रायः तीन सप्ताह बाद वे छोड़ दिये

गये। १९६२ में पुलिस के इन शहीद जवानों की स्मृति में गर्म झरने के पास एक स्मारक बना दिया गया। उस सुदूर दुर्गम स्थान में अनेक कष्टों को सहते और बाधाओं को झेलते हुए हमारे पुलिस के जवान देश की सीमा की पहरेदारी करते हैं। नियमित शत्रुसेना से लड़ने के लिए न उनके पास हथियार होते हैं और न उन्हें वैसा प्रशिक्षण ही मिलता है। फिर भी इन पुलिस के जवानों ने लद्दाख, असम, कच्छ आदि में अपूर्व वीरता से काम किये। गर्म झरने में इनका स्मारक बनाया जाना बहुत ही उचित कार्य हुआ। किंतु हमें एक विश्स्त सूत्र से मालूम हुआ कि उस स्मारक पर ये पंक्तियाँ अंकित की गयी हैं :

"When you go home, tell them of us and say, For their tomorrow we gave our today."

पंक्तियों का भाव वास्तव में मार्मिक है। किंतु इन शहीद पुलिस के जवानों में—जो अधिकतर गाँवों के थे—कितने अंग्रेजी जानते थे, और आज भी सशस्त्र पुलिस के कितने जवान अंग्रेजी जानते हैं? क्या हमें अपना राष्ट्रीय आत्म-सम्मान इतना विस्मृत हो गया है कि हम ऐसे स्मारकों पर भी अंग्रेजी में प्रशस्तियाँ अंकित करें? उनसे सिवाय कुछ अंग्रेजीपरस्त लोगों के और कौन अनुप्राणित होगा? क्या चीनी इस स्मारक को देखकर यह न समझेंगे कि भारत की राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी है? यदि इस बात का विचार नहीं था कि जो कुछ लिखा है उसे साधारण लोग समझ ही लें, तो अंग्रेजी की जगह संस्कृत का प्रयोग क्यों नहीं किया गया? यह स्मारक भी एक प्रकार का श्राद्ध है। शायद अब हमारे अधिकारी श्राद्ध भी अंग्रेजी ही में किया करेंगे। ऐसे राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों में अंग्रेजी का इस प्रकार का उपयोग हमारे सांस्कृतिक दिवालियेपन और दयनीय मानसिक दासता को ही विज्ञापित करता है। क्या भारत सरकार में, सेना में या पुलिस में ऐसा एक भी संस्कारी, सुसंस्कृत और स्वाभिमानी व्यक्ति नहीं है जो इस व्यंग्य और विडम्बना को समझकर उसका परिहार कर सके?

तमिलनाड की सांस्कृतिक स्थिति

द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम मदरास में उत्तर विरोधी भावना फैलाता रहा है। वहाँ के वर्तमान हिन्दी-विरोधी आन्दोलन ने इस भावना को और बढ़ावा दिया है। उत्तर भारत के लोगों को वहाँकी स्थिति की जानकारी नहीं है। हमारे एक मित्र के पास मदरास की यात्रा पर गये एक अहिन्दीभाषी उत्तर भारतीय का पत्र हिन्दी में आया है जिसमें इस ओर सूक्ष्म संकेत किया गया है। उसके कुछ अंश ये हैं :

"यहाँ Indian International Trade and Industrial Exhibition के हेतु आया हूँ।.... घटित घटनाओं का हाल समक्ष आने पर सुनाऊँगा : किन्तु यहाँ जो हो रहा है उससे अवगत कराना चाहता हूँ। मद्रास शहर भाषा की दृष्टि से ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे कोई विलायती शहर हो। सिर्फ तामील और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग होता है। नहीं, कराया जा रहा है। सिर्फ अंग्रेजी और तामील बोलनेवालों को जवाव मिलता है। जगह जगह सिर्फ दोनों भाषाओं के बोर्ड मिलते हैं। याने यहाँ की जनता की मातृ-भाषा तामील एवं पितृभाषा अंग्रेजी हो—ऐसी स्थिति है। दोनों भाषाओं को छोड़कर दूसरे भाषाओं के समाचारपत्र पढ़ने को नहीं मिलेंगे। दो माह से उक्त भाषा के अलावा एक भी पिक्चर यहाँ चालू नहीं है। प्रदर्शनी के सभी बोर्ड सिर्फ दो भाषाओं में—वैसे हिन्दी करीबन सबको आती है कुली से व्यवसायी तक, किन्तु राजनीतिक दबाव एवं गुंडागर्दी से कोई बोल नहीं सकता। यहाँ के स्थायीक लोगों से मिला—मजूर से लगाकर बड़े बड़े व्यापारी एवं अधिकारी लोगों से। सभी ने इस संकुचित वृत्ति से घृणा की किन्तु कुछ

गुंडागर्दी एवं राजनीति के कारण बेचारे चुप बैठे हैं । मैं जहाँ ठहरा हूँ उनके मित्र की दो बार मोटरकार जला दी क्योंकि वे उत्तर भारतीय हैं एवं वे उनके समाज के कार्यकर्त्ता हैं । कल तामील भाषा की पिक्चर देखने गया । पिक्चर छूटने के बाद राष्ट्रीय गान "जनमनगण' के समय पर सिनेमा हाल खाली हो गया । याने राष्ट्रीय ध्वज व गान उनके लिए परदेशी जैसा है । इस तरह की मनोवृत्ति को देख कर बहुत ही बुरा लगा । जैसे मद्रास शहर भारत में नहीं है । स्कूल और कालेज अनियमित समय के हेतु बंद हैं ।.......मैंने एक किताब खरीदी है—Learn Tamil in 30 days. उसको लेकर घूमता हूँ । उसको देखकर मेरे साथ काफी अच्छे व्यवहार करते हैं क्योंकि अंग्रेजी के बदले तामील भाषा का ज्यादा प्रयोग करता हूँ । अतः मेरे ख्याल से कुछ लोगों से इस भाषा का ज्ञान अवगत कर उनमें सम्मिलित होना बहुत जरूरी है अन्यथा यह असंभव नहीं कि भारत का और टुकड़ा हो जाय ।"

उत्तर भारतीय लोगों को मदरास की अवस्था का ज्ञान नहीं है । दिल्ली के तथा अन्य स्थानों के अंग्रेजी समाचारपत्र बम्बई की शिवसेना की गतिविधियों को खूब बढ़ाचढ़ाकर प्रचारित करते हैं क्योंकि उन्हें दाक्षिणात्य-विरोधी समझा जाता है । किन्तु ये ही समाचारपत्र मदरास की बातों पर चुप्पी साध लेते हैं । मदरास के लोगों को उत्तर ऐसे कुरुचिपूर्ण और अशिष्ट (यदि एकदम अश्लील नहीं) विज्ञापनों का आरंभ हो गया है ।

मार्गशीर्ष ५, शक १८८९ (भाग १८ अंक ९) के साप्ताहिक हिन्दुस्तान के आवरण पृष्ठ के पीछे एक पूरे पेज का रंगीन विज्ञापन छपा है । यह बिड़ला के इण्डियन लिनोलियम का है । इसमें हरे लिनो-लियम के फर्श पर एक स्त्री सुन्दर जाँघिया पहिने हाथ के बल टाँगें फैलाये बैठी है । दाहिनी जाँघ प्रायः आधी और बायीं पूरी खुली हुई है । भारतीय दृष्टि से यह अर्द्धनग्न है और इतना नग्न तथा इस प्रकार जाँघों का प्रदर्शन हमारी दृष्टि से यदि एकदम अश्लील (आब्सीन) नहीं तो अशिष्ट (इंडीसेंट) अवश्य है । हमें साप्ताहिक हिन्दुस्तान ऐसे प्रतिष्ठित पत्र में ऐसा विज्ञापन देखकर आश्चर्य ही नहीं, खेद भी हुआ । क्या लिनोलियम का वास्तविक उपयोग सुन्दरियों के इस प्रकार अंगप्रदर्शन ही के लिए है ? अवश्य ही इंडिया लिनोलियम के कुशल विज्ञापन तैयार करनेवालों ने पश्चिम के विज्ञापनदाताओं से यदि शिक्षा नहीं तो प्रेरणा अवश्य ली है । शायद अंग्रेजी पत्रों में यह विज्ञापन खप जाता क्योंकि उनके बहुत से पाठक देशी अंग्रेज होते हैं और वे पाश्चात्य आदर्शों और मान्यताओं को शायद पसंद भी करते हैं । किन्तु 'हिन्दुस्तान' भारत के मध्यवर्गीय लोगों में लोकप्रिय है । अवश्य ही ऐसा अशिष्ट अंग-प्रदर्शन उन्हें प्रिय न होगा । फिर, क्या विज्ञापन देते समय भारतीय शिष्टाचार और मान्यताओं का बिलकुल ही ध्यान न रखा जाये ?

हम इस प्रकार के विज्ञापनों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाना आवश्यक समझते हैं । सर्वोदयी लोगों ने कुछ दिनों पहिले तथाकथित विज्ञापनों के अश्लील चित्रों के विरुद्ध आन्दोलन उठाया था । पता नहीं कि वे इस विज्ञापन के चित्र को देखकर क्या समझेंगे ?

अंग्रेजी में एक कहावत है—Extremes meet, अर्थात् सिरे या छोर मिल जाते हैं । जब सुनार कोई कड़ा, वलय या कंगन बनाता है तो वह पहिले एक छड़ तैयार करता है और फिर उसे गोलाई में मोड़-कर उसके दोनों सिरे मिला देता है । समाज के दो चरम सिरे हैं : बर्बरता और अति सभ्यता । आदिम प्रवृत्तियों और उनके प्रदर्शन में ये दोनों सिरे मिल जाते हैं । इसीलिए बर्बर लोगों और अति सभ्य लोगों का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुत कुछ एक-सा होता है । इसीलिए दोनों का अंग-प्रदर्शन भी कभी-कभी समान होता है । भेद इतना ही है कि जितना अंग बर्बर व्यक्ति घास-पत्तों से ढकता है, प्रायः उतना ही अति सभ्य

अर्द्धपारदर्शी नायलॉन या रेशम के टुकड़े से ढक लेता है। समाज का सामान्य वर्ग जिसे लज्जाशीलता, शालीनता या व्रीड़ा मानता है, उसे बर्बर समझता ही नहीं और अति सभ्य मानता नहीं। समाज अधिकतर मध्यवर्ग के लोगों का है जो न बर्बर हैं और न अति सभ्य। उन्होंने शालीनता का एक मानदंड बना रखा है। जो उससे च्युत होता है वह अशिष्ट, ग्राम्य, कुरूप, भद्दा या गंदा समझा जाता है। जब बर्बर या अति सभ्य ऐसा व्यवहार करे जिससे देखनेवाले में शर्म और जुगुप्सा की भावना उत्पन्न हो तो वह अश्लील हो जाता है। जिसे वह अशिष्ट समझता है वह उसे बहू-बेटियों को दिखाना पसन्द नहीं करता।

भिन्न-भिन्न समाजों में अश्लीलता और अशिष्टता के मानदण्ड भी भिन्न-भिन्न हैं। योरप और इंगलैंड में जब कहीं बाहर से आकर पति-पत्नी सड़क या रेल-स्टेशन पर मिलते हैं तो इन सार्वजनिक स्थानों में भी एक दूसरे का चुम्बन करते हैं। वहाँ यह व्यवहार अशिष्ट या अश्लील नहीं समझा जाता। यदि भारत में पत्नी के रेल से उतरते ही पति वहाँ उसका चुम्बन करे तो देखनेवाले उसे अशिष्ट और अश्लील समझेंगे। भारत में आकर अंग्रेज भी, यहाँ के सामाजिक शिष्टाचार का विचार कर, इस प्रथा को छोड़ देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हम किसी भी प्रथा को देश और काल की पृष्ठभूमि में अश्लील या शिष्ट समझते हैं। यदि योरप और अमरीका में 'मिनी स्कर्ट' चलती हैं या वहाँ नारियों के ऐसे अर्द्धनग्न चित्र चल जाते हैं तो इसके अर्थ यह नहीं हैं कि वे वहाँ से भिन्न संस्कारों, भिन्न शिष्टाचार और भिन्न मान्यताओंवाले भारत में भी चला देने चाहिए। हम बिड़लाओं को भारतीय सभ्यता और शिष्टाचार का समर्थक समझते हैं। व्यंग्य यह है कि यह विज्ञापन उन्हीं के एक उद्योग का है और उन्हीं के एक पत्र में छपा है।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी समाचारपत्र इस प्रवृत्ति को बढ़ने न देंगे। हम उनसे यह भी आशा करते हैं कि वे शराब और सिगरेटों के विज्ञापन भी बहुत सोच-विचारकर छापेंगे। देश का समझदार वर्ग और संविधान शराबबंदी का निर्देश करते हैं। यह दुर्भाग्य ही होगा यदि हिन्दी समाचार-पत्र (जो जनता में चलते हैं) उनके प्रचार का साधन बन जायँ। तब उनमें और अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी मान्यताओं के प्रचारक अधिकांश अंग्रेजी पत्रों में कोई भेद ही न रह जायगा।

नैतिक मूल्यों की उपेक्षा

•

इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के बाद देश के नेताओं ने देश के उद्योग-धन्धों और कृषि की उन्नति करने के प्रयत्न किये और इन प्रयत्नों में उन्हें काफी सफलता भी मिली। इनके अतिरिक्त सामान्य शिक्षा, इंजीनियरी शिक्षा, चिकित्सा की शिक्षा, विज्ञान की शिक्षा के भी साधन बढ़ाये गये, वैज्ञानिक शोध और परमाणु ऊर्जा के उत्पादन पर भी ध्यान दिया गया। यातायात के साधन बढ़ाये गये, नई-नई सड़कें बनाई गयीं, संचार-व्यवस्था में उन्नति की गयी, विमान-सेवा में वृद्धि हुई। बिजली का उत्पादन आशातीत बढ़ा। बड़े-बड़े बाँध बनाये गये। सिंचाई के साधनों में प्रगति की गयी। पेट्रोल और मिट्टी के तेल के उत्पादन में हमने चमत्कार कर दिया, कहने का तात्पर्य यह कि देश की समृद्धि बढ़ाने के लिए सरकार ने बहुत कुछ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश बहुत-सी चीजों में आत्मनिर्भर हो गया या शीघ्र ही हो जायगा। इसमें संदेह नहीं कि योजनाओं के द्वारा भारत को एक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक राष्ट्र बनाने की नींव दृढ़ता से रख दी गयी है। इसके लिए सरकार की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है।

किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि इस शानदार आर्थिक और औद्योगिक उन्नति से जनता को जो लाभ होना चाहिये था, वह बहुत अंशों में नहीं हुआ। लोगों की आर्थिक अवस्था कुछ सुधरी अवश्य, किन्तु आर्थिक नीतियों के कारण धन का वितरण दोषपूर्ण रहा जिससे रुपये का मूल्य घटता गया; और लोगों की वास्तविक आय (शुद्ध आय) कम होती गयी। बहुत कुछ उन्हीं दोषपूर्ण नीतियों के कारण महँगी बुरी तरह

बढ़ती गयी। देश पर ऋण इतना बढ़ा लिया गया (और वह प्रतिदिन बढ़ाया जा रहा है) कि अब उसका ब्याज देने के लिए भी हमें ऋण लेना पड़ता है क्योंकि हमारा उत्पादन और विदेशी व्यापार इतना नहीं बढ़ा कि हम अपने नये उद्योगों से इतना धन अर्जित कर सकें कि मूल और उसका ब्याज चुकाने लगें। गलत आर्थिक नीतियों, उद्योगों के अकुशल प्रबन्ध, प्रशासन की ढिलाई, अनावश्यक और कम महत्त्व की बातों पर अनाप-शनाप खर्च (जैसे आलीशान भवनों, मैट्रिक प्रणाली को चलाने आदि पर) और उन्हें असाधारण महत्त्व देने तथा प्रशासन पर अंधाधुंध व्यय बढ़ा देने से हम अपनी अर्थ-व्यवस्था संतुलित न रख सके। इस पर, कोढ़ में खाज की तरह, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, तस्कर व्यापार, करों की चोरी आदि ने इस स्थिति को और भी भीषण कर दिया। हमने सम्पत्ति का उत्पादन तो बढ़ाया किन्तु नैतिक मूल्यों का ह्रास हो जाने दिया। भौतिक समृद्धि को येन केन प्रकारेण बढ़ाने की धुन में हमने समाज के नैतिक स्वास्थ्य की उपेक्षा करके उसे गिर जाने दिया।

सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह है कि यह सब उन लोगों के प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग, प्रोत्साहन या उदासीनता के कारण हुआ जो अपने को महात्माजी का अनुयायी कहने में नहीं थकते। गांधीजी की रचनात्मक योजनाओं की उन्होंने उपेक्षा की। गांधीजी लक्ष्य की पवित्रता पर ही बल नहीं देते थे प्रत्युत वे लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों की शुद्धता, पवित्रता और नैतिकता पर भी बल देते थे। वे धर्म को मनुष्य के लिए अति आवश्यक समझते थे। किन्तु उनके सत्ताधारी अनुयायियों में से अधिकांश ने भौतिक समृद्धि को बढ़ाने और सत्ता पर येन केन प्रकारेण अपना अधिकार और वर्चस्व बनाये रखने के लिए इन बातों को भुला ही नहीं दिया प्रत्युत कभी-कभी वे उन बातों के विरुद्ध भी काम करने लगे। नैतिकता और धर्म की उपेक्षा करने का परिणाम भी स्पष्ट है। आज भ्रष्टाचार देश में बुरी तरह फैल गया है। किन्तु इस समय हम केवल दो महत्त्वपूर्ण बातों की ओर अपने पाठकों का ध्यान दिलाते हैं। वे हैं—मद्यनिषेध और राज्यों की लाटरियाँ।

मद्यनिषेध पर बापू विशेष बल देते थे। उनका कहना था कि यदि मैं एक घंटे के लिए भी भारत का 'तानाशाह' हो जाऊँ तो मैं सम्पूर्ण मद्यनिषेध लागू कर दूँ और बिना कोई मुआवजा दिये मद्यशालाएँ, मद्य बनानेवाले कारखाने और भट्टियाँ जब्त करके उन्हें समाप्त कर दूँ। किसी सनक या "अति पवित्रतावादी" होने के कारण वे यह बात नहीं कहते थे। उन्होंने समाज के पिछड़े वर्गों और मजदूरों में इससे होनेवाले सामाजिक, नैतिक और आर्थिक भीषण परिणाम देखे थे, और वे जानते थे कि शराब की लत के कारण मजदूरों की गाढ़ी कमाई का बहुत बड़ा भाग उनके हाथ से निकल जाता है और वे गरीब के गरीब बने रहते हैं तथा उनके परिवारों की सुख-शान्ति तथा माली हालत बिगड़ जाती है। शराब आदि व्यसन मनुष्य को अपना क्रीतदास बना लेते हैं। इस कारण पीनेवाला जब होश में रहता है तब उसके अवगुणों और उससे उत्पन्न हानि को समझता हुआ भी उसे छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है। इसलिए इन बहुसंख्यक असहाय गरीब लोगों को उससे बचाने का एकमात्र कारगर उपाय पूर्ण मद्यनिषेध ही है। श्री श्रीमन्नारायणजी ने जब मद्यनिषेध-सम्बन्धी जाँच की तब उन्हें मालूम हुआ कि कहीं-कहीं वेतन मिलने के दिन ही मजदूरों की गाढ़ी कमाई का ४० प्रतिशत रुपया शराब पीने में स्वाहा हो जाता है। उन्होंने यह भी देखा कि यद्यपि मजदूरों के वेतन में इधर बढ़ती हुई है तथापि उनके जीवन-स्तर में अपेक्षाकृत सुधार नहीं हुआ क्योंकि बढ़े हुए वेतन का अधिकांश शराब में खर्च हो जाता है। अपव्यय तो होता ही है, साथ ही नशे के कारण उनका पारिवारिक जीवन भी नरक बन जाता है तथा उनके बच्चों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। भारत सरकार ने मद्यनिषेध के सम्बन्ध में जाँच और सिफारिश करने के लिए जो न्यायमूर्ति

टेकचन्द आयोग बनाया था उसकी रिपोर्ट में देश में के मद्यपान के विस्तार और उससे होनेवाली हानियों का ऐसा तथ्यपूर्ण और आँकड़ों द्वारा समर्थित वर्णन और विवेचन है कि सभी निष्पक्ष व्यक्ति मद्यनिषेध लागू करने की आवश्यकता को हृदय से स्वीकार कर लेंगे। किन्तु हमारी सरकारें 'मुँह में राम बगल में छूरी' के अनुसार 'मुँह में मद्यनिषेध और बगल में बोतल' रखकर गांधीजी के आदेशों और जनता के हित की उपेक्षा कर रही हैं। कांग्रेस की अखिल भारतीय समिति ने कुछ कट्टर कांग्रेस सदस्यों के संविधान में दिये गये निदेशक सिद्धान्तों की तथा महात्माजी की और टेकचन्द आयोग की रिपोर्ट की बार-बार दुहाई देने और आग्रह करने पर गोआ में मद्यनिषेध-सम्बन्धी एक प्रस्ताव स्वीकार अवश्य कर लिया जिसमें सात वर्षों में देश में प्रायः सम्पूर्ण मद्यनिषेध की बात कही गयी है। देखने में सात वर्ष की अवधि ठीक मालूम होती है, किन्तु क्या कांग्रेस के कर्णधारों में इतनी दृढ़ता है कि वे सात वर्ष में भी सम्पूर्ण मद्यनिषेध लागू कर दें? इन्हीं सज्जनों ने संविधान में हिन्दी को राजभाषा बना देने के लिए पंद्रह वर्ष का समय रखा था। किन्तु पंद्रह वर्ष बीतने पर ऐसे सिगूफे छोड़े गये कि अंग्रेजी अनन्त काल के लिए वास्तविक राजभाषा बना दी गयी, और हिन्दी को "अनिश्चित भविष्य" में उसके पद पर प्रतिष्ठित करने की बात तय कर दी गयी। जिन लोगों ने संविधान के साथ यह खिलवाड़ किया उनसे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के एक प्रस्ताव को अक्षरशः लागू कर देने की आशा करना मृगमरीचिका मात्र है। और फिर, उसे लागू करनेवाले कौन लोग हैं? इनमें अधिकांश वे सत्ताधारी हैं जिन्होंने अपने-अपने राज्यों में जो आंशिक मद्यनिषेध लागू हो गया था, उसे भी समाप्त कर दिया है। आज केवल मदरास (अब तमिलनाड) की द्रमुक सरकार और गुजरात की कांग्रेसी सरकार ही दो ऐसी सरकारें देश में रह गयी हैं जो मद्यनिषेध लागू करने के लिए कृतसंकल्प मालूम होती हैं। कांग्रेसी सरकारों ही ने अपने सीमित मद्यनिषेध की योजनायें समाप्त की हैं।

कांग्रेस सरकारों की निगाहों में नैतिक मूल्यों का महत्त्व इतना कम हो गया है कि वे 'येन केन प्रकारेण' अपनी आमदनी बढ़ाने में लगे हैं। आबकारी से होनेवाली आय को छोड़ने की बात तो दूर, वे उसे और बढ़ाना तथा मद्यनिषेध लागू करने में जो व्यय होता है उसे बचाना चाहते हैं। प्रत्येक राज्य की आबकारी की आय बढ़ रही है। मद्यनिषेध की उपेक्षा करने में उन्हें उन लोगों का समर्थन प्राप्त है जो पाश्चात्य सभ्यता में रँगे हैं और जिनके जीवन का आनन्द ह्विस्की के बिना फीका है। ये लोग अल्पसंख्यक हैं; किन्तु वे रुपयेवाले, शक्तिशाली तथा प्रभावशाली हैं। ये प्रभावशाली अंग्रेजी समाचारपत्रों में घुसे हुए हैं और उनके द्वारा ऐसा प्रचार करते हैं कि उससे सरकार को मद्यनिषेध की उपेक्षा करने में सहयोग और बल मिलता है। परिणाम यह है कि देश में शराब का प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इसका प्रमाण यह है कि आबकारी से सरकारों की आय बढ़ रही है। मद्य-निर्माता और मद्य-विक्रेता भी सक्रिय हो रहे हैं। अब समाचारपत्रों में विविध प्रकार के शराब के विज्ञापन भी अधिक संख्या में प्रकाशित होने लगे हैं। जिन समाचारपत्रों में पहिले वे नहीं छपते थे उनमें से कुछ में वे अब जब कभी दिखलायी पड़ने लगे हैं। हमने इधर एक-दो हिन्दी पत्रों में भी शराब के विज्ञापन देखे हैं।

●

हिन्दू कौन है ?

●

महाराष्ट्र के साम्प्रदायिक उपद्रवों के बाद साम्प्रदायिकता के विरुद्ध एक बार फिर से धुआँधार जिहाद बोल दिया गया हैं। इस बार प्रधानमन्त्री ने अपने भाषण में बहुत करके बहुसंख्यकों की खबर ली और हिन्दुओं को दोष दिया। बहुत से लोगों पर उनके भाषणों की प्रतिक्रिया हुई, और जनसंघ के कुछ नेताओं ने उन्हें हिन्दू-विरोधी तक घोषित कर दिया। प्रधान मन्त्री ने अपनी सफाई देते हुए दिल्ली के भाषण में कहा कि मैं हिन्दू हूँ और मुझे हिन्दू होने का गर्व है। किन्तु क्या वह व्यक्ति जिसने किसी माँ के सामने उसके बच्चों की हत्या कर दी हो, हिन्दू है ?

इस बात का विवेचन करने के पहिले कि हिन्दू कौन है, हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि जिस नृशंसता का उदाहरण दिया गया है उसकी अनुमति कोई भी धर्म नहीं देता। किन्तु इतिहास ऐसी नृशंसता के उदाहरणों से भरा पड़ा है, और ऐसे पैशाचिक कृत्यों के करने वाले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी धर्मों के अनुयायियों में हुए हैं, और सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि कितनी ही ऐसी नृशंसतायें 'धर्म' के नाम पर हुई हैं। योरोप, अमरीका, अफ्रीका और एशिया के इतिहासों से ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु हम उन्हें देना न तो उचित समझते हैं और न आवश्यक। हमारी सम्मति में ऐसे नृशंस व्यक्ति के कार्य के लिए उसके धर्म या सहधर्मियों को दोष देना न्यायसंगत नहीं है।

मुख्य प्रश्न यह है कि हिन्दू कौन है ? आज तक 'हिन्दू' शब्द की सर्वमान्य परिभाषा हमारे देखने में नहीं आयी। किन्तु यहाँ हम अपने पाठकों के मनोरंजन के लिए स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेवजी से हुए एक वार्तालाप का सारांश दे रहे हैं जो शायद इस प्रश्न पर विचार करने में सहायक हो।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी के पिता बाबू बलदेव दास जी को स्वर्गीय पं० माधवप्रसाद मिश्र (सम्पादक, सुदर्शन) ने वेदान्त पढ़ाया था और वे मिश्रजी को गुरुवत् मानते थे। बाबू बलदेवदासजी के तीन पुत्र थे जिनमें बड़े का नाम लालजी और मँझले का आशीर्वादीलाल था; तीसरे का नाम हमें याद नहीं। मिश्रजी को ये नाम पसन्द नहीं आये और उन्होंने बाबू बलदेवदासजी से उनका फिर से नामकरण करने को कहा और उनके अनुरोध करने पर उनके नाम क्रमशः महेन्द्रदेव, नरेन्द्रदेव और योगेन्द्रदेव रखे गये। हमारे पूज्य पिताजी और मिश्रजी में भाइयों की तरह अभिन्नता थी। इसलिए बाबूजी साहब हमारे पिताजी का भी वैसा ही आदर करते थे। १९३४ में हम डिवीजनल इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स होकर फैजाबाद गये। बाबू साहब का स्वर्गवास हुए बहुत दिन हो गये थे, किन्तु श्री महेन्द्रदेवजी फैजाबाद में रहते थे। वे वहाँ के प्रथम श्रेणी के वकील थे। हमारा उनसे परिचय न था, किन्तु वे पिताजी के माध्यम से हमें जानते थे। वे स्वयं मिलने आये, अपना परिचय दिया और हमें कई बार उनके अतिथि-सत्कार का गौरव प्राप्त हुआ।

एक बार उनके परिवार में किसी कन्या का विवाह था। उसमें हम निमंत्रित होकर गये। वह विवाहपूर्व का कोई अवसर था। थोड़ी देर में आचार्य नरेन्द्रदेवजी भीतर से आये। वहाँ शायद उन्होंने वैवाहिक कृत्य सम्बन्धी कोई पूजन किया था क्योंकि उनके माथे पर रोली का टीका और अक्षत लगे थे।

मैं जानता था कि आचार्यजी ब्राह्मण संस्कृति के विरोधी और श्रमण संस्कृति के प्रशंसक हैं। उनका झुकाव बौद्ध शून्यवाद की ओर अधिक था और वे हिन्दुओं की सामान्य मान्यताओं को नहीं मानते थे। वे भीतर से आकर हम लोगों के बीच, और संयोग से हमारे पास ही बैठ गये। हमने उनके माथे पर लगे रोली के टीके को देखकर उनसे परिहास में कहा, आप तो हिंदुओं की मान्यताओं में विश्वास नहीं करते, तब आपने यह पूजन करके माथे पर रोली का टीका क्यों लगवाया ? बात केवल कुछ बात करने के लिए और बहुत कुछ परिहास में कही गयी थी। किन्तु आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने जो उत्तर दिया उसका सारांश हमें आज भी याद है। उनके जोड़ का प्रभावशाली वक्ता मिलना कठिन था और उनकी भाषा का सौष्ठव तो अप्रतिम होता था। अतएव हमारे सारांश से उनके कथन के प्रभाव का एक अंश भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनके कहने का सारांश यह था कि मैं अपने को हिन्दू कहता हूँ क्योंकि इसमें मुझे विचारों की स्वतन्त्रता है। ईसाई कहता है कि "मानो कि खुदा एक है, यीसू मसीह उसका इकलौता बेटा है, केवल उसी के द्वारा मुक्ति मिल सकती है। "यदि यह नहीं मानते तो तुम ईसाई नहीं हो।" इसी तरह मुसलमान भी कहता है कि "मानो कि खुदा एक है, मुहम्मद उसके रसूल हैं और कुरान ईश्वर प्रेरित है।" यदि यह नहीं मानते तो तुम मुसलमान नहीं हो। हिन्दू होने में विचारों का ऐसा कोई बन्धन नहीं है। ईश्वर को मानो, तो भी हिन्दू हो, न मानो तो भी हिन्दू हो। नास्तिक दर्शन तो है ही, सांख्य में भी ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। यदि ईश्वर मानते हो तो चाहे निराकार मानो या साकार, तुम्हारे हिन्दूपन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ईश्वर को शिव के रूप में, विष्णु के रूप में, शक्ति के रूप में—चाहे जिस रूप में मानो, तुम स्वतंत्र हो और तुम्हारे हिन्दूपन पर आँच न आवेगी। उपासना और दर्शन में तुम्हें पूरी स्वतन्त्रता है। अतएव हिन्दू होने के लिए दूसरे धर्मों की तरह किसी एक विशेष बात पर विश्वास करना या मानना आवश्यक नहीं है। हिन्दुओं में पूर्ण विचार स्वातन्त्र्य है। और चूँकि मैं विचार-स्वातन्त्र्य को बहुत महत्व देता हूँ, इसलिए अपने को हिन्दू कहता हूँ। अब रही रोली का टीका लगाने की बात। समाज ने अपने सामाजिक जीवन को

सुचारुरूप से चलाने और समाज में एकरूपता लाने के लिए कुछ रीतिरिवाज चला रखे हैं जो सामाजिक जीवन को शृंखलित रखने में सहायक हैं। उनको आप करते जाइए। आप से कहा गया कि यहाँ फूल चढ़ा दो, यहाँ अक्षत डाल दो, यहाँ जल डाल दो। आप करते जाइए। कोई आपके हृदय की खिड़की को खोल-कर नहीं देखता कि आपके विश्वास क्या हैं, समाज ने कुछ प्रथायें चला दी हैं। समाज के सदस्य होने के कारण आप उन्हें करते जाइए, और इनमें से कितनी प्रथायें बदलती रही हैं, तथा कई हमारे सामाजिक इतिहास और अनुभव की यादगार हैं। अपने को हिन्दू कह कर मैं कोई भी विचार रख सकता हूँ और इसीलिए वह मुझे सुविधाजनक मालूम होता है।

उस संध्या को हमें वहाँ डेढ़-दो घंटे बैठना था। आचार्य जी भी वहाँ बैठने को विवश थे। हमें उनके वार्तालाप में बड़ा रस आया, किन्तु हम उस लम्बे वार्तालाप का (जो प्रायः ३५-३६ वर्ष पूर्व हुआ था) केवल अति संक्षिप्त सारांश ही दे सकते हैं। हम इसे इस आशा से दे रहे हैं कि आज जो विवाद उठ खड़ा हुआ है कि हिन्दू कौन है, उस पर विचार करते समय पाठकों को शायद इससे कुछ सहायता मिले।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की जयन्ती

•

सितम्बर के अन्त में बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान्, समाजसुधारक और शिक्षाशास्त्री श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की जयन्ती सारे देश में मनायी गयी। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में देश में एक साथ इतने महान् पुरुषों ने जन्म लिया था कि इधर प्रतिवर्ष दो-चार महापुरुषों की जयन्तियाँ या मृत्युतिथियाँ मनायी जाती हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उस शती के महान् पुरुषों में भी अनोखे थे। उनमें अपूर्व प्रतिभा थी, और १९ वर्ष की अवस्था ही में उन्होंने संस्कृत साहित्य, व्याकरण, स्मृतियों और शास्त्रों में ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया था कि लोग उन्हें 'विद्यासागर' कहने लगे, और जनता की स्वेच्छा से दी हुई यह उपाधि उनके नाम के साथ अभिन्न हो गयी। २० वर्ष की अवस्था में वे फोर्ट विलियम कालिज में अध्यापक नियुक्त हुए। यहाँ उन्होंने निजी अध्यापकों को रखकर अंग्रेजी और हिन्दी पढ़ी तथा इन भाषाओं में वे शीघ्र ही इतने निष्णात हो गये कि उन्होंने शेक्सपियर के एक ना क का अंग्रेजी से, और 'वैतालपचीसी' का हिन्दी से बँगला में बड़ा सफल अनुवाद कर डाला। बाद में वे कलकत्ते के प्रसिद्ध संस्कृत कालिज के प्राचार्य (प्रिंसिपल) नियुक्त हो गये और उन्हें बड़ा ऊँचा वेतन मिलने लगा। वे अंग्रेजी, संस्कृत और बँगला के चोटी के विद्वान् थे। उन्होंने देखा कि बँगला में विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें नहीं हैं। इतने बड़े विद्वान् और एक कालिज के प्रिंसिपल होते हुए भी उन्होंने बालकोपयोगी पुस्तकें लिखीं। उनकी संस्कृत और बँगला भाषा की रीडरें इतनी लोकप्रिय हुईं कि बंगाल की कई पीढ़ियों ने उनसे संस्कृत और

बँगला सीखी। रीडरों के अतिरिक्त उन्होंने ईसप्स फेबल्स का बँगला अनुवाद किया, महापुरुषों की सरल जीवनियों की एक पुस्तक लिखी, आरम्भिक विज्ञान पर भी बालोपयोगी पुस्तकें लिखीं। इनकी भाषा इतनी सरल, स्वाभाविक और परिमार्जित थी कि बंकिमचन्द्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ टागोर ऐसे मनीषियों ने उसे परिनिष्ठित बँगला माना।

किन्तु ईश्वरचन्द्र अपनी विद्वत्ता के लिए इतिहास में अमर नहीं हुए। उस दिनों बंगाल में अंग्रेजी के प्रभाव और ईसाई मिशनरियों के प्रचार के कारण नवशिक्षित बंगाली हिन्दुओं में हिन्दूधर्म के प्रति संदेह की भावना उत्पन्न हो गयी थी। माइकेल मधुसूदनददत्त के समान कितने ही शिक्षित बंगाली ईसाई हो गये, किन्तु राजा राममोहन राय ने ब्राह्मोसमाज की स्थापना कर हिन्दूधर्म के कुछ मूल सिद्धान्तों को मानते हुए उसमें से बहुत-सी वे बातें निकाल दीं जो पाश्चात्य संस्कारों के शिक्षित बंगालियों को अमान्य थीं। उनके इस ब्राह्मोसमाज ने कितने ही अंग्रेजी शिक्षित हिन्दुओं को ईसाई होने से बचाया। इस दृष्टि से वे महान् धार्मिक सुधारक थे। इसके विपरीत, ईश्वरचन्द्र पुराने संस्कारों के हिन्दू थे। हिन्दूधर्म में उनकी आस्था थी। किन्तु वे हिन्दू समाज में फैली हुई कुछ कुप्रथाओं से बहुत असंतुष्ट थे और उन्होंने उन्हें बदलने का बीड़ा उठाया। उन दिनों 'कुलीन ब्राह्मणों' में बहुपत्नी करने की प्रथा थी। उसके परिणाम बड़े भयंकर होते थे। अबोध बालिकाओं के विवाह कर दिये जाते थे और उनमें से अनेक किशोरावस्था में पहुँचने के पहिले ही विधवा हो जाती थीं। समाज में इन विधवाओं का जीवन बड़ा दयनीय था। विद्यासागर ने कुलीनों के बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध ऐसा आन्दोलन किया कि उस प्रथा का ह्रास होने लगा। किंतु उनके जीवन का मुख्य कार्य विधवा विवाह का प्रचार था। आज इस बात को समझना बड़ा कठिन है कि सौ साल पहिले समाज में उसका कितना विरोध हुआ होगा और विद्यासागर को कितना अपमानित और लांछित होना पड़ा होगा। किन्तु उन्होंने अपनी सारी शक्ति उसके प्रचार में लगा दी। शास्त्रों के गहन अध्ययन का लाभ उठाकर उन्होंने उसे धर्मसम्मत सिद्ध किया। उसके पक्ष में अनेक शास्त्रार्थ किये, पुस्तकें लिखीं और अन्त में विधवा-विवाह कानून बनवाने में सफल हुए। यही नहीं, उन्होंने कितनी ही विधवाओं से विवाह करने के लिए नवयुवकों को राजी किया और दो वर्षों में उन्होंने प्रायः २४-२५ विवाह अपने व्यय से कराये जिनमें अपने पास से २५,००० रु० खर्च किये। उन दिनों यह राशि कितनी मूल्यवान थी, इसका अनुमान आज की नयी पीढ़ी कठिनाई से कर सकती है। इस प्रकार हिन्दूधर्म में विश्वास रखते हुए उन्होंने हिन्दू समाज में अनेक सुधार किये और इसीलिए वे अपने समय के महान् समाजसुधारक थे।

उन दिनों संस्कृत कालिज के प्रिंसिपल को प्रायः एक हजार वेतन मिलता था जो उस समय बड़ी राशि समझी जाती थी। किन्तु ईश्वरचन्द्र अपनी सारी आय (वेतन और पुस्तकों की रायल्टी) दूसरों की सहायता में खर्च कर देते थे। वे दूसरों का दुःख देखकर इतने कातर हो जाते थे कि ऋण लेकर भी उनकी सहायता करते थे। उनका हृदय विशाल था। कोई भी दीन दुखी हो—वह चाहे हिन्दू हो या मुसलमान या ईसाई—वे सबकी समान भाव से सहायता करते थे। प्रसिद्ध बँगला कवि माइकेल मधुसूदनदत्त की भारी आर्थिक सहायता कर उन्हें ऋण के कारण फ्रांस में जेल जाने से बचाया था। लोग उन्हें 'दयासागर' भी कहते थे—और वास्तव में यदि पहिले से उनके नाम के साथ 'विद्यासागर' की उपाधि न जुड़ गयी होती तो यही उपाधि उनके लिए उपयुक्त थी।

इतने बड़े पद पर रहते हुए भी वे बड़े सादे ढंग से रहते थे। केवल चप्पल, मोटी धोती, मोटा कुर्ता और चदरा उनका परिधान था। इससे लोगों को उन्हें देखकर कभी-कभी भ्रम भी हो जाता था। किन्तु और गुणों के साथ उनमें बड़ी सहिष्णुता और हास्यप्रियता भी थी। एक बार वे किसी रेल स्टेशन पर

उतरे। एक अंग्रेजी सूट पहिने युवक "कोई आदमी है ?" कहकर किसी मोटिया (कुली) की तलाश कर रहा था। विद्यासागर ने उसे देखा। उन्होंने तुरन्त उसका छोटा-सा सन्दूक और बिस्तर उठा लिया। उनका परिधान देखकर उस नये साहब युवक ने उन्हें मामूली मोटिया समझ लिया था। किन्तु जब वह स्टेशन से बाहर निकले और कुछ लोगों ने उन्हें पहिचान कर उनके चरण स्पर्श किये तब उसे कुछ आश्चर्य हुआ। किन्तु शीघ्र ही वे स्टेशन से बाहर पहुँच गये और उसका सामान रखकर चलने लगे। वह युवक मूर्खतावश उन्हें मजदूरी के पैसे देने लगा, तो उन्होंने कहा—"तुम चिल्ला रहे थे कि 'कोई आदमी है ?' मैं अपने को आदमी समझता हूँ, इसलिए तुम्हारा सामान ले आया। मैं कुलीगीरी नहीं करता।" बाद में जब उसे मालूम हुआ कि वह व्यक्ति जिसे वह कुली समझे हुए था, प्रसिद्ध विद्यासागर हैं, तब उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

उनके हास्य बोध और हास्यप्रियता का भी एक उदाहरण उल्लेखनीय है। वे किसी सरकारी काम से रेल से जा रहे थे और प्रिंसिपल होने के कारण उन्हें रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में चलना था। वे एक डिब्बे में घुसे। उसमें एक बर्थ के एक किनारे पर एक अंग्रेज और दूसरे किनारे पर एक दूसरा अंग्रेज बैठा था। बीच के खाली स्थान में विद्यासागर बैठे गये। एक अशिक्षित लगनेवाले धोती-चप्पलधारी को अपने बीच में बैठा देखकर यह समझ कर कि वह व्यक्ति अंग्रेजी नहीं जानता होगा, एक ने कहा Damn ! (भाड़ में जाने योग्य)। दूसरा बोला Idiot ! (मूर्ख)। विद्यासागर ने बड़े भोलेपन से कहा—How wonderful ! I am between both of them (कितना आश्चर्यजनक है कि मैं दोनों के बीच पड़ गया हूँ !) इस अप्रत्याशित उत्तर को सुनकर दोनों गौरांग महाप्रभु हतप्रभ हो गये।

विद्यासागर उससे भी अधिक दयासागर, ईश्वरचन्द्र की जयन्ती देशवासियों ने मनाकर एक महा-मानव का सम्मान किया है। 'सरस्वती' उन्हें अत्यन्त विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करती है।

पुरातत्त्व विभाग की प्रथम जन्म-शती

भारत के पुरातत्त्व विभाग की योजना १८६१ में स्वीकार कर ली गयी थी किन्तु वास्तव में उसकी स्थापना २ फरवरी १८७१ में हुई जब पुरातत्त्व विभाग के महानिदेशक पद की नियुक्ति हुई। प्रथम महा-निदेशक मेजर जनरल अलक्जेंडर कनिंगहम थे। वे सेना के इंजिनियर दल में थे, किन्तु उन्हें भारत के पुराने भवनों और ऐतिहासिक वस्तुओं से इतना प्रेम और उनमें इतनी रुचि थी कि वे उस समय के अनेक जिज्ञासु सैनिक और असैनिक अधिकारियों की तरह निजी ढंग से उनका अध्ययन करते थे। जब तत्कालीन भारत की अंग्रेज सरकार ने ऐतिहासिक स्थानों का सर्वेक्षण कराने का निर्णय किया तो सहज ही उसका ध्यान जनरल कनिंगहम की ओर गया और वे महासर्वेक्षक बना दिये गये। बाद में जब पुरातत्त्व विभाग बना और उसके महानिदेशक पद के भरने का प्रश्न सामने आया तो उनसे अधिक उपयुक्त और योग्य कोई व्यक्ति नहीं मिला। वे उस पद पर नियुक्त कर दिये गये और १५ वर्ष ८ महीने अत्यन्त योग्यता और सफलतापूर्वक काम करने के बाद १ अक्टूबर १८८५ को सेवा निवृत्त हुए।

उन दिनों न रेल की ही ऐसी सुविधा थी, न पक्की सड़कें ही थीं और न मोटर ही थी। फिर भी जनरल कनिंगहम ने उत्तर भारत के दुर्गम स्थानों का दौरा कर भारतीय पुरातत्त्व सम्बन्धी स्थानों की जो रिपोर्ट तैयार की है, उनकी गहराई और कनिंगहम की पैनी दृष्टि पर आश्चर्य होता है। उनकी निगाह इतनी तेज थी और छोटे-छोटे तथा वे स्थान भी जो उस समय कम महत्त्व के मालूम पड़ते थे या एकदम

अज्ञात थे , उनके निरीक्षण से नहीं बचे । उदाहरण के लिए उन दिनों ही उनकी निगाह हड़प्पा पर पड़ी थी जो बाद में मोहन-जो-दड़ो के समकक्ष महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुआ । भारहुत के संसार-प्रसिद्ध स्तूप की खोज करने और उसे प्रकाश में लाने का श्रेय भी उन्हीं को था । उन्होंने पुरातत्त्व विभाग की जो स्वस्थ परम्पराएँ डालीं उन पर चलकर पुरातत्त्व विभाग ने आज का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया ।

वास्तव में इस विभाग की स्थापना का श्रेय लार्ड मेयो को है जो सन् १८७० में भारत के वायसराय थे। उन्हीं के प्रस्ताव पर यह विभाग खोला गया था । दूसरे व्यक्ति जिसने पुरातत्त्व विभाग को नया जीवन दिया और उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार किया, वह थे लार्ड कर्जन । उन्हें पुरातत्त्व से प्रेम था और वास्तव में उन्हीं के समय में उस विभाग का महत्त्व बढ़ा !

इन सौ वर्षों में पुरातत्त्व विभाग ने हजारों ऐतिहासिक स्थानों के महत्त्व की खोज की, उनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक मूल्यांकन किया, उन पर महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये, उनके फोटोग्राफ तैयार किये और उनका संरक्षण किया । यदि पुरातत्त्व विभाग न होता तो इस देश में अशिक्षित, अज्ञानी और कल्पनाहीन स्वार्थी व्यक्तियों ने हमारे इतिहास के कितने ही गौरव के चिह्नों को नष्ट कर दिया होता ।

पुरातत्त्व विभाग ने पुराने शिलालेखों और मुद्राओं में अंकित शब्दों का अध्ययन भी किया और उनके अनुवाद प्रकाशित किये । जगह-जगह संग्रहालय खोलकर प्राचीन मूर्तियों और कलाकृतियों का संरक्षण किया, तथा अपने मूल्यवान प्रकाशनों द्वारा जनता को उनका परिचय देकर उसे अपने अतीत के गौरव और इतिहास से अवगत कराया ।

इस लम्बी अवधि में उसमें जिन पुरातत्त्वविदों ने काम किया उन्हें जितना श्रेय दिया जाय वह कम है । मार्शल, राखालदास बंद्योपाध्याय, हीरानन्द शास्त्री, साहनी आदि अनेक ऐसे विद्वानों का सम्बन्ध इस विभाग से रहा है जिनके कृतित्व और खोजों ने भारतीय इतिहास के अनेक छिपे हुए तत्त्वों को प्रकाश में लाने में सहायता की ।

किन्तु इधर कुछ दिनों से भारत के पुरातत्त्व विभाग की कार्य-शैली और उद्देश्यों में परिवर्तन दिखायी पड़ने लगा है । कई वर्ष पूर्व तत्कालीन भारत सरकार ने सर मार्टिसन हीलर नामक एक प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् को इंगलैण्ड से बुलाकर इस विभाग का महानिदेशक बनाया । उन्होंने सुमेरिया के पुरातत्त्व में बहुत अच्छा काम किया था और उनकी रुचि प्राग्ऐतिहासिक काल में थी । अतएव पाषाण तथा ताँबे के युगों के अनुसंधान पर विशेष बल दिया जाने लगा और भारत के पुरातत्त्व विभाग का जो मुख्य उद्देश्य था—भारत के ऐतिहासिक पुरातत्त्व की खोज, वह गौण हो गया । मौर्य, शुंग, गुप्त आदि युगों पर इधर कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य इसी कारण नहीं हो सका । उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान और आगे नहीं बढ़ा । सर मार्टिसन हीलर अब यहाँ नहीं हैं, किन्तु पुरातत्त्व विभाग अब भी अधिकतर उनकी बतायी लीक पर चल रहा है । इधर जो थोड़े बहुत भारतीय इतिहास के अनुसंधान हुए भी हैं वे अधिकतर विश्वविद्यालयों के द्वारा हुए हैं, किन्तु उनके साधन अत्यन्त सीमित हैं और वे उसे पूरा समय भी नहीं दे सकते । अतएव यह आवश्यक है कि पुरातत्त्व विभाग अपनी धुरी पर फिर आ जाय और अपने साधनों और शक्ति का अधिकांश उपयोग भारत के ऐतिहासिक युगों के अवशेषों के अनुसंधान में लगावे ।

इस बीच उसने कुछ उल्लेखनीय कार्य भी किया है । श्री कृष्णदेव ने भारतीय मन्दिरों पर जो कार्य किया है, उनका बारीकी से अध्ययन करके उन पर जो विशाल ग्रन्थ तैयार किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है ।

हम इस अवसर पर भारतीय पुरातत्त्व विभाग को एक शती पूर्ति पर हार्दिक बधाई देते हैं । उसने

भारत के ऐतिहासिक अवशेषों की खोज, पुनरुद्धार और संरक्षण में जो स्तुत्य काम किया है वह गर्व की वस्तु है। उसने संग्रहालयों को स्थापित करके जनता को अपने अतीत की झाँकी देकर उससे परिचित कराया है। किन्तु वह मूर्तियों की चोरियों और तस्वीरी व्यापार को रोकने में असमर्थ रहा है। इधर पिछले कुछ वर्षों में हमारे अतीत के कितने ही अमूल्य अवशेष विदेशों में पहुँच गये हैं—यहाँ तक कि देवगढ़ के समान विभाग द्वारा सुरक्षित स्थानों से और मथुरा और दिल्ली ऐसे महत्त्वपूर्ण संग्रहालयों तक से चोरियाँ हुई हैं। इस विभाग का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिए जितने धन की आवश्यकता है उतना हमारी सरकार उसे नहीं देती। इससे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किये जा सकते और उसके कार्य की गति भी मन्द है। परिणाम यह है कि ताजमहल के समान कुछ विशिष्ट और प्रसिद्ध स्थानों को छोड़कर औरों के संरक्षण और रख-रखाव पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। विभाग के प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण हैं। वे भी प्रायः देर से निकलते हैं और उनका प्रचार भी केवल कुछ विद्वानों तक सीमित है। इस विभाग की सबसे बड़ी असफलता यह रही है कि वह जनता को अपने कार्य और महत्त्व से परिचित नहीं करा सका, और इसलिए जनता का वैसा सहयोग भी उसे प्राप्त नहीं हुआ जैसा कि मिलना चाहिए। इसके मुख्य कारण दो हैं: पहिला यह कि वह अपने प्रकाशन मुख्य रूप से अंग्रेजी में करता है। हिन्दी में और प्रमुख भारतीय भाषाओं में करने से उसके कार्य का ज्ञान देश की वास्तविक जनता को होगा। राजभाषा हिन्दी में उसके प्रकाशनों का न होना आपत्तिजनक और संविधान के विरुद्ध भी है। दूसरा कारण यह है कि सामान्य जनता की जानकारी के लिए सरल भाषा और सरल शैली में लिखे गये प्रकाशन करने की ओर भी उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। अधिकांश प्रकाशन विशेषज्ञों के काम के होते हैं। हम यह बातें विभाग के कार्य के महत्त्व को कम करने के लिए नहीं कह रहे। हम ये सुझाव इस दृष्टि से दे रहे हैं कि इस महत्त्वपूर्ण विभाग ने जो स्तुत्य कार्य अब तक किया है वह देश की सामान्य जनता तक पहुँचे, उससे उसे लाभ हो और वह विभाग के महत्त्व को समझ कर उसके प्रति अनुरक्त हो। तभी वह सरकार पर इस विभाग को अधिक धन देने के लिए दबाव डाल सकती है। हम आशा करते हैं कि दूसरी शती में यह विभाग और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा।

●

भगवान राम का अपमान

●

तमिलनाडू के सेलम नगर में द्रविड़ कड़गम के बदनाम नेता रामस्वामी नायकर ने 'अन्धविश्वास विरोधी' सम्मेलन के नाम से एक आयोजन किया। उनका कहना है कि जो लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं, वे मूर्ख हैं। रामस्वामी नायकर की तुलना चार्वाक से करना, चार्वाक का अपमान होगा। गजनी आदि मूर्तिभंजक थे और वे जिस युग में थे उसमें उस प्रकार की धर्मान्धता कुछ लोगों में सामान्य थी। किन्तु आज हम बीसवीं शती में रह रहे हैं। हम उस भारत में रह रहे हैं जिसके संविधान में धर्मनिरपेक्षता के साथ-साथ सब धर्मों को अपने धर्म के पालन का पूरा अधिकार है। ऐसा कोई काम करना जिससे दूसरे धर्मवालों का जी दुखे, नैतिक और सामाजिक दृष्टि ही से हेय नहीं, कानून से भी वर्जित है। किन्तु इसी युग में, और इसी देश में, रामस्वामी नायकर ने भगवान् राम का जो सार्वजनिक अपमान, द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम की सरकार के संरक्षण में किया, उसका दूसरा उदाहरण मिलना असम्भव है। इस घृणित कार्य का जोड़ केवल मुन्नेत्र कड़गम सरकार की निष्क्रियता ही है। उसने अपनी पुलिस के संरक्षण में यह कुकृत्य होने दिया और इस काण्ड के प्रधान सूत्रधार और उत्तरदायी रामस्वामी के विरुद्ध कोई कार्यवाई नहीं की। इससे सारे देश की हिन्दू जनता को जो मार्मिक चोट पहुँची है वह असहनीय है। यदि इसकी प्रतिक्रिया में कोई अप्रिय काण्ड नहीं हुआ तो इसका श्रेय हिन्दुओं की अन्धी सहिष्णुता ही को है। जिसे रामस्वामी नायकर 'अन्धविश्वास' कहते हैं, वह हिन्दुओं में ही नहीं है, बौद्धों, जैनियों, सिखों, मुसलमानों और ईसाइयों

में भी तरह-तरह के अन्धविश्वास हैं। तथाकथित 'अन्वविश्वास' हिन्दुओं ही का इजारा नहीं है। यदि वे वास्तव में 'अन्धविश्वासों' के विरुद्ध जिहाद कर रहे हों तो वे भारत के किसी और धर्म की पूज्य और श्रद्धास्पद विभूति का वैसा ही अपमान करके देखें कि उसका क्या परिणाम होता है। किन्तु रामस्वामी नायकर ऐसे व्यक्ति कायर होते हैं। वे उसी को अपमानित करने का साहस करते हैं जिनसे उन्हें खतरा नहीं होता।

इस काण्ड में हमारे राजनीतिक नेताओं और भारत सरकार का रवैया भी बहुत असन्तोषजनक रहा। जेरूसलम की मस्जिद में आग लगने पर इन लोगों ने खेद और भर्त्सना के वक्तव्यों की झड़ी लगा दी थी, और उनकी वाग्मिता (वाचालता) प्रखर हो उठी थी। अपने ही देश में धार्मिक उत्तेजना और साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने वाली घटना होने पर भी उनकी वाणी मौन हो गयी, और जो भारत सरकार विशेष प्रकार के साम्प्रदायिक तनावों को रोकने के लिए इतनी विकल रहती है, उसने कोई औपचारिक कार्रवाई भी की या नहीं—यह हमें ज्ञात नहीं है। किन्तु हमारे नेताओं और भारत सरकार को अंग्रेजी की यह कहावत याद रखनी चाहिए कि एक ऐसी स्थिति भी आ जाती है जब पददलित नगण्य कीड़ा भी सिर उठा लेता है।

तमिलनाडू की सरकार ने हो-हल्ला मचने पर उस सम्मेलन के आयोजकों के विरुद्ध कुछ सामान्य कानूनी कार्रवाई अवश्य की है, किन्तु वह भी तब जब उसने देखा कि उसी के राज्य में उस काण्ड की प्रतिक्रिया जोर पकड़ रही है। अतएव उस औपचारिक कानूनी कार्रवाई को लोग 'लीपापोती' का और अपने बचाव का प्रयत्न समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। इतना ही नहीं, इस काण्ड से जनता को अवगत कराने के लिए कुछ लोगों ने जो सचित्र विज्ञापन छपाये थे, तथा 'तुगलक' नामक पत्र ने जिस अंक में उस काण्ड के चित्र दिये थे, उन्हें उसने जब्त कर लिया। इसपर उर्दू का यह शेर याद आता है—

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम
वे कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता।

●

दो वीर देश

•

जब प्रथम महायुद्ध हो रहा था तब हम कालेज के विद्यार्थी थे। समुद्रों पर ब्रिटिश नौसेना का आधिपत्य था, किन्तु युद्ध सहसा आरंभ हो गया था और 'ऐमडेन' (Emden) नाम का एक छोटा जर्मन क्रूजर उस समय हिन्द महासागर में फँस गया था। वह जर्मनी नहीं पहुँच सकता था क्योंकि जर्मनी के रास्ते पर ब्रिटिश नौसेना की बड़ी कड़ी नाकेबन्दी थी। उसके कप्तान ने हिन्द महासागर में ब्रिटिश व्यापारी पोतों को डुबोना आरंभ कर दिया। उसने बीसों मालवाहक जहाजों को डुबो दिया और सारे हिन्दमसागर में उसका आतंक फैल गया। किन्तु उसका कप्तान बहुत सज्जन था। शत्रु का पोत डुबोने के पहले वह उसके यात्रियों और नाविकों को बचानेवाली नावों में उतरकर प्राण बचाने का अवसर देता था। हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों में कोई ऐसा जर्मनो का मित्र देश न था जिसमें वह शरण लेता या जहाँ वह कोयला-पानी ले सकता। चारों ओर शत्रु देश थे और ब्रिटिश नौसेना के शक्तिशाली सैनिक पोत उसकी तेजी से खोज कर रहे थे, किन्तु उसने कई सप्ताह इस चतुरता और दक्षता तथा यात्रियों के साथ सौजन्य का वर्ताव किया कि शत्रु भी उसका सम्मान करने लगे। अन्त में आस्ट्रेलिया के पास कॉकस द्वीप के पास वह ब्रिटिश नौसेना के घेरे में फँस गया और डुबो दिया गया। उस समय उसकी वीरता और दक्षता की प्रशंसा में हमने किसी अमरीकन या इंग्लैण्ड के पत्र में किसी अंग्रेज की लिखी एक कविता पढ़ी थी जिसमें अंग्रेज होते हुए भी ऐमडेन और उसके वीर नाविकों की प्रशंसा की गयी थी। इस कविता के दो छंद ये हैं :

THE MEN OF THE EMDEN

What matter if you
Be staunch and true
To the British blood in the veins of you,
When it's "hip hurrah" for a deed well done,
For a fight well fought and a race well run,
What matter if you be true,
Hats off to the Emeden's crew !
Their's was the life of a storm gods folk,
Uncountedmiles from the Fatherland,
With a foe beneath every wisp of smoke.
And a menace in every strip of strand.
Erect on the wave washed deck stood they.
And heard with a viking's grim delight
The whir of the wings of death by day,
And the voice of death in their dreams of night.
Under the sneep of the wings of death,
By the blazing gun, in the tempests breath,
While a orld of enemies strove and fumed,
Remote, unaided, undaunted, doomed
They stood,—is their any friend or foe
Who will choke a cheer ? who can still but squaff ?
No, no, by the god of valour no !
To the Emden's crew hats off !
इसका भावार्थ यह है—

ऐमडेन के नाविक सैनिक

इससे क्या मतलब कि तुम अपनी धमनियों में संचार होनेवाले ब्रिटिश रक्त के प्रति पूर्णरूप और दृढ़ता से वफादार हो। जब किसी काम को भली भाँति और सही ढंग से दक्षतापूर्ण करने, किसी लड़ाई को जमकर लड़ने या किसी दौड़ को अच्छी तरह दौड़ाने की सराहना में 'हिपहुर्रा' किया जाय तो तुम्हारी देश की प्रतिनिष्ठा से क्या मतलब। अतएव ऐमडेन के सैनिकों के सम्मान में अपना टोप उत्तर लो।

उनका जीवन तूफान के देवताओं के लोगों की तरह था। वे अपनी मातृभूमि से अनगिनत मीलों दूर थे। जहाँ कहीं दूर पर चिमनी का धुआँ दिखायी पड़ता, वे उसे शत्रु के जहाज से निकलता धुआँ समझते थे, और समुद्र तट के प्रत्येक भाग में उन्हें शत्रुओं की उपस्थिति का आभास होता था।

समुद्र की वेगवती लहरें उनके जहाज के 'डैक' को बारम्बार टकराकर गीला कर रही थीं। किन्तु वे उस पर डटकर सीधे खड़े रहे। और वे प्राचीन काल के साहसिक नाविक (वाइकिंग) की तरह कठोर

प्रसन्नता से दिन में मृत्यु के पंखों (परों) की फड़फड़ाहट सुनते और रात में स्वप्न में मृत्यु की पुकार (आवाज) सुनते रहे। मृत्यु के पंखों के नीचे रहते हुए भी, आग उगलती तोपों के सान्निध्य में, और समुद्री तूफानों के बीच में—जब शत्रुओं का सारा संसार उन्हें मार डालने के लिए सतत प्रयत्न कर रहा था और क्रोध से उनका पीछा कर रहा था, उस समय अपने देश के बहुत दूर, सहायताहीन, बिना किसी भय या घबड़ाहट के और यह जानते हुए भी कि हमारी मृत्यु निश्चित है, वे अपने कर्त्तव्य-पथ पर डटे रहे। क्या उनका कोई ऐसा मित्र या शत्रु होगा जो उनकी सराहना में अपने भावों को रोक सकेगा, जो उनके प्रति अवज्ञा मात्र दिखला सकेगा ? नहीं, नहीं, वीरत्व के देवता की दुहाई है कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा। ऐमडेन के वीर नाविक सैनिकों के प्रति सम्मान में अपना टोप उतार लो।

"शत्रोऽपि गुणावाच्या" का युद्ध के समय में (जब भावनाएँ विवेक को अंधा कर देती हैं) हमें इससे अच्छा उदाहरण देखने को नहीं मिला। अंग्रेजों की 'स्पोर्ट्समैनशिप' (न्यायप्रिय अच्छे खिलाड़ीपन) के गुण की इसमें स्पष्ट झलक है। अंग्रेजों में अनेक दोष हैं किन्तु उनमें बहुत से गुण भी हैं, और यह उनका एक विशेष गुण है।

हमें इधर कई बार इस कविता की याद हो आयी। बंगलादेश में जब वहाँ के निवासियों पर अमानुषिक अत्याचार हो रहे थे और जब वहाँ के नवयुवकों ने मुक्तिवाहिनी बनाकर प्रायः खाली हाथ, या अप्रशिक्षित हाथों में घटिया हथियार लेकर एक अत्यन्त कुशल, निर्मम और दुर्दान्त सेना का सामना किया तब हमें इस कविता में लिखे हुए "हैट्स आफ" (सम्मान से सिरा झुका लो) की याद आयी। चारों ओर अपने से कई गुना अधिक शत्रुओं के विशाल राज्यों से घिरे जेबी राज्य इसराइल के मुट्ठी भर यहूदियों ने जब वीरता से शत्रुओं का सामना किया तब उसके प्रति 'हैट्स ऑफ' करने की इच्छा हुई, और अब जब तीस वर्ष से युद्ध में रत उत्तरी वियतनाम पर भीषण अमरीकन बम वर्षा हो रही है और फिर भी वहाँ के वीर अपना मनोबल ऊँचा रखे हुए, भारी कीमत चुकाते हुए भी, जिस अपूर्व साहस, दृढ़ता और वीरता का परिचय दे रहे हैं, तब हमें उनके प्रति "हैट्स ऑफ" करने को विवश हो जाना पड़ता है।

अवश्य ही 'ऐमडेन' के असहाय और निराश वीर नाविकों की वीरता की तुलना इन तीनों से नहीं की जा सकती। बँगलादेश को अंत में भारत की सहायता मिली, इसराइल को अमरीका की और उत्तरी वियतनाम को भारी रूसी सैनिक सहायता मिल रही है। किन्तु मिस्र को भी भारी रूसी सहायता मिली थी। फिर भी वह इसराइल के सामने नहीं ठहर सका। सहायता साधन मात्र है। वास्तविक वस्तुएँ राष्ट्र या व्यक्ति का चरित्र, साहस, युद्धकौशल, दृढ़ता और मनोबल हैं। यदि भारी सहायता भी मिले तो भी मिस्र की तरह चरित्रबल, कुशलता और मनोबल के अभाव में वह काम नहीं करती। हम राजनीतिक दृष्टि से न इसराइल के समर्थक हैं और न उत्तरी वियतनाम के। हम तटस्थ हैं। किन्तु उपर्युक्त कविता की भावना के अनुसार 'अच्छी लड़ाई लड़ने के लिए' (for a fight well fought) हम उत्तरी वियतनाम के प्रति सम्मान में अपनी टोपी उतार लेते हैं।

यदि इसराइल, मिस्र, जार्डन, सीरिया, दक्षिणी वियतनाम और उत्तरी वियतनाम को 'संसार में अपने प्रभाव के विस्तार के महत्त्वाकांक्षी महाराष्ट्र' दिल खोलकर मुक्त सैनिक सहायता न देते तो भारत-पाक युद्ध की तरह ये युद्ध भी कुछ दिनों या कुछ सप्ताहों में समाप्त हो जाते। धन-जन की जो अपार हानि हुई है और हो रही है; वह नहीं होती; या यदि इन छोटे राष्ट्रों में यथार्थता को स्वीकार कर कुछ आदान-प्रदान करके आपसी झगड़ों को सुलझाने की सद्‌बुद्धि होती तो इन छोटे देशों रूपी बिल्लियों के झगड़ों से महाशक्तिरूपी बन्दरों को 'बन्दर बाँट' करने का अवसर न मिलता। मनुष्य ने चाहे

जितनी भौतिक और वैज्ञानिक उन्नति क्यों न कर ली हो, उसने पर्याप्त नैतिक उन्नति नहीं की। अब भी उसकी पशुत्व की भावनायें प्रबल हैं। टालस्टाय, गांधी और रवीन्द्र 'मानवता' का चाहे जितना स्वप्न देखें, उनके संदेशों का बुद्धिवादी स्तर पर चाहे जितना ढिंढोरा पीटा जाय, मानव से 'मानवता' अभी दूर ही दिखलायी पड़ती है। अपने 'पशुत्व' का परिणाम मानव को भोगना ही पड़ेगा, और विज्ञान जो मानव के लिए वरदान हो सकता था, वह नये-नये भयंकर और ऐसे विनाशकारी नरसंहार के अस्त्र-शस्त्र निकाल रहा है कि उनके परिणामों को देखकर वैज्ञानिक उन्नति मानव के लिए भयंकर अभिशाप मालूम होती है। हमारे देश ने सार्वभौमिक शान्ति की कल्पना ही नहीं की थी, उसको बहुत कुछ जीवन में उतार भी लिया था। हम वनस्पति, औषधि, जल—सबकी शांति और सबका कल्याण चाहते थे, किंतु आज विनाशकारी बमों द्वारा वियतनाम में जंगल के जंगल नष्ट किये जा रहे हैं। युद्ध ही में नहीं, विज्ञान के कारण जल, वायु, वनस्पति—सब दूषित हो रहे हैं। उन्हें शान्ति कहाँ ? आर्यों का वैदिक शान्ति पाठ था :

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवी शान्ति रापः
शान्ति रोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्व्विश्वेदेवाः
शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व — शान्तिरेव शान्तिः
सामा शान्तिरेधि। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः
सुशान्तिर्भवतु। सर्वारिष्टं शान्तिर्भवतु।

क्या हमारे प्राचीन ऋषियों की यह विश्व-कल्याणकारी शांति की महान् कल्पना इस भौतिक, जड़-वादी और नैतिकताहीन वैज्ञानिक युग में कभी अंशतः भी साकार हो सकेगी ?

बुद्धिजीवियों को निमन्त्रण

•

केन्द्रीय मन्त्री श्री उमाशंकर दीक्षित ने कानपुर में अपने एक भाषण में बुद्धिजीवियों को निमन्त्रित किया है कि वे देश की समस्याओं और विशेषकर शिक्षा के सुधार में सरकार का सहयोग करें। यह एक अनोखा निमन्त्रण और ताजगी लानेवाली बात है। कांग्रेस ने अभीतक बुद्धजीवियों की उपेक्षा ही की है। चुनाव के अभ्यर्थी चुनते समय उसके सामने आरम्भ में एकमात्र योग्यता स्वतन्त्रता आन्दोलन में जेल जाना था। उसके बाद चुनाव-क्षेत्र में अधिक संख्या में बसनेवाली जातियों और उपजातियों के लोगों को जो कांग्रेस के सदस्य हो जायँ वरीयता दी जाने लगी। कांग्रेस की धन से सहायता करने वाले कुछ पूँजीपतियों की भी घुसपैठ होने लगी। कांग्रेस बुद्धिजीवियों की कितनी कद्र करती है इसका एक ज्वलंत उदाहरण उत्तर प्रदेश में मिलता है। राज्यपरिषद् (उच्च सदन) में कुछ सदस्य सरकार द्वारा नामित होते हैं। आरम्भ में उसमें एक हिन्दी का साहित्यकार और एक संस्कृत का विद्वान् नामित किया जाता था। स्व० पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, श्रीमती महादेवी वर्मा और स्व० कृष्णदेवप्रसाद गौड़ हिन्दी साहित्यकार के रूप में नामित हुए। संस्कृत विद्वानों में अन्तिम व्यक्ति जो नामित हुए थे वे स्व० पण्डित रामाज्ञा पांडे। उसके बाद यह क्रम बन्द कर दिया गया। अंग्रेजी के दो पत्रकार नामित किये गये। उर्दू का भी एक कांग्रेसी पत्रकार नामित किया गया। किन्तु हिन्दी और संस्कृत के साहित्यकारों और संस्कृत के विद्वानों का बहिष्कार कर दिया गया। अंग्रेजी पत्रकारों में एक स्वतन्त्र किन्तु प्रभावशाली पत्रकार और दूसरे कांग्रेसी

पत्रकार नामित किये गये। जो लोग नामित किये जाते हैं उनकी संख्या ६ है। वे अधिकतर 'कमिटेड' कांग्रेसी होते हैं। यह है कांग्रेस सरकार द्वारा 'बुद्धिजीवियों' के सहयोग और उनकी 'बुद्धि' से लाभ उठाने का तरीका। और इस पर भी श्री दीक्षित बुद्धिजीवियों को सहयोग का निमन्त्रण देते हैं।

कोई बुद्धिजीवी यदि वह अपने प्रति ईमानदार है तो आँख बन्द करके सरकार की हर बात का समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु जब सरकार सदस्यों पर प्रतिबद्धता (कमिटेड होने) की शर्त लगाती है तब कोई स्वाभिमानी और स्वतन्त्रचेता अपने को प्रतिबद्ध करना स्वीकार न करेगा। श्री दीक्षित भी उन्हीं बुद्धिजीवियों को चाहते हैं जो सरकार की समाजवादी नीतियों का समर्थन और प्रचार करें। इस देश में 'समाजवाद' एक नारा बनकर रह गया है। हम कितने ही 'समाजवादी' और तथाकथित सैक्युलर कांग्रेसियों को जानते हैं जो निजी जीवन और व्यक्तिगत विश्वासों में दूसरे 'अप्रतिबद्ध' लोगों से भिन्न नहीं हैं किन्तु वे 'समाजवाद' और 'सैक्युलर' के नारे चिल्लाने में काफी तेज हैं। फिर, जितने लोग 'समाजवाद' का नारा लगाते हैं उनकी समाजवाद की धारणा भी एक सी नहीं है क्योंकि वह 'नारा' मात्र है। समाजवाद और कम्यूनिज़्म में बड़ा सूक्ष्म भेद है। इस भेद को समझना हर एक का काम नहीं है। इसीलिए कांग्रेस में आज जाने-माने कम्यूनिस्ट भी 'समाजवाद' के प्रशस्त द्वार से उसमें घुस गये हैं और वह 'पिंक' (हलके लाल रंग) से दिनोंदिन चटक लाल होती जा रही है। राष्ट्रीयकरण, निजी व्यापार की समाप्ति, प्रत्येक नागरिक को सरकार का वेतनभोगी नौकर बनाना, जनजीवन (उसके खाने-पीने से लेकर उसके कपड़ों तक) का नियन्त्रण करना वे चीजें हैं जो कम्यूनिज़्म की ओर देश को ले जा रही हैं और यह सब 'समाजवाद' के नाम पर। कहा जाता है कि भारतीय समाजवाद अन्य देशों के समाजवाद से भिन्न है, किन्तु उस 'भारतीय समाजवाद' की प्रामाणिक और स्पष्ट व्याख्या (ऐसी जो हमारी तरह के राजनीति से दूर रहनेवाले सामान्य नागरिक सरलता से समझ सकें) हमें आज तक कहीं देखने या पढ़ने को नहीं मिली। जितने नेता उतनी ही समाजवाद की व्याख्याएँ! प्रतिबद्धता (कमिटेड) होने का एक ही अर्थ रह गया है, वह यह कि जो भी सरकार या शक्ति में रहने वाला दल निश्चय करे उसका आँख मूँदकर समर्थन। ऐसी दशा में स्वतन्त्र विचार वाले बुद्धिजीवियों का कांग्रेस में क्या स्थान है?

श्री दीक्षित ने यह भी कहा है कि शिक्षानीति में परिवर्तन की माँग तो की जाती है, लेकिन यह नहीं बताया जाता कि परिवर्तन क्या हो। बुद्धिजीवियों को चाहिए कि वे सारे प्रश्न पर विचार करके प्राइ-मरी से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा के सुधार के उपाय बतावें। एक ओर तो सरकार शिक्षा को अपने पूरे अधिकार में लेने की कार्रवाई कर रही है (लखनऊ विश्वविद्यालय के 'सुधार' का प्रस्तावित विधेयक इसका प्रमाण है), प्राइमरी स्कूलों का सरकारीकरण हो ही गया है और शायद वह दिन भी दूर नहीं कि जब माध्यमिक शिक्षा भी सरकार अपने अधिकार में ले लेवे। उनको और उनकी नीतियों को नेताशाही और नौकरशाही (जिनका शिक्षा की सूक्ष्म बातों से उतना ही सम्बन्ध है जितना पटवारी का स्कूल से) संचाचित करेंगी। शिक्षक और शिक्षाशास्त्री यदि जीवित रहना चाहते हैं तो उन्हें सरकार का 'मोस्ट ओबिडियंट और हम्बुल सर्वेण्ट (अत्यन्त आज्ञाकारी और विनम्र नौकर) होकर रहना होगा। नये शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों, चरित्र-निर्माण की योजनाओं की इन लाल फीताशाही में बँधे नौकरशाहों (जो आज शिक्षा सचिव हैं तो कल कलक्टर या कमिश्नर पद को सुशोभित करेंगे) के संचालन में क्या गुंजाइश हो सकती है, इसे समझने के लिए बहुत कल्पना की आवश्यकता नहीं है। एक समय फ्रांस में इसीप्रकार सर-कार द्वारा शिक्षा का संचालन होता था। एक बार वहाँ के शिक्षामन्त्री ने बड़े गर्व से कहा था कि मैं बतला

सकता हूँ कि इस समय फ्रांस के सारे स्कूलों की अमुक कक्षा में अमुक विषय का अमुक पाठ पढ़ाया जा रहा है। हमारी सरकार तो इतनी कुशल और दक्ष भी नहीं है कि वह यह भी कर सके।

भारत ने अपनी पुरानी शिक्षा-प्रणाली मैकाले के बाद छोड़ दी और यहाँ वही शिक्षा-प्रणाली चल रही है जो इंग्लैण्ड या योरप या अमरीका में चलती है। प्रायः वे ही पाठ्यक्रम हैं, वैसी ही परीक्षाएँ हैं। हमारे विश्वविद्यालय लन्दन विश्वविद्यालय की नकल करके बनाये गये। हाल में अमरीका की नकल में हमारे अनेक विश्वविद्यालयों ने 'सेमिस्टर सिस्टम' भी चला दिया है। हमारी शिक्षा-प्रणाली पश्चिम की शिक्षा-प्रणाली की 'कार्बन कॉपी' है। उसमें भारतीयता का लेश नहीं है। वे ही विषय, वे ही या वैसी ही पुस्तकें, वैसी ही प्रयोगशालाएँ, वैसे ही दीक्षान्त समारोह, वैसी ही यूनियनें—सब कुछ नकल। भेद क्या है? जो असल और नकल में होता है। वहाँ प्रथम श्रेणी के मेधावी लोग, दरिद्रता का वरण करके शास्त्र और ज्ञान से प्रेम होने के कारण अपना जीवन शिक्षा को समर्पित करते हैं। यहाँ वह एक आराम का अच्छी आमदनीवाला सुखकर 'जॉब' है। आज के प्राध्यापकों या अध्यापकों में कितने ऐसे हैं जिन्होंने मेधावी होने पर भी दूसरी अधिक रोबीली और अधिक रुपये देनेवाली नौकरियों को ठोकर मारकर शिक्षा का प्रथम वरण किया? फिर, यहाँ 'उन्नति' योग्यता पर नहीं, अधिकारियों की कृपा अथवा जातीय अथवा अन्य प्रकार की दलबन्दी पर निर्भर है। लन्दन में जब डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी हमारे साथ शिक्षा ले रहे थे (हम किंग्स कालिज में थे और वे लन्दन स्कूल आफ इकनामिक्स में) तब एक बार उन्हें यह जानने की उत्सुकता हुई कि लन्दन विश्वविद्यालय के कुलपति और उपकुलपति कौन हैं। यह उन्होंने अपने प्रोफेसर लास्की से पूछा तो वे हँस दिये। बोले, तुम्हें उनसे क्या लेना-देना है? प्रोफेसर लास्की स्वयं कभी कुलपति या उपकुलपति से नहीं मिलते थे—उन औपचारिक अवसरों को छोड़कर जब उनका उन समारोहों में भाग लेना अनिवार्य था जिनमें वे भी आते थे। यहाँ तो प्राध्यापकों में उपकुलपति की हाजिरी बजाने की होड़ है। और उपकुलपति भी इसे प्रोत्साहन देते हैं क्योंकि इससे उनका रोब और शान बढ़ती है।

अंग्रेजों ने अपने स्कूलों में और विश्वविद्यालयों में भी जो शिक्षा-प्रणाली चलायी और चला रहे हैं उसे वे 'लिबरल ऐजूकेशन' (उदार शिक्षा) कहते हैं। उसका ध्येय विद्यार्थी की बहुमुखी और समग्र उन्नति तथा उसकी निहित योग्यता को विकसित करना है। वहाँ विद्यार्थियों से कस कर काम लिया जाता और खेलों पर भी उतना ही बल दिया जाता है जितना पढ़ाई पर। इसीलिए किसी ने कहा था कि "वाटरलू की लड़ाई ईटन और हैरो के खेल के मैदानों में जीती गयी थी।" बालक में तीन अंगों की शिक्षा देनी आवश्यक है जिसे अंग्रेजी में कहते हैं—"हैड, हार्ट ऐंड हैण्ड" (मस्तिष्क, हृदय और हाथ)। मस्तिष्क की शिक्षा के लिए 'आवश्यक' विषयों के अतिरिक्त ऐसे कठिन विषय भी पढ़ाये जाते हैं जैसे ग्रीक, लैटिन, उच्च गणित जो विद्यार्थियों को लोहे के चने मालूम होते हैं। शायद जीवन में उनका कभी 'उपयोग' भी नहीं होता, किन्तु इनसे यह लाभ होता है कि विद्यार्थियों को अरुचिकर और कठिन काम में जी लगाने और उसे पूरा करने का अभ्यास हो जाता है। हमारे देश में इसका उल्टा है। मा-बाप सोचते हैं कि परीक्षा पास करने को कौन से विषय आसान हैं या बच्चे की रुचि किस विषय में है। इसीलिए बड़े होने पर जब वे अधिकारी या बाबू होते हैं तो कठिन और उलझी हुई फाइलों को टालते रहते हैं जिससे सामान्य प्रकरणों के निर्णय में यदि वर्षों नहीं, तो महीनों तो लग ही जाते हैं। हृदय की शिक्षा के लिए काव्य, चित्रकला और संगीत सिखाया जाता है तथा विद्यार्थियों को एक साथ रखा जाता है जिससे वे सभी तरह के लड़कों के साथ रहने और उनके साथ सौहार्द स्थापन की शिक्षा पा सकें। हाथ की शिक्षा के लिए जहाँ

बढ़ईगीरी या लोहारी नहीं भी सिखाई जाती, वहाँ भी लड़कों में रचनात्मक 'हॉबियों' को प्रोत्साहन दिया जाता है।

यही शिक्षा-प्रणाली जो भारत में है—छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ—सारे संसार में प्रचलित है। वह भारतीय आविष्कार नहीं है। वह यहाँ क्यों सफल नहीं है? इसके उत्तरदायी नेता, नौकरशाह और वे प्राध्यापक या अध्यापक हैं जो और बेहतर नौकरी न पाने के कारण विवश होकर इस पेशे में आ गये हैं पर जिनका हृदय उसमें नहीं है। इस देश की विशेषताएँ—जातिवाद, दलबन्दी, अफसरों की चापलूसी से असमय पदोन्नति, बाबूशाही, प्राध्यापकों से क्लर्क का बहुत-सा काम लेना, उनका समय अनेक समितियों में नष्ट करना, परीक्षक होकर रुपया कमाने की आपाधापी, पाठ्य-पुस्तकें लिखकर रुपया कमाना, दिल्ली और लखनऊ में लाभदायक सम्पर्क, राजनीतिक दलों का शिक्षा में हस्तक्षेप आदि अनेक कारण हैं। सरकार ने शिक्षा के सुधार के लिए आधे दर्जन आयोग बनाये, किन्तु उनकी रिपोर्टों और सिफारिशों पर क्या कार्रवाई की? हाँ, जहाँ राजनीतिक कारणों से कार्रवाई करना आवश्यक समझा वहाँ उसमें विद्युत्चालित तेजी आ गयी, जैसे, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में।

हमारे स्कूलों और विश्वविद्यालयों की सबसे बड़ी कमी यह है कि वहाँ 'एकडेमिक एटमास्फियर' (शैक्षणिक वातावरण) नहीं बन पाता। इसके कहीं-कहीं ही—बहुत कम—अपवाद हैं। किन्तु जब प्रोफेसर ऐसे हों जो ज्ञानपिपासु नहीं है, केवल विवशता से विश्वविद्यालय में आ गये हैं, जहाँ प्रोफेसर इस बात की चेष्टा में रहें कि राजनीतिक अधिकारियों को प्रसन्न कर दूसरे बड़े पदों पर पहुँच जायँ, जहाँ उपकुलपति के पद पर आई० सी० एस०, आई० ए० एस०, जनरल, चुनाव में हारे राजनीतिज्ञ नियुक्त किये जायँ, जहाँ विद्यार्थियों के सामने प्रोफेसर और अधिकारी स्वार्थपरता, दलबन्दी के उदाहरण रखें, वहाँ शिक्षा की उन्नति और सुधार करने की बात नारेबाजी और समस्या को टालना मात्र है। आज का विद्यार्थी 'अनुशासन-हीनता' के लिए बदनाम कर दिया गया है (और इन्हें अनुशासनहीन राजनीतिज्ञों ने बनाया है) पर हमने इन्हीं 'अनुशासनहीन' विद्यार्थियों में कितनों को उन प्राध्यापकों का हार्दिक आदर करते ही नहीं, उनका चरण-स्पर्श करते भी देखा है जो चरित्रवान् हैं, विद्यार्थियों के हितचिन्तक और ज्ञान और अध्यापन में निष्णात और कर्तव्यपरायण हैं। भला सच्चे अध्यापकों और बुद्धिजीवियों को इससे अधिक और सन्तोष क्या हो सकता है!

किन्तु केन्द्रीय मन्त्री श्री दीक्षित सभी बुद्धिजीवियों का सहयोग नहीं चाहते। ये केवल अपने विचारवाले बुद्धिजीवियों का सहयोग चाहते हैं जो उनके विचारों को बुद्धिवाद का जामा पहना कर जनता के गले उतारने में उनकी सहायता कर सकें। स्वतन्त्र चिन्तन करनेवाले बुद्धिजीवी न उनके काम के हैं और न वे उनका स्वागत ही करेंगे। प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों को इस निमंत्रण से लाभ उठाने में न चूकना चाहिए।

तुलसी इन सों बोलिये इन सों मिलिये धाय,
ना जाने सम्पर्क सो एम० एल० ए० बनि जाय!

स्वतन्त्रचेता और स्वाभिमानी अप्रतिबद्ध बुद्धिजीवी के लिए स्वतन्त्र भारत में एक ही स्थान है—रद्दी की टोकरी।

●

छत्रपति शिवाजी का ३००वाँ राज्यारोहण वर्ष

●

यह एक सुखद संयोग है कि छत्रपति के राज्यारोहण का ३००वाँ उत्सव और भारत का प्रथम परमाणु बम का विस्फोट ८-१८ दिन के अंतर में—प्रायः एक साथ—हुए। इस प्रकार शायद नियति की कृपा से छत्रपति ऐसे अप्रतिम योद्धा और वीर के राज्यारोहण का ३००वाँ उत्सव देश ने अनजाने ही में उस ढंग से मनाया जैसे कि ऐसे वीरों का उत्सव मनाया जाना चाहिए। हम इसके लिए उस अज्ञात शक्ति को, जिसे लोग नियति कहते हैं, अनेक और हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

महाराज शिवाजी ने जब मुगलों और बीजापुर आदि से महाराष्ट्र की भूमि का बहुत बड़ा भाग छीनकर स्वतंत्र कर लिया तथा क्षेत्र के प्रायः सभी दुर्गों पर अधिकार कर लिया, अष्ट प्रधान का मंत्रिमंडल बनाकर राज्य संचालन की पक्की व्यवस्था कर ली और उनके गुरु समर्थ स्वामी रामदास ने उन्हें राज्य के लिए भगवा झंडा प्रदान कर दिया तथा स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की अनुमति दे दी, तब अपने सबसे बड़े और प्रिय दुर्ग रायगढ़ में उन्होंने विधिवत् राज्यारोहण की तैयारी की। उस समय भारत में विद्वत्ता और कर्मकाण्ड के लिए सबसे प्रसिद्ध काशी के महापण्डित गागाजी नाम के एक महाराष्ट्र विद्वान थे। वे इस राज्यारोहण को शास्त्रानुसार कराने के लिए आमंत्रित किये गये। शास्त्रानुसार पवित्र नदियों के जल मँगवाये गये और रायगढ़ के दरबार-भवन में गागा पण्डित के द्वारा उनका विधिवत् राज्यारोहण किया

गया। वे स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान थे और गागा पण्डित ने उन्हें राजमुकुट पहनाया। उस समय अनेक वेदपाठी ब्राह्मण मंत्रोच्चार कर रहे थे। शंखों की ध्वनि गूँज रही थी। उनकी पुण्यश्लोका जननी ने शिवाजी द्वारा प्रचारित स्वर्ण मुद्राओं को उन पर निछावर किया। अष्ट प्रधान तथा अन्य सेनापतियों ने औपचारिक रूप से उनका अभिवादन किया।

इस दृश्य का चित्रण ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध चित्रकार ने तैयार किया है जो प्रामाणिक और बहुत सुन्दर है। यह चित्र आकार में बहुत बड़ा (प्रायः १२ फुट लंबा और ९ फुट चौड़ा) है। इससे कम में इस राज्यारोहण का यथातथ्य चित्रण किया भी नहीं जा सकता था। किन्तु महाराष्ट्र की सरकार और यदि महाराष्ट्र सरकार को इसमें कोई आपत्ति हो तो महाराष्ट्र का कोई ऐतिहासिक, सांस्कृतिक या कला संस्थान उसको कुछ छोटे आकार में (कम से कम राजा रविवर्मा के छपे हुए बड़े चित्रों के आकार में) छपवाकर भारत की जनता को सुलभ कर दे।

आरम्भ में भारत के पुरातत्त्व विभाग ने विघ्न-संतोषी की भूमिका का निर्वाह किया। रायगढ़ का ऐतिहासिक दुर्ग और उसके भवन'संरक्षित ऐतिहासिक महत्त्व' के होने के कारण उसके अधिकार में हैं। उसने यह लचर दलील देकर कि दरबार-भवन में राज्यारोहण का छत्रपति का चित्र स्थापित करने से दरबार भवन की ऐतिहासिक भव्यता को क्षति पहुँचने की संभावना है, उसने उसमें राज्यारोहण का छत्रपति का चित्र लगाने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया। किन्तु जनमत इतना प्रबल था कि उसे झुकना पड़ा, और वह प्रस्तावित भव्य चित्र वहाँ स्थापित ही नहीं हुआ, प्रत्युत राज्यारोहण के ३००वें वर्ष जिस दिन पूरे हुए उस दिन जनता के अपूर्व उत्साह के बीच भारत के वित्तमंत्री श्रीयशवन्तराव चह्वाण ने उसका विधिवत् उद्घाटन किया। उस अवसर पर महाराष्ट्र सरकार के मुख्य मंत्री के अतिरिक्त अन्य कई मंत्री भी उपस्थित थे। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि यह उत्सव बड़े उत्साह से सारे देश के प्रमुख स्थानों से (और कहीं-कहीं छोटे स्थानों में भी) मनाया गया। प्रयाग के नागरिकों ने उस दिन निश्चय किया कि वे शीघ्र ही मुख्य रेलवे स्टेशन के सामने उनकी अश्वारोही कांस्य प्रतिमा स्थापित करेंगे।

हमें यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई कि भारत के डाकतार विभाग ने उस दिन इस उत्सव के उपलक्ष्य में एक सुन्दर स्मारक डाक-टिकट प्रचारित किया। इसके लिए हम उसे हार्दिक बधाई देते हैं।

इस अवसर पर पत्र-पत्रिकाओं में छत्रपति पर अनेक लेख निकले। कितने ही पुराने मुसलमान और अंग्रेज इतिहासकारों ने पूर्वाग्रह के कारण उनके प्रति न्याय नहीं किया। आज इतिहास की नवीन 'शोध' के नाम पर छत्रपति के बारे में तरह-तरह की बातें कही जा रही हैं। 'सैक्युलरिज़्म' के नाम की माला जपनेवाले यह पसंद नहीं करते कि 'हिन्दू पद पादशाही' का नाम भी लिया जाय। 'लेफ़्टिस्ट' और 'सैक्युलर' ख्वाजा अहमद अब्बास ने अन्य आपत्तियों के साथ यह आपत्ति भी की है कि रायगढ़ में उद्घाटन के समय मंत्रोच्चार क्यों किये गये और शंख क्यों बजाये गये। उन्हें वे भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग न समझ हिन्दू 'धार्मिक' उपचार समझते हैं। और भी कुछ 'विद्वानों' ने शिवाजी का अवमूल्यन करनेवाली कुछ बातें कही हैं। हम इन व्यर्थ के विवादों में नहीं पड़ना चाहते। ये भारत के 'स्यूडो इंटलैक्चुअल्स', 'सैक्युलरिस्ट्स', कुछ लोगों को चौका देनेवाले, 'मौलिक' बातें कहनेवाले लोगों के वाग्विलास मात्र हैं। ऐसे लोग पहले भी थे, आज भी हैं और शायद थोड़े बहुत आगे भी होंगे। किन्तु इन तीन सौ वर्षों में इनके प्रयास एकदम निष्फल हुए हैं। इसके बावजूद छत्रपति भारतीय जनता के आदर्श, श्रद्धेय और परमप्रिय वीर हैं। उनके समय में महाराष्ट्र और भारत का गैर-शासक वर्ग उन्हें जैसा समझता था, हमारी दृष्टि में वही उनका सच्चा मूल्यांकन है। वही उनका सच्चा चरित्र है। समय की दूरी से हमारी दृष्टि

धूमिल हो गयी है। राजनीतिक स्थिति न तथा नये-नये वादों ने—जिनकी कल्पना भी समर्थ महाराज और छत्रपति ने न की थी—हमारी दृष्टि विकृत कर दी है। हम शिवाजी में अपने विचार, अपने वाद, अपने आदर्श आरोपित करने का प्रयत्न करते हैं। इसमें मजे की बात यह है कि एक शती में दस-बीस नये 'वाद' उत्पन्न होते, बढ़ते, क्षीण हो जाते या भुला दिये जाते हैं। अतएव इन 'मौसमी' हवाओं में हमें बहने की आवश्यकता नहीं है। विद्यार्थी जीवन में हमने हरिनारायण आप्टे के 'गढ़ आला पण सिंह गेला' का हिन्दी अनुवाद 'सिंहगढ़ विजय' और रमेशचन्द्र दत्त का प्रसिद्ध उपन्यास 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' पढ़ा था। इन दो उपन्यासों ने हमारे किशोर मन पर छत्रपति और उनके कार्यकलापों की जो छाप छोड़ी वह आज भी अमिट है। फिर भूषण के छन्दों ने और उनसे सम्बन्धित कथाओं ने उन्हें पुष्ट किया। आधुनिक तथाकथित 'शोधकर्ता' और दस-बीस ख्वाजा अब्बास भी उन्हें नहीं मिटा सकते। बहुत से तरुण विद्यार्थी समय बिताने के लिए बहुधा कोई पुस्तक माँगते हैं। हमने उनके लिए अपनी दृष्टि से चुनकर प्राय: एक दर्जन पुस्तकें रख छोड़ी हैं जो ऐसे तरुणों के माँगने पर उन्हें पढ़ने को दे देते हैं। उनमें बहुधा पहली पुस्तक 'सिंहगढ़ विजय' होती है।

अपनी जाति के पुनर्जागरण और पुनर्जीवित होने का प्रमाण हम छत्रपति का राज्यारोहण मानते हैं। इस अवसर पर हम भारतमाता की धन्यता पर उसके प्रति नत हैं। साथ ही बचपन में छत्रपति में संस्कार डालनेवाले प्रेरक दादाजी कोंडदेव और पुण्यश्लोका मातुश्री जीजाबाई को विनम्र प्रणाम करते हैं। और अंत में अनन्तश्री विभूषित सदैव प्रणम्य समर्थ रामदास को साष्टांग प्रणाम करते हैं जिनसे यह देश उऋण नहीं हो सकता। हम महाराष्ट्र भूमि को भी प्रणाम करते हैं जिसने छत्रपति को जन्म ही नहीं दिया, वीरों को आल्हाद देनेवाली पर्वतमालाओं और ऊबड़-खाबड़ भूमि से उन्हें उत्कृष्ट सैनिक बनने का अवसर दिया।

छत्रपति सदैव अमर रहें और अनन्त पीढ़ियों को प्रेरणा देते रहें।

जब जड़ ही में कीड़े लग जायँ

•

आजकल विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता और उद्दण्डता की शिकायतें नेताओं से लेकर प्रोफेसर तक किया करते हैं। शिक्षा से बहुत दिनों तक सम्बन्ध रहने के कारण और पश्चिमी योरप, अमरीका, कनाडा, जापान आदि का शैक्षणिक भ्रमण करने के बाद हमारा यह दृढ़ मत है कि प्रतिभा में हमारे विद्यार्थी संसार के किसी भी देश के विद्यार्थियों से टक्कर ले सकते हैं, और उनमें अभी भी रुचि लेने के कारण, हमें बहुधा उन विद्यार्थियों से भी सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है जो अनुशासनहीन या उद्दण्ड समझे जाते हैं। हमने उन्हें सामान्यतः शिष्ट, विनम्र तथा सहृदय पाया। उनमें युवक-सुलभ उत्साह, उच्च विचार और नैतिकता की भावना भी देखने को मिलती है। अन्याय के प्रति स्वाभाविक सात्विक आक्रोश भी देखा जाता है। हमने इन्हीं तथाकथित 'उद्दण्ड' विद्यार्थियों को चरित्रवान् और कर्त्तव्यपरायण तथा प्राध्यापकों का आदर ही नहीं करते देखा बल्कि उनका चरणस्पर्श करते तक देखा है। अपने दीर्घकालीन अनुभव के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि हमारे औसत विद्यार्थियों में कोई विशेष दोष नहीं है। वे शिष्ट और मर्यादित हैं और अच्छी शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। अपवाद सब जगह होते हैं, किन्तु थोड़े से अपवादों के कारण सारे विद्यार्थियों को लांछित करना हमारी सम्मति में उनके प्रति अन्याय है। ये अधिकांश अपवाद भी सुधारे जा सकते हैं यदि अध्यापक कुशल डाक्टर की तरह उनकी मानसिक, व्यक्तिगत एवं आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ सहानुभूतिपूर्वक समझकर उनका उचित उपचार करें।

किन्तु यह वास्तविक तथ्य है कि हमारे विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और विद्यालयों में (यहाँ तक कि व्यवसायपरक शिक्षा संस्थाओं में भी) आज विद्यार्थी असन्तोष है, और वह अनुशासनहीनता, उद्दण्डता और उपद्रवों में प्रकट होता रहता है। वह सरकार तथा शिक्षाधिकारियों के लिए एक बड़ा सिरदर्द हो गया है। जब हमारे मतानुसार विद्यार्थीवर्ग शिष्ट अनुशासनप्रिय है, तब ये उपद्रव क्यों होते हैं ?

बहुत कुछ विचार करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसके कई प्रमुख कारण हैं। उनमें से पहला कारण तो उपकुलपतियों और प्राध्यापकों का गलत चुनाव है। उनके चुनाव प्रायः राजनीतिक दृष्टि से या अधिकारियों के लिए प्रिय पात्रों की 'परिवरिश' करने के लिए किए जाते हैं। इनकी नियुक्ति में सभी प्रकार के प्रयोग किये गये। सेवामुक्त या सेवारत आई० सी० एस० या आई० ए० एस० अफसर, सेवामुक्त हाईकोर्ट के जज, चुनावों में हारे हुए या पदविहीन अपने दल के राजनीतिक नेता, प्रियपात्र प्रोफेसर, जातिवाद या प्रान्तीयतावाद से प्रेरित व्यक्ति अधिकतर नियुक्त किये जाते हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे विद्वान्, चरित्रवान तथा न्यायप्रिय लोगों की नियुक्ति भी कभी-कभी हो जाती है। किन्तु इधर कुछ वर्षों से वे अपवाद हैं। एक विश्वविद्यालय में तो एक अवसरप्राप्त जनरल भी नियुक्त किये गये थे, किन्तु सैनिक अनुशासन और न्यायप्रियता के कारण उन्होंने पदग्रहण करने के कुछ दिनों बाद ही त्यागपत्र दे दिया। एक दूसरे विश्वविद्यालय में नौसेना के एक एडमिरल नियुक्त किये गये। वे पहले उस स्थान पर अज्ञात रूप से गये। उन्होंने वहाँ की स्थिति देखी, और उसे देखकर उस पद को अस्वीकार कर दिया। सभी तरह के प्रयोग हो चुके हैं, हाँ अभी तक कोई इस्पेक्टर जनरल पुलिस इस पद पर नियुक्त नहीं किया गया, किन्तु कहीं-कहीं स्थिति ऐसी है कि शायद सरकार वह प्रयोग भी कर बैठे।

प्राध्यापकों की नियुक्ति जिस प्रकार सामान्यतः होती है, वह सर्वविदित है। दलबन्दी, व्यक्तिगत पूर्वाग्रह, जातिवाद और पक्षपात की शिकायतें बहुधा सुनने में आती हैं। 'कनवैसिंग' होती है और 'दबाव' भी पड़ते हैं। जहाँ ये सब नहीं होते वहाँ अभ्यर्थी की डिग्रियों का डिवीजन और कभी-कभी प्रकाशनों की संख्या (उसका गुणदोष नहीं) देखी जाती है। उनके चरित्र, न्यायप्रियता, कर्त्तव्यपरायणता, पढ़ाने की योग्यता का मूल्यांकन नहीं किया जाता और वर्तमान चुनाव प्रणाली में यह सम्भव भी नहीं है। अमरीका में किसी विश्वविद्यालय में जब कोई स्थान रिक्त होता है तब न तो वह विज्ञापित किया जाता है और न उसके लिए प्रार्थना-पत्र मँगाये जाते हैं। विद्वानों का नौकरी के लिए प्रार्थनापत्र देना तथा 'साक्षात्कार' में उनका जिरह के लिए राजी हो जाना (और कई बार जिरह करने वाले उस चयनसमिति के पदेन सदस्य होते हैं और सम्बन्धित विषय में कोरे होते हैं) उनके स्वाभिमान की कमी को प्रदर्शित करते हैं। वह अशोभनीय भी है। इसलिए कई देशों में जैसे अमरीका, जर्मनी आदि में किसी स्थान के रिक्त होने पर अधिकारी इस बात का पता लगाते हैं कि कौन व्यक्ति अपनी प्रतिभा, योग्यता, कार्य और चरित्र की दृष्टि से उसके लिए उपयुक्त होगा। तब वे उस व्यक्ति को उस पद को स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित करते हैं। इस प्रकार वहाँ वही व्यक्ति पद ग्रहण करता है जिसने अपनी योग्यता, कार्य तथा चरित्र के लिए ख्याति प्राप्त कर ली है। हमारे यहाँ एक दोष और है। विश्वविद्यालयों में प्रथम श्रेणी मिलते ही बहुधा नवयुवक व्याख्याता के पद पर नियुक्त कर दिये जाते हैं और उनके विद्यार्थी प्रायः उनके समवयस्क (और कभी-कभी तो उनके फेल हुए सहपाठी भी) होते हैं। शिक्षक तथा विद्यार्थी में वय का वह अन्तर नहीं होता जो होना चाहिए। ऐसे शिक्षक में न चरित्र की, न विचारों की और न विषय के ज्ञान की प्रौढ़ता होती है। उसे पढ़ाने की शैली का भी बहुधा ज्ञान नहीं होता और वह स्वयं लम्बे अनुभव के बाद शिक्षण की शैली का विकास कर पाता है। प्रौढ़ तथा वयस्क अध्यापक का जो आदर कम उम्र के विद्यार्थी करते

हैं, वह उसे प्राप्त नहीं हो पाता। इससे अनुशासन तो बिगड़ता ही है, शिक्षा का स्तर भी कम हो जाता है।

किन्तु विश्वविद्यालयों में जो सबसे बड़ा अभिशाप है, वह है अध्यापकों तथा छात्रों की दलबन्दी। कहीं जातिवाद के आधार पर, कहीं क्षेत्रीय आधार पर कहीं राजनीतिक विचारों के आधार पर और कहीं व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर प्राध्यापकों में दलबन्दी हो जाना सामान्य बात है। दुःख की बात यह है कि कोई कोई प्राध्यापक विद्यार्थियों का अपने दलगत या निजी स्वार्थों के लिए दुरुपयोग भी करते हैं। ऐसे उदाहरण भी देखने में आये हैं, जहाँ विरोधी प्राध्यापक की अवमानना करने के लिए अपने पिट्ठू विद्यार्थियों को शह दी गयी है। अपरिपक्व बुद्धि के विद्यार्थी इस जाल में फँस जाते हैं। अनुशासनहीनता का एक बड़ा कारण प्राध्यापकों की दलबन्दी है। दलबन्दी में लगे प्राध्यापक प्रायः ठीक तरह से पढ़ाते भी नहीं और 'कोर्स' पूरा भी नहीं करते। प्रश्न पूरे कोर्स पर आते हैं, अतएव विद्यार्थी स्वभावतः इन परीक्षाओं को स्थगित करने की माँग करते हैं।

दूसरा कारण, राजनीतिक दलों का विद्यार्थियों को अपने दलों में लेने का प्रयत्न है। शायद ही कोई ऐसा राजनीतिक दल हो जिसने विश्वविद्यालयों में अपने 'सेल' (cells) न बनाये हों। वे अपने पिट्ठुओं को प्रचुर धन से सहायता देते और यूनियन के चुनावों में उन्हें जिताने के लिए आर्थिक तथा अन्य सहायता देते हैं। यह दलबंदी भी अनुशासनहीनता बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का काम करती है।

इस देश में तो अब राजनीति भी एक पेशा हो गया है और 'विद्यार्थी नेता' भविष्य में राजनीति के पेशे का वरण कर विधायक या मन्त्री होने का स्वप्न देखने लगता है। उसके सामने सर्वश्री हेमवतीनन्दन बहुगुणा, नारायण दत्त तिवारी, चन्द्रशेखर, वोरा, जगदीश गांधी आदि के अनेक उदाहरण होते हैं। विश्वविद्यालय उनके राजनीतिक प्रशिक्षण के 'ट्रेनिंग ग्राउण्ड' हो जाते हैं, और जिस दल से वे सम्बन्धित होते हैं उससे उन्हें पूरा प्रोत्साहन और समर्थन मिलता है। वे कृत्रिम उपायों से या अकारण बहाने लेकर अपनी नेतागीरी पर सान रखने के लिए आन्दोलन खड़ा करते रहते हैं। बड़े नेताओं का उन पर वरद हस्त होता है। इसलिए वे विश्वविद्यालयों के निर्णयों, परम्पराओं और आदेशों का बेहिचक उल्लंघन करते हैं। 'लीडरी' के कारण उन्हें अन्य अनेक विद्यार्थियों का भी समर्थन प्राप्त हो जाता है। अधिकारी उनके विरुद्ध कार्रवाई करने का साहस बहुत कम कर पाते हैं।

किन्तु विद्यार्थी आक्रोश और असन्तोष का सबसे बड़ा कारण अधिकारियों का पक्षपात, अनियमितता तथा अनैतिकता है। इस देश में जो शिक्षाधिकारी चरित्रहीन हो, शराबी हो, जातिवाद से ग्रस्त हो, दलबन्दी करता हो, योग्यता-अयोग्यता का विचार किये बिना पदोन्नति करता हो, विद्यार्थियों की गलत भरती करता हो या परीक्षाओं में गड़बड़ी करता हो उसके ये कार्य विद्यार्थियों से छिपे नहीं रह सकते। ऐसा व्यक्ति अनजान में अपने कार्यकलाप से विद्यार्थियों को विद्रोह करने और अनुशासन भंग करने को विवश कर देता है।

दुर्भाग्य यह है कि जब ऐसे हजारों उदाहरणों में से एकआध सामने आ जाते और प्रमाणित हो जाते हैं, तब अपराधी लोगों के विरुद्ध प्रभावी या कड़ी कार्रवाई नहीं होती। इसका सबसे ताजा उदाहरण अभी मराठवाड़ा विश्वविद्यालय में मिला है। वहाँ वाइस चांसलर, कन्ट्रोलर आफ एक्जामिनेशन्स और एक स्थानीय कांग्रेसी नेता के पुत्रों के प्राप्तांक इतने बढ़ा दिये गये कि उन्हें प्रथम श्रेणी मिल गयी, जिसके बल पर वे मेडिकल या इंजीनियरिंग कालेजों में भर्ती हो गये। उनकी उत्तर-पुस्तकें नष्ट कर दी गयीं। जब कुछ जानकार लोगों ने बावेला मचाया, तब जनमत जाग्रत हुआ। महाराष्ट्र सरकार को एक जाँच-समिति नियुक्त

करनी पड़ी। उसने प्राप्तांक बढ़ाये जाने की पुष्टि की किन्तु उससे सम्बन्धित कागजों के अभाव में इस काण्ड के लिए किसी व्यक्ति पर उत्तरदायित्व रखने में असमर्थता प्रकट की। उसने यह भी कहा कि उन दोनों अधिकारियों को अपने लड़कों के अंक बढ़ाये जाने की जानकारी नहीं थी। जाँच समिति ने इस काण्ड को 'असाधारण' (एबनार्मल) कह कर सन्तोष कर लिया, किन्तु सामान्य जनता के गले ये बातें नहीं उतर सकतीं और न विद्यार्थीवर्ग ही यह मानेगा कि इस कुकृत्य का वाइस चांसलर या कंट्रोलर आफ एग्जामिनेशन्स को पता ही न था। क्योंकि कम से कम दूसरे अधिकारी का तो परीक्षा और उसके अंकों की देख-भाल करने का सीधा उत्तरदायित्व है। हमें यह देखना है कि सरकार इस पर क्या कार्रवाई करती है।

समुद्र में तैरनेवाले हिमखण्डों का केवल दसवाँ भाग समुद्रतल के ऊपर दिखायी देता है। उसका वहुत बड़ा भाग आँख से ओझल रहता है। हमारे विश्वविद्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार और अनैतिकता की कभी-कभी झलक भर मिल जाती है; किन्तु अब स्थिति इतनी विषम हो गयी है कि सारा शैक्षणिक वातावरण दूषित हो गया है, जिसका कुफल विद्यार्थियों को भोगना पड़ता है। अधिकारियों का वेतन सुरक्षित है। इस देश में उनका स्थायित्व भी सुरक्षित है। अमरीका, जर्मनी आदि में प्राध्यापक निश्चित अवधि (४-५ वर्ष) के लिए नियुक्त किये जाते हैं। यदि उनका कार्य और आचरण सन्तोषजनक न हुआ तो वे अलग कर दिये जाते हैं।

हमारी सम्मति में अधिकारी, विशेषकर प्राध्यापक, वर्तमान स्थिति के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। एक पुराना श्लोक है—

सरसं विपरीतश्चेत्सरसत्वं न मुञ्चति
साक्षरा विपरीताश्चेत्राक्षसा एव केवलम्।

यदि 'सरस' को उलटे पढ़ा जाय, तो भी वह 'सरस' ही रहेगा। किन्तु यदि 'साक्षरा' को उलटा पढ़ा जाय तो 'राक्षसा' हो जायगा। जो प्राध्यापक सरस हैं, न्यायप्रिय, कर्त्तव्य-परायण, अपने विद्यार्थियों के हितैषी और सुसंस्कृत हैं, यदि वे किसी विद्यार्थी से नाराज भी हो जायँ तो उसका अहित न कर उसे सुधारने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु जो केवल 'साक्षरा' (विद्वान्) हैं, और उनमें उपयुक्त गुण नहीं हैं, वे विद्यार्थियों का अहित कर उनमें आक्रोश और असन्तोष उत्पन्न करेंगे। हमारे विद्यार्थियों में अपने अध्यापकों को परखने का नैसर्गिक गुण है। वे उन्हें शीघ्र पहचान लेते हैं। वे 'सरस' अध्यापकों के भक्त और केवल 'साक्षरा' के विरुद्ध हो जाते हैं। जब हम किसी संस्था में अनुशासनहीनता और उपद्रवों का हाल सुनते हैं तब हमारी पहली प्रतिक्रिया यही होती है कि उसमें 'साक्षरा' का बाहुल्य है।

हमने एक पुराने श्लोक में कुछ परिवर्तन करके शिक्षा का एक सूत्र बनाया है—

शिक्षा वृक्षो मूलकं यत्र निष्ठा
संस्थाः शाखाः छात्रवृन्दाणि पत्रं
तस्मात् मूलं यत्नतो रक्षणीयम्
नष्टे मूले नैव पत्रं न शाखा।

शिक्षा रूपी पेड़ की जड़ निष्ठा है जिसमें नैतिकता, सदाचार, कर्त्तव्य-परायणता, शिक्षा के प्रति प्रेम और लगन आ जाते हैं। संस्थाएँ उस वृक्ष की शाखाएँ हैं एवं विद्यार्थी उसके पल्लव हैं। जड़ अर्थात् अधिकारियों में यदि शिक्षा के प्रति निष्ठा न हुई, यदि उनमें अन्याय, पक्षपात, स्वार्थपरता, कर्तव्यहीनता के कीड़े लग गये तो सबसे पहले उसके पल्लव सूख जायँगे। पल्लवरूपी विद्यार्थियों का स्वास्थ्य तिरोहित हो

जायगा, प्रतिभा रूपी उनकी चमक नष्ट हो जायगी और हरीतिमा रूपी उनका सहज ओज, बुद्धि, श्रद्धा आदि नष्ट होकर उन्हें सुखा देंगे । इनके सूखने से आक्रोश और असंतोष रूपी अग्नि से वे झुलस जायँगे । पेड़ नष्ट हो जायगा—चाहे जीवनहीन ठूंठ की तरह वह खड़ा रहे । हरे पल्लवों से हीन सूखे वृक्ष से क्या लाभ ? उससे क्या देश के सांस्कृतिक उद्यान की शोभा बढ़ेगी ?

हमारा उद्देश्य सभी प्राध्यापकों पर प्रहार करने का नहीं है । हमने केवल साक्षरा के प्रति ये बातें लिखी हैं ।

अभी हाल में हमें लखनऊ विश्वविद्यालय की शिकायतों की जाँच करने के लिए नियुक्त न्यायमूर्ति श्री एस० डी० सिंह की रिपोर्ट पढ़ने को मिल गयी है । वह वृहदाकार है । इस वय में हम उसे ध्यान से धीरे-धीरे पढ़ रहे हैं । उसमें विश्वविद्यालय की आन्तरिक दयनीय स्थिति की कुछ झलक मिलती है । उसका अध्ययन करने के बाद हम एक स्वतंत्र लेख में उस पर अपने विचार प्रकट करेंगे ।

खण्ड ३

आधुनिक विश्व की समस्याओं पर दृष्टिपात

आधुनिक विश्व की समस्याओं पर दृष्टिपात

●

संसद के कबूतरों पर संकट

•

लन्दन के ट्रफालगर स्क्वायर में और वेनिस के रायल्टों में हमने हजारों कबूतरों को 'गुटरगूँ' करते देखा है। वे उन स्थानों को जीवित और गुलजार रखते हैं, तथा जनता उनसे स्नेह करती है। कबूतर होता भी बड़ा निरीह पक्षी है। वह अहिंसा का प्रतीक है।

उत्तर भारत में तो एक युग ऐसा था जब कबूतरबाजी 'शरीफ आदमियों' का प्रिय शौक था। यदि मुगलों को कबूतरों का शौक न होता तो जहाँगीर की निगाह कभी नूरजहाँ पर न पड़ती, और मुगल-इतिहास की धारा ही बदल जाती। तब शायद गुलाब के इत्र का भी आविष्कार न हो पाता और भारत में "सुगंध के सम्राट्" (गुलाब के इत्र) की जगह ही रिक्त रह जाती। किन्तु कबूतर पालने की प्रथा मुगलों से भी पुरानी है। कहते हैं कि विष्णु शर्मा ने उन राजपुत्रों को, जिनका मन पढ़ने में न लगकर कबूतरों के उड़ाने में लगता था, कबूतरों पर भिन्न-भिन्न अक्षर लिखकर साक्षर बनाया था। अजन्ता के चित्रों में एक चित्र पाठशाला का है जिसकी छत पर कबूतर बैठे हैं। किन्तु इन ऐतिहासिक, निरीह और अहिंसक पक्षियों पर विपत्ति आ गयी है। लोकसभा के सचिवालय ने उन्हें संसद-भवन से निर्वासित कर देने का निश्चय किया है, क्योंकि वे संसद के शांत वातावरण को अशांत बना देते हैं, और अध्यक्ष की अनुमति के बिना ही भाषण देना आरम्भ कर देते हैं। फिर, वे गंदगी भी फैलाते हैं जिससे लोकसभा के भृत्यवर्ग को सफाई करने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। अतएव लोकसभा के सचिवालय ने नयी

दिल्ली की नगरपालिका को लिखा कि वह कबूतरों को नष्ट कर दे; किन्तु नगरपालिका ने अपनी असमर्थता प्रकट की। संसद की इस कठिनाई को जानकर दिल्ली के कई वीर प्रौढ़ और किशोर शिकारियों ने उनका संहार करने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करनी चाहीं; परन्तु दीवालों के खराब न होने का भरोसा किसी-को नहीं है। मनुष्य की बुद्धि अभी वंध्या नहीं हुई। जो संसद ४० करोड़ जनता के विशाल देश का शासन करता है, उसके लिए भवन के कबूतरों की समस्या का हल निकाल लेना कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु सदन में अहिंसक गांधीवादी भी हैं, और लाल साम्यवादी भी हैं। चीन ने जिस सफलता से चिड़ियों का संहार किया है उसकी भारत में पुनरावृत्ति करके अपने को उसके बराबर प्रमाणित करने का अवसर खोने को कम्यूनिस्ट शायद ही तैयार हों। उधर साधुसमाज के श्रीमहंत नंदाजी और जैनधर्मावलम्बी श्री अजित-प्रसाद जैन हैं जिनके लिए 'अहिंसा परम धर्म' है। अतएव कोई ज्योतिषी ही बता सकता है कि संसद कौन-सी करवट लेगा। ऐसा मालूम पड़ता है कि एशिया की चिड़ियों को कोई मारक ग्रह लगा है। देखना है कि भारत इस मामले में भी चीन का अनुकरण करता है या नहीं।
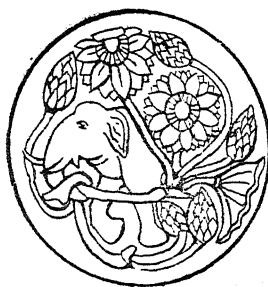
ऐवरेस्ट विजय की दौड़

ऐवरेस्ट चोटी हिमालय की उत्तरी श्रेणी में है और वह उस स्थान पर है जहाँ तिब्बत और नैपाल की सीमा मिलती है। नैपाल का दावा है कि वह नैपाल में है, किन्तु चीनी उसे अपनी सीमा के अन्तर्गत बतलाते हैं। भारत का प्रामाणिक नक्शा बनाने के लिए अंग्रेजों ने सर्वेक्षण विभाग की स्थापना की थी। उसका एक काम यह भी था कि वह देश की ऊँचाई-नीचाई का भी ठीक-ठीक सर्वेक्षण करे जिससे नक्शों में समुद्रतल से विभिन्न स्थानों की ऊँचाई-नीचाई दिखायी जा सके। इस प्रकार के भूमि के सर्वेक्षण को त्रिकोण-मितीय भूमापन (ट्राइगोनोमेट्रिकल सर्वे) कहते हैं। इसी सिलसिले में सर्वेक्षण विभाग ने हिमालय की चोटियों की ऊँचाई की जाँच भी आरम्भ की। सन् १८५२ में सर्वेक्षण विभाग के एक बंगाली सर्वेक्षक को बड़ा आश्चर्य हुआ जब उसके हिसाब से इस चोटी की ऊँचाई २९००२ फुट निकली। उसने उसकी फिर जाँच की, और अंत में जब उसे निश्चय हो गया कि उसका नाप ठीक है तब सर्वेक्षण विभाग को मालूम हुआ कि उसने संसार के सबसे ऊँचे पर्वतश्रृंग की खोज कर ली है। तिब्बत और नैपाल के बीच में होने के कारण दोनों ही देश उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं, किन्तु 'धवलागिरि' 'कैलाश' 'नंदादेवी' 'चौखंभा' आदि की तरह उसका कोई भारतीय नाम न था। उस समय सर्वेक्षण विभाग के महानिर्देशक मिस्टर ऐवरेस्ट नाम के नाम के एक सज्जन थे। वे योग्य तो थे ही, साथ ही अपने सहयोगियों में बड़े प्रिय थे। अतएव सर्वेक्षण विभाग के अधिकारियों ने उनके सम्मान में इस चोटी का नाम "माउंट ऐवरेस्ट" रख दिया।

नक्शों में यही नाम दिखाया जाने लगा, और संसार में यही नाम प्रसिद्ध हो गया। बाद के सर्वेक्षण से पता लगा कि वास्तव में उसकी ऊँचाई २९००२ फुट नहीं, २९१२० फुट है। ऐवरेस्ट के अन्वेषण के बाद ही भारत में प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध (गदर) आरम्भ हो मया जिससे कई दशाब्दियों के लिए ऐसी बातों की ओर से लोगों का ध्यान हट गया।

पश्चिम के लोगों को भूगोल और इतिहास में बड़ी रुचि है। योरोप और अमरीका में कितनी ही भौगोलिक संस्थाएँ काम कर रही हैं। इंगलैंड की रायल ज्यागरेफिकल सोसाइटी बड़ी पुरानी संस्था है जो बहुत दिनों से संसार के विभिन्न भागों में भौगोलिक अन्वेषण करवाती रही है। भौगोलिक अनुसंधान में नये-नये देशों, द्वीपों, समुद्रों, नदियों, झीलों आदि के अन्वेषण के अतिरिक्त देश देशान्तर के खनिज पदार्थों, वहाँ की वनस्पति तथा प्राणियों का अध्ययन भी सम्मिलित है। अतएव जब संसार की सबसे ऊँची चोटी की ओर उसका ध्यान गया तब उसने उसके अन्वेषण के लिए अपना एक दल भेजना चाहा। तिब्बत और नैपाल की सीमा पर होने के कारण उस पर उत्तर की ओर से तिब्बत होकर, या दक्षिण की ओर से नैपाल होकर पहुँचा जा सकता है। तिब्बत की ओर से उस पर चढ़ना अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु जब पिछली शती के अंत में, और इस शती के प्रथम दशक में इंगलैंड की रायल ज्यागरेफिकल सोसाइटी ने भारत सरकार के द्वारा तिब्बत सरकार से उसके देश में होकर उस पर्वत तक जाने की अनुमति माँगी, तब तिब्बत सरकार ने अनुमति देने से इन्कार कर दिया। नैपाल सरकार विदेशियों को अपने राज्य में घुसने ही नहीं देती थी। ऐवरेस्ट के दो ही रास्ते हैं और संयोग से उन दोनों रास्तों के स्वामियों की उन दिनों यह निश्चित नीति थी कि विदेशियों को देश में न घुसने दिया जाय।

योरप में लोगों को खेलकूद का बड़ा शौक है। खेलकूद का वहाँ सीमित अर्थ नहीं है। कोई भी काम जिसमें साहस, दम और शारीरिक कौशल और सहिष्णुता की आवश्यकता हो, वह 'खेलकूद' के अंतर्गत आ जाता है। पर्वत-आरोहण भी वहाँ एक प्रकार का 'खेलकूद' समझा जाता है। योरप में आल्प्स नामक पर्वतश्रेणी है जिसके हिमाच्छादित शिखरों पर लोगों ने पिछली शती में चढ़ना आरम्भ किया। पर्वत-आरोहण में इतने लोग इतनी अधिक रुचि लेने लगे कि पर्वत-आरोहियों के अनेकों दल प्रतिवर्ष इन शिखरों पर चढ़ने का अभियान करने लगे। इन पर्वत-प्रेमियों ने जगह-जगह 'आल्पाइन क्लब' नाम की संस्थाएँ भी बनायीं। जब योरप के हिमाच्छादित शिखरों पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली तब उनका ध्यान अमरीका, अफ्रीका और एशिया की विशाल हिमाच्छादित चोटियों की ओर गया। यह स्वाभाविक था कि ये साहसी खिलाड़ी संसार के उच्चतम शिखर पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करें। पहिले महायुद्ध के पहिले तो यह केवल स्वप्न रहा, किन्तु उसकी समाप्ति के बाद ये साहसी खिलाड़ी अधिक प्रयत्नशील हुए। और अंत में १९२१ में दलाई लामा ने अंग्रेजों के एक पर्वत-आरोही दल को तिब्बत के रास्ते माउंट ऐवरेस्ट जाने की अनुमति दे दी। दो-तीन वर्ष की तैयारी के बाद माउंट ऐवरेस्ट पर पहिली चढ़ाई इस अंग्रेज दल ने १९२४ में की। इसमें मैलरी और इर्विन नामक दो अंग्रेज पर्वत-आरोही काफी ऊँचाई तक पहुँच गये थे, किन्तु वे दुर्घटना में पड़ कर मर गये। ऐवरेस्ट पर चढ़ने में उस दल को सफलता नहीं मिली। किन्तु उसके बाद तिब्बत ने अपने देश में होकर माउंट ऐवरेस्ट जाने की अनुमति नहीं दी। द्वितीय महायुद्ध के बाद नैपाल की नीति बदली, और उसने इन दलों को नैपाल होकर जाने देने की नीति अपनायी। तब से पर्वत-आरोही दल नैपाल होकर ही ऐवरेस्ट पर चढ़ने का प्रयास करने लगे हैं। यह तो सर्वविदित है कि १९५३ में तेनसिंग और हिलेरी ने सबसे पहिले माउंट ऐवरेस्ट पर चढ़ने का श्रेय प्राप्त किया। तब से कई देशों के दलों ने नैपाल होकर उस पर चढ़ने का अधिकतर असफल प्रयास किया है।

इस वर्ष एक भारतीय पर्वत-आरोही दल ने नैपाल होकर ऐवरेस्ट पर चढ़ने का प्रयास किया। इस अभियान की बड़ी तैयारी की गयी थी और उसका काफी प्रचार भी किया था। किन्तु जब दल के तीन व्यक्ति शिखर से प्रायः एक हजार फुट नीचे रह गये, और सफलता सामने दीखने लगी, तब एकाएक वहाँ ऋतु इतनी खराब हो गयी, और बर्फानी तूफान इतने वेग से चलने लगा, और कई दिन तक चलता रहा कि हमारे दल को लौट आना पड़ा। उन्होंने जिस साहस और कुशलता का परिचय दिया है, वह प्रशंसनीय है। बहुत कम लोगों को पर्वतारोहण में प्रथम प्रयास में ही सफलता मिलती है। आशा है कि अगली बार नगाधिराज हिमालय अधिक सदय होंगे।

जब भारतीय आरोहियों की दैनिक प्रगति का धुआँधार प्रचार हो रहा था, तब—सहसा १ जून को चीनी रेडियो ने संसार को सूचना दी कि पर्वत-आरोहियों के एक छोटे से चीनी दल ने तिब्बत की ओर से चढ़ कर ऐवरेस्ट की चोटी पर विजय प्राप्त कर ली है। चीनी रेडियो ने इस आरोहण का जो ब्योरा दिया वह बड़ा मनोरंजक और उल्लेखनीय है। उसने बतलाया कि (१) चीनी दल रात्रि में शिखर पर चढ़ा और जिस समय वह चोटी पर पहुँचा उस समय एक बजकर पचास मिनिट (अर्द्धरात्रि से कुछ अधिक) हुए थे, (२) चढ़ाई के समय रात्रि में वहाँ भयंकर बर्फानी तूफान चल रहा था, (३) शिखर पर घुप्प अँधेरा था और कुछ दिखलायी नहीं पड़ता था। उन्हें इस बात का कि वे शिखर पर पहुँच गए हैं, पता तब लगा जब उन्होंने देखा कि आस-पास के पर्वतश्रृंग वहाँ से नीचे मालूम पड़ते हैं। इतिहास में यह निशाचरी अभियान वास्तव में अनोखा और अभूतपूर्व है। जब भारतीय आरोही दल के नेता से इसके बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि उस ऊँचाई पर रात्रि में इतनी भीषण ठंड पड़ती है कि वहाँ उस समय हाथ-पैर हिलाना कठिन हो जाता है। फिर वह स्थान इतना ऊबड़-खाबड़ है, वहाँ पग-पग पर बर्फ की इतनी बड़ी और चिकनी शिलाएँ हैं, तथा उनमें इतनी अधिक दरारें हैं कि रात्रि में उनका देखना अत्यन्त कठिन है। रात्रि में उस खड़ी, फिसलनेवाली और ऊबड़-खाबड़ चढ़ाई पर चढ़ने का प्रयत्न बड़ा भयावह है क्योंकि अँधेरे में यह पता नहीं लग सकता कि अगला पैर बढ़ाने पर किसी चट्टान से सिर टकरा जायगा या किसी सैकड़ों फुट गहरे खड्ड या भयंकर हिम की दरार में गिर कर चलनेवाला चकनाचूर हो जायगा। उस "सूचीभेद्यैस्तमोभिः" में, जब चीनियों के ही कथनानुसार, भयंकर बर्फानी तूफान चल रहा हो, दिशा-ज्ञान होना भी संभावना की परिधि से बाहर है। किन्तु जब चीनी वीरों ने अर्द्धरात्रि में उस पर पहुँचने का दावा किया है तो उसे मान लेने में क्या हानि है? संसार में असंभव कुछ भी नहीं है। जो शंकालु लोग इस निशाचरी अभियान पर आँख-भौं सिकोड़ते हैं और कहते हैं कि घोर अंधकार में उस ऊबड़-खाबड़ स्थान में वे कैसे चल सके होंगे, उनसे हमारा इतना ही कहना है कि क्या उन्हें नहीं मालूम कि कुछ प्राणियों में रात्रि के अंधकार में भी देखने की शक्ति होती है?

किन्तु हमें एक अँगरेजी समाचार पत्र से मालूम हुआ कि भारतवासियों और चीनियों में ऐवरेस्ट पर पहिले पहुँचने की होड़ इतिहास में एक बार पहिले भी हो चुकी है। तिब्बत में प्रचलित जनश्रुतियों के अनुसार वह होड़ इस प्रकार हुई थी :

आठवीं शती तक तिब्बत में कोई धर्म प्रचलित न था। आठवीं शती में भारत और चीन के बौद्ध भिक्खु तिब्बत जाकर बौद्धधर्म का प्रचार करने लगे। उसके फलस्वरूप वहाँ के तत्कालीन राजा ने बौद्धधर्म को स्वीकार करके उसे तिब्बत का राजधर्म घोषित करने का निश्चय किया। किन्तु चीनी और भारतीय बौद्ध अलग-अलग सम्प्रदाय के थे, और दोनों ही चाहते थे कि हमारा सम्प्रदाय ही तिब्बत का राजधर्म हो। चीनी भिक्खुओं के नायक का नाम होशाङ ता चिन और भारतीय भिक्खु दल के नेता का नाम आचार्य

कमलशील था। कमलशील शायद वज्रयानी सम्प्रदाय के थे और 'योगविद्या' में भी पारंगत थे। राजा यह तै नहीं कर पा रहा था कि किस सम्प्रदाय को स्वीकार करे। इस उलझन को सुलझाने के लिए उसने इन दोनों से कहा कि आप लोग कोई अलौकिक कार्य दिखावें। इस पर दोनों ने मिलकर तै किया कि जो चोमू लुङ्मा (ऐवरेस्ट का तिब्बती नाम) पर पहिले पहुँच जाय वही विजयी समझा जाय, और राजा उसके सम्प्रदाय को स्वीकार करले। तदनुसार दोनों सन्त अपने-अपने शिष्यों के साथ ऐवरेस्ट की ओर चल दिये। आचार्य कमलशील पूरी भारतीय निश्चिंतता के साथ चल रहे थे, किन्तु चीनी दल अधिक क्रियाशील था। जब तक कमलशील ऐवरेस्ट के मूल पर पहुँचे तब तक चीनी आचार्य ने पर्वत की बहुत सी दुर्गम चढ़ाई भी तय कर ली थी। जब वे कुछ और ऊपर चढ़े, और शिखर थोड़ी ही दूर रह गया तब कमलशील के शिष्य घबड़ाये और उन्होंने प्रार्थना की कि हे गुरुदेव! अब आप सक्रिय हों क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी शिखर पर पहुँचना ही चाहते हैं। आचार्य ने भी देखा कि अब कुछ किये बिना काम न चलेगा। वे तत्काल योगबल से ऊपर उठ गये और ऐवरेस्ट के शिखर पर जा विराजे। जब पसीने से लथपथ चीनी आचार्य शिखर पर पहुँचे तब उन्होंने देखा कि आचार्य कमलशील वहाँ पहिले ही से आराम से आसन जमाये विराजमान हैं। कहना न होगा कि आचार्य कमलशील का यह चमत्कार देखकर राजा ने उन्हींके सम्प्रदाय को तिब्बत का राजधर्म घोषित किया।

इस प्रकार (तिब्बत की ऐतिहासिक 'श्रुति' के अनुसार) ऐवरेस्ट पर चढ़ने की चीनी-भारतीय होड़ का इतिहास बहुत पुराना है। और पर्वतारोहण के खेल में—यदि उसे केवल 'खेल' ही माना जाय और खिलाड़ी की दृष्टि से देखा जाय—ऐसी होड़ अप्रीतिकर भी नहीं है।

अफरीका में स्वतंत्रता का उदय

संसार के महाद्वीपों में अफरीका सबसे पिछड़ा हुआ माना जाता रहा है। उसका उत्तरी भाग भूमध्य सागर पर है। इसलिए उस तट के देशों (मिस्र, लीबिया, टचूनिस, अलजीरिया, मोरक्को) से तो संसार परिचित था, और मिस्र के दक्षिण में स्थित हब्श देश (इथोपिया) का भी लोगों को ज्ञान था, किन्तु इनके दक्षिण के प्रदेशों की आनकारी नहीं थी। इन देशों के दक्षिण में सहारा की विशाल मरुभूमि है (क्षेत्रफल ३५ लाख वर्गमील) जिसके कारण इन देशों का सम्पर्क सहारा के उस पार के क्षेत्रों से नहीं रहा। योरोपियन लोगों को रहस्यपूर्ण अफरीका का परिचय धीरे-धीरे हुआ। सारे अफरीका का क्षेत्रफल एक करोड़ सोलह लाख पचीस हजार वर्गमील है। इससे लगे हुए बहुत से द्वीप हैं जिनमें मैंडागास्कर सबसे बड़ा है। सारे अफरीका की जनसंख्या बीस करोड़ के लगभग कूती जाती है। मध्य अफरीका में विशाल, घने और आदिकालीन जंगल हैं। नील, नाइजर, कांगो और जम्बेसो के समान विशालकाय महानद हैं। आकार में संसार का सबसे बड़ा जलप्रपात (विक्टोरिया फाल्स) है जो प्रायः एक मील चौड़ा और ३४३ फुट ऊँचा है। इसमें यूरेनियम, थोरियम, प्लेटिनम, हीरों, सोने और ताँबे की अपार राशि है। अभी तक इसकी खनिज और बन सम्पत्ति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सका। इसके निवासी भी अनेक वंशों के हैं। उत्तर में आक्रमणकारी अरब लोग बस गये हैं, किन्तु अफरीका के अन्य विशाल भाग में हब्शी, हैमाईट, सामी (सेमिटिक), पिग्मी (बौने), बुशमैन और हाँटेन्टाट वंश के लोग बसे हैं। उत्तर में मिस्र की पुरानी

भाषा काप्टिक अब भी जीवित है, किन्तु अधिकतर वहाँ अरबी बोली जाती है। स्थानीय बोलियों के प्रभाव से सभी देशों की अरबी एक सी नहीं है। मिस्र की अरबी मोरक्को की अरबी से भिन्न है। ईथोपिया की भाषा एमहरिक कहलाती है। किन्तु अफरीका के विशाल भाग में दो प्रकार की भाषाएँ चलती हैं जिन्हें बाँटू और सूडानी कहते हैं। बाँटू भाषा की प्रायः २५० भिन्न-भिन्न बोलियाँ हैं और एक का बोलनेवाला दूसरे की बोली को नहीं समझ सकता। सूडानी वंश की बोलियाँ पश्चिमी अफरीका में बोली जाती हैं और बाँटू बोलियाँ मध्य और दक्षिण अफरीका में।

इस विशाल महाद्वीप में अनेक देश हैं। इनके निवासी जो अलग-अलग वंशों के हैं, कब, कहाँसे और कैसे आये, यह इतिहास के विद्वानों के लिए ऐसी समस्याएँ हैं जिनका उत्तर अभी तक नहीं मिल सका। योरोपियन लोगों ने अफरीका की जानकारी पंद्रहवीं शती से प्राप्त करनी आरंभ की। पंद्रहवीं शती के आरंभ में पुर्तगाल में एक राजकुमार को समुद्रयात्रा का बड़ा शौक था। उसका नाम प्रिंस हैनरी था, और उसकी समुद्रयात्रा-प्रियता के कारण लोग उसे 'नेवीगेटर' (जलयात्री) कहा करते थे। उसने कई जहाज अफरीका के पश्चिमी किनारे के ओर-छोर का पता लगाने को भेजे जो गिनी की खाड़ी तक पहुँचे। १४१८ में उन्होंने अफरीका के किनारे के मडीयरा नामक द्वीप का अनुसंधान किया। किन्तु वास्तव में अफरीका की बहुत सी जानकारी भारत के कारण हुई। योरप में भारत के मसालों और कपड़ों की बड़ी माँग थी। उस समय तक भारत से योरप का व्यापार अरब देशों में होकर होता था, किन्तु राजनीतिक कारणों से योरोपियनों को उस रास्ते भारत का माल मिलने में बड़ी कठिनाइयाँ होती थीं। उन्हें इस बात का धुँधला ज्ञान था कि भारत अफरीका के उस पार है। अतएव कई साहसी पुर्तगाली नाविक अफरीका के पश्चिमी किनारे-किनारे तब तक चलते गये जब तक उस महाद्वीप का दक्षिणी छोर नहीं मिला। अफरीका के दक्षिणी छोर पर एक अंतरीप है। यहाँ से अफरीका का किनारा पूर्व और उत्तर को घूम जाता है। यहाँ पहुँचकर उन्हें इस बात की आशा हुई कि हम अफरीका के उस पार पहुँच गये और अब भारत पहुँच जायँगे। इसीलिए उन्होंने उस अन्तरीप का नाम 'शुभ आशा अंतरीप' (केप आफ गुड होप) रखा। सबसे पहिले बार्थलम्यू डायज नाम का नाविक इस अंतरीप को पार कर सका था (१४८८)। किन्तु उसके नाविकों ने आगे बढ़ने से इंकार कर दिया। इससे उसे लौटना पड़ा। किन्तु सन् १४९८ में वास्को डि गामा ने शुभाशा अंतरीप होकर भारत का रास्ता खोज निकाला और वह भारत (कालीकट) पहुँच गया। इस प्रकार पुर्तगालियों ने अफरीका के पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी तटों का अनुसंधान किया तथा अंगोला, गिनी और पूर्वी अफरीका के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया। इन स्थानों पर पुर्तगाल का राज्य आज भी है।

किन्तु पुर्तगाली इस विशाल महाद्वीप के केवल तटीय भाग तक पहुँचे थे। इसके भीतरी भूभाग के बारे में योरोपियनों को कोई जानकारी न थी। अन्वेषणप्रिय और साहसी योरोपियन यात्रियों ने सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शतियों में धीरे-धीरे इस महाद्वीप के भीतरी भागों का अनुसंधान कर लिया। इन साहसी व्यक्तियों की यात्राओं की कथाएँ बड़ी मनोरंजक और प्रेरणाप्रद हैं। इन साहसी वीरों में मुंगो-पार्क, पाल दु सैलू, स्टैनली और लिविंग्स्टन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन वीरों ने वहाँ के दुर्भेद्य जंगलों को पार किया, पर्वतशृंखलाओं, पर्वशृगों और नदियों के उद्गमों, झीलों आदि का पता लगाया। वहाँके निवासियों, पशुओं और उपज की जानकारी प्राप्त की।

सारे योरप में अफरीका की अपार प्राकृतिक सम्पत्ति की धूम मच गयी। व्यापार के लिए अनेक कम्पनियाँ बन गयीं। पहिले ही से हब्शियों को पकड़कर उन्हें दास बनाकर बेचने का भयंकर व्यापार चल

रहा था। अरब लोग यह व्यापार अनादि काल से करते आये थे। अब योरोपियनों ने भी इसमें हाथ बँटाया और हजारों हब्शी दास बनकर अमरीका के खेतों पर काम करने के लिए भेजे जाने लगे। योरोपियन राज्य अपने जहाज और सैनिक भेजकर अफरीका में जहाँ पहुँच जाते उसे अपना घोषित कर देते। इस प्रकार फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल, स्पेन, डेनमार्क, नीदरलैण्ड ने अनेक स्थानों पर अधिकार कर लिया। किन्तु अधिकतर यह अधिकार समुद्री किनारे के आस-पास तक सीमित था। ज्यों-ज्यों अफरीका के भीतरी भागों की जानकारी बढ़ती गयी, त्यों-त्यों ये लोग समुद्री किनारे से भीतर घुसकर अधिकार करते हुए बढ़ने लगे। अँग्रेजों ने सन् १८१४ में शुभाशा अंतरीप के पास केप कलोनी स्थापित की जो अब दक्षिण अफरीका राज्य कहलाता है और जहाँ रंगभेद नीति का नग्न नृत्य हो रहा है। १८३० में फ्रांस ने अलजीरिया को जीतकर सहारा की ओर बढ़ना आरंभ किया। सन् १८८४ और १८९० के बीच योरोयियन राज्यों ने आपस में समझौता करके अफरीका का 'बँटवारा' कर लिया। समझौता करनेवाले राज्यों में इग्लैण्ड, फ्रांस, पुर्तगाल, जर्मनी और स्पेन थे। किन्तु अफरीका के निवासियों ने इन लोगों को अपनी भूमि पर सहज ही अधिकार नहीं करने दिया। वे बराबर लड़े, और उन्होंने कई बार योरोपियन सेनाओं को बुरी तरह हराया। किन्तु उन पिछड़े हुए लोगों के पास तीर-कमान और भाले थे। इनके पास आधुनिक बंदूकें और तोपें थीं। अंतिम विजय योरोपियनों की हुई, और अफरीका निवासी अपने ही देश में पराधीन हो गये। इस प्रकार अफरीका की स्वाधीनता नष्ट हुई और वह योरोपियन लोगों में बँट गया। किन्तु कांगो की कहानी कुछ विचित्र है। स्टेनली नामक एक साहसी अँगरेज यात्री ने कांगो नदी के उद्गम का पता लगाया और उसने आदि से अंत तक उसकी यात्रा की। उसने लौटकर उस देश की सम्पत्ति का जो वर्णन किया, उस पर किसीने विश्वास नहीं किया। बेलजियम के तत्कालीन राजा लिओपोल्ड ने ही उसकी बातों पर विश्वास किया। उसने स्टेनली को कांगो लौटने और उस क्षेत्र को विकसित करने का व्यय दिया। स्टेनली के साथ कुछ और साहसी लोग हो गये। स्टेनली ने कांगो जाकर उसपर धीरे-धीरे अधिकार किया और उसका नाम "कांगो का स्वतंत्र राज्य" रखा। लिओपोल्ड उस राज्य का व्यक्तिगत हैसियत से अध्यक्ष बना। वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गया। बाद में बेलजियम के संसद ने राजा को उसे बेलजियम के आधिपत्य में देने को बाध्य किया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफरीका का राजनीतिक विभाजन इस प्रकार था :

इंगलैण्ड—(पश्चिम में) सियरा लिओन, गैम्बिया, गोल्ड कोस्ट और नाइजीरिया। (दक्षिण-पश्चिम में) स्वाजीलैंड, बसूटोलैंड, बैचुआनालैंड, दक्षिणी रोडीशिया। (दक्षिण पूर्व में) नियाजलैंड, उत्तरी रोडीशिया और टांगनिका। (पूर्व में) उगंडा और केनिया। (उत्तर पूर्व में) सोमालीलैंड। इनके अतिरिक्त दक्षिण अफरीका का राज्य ब्रिटिश राष्ट्रसंघ में है। इसमें केप कलोनी, नैटाल, ट्रांसवाल और आरेंज फ्री स्टेट हैं। मारिशस द्वीप, जंजीबार द्वीप, सेंट हेलेना और सेकिलीज द्वीप।

फ्रांस—अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिसिया, फ्रेंच, इक्वेटोरियल अफरीका, फ्रेंच पश्चिमी अफरीका (जिसमें सहारा का अधिकांश भाग है) और फ्रेंच सोमालीलैण्ड। मैडगास्कर द्वीप।

स्पेन—स्पेनी मोरक्को और स्पेनी पश्चिमी अफरीका। कनरी द्वीप।

पुर्तगाल—पुर्तगाली गिनी (पश्चिम में), अंगोला (दक्षिण-पश्चिम में) और मुजम्बिक (पूर्व में)। केप वर्डे द्वीप, मडीयरा द्वीपसमूह।

बेलजियम—कांगो।

प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी से, और द्वितीय महायुद्ध के बाद इटली से उनके अफरीकी प्रदेश ले लिये गये थे और उन्हें राष्ट्रसंघ की ओर से शासन करने के लिए कुछ राज्यों को दे दिया गया था। उनका ब्यौरा इस प्रकार है :

जर्मनी के अफरीकी प्रदेश—टोगोलैंड, केमरून्स, टांगानिका (इंग्लैंड और फ्रांस को), रूअंडा-उरंडी (बेलजियम को)।

इटली के अफरीकी प्रदेश—लीबिया और इथोपिया स्वतन्त्र राज्य हो गये। ऐरिट्रिया ईथोपिया को दे दिया गया और इटालियन सोमालीलैंड इटली को ही राष्ट्रसंघ की ओर से शासन करने को सौंपा गया। मिस्र स्वतन्त्र था। लाइबीरिया प्रजातन्त्र था और सूडान पर अँग्रेजों और मिस्रियों का संयुक्त शासन था।

किन्तु भारत की स्वतन्त्रता के बाद एशिया और अफरीका में जो जाग्रति हुई है, और राष्ट्रसंघ के माध्यम से संसार की जनता ने जिस जोर के साथ उपनिवेशवाद का विरोध किया है, उसके फलस्वरूप अब अधिकांश योरोपियन राज्य अफरीका से हट रहे हैं और वहाँ के लोगों को स्वतन्त्रता दे रहे हैं। इसमें सबसे पहिले इँगलैंड आगे बढ़ा। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से अब तक जिन राज्यों को स्वतन्त्रता मिल चुकी है उनमें प्रमुख ये हैं :

(फ्रांस) मोरक्को और ट्यूनिस, मैडागास्कर (नया नाम मलागासी) (इंगलैंड) सूडान, गोल्डकोस्ट (घाना) सोमालीलैंड। (बेलजियम) कांगो।

आशा है कि बहुत से अन्य योरोपियन अधिकृत प्रदेशों को बहुत शीघ्र स्वतन्त्रता मिल जायगी। सबसे उलझा हुआ मामला अलजीरिया का है जहाँ कई लाख फ्रांसीसी बस गये हैं। स्पेन मोरक्को का अपना अधिकृत भाग छोड़ने को तैयार नहीं है। इस प्रकार पुर्तगाल भी अपने उपनिवेशों को स्वतंत्र करना नहीं चाहता। किन्तु उपनिवेशवाद का युग समाप्त हो गया है। संसार का जनमत उपनिवेशों को सहन नहीं कर सकता। अफ्रीका में प्रायः दो दर्जन नये राज्य हो जायँगे और ये सब राष्ट्रसंघ के सदस्य होंगे। उपनिवेशवाद के भुक्तभोगी ये राज्य राष्ट्रसंघ में अपना सारा बल बचे हुए उपनिवेशों को समाप्त करने में लगाएँगे। राष्ट्रसंघ में एक साथ इतने नये, अनुभवहीन और योरप द्वारा सताए हुए राज्यों के आ जाने का प्रभाव संसार की राजनीति पर क्या पड़ेगा, यह राजनीति के विद्यार्थियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्या है।

अफरीका के नये राज्य

पिछले अंक में हमने अफरीका के सम्बन्ध में कुछ जानकारी दी थी। उसे अद्यतन करना आवश्यक है। इस बीच जो वहाँ नये राज्य स्थापित हुए हैं उनके न जानने से अफरीका की घटनाओं को समझना कठिन हो जाता है। अतएव हम यहाँ अफरीका के राज्यों के बारे में संक्षिप्त जानकारी दे रहे हैं।

अफरीका में दस वर्ष पहिले तक केवल चार स्वतन्त्र राज्य थे : मिस्र, इथोपिया (हब्श), दक्षिण अफरीका और लाइबीरिया। मिस्र पहिले तुर्की के साम्राज्य का अंग था और उसकी ओर से वहाँ एक राज्यपाल रहता था जो 'खदीव' कहलाता था। बाद में वह स्ततंत्र हो गया। फिर मिस्र अंग्रेजों के संरक्षण में आ गया। किन्तु अंत में वह सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राज्य हो गया। इथोपिया अफरीका ही नहीं, संसार के प्राचीनतम राज्यों में है। यहाँ पुरातन ईसाई धर्म प्रचलित है; और यहाँ के निवासी श्यामवर्ण के लोग हैं। दक्षिण अफरीका पहिले अंग्रेजी साम्राज्य का अभिन्न अंग था। बोअर युद्ध के बाद उसे कुछ स्वतन्त्रता मिली और धीरे-धीरे वह ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहते हुए भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो गया। लाइबीरिया अफरीका के पश्चिमी तट पर एक छोटा-सा राज्य है। इसकी स्थापना पिछली शती के आरम्भ में हुई। अमरीका में कितने ही नीग्रो दास बना कर ले जाये गये थे। उनको मुक्त करने के लिए वहाँ गृहयुद्ध हुआ और अंत में वे मुक्त कर दिये गये। बहुत से नीग्रो तो अमरीका में ही बस गये, पर बहुतों ने अफरीका लौटना पसंद किया। उन्हें वहाँ बसाने के लिए अमरीकनों ने एक समिति बनायी; और उसके तत्त्वावधान

में १८२० में वहाँ दासता से मुक्त नीग्रो लोगों का पहिला दल पहुँचा। इस भूभाग का कोई विशिष्ट नाम न धर, उन्होंने इसका नाम लाइबीरिया (स्वतन्त्र देश) रखा। लेटिन में 'लिबर' के अर्थ 'स्वतन्त्र' हैं। जहाँ वे उतरे, वहाँ एक नगर बसाया गया। वही वहाँ की राजधानी है। उसका नाम, अमरीका के तत्कालीन प्रेसीडैंट मनरो के नाम पर 'मनरोविया' रखा गया। यह जनतन्त्र है। इसकी आबादी प्रायः २५ लाख है पर अमरीका से आये हुए नीग्रो लोगों की सन्तानों की संख्या केवल एक लाख के लगभग है।

इन चार पुराने स्वतन्त्र राज्यों के अतिरिक्त जो राज्य पिछले कुछ वर्षों में स्वतन्त्र हुए हैं वे ये हैं :

राज्य	स्ततंत्रता की तिथि		क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	जनसंख्या
१. लीबिया	दिसम्बर	१९५१	८ लाख १० हजार	११ लाख
२. ऐरिट्रिया	सितम्बर	१९५२	४८ हजार	१० लाख
३. सूडान	जनवरी	१९५६	९ लाख ७० हजार	१ करोड़
४. मोरक्को	मार्च	१९५६	१ करोड़ ७३ लाख	१ करोड़
५. ट्यूनिसिया	मार्च	१९५६	४५ हजार	३८ लाख
६. ग़ाना (घाना)	मार्च	१९५७	९२ हजार	४८ लाख
७. गिनी	अक्तूबर	१९५८	९८ हजार	२५ लाख
८. कैमरून	जनवरी	१९६०	१ लाख ४३ हजार	३२ लाख
९. टोगोलैंड	अप्रैल	१९६०	२० हजार	११ लाख
१०. बेलजियन कांगो	जुलाई	१९६०	९ लाख ६ हजार	१ करोड़ ३७ लाख
११. माली संघ	जुलाई	१९६०	६ लाख ६० हजार	६० लाख
१२. मालगामसी (मैडागास्कर द्वीप)	जुलाई	१९६०	२ लाख २८ हजार	५२ लाख
१३. सोमालिया	जुलाई	१९६०	२ लाख ८८ हजार	१९ ,,
१४. वोल्टा	अगस्त	१९६०	१ लाख	३३ ,,
१५ दहोमी	अगस्त	१९६०	४७ हजार	१७ ,,
१६. आइवरी कोस्ट	अगस्त	१९६०	९ लाख ८९ हजार	२५ ,,
१७. नाइजर	अगस्त	१९६०	४ लाख ८४ हजार	२४ ,,
१८. चाड	अगस्त	१९६०	४ लाख ८८ हजार	२६ ,,
१९. गबोन	अगस्त	१९६०	१ लाख	४ ,,
२०. फ्रांसीसी कांगो	अगस्त	१९६०	१ लाख ३० हजार	८ ,,
२१ सैंट्रल अफ्रीका जनतंत्र	अगस्त	१९६०	२ लाख ३४ हजार	१५ ,,

माली संघ में फ्रांसीसी सूडान और सिनेगल सम्मिलित थे। गत मास सिनेगल ने संघ से अलग होने और स्वतंत्र राज्य बनाने की घोषणा की है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि पिछले दस वर्षों में अमरीका में २१ नये स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। इनमें १३ राज्य इसी वर्ष (१९६० में) स्थापित हुए। कुछ राज्यों को स्वतंत्रता मिलने की तिथि निर्धारित हो गयी है। उस समय-सूची के अनुसार इस वर्ष अफरीका के इन राज्यों को इस वर्ष स्वतंत्रता मिलने वाली है : नाइजीरिया (अक्टूबर १९६० में), मॉरिटानिया (नवम्बर १९६० में)। इनके अतिरिक्त

सियरा लियोन को अप्रैल १९६१ में स्वतंत्र कर देने का निश्चय कर दिया गया है। इस प्रकार १९६१ के प्रथम चरण तक अफरीका में कम से कम २८ स्वतंत्र राज्य हो जायेंगे। हमने 'कम से कम' इसलिए कहा है कि इन नये राज्यों में से कई के विभाजन होने के लक्षण दिखलायी पड़ रहे हैं। कांगो का कटंगा क्षेत्र स्वतंत्र होने को चेष्टा कर रहा है। माली संघ से सिनेगल ने अलग होने की घोषणा की है। अफरीका के इन राज्यों में से बहुतों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित नहीं हो पायी। उनमें परस्पर विरोधी कबीले बसते हैं जिनमें शतियों पुरानी शत्रुता है। इसलिए अफरीका के नक्शे में स्थिरता और स्थायित्व आने में अभी बहुत समय लगेगा। इनके अतिरिक्त केनिया, टैंगनीका, उगंडा, रोडीसिया, अंगोला, मुजंबिक तथा दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे हैं। इनमें से कुछ तो संभवतः दो-चार वर्षों में स्वतंत्र हो जायेंगे, किन्तु शेष के भाग्य का निर्णय होने में विलम्ब मालूम पड़ता है।

१ मिस्र	१६ दहोमी	३१ नाईजीरिया
२ इथोपिया	१७ चाड	३२ अंगोला
३ दक्षिण अफ्रीका	१८ सूडान	३३ दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका
४ लाइबीरिया	१९ सोमालिया	३४ बेचुआनालैंड
५ लीबिया	२० कैमरून	३५ दक्षिणी रोडीसिया
६ एरिट्रिया	२१ गैवन	३६ उत्तरी रोडीसिया
७ मोरक्को	२२ कांगो (फ्रैंच) जनतंत्र	३७ मोज़म्बिक
८ ट्यूनिसिया	२३ सेंट्रल अफ्रीका जनतंत्र	३८ न्याज़ालैंड
९ माली संघ	२४ कांगो (बेल्जियन)	३९ टांगानिका
१० गिनी	२५ मलगासी	४० केनिया
११ आइवरी कोस्ट	२६ अलजीरिया	४१ उगंडा
१२ वोल्टा	२७ मॉरिटानिया	४२ वसूटोलैंड
१३ नाईजर	२८ गैम्बिया	४३ स्वाज़ीलैंड
१४ घाना	२९ पोर्ट गिनी	४४ ब्रिटिश कैमरून
१५ टोगोलैंड	३० सियरा लिओन	४५ स्पेनी सहारा

गांवों में डाक्टरों की समस्या

•

आधुनिक पश्चिमी डाक्टरी (चिकित्साशास्त्र) को हमारे भूतपूर्व शासकों ने इतना प्रोत्साहन दिया और उसका इतना प्रचार किया और देशी चिकित्सा-प्रणालियों की इतनी उपेक्षा की कि एक ओर तो डाक्टरों की माँग बढ़ गयी, और दूसरी ओर देशी चिकित्सा-प्रणाली धीरे-धीरे समाप्तप्राय हो गयी। पश्चिमी चिकित्सा-प्रणाली को आज सारे संसार में प्रोत्साहन मिल रहा है। अमरीका, इंगलैंड, रूस, जर्मनी आदि देशों में सरकारें, निजी न्यास, प्रयोगशालाएँ प्रतिवर्ष शोध-कार्य में करोड़ों रुपये खर्च करती हैं। उस प्रणाली ने अभूतपूर्व उन्नति की है और आज उसके बिना काम नहीं चल सकता। कम्यूनिस्ट चीन तो अपनी चिकित्सा प्रणाली पर विशेष जोर देकर उसकी उन्नति कर रहा है, पर भारत की सरकार केवल मौखिक रूप से आयुर्वेद की बात करती है। उसकी सारी शक्ति पश्चिमी चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार में लगी है। किन्तु देशी डाक्टरों का रहन-सहन और जीवनस्तर अँगरेजों के अनुकरण पर ऊँचा है और वे बिजली, सिनेमा, शहरी सामाजिक जीवन के अभ्यस्त हैं। वे शहरों में ही रहना पसन्द करते हैं। इसके अतिरिक्त नगरों में वे रुपया भी अच्छा कमा सकते हैं। किन्तु देश की जनता अधिकतर गाँवों में रहती है। सतत उपेक्षा के कारण देहाती वैद्य तो समाप्त हो गये, और ये डाक्टर गाँवों में जाते नहीं। इधर स्वास्थ्य की पर्याप्त उन्नति हुई है। बच्चों की मृत्यु का अनुपात बहुत कुछ घट गया है। शीतला, हैजा, मलेरिया, प्लेग आदि घातक रोगों का बहुत कुछ नियंत्रण हो गया है। पर आश्चर्य की बात यह है कि रोगों

और रोगियों की संख्या बढ़ गयी है। चीर-फाड़ के (सर्जिकल) रोगियों में भी बेतहाशा वृद्धि हुई है। रेल, मोटर, मशीनों, बिजली आदि की बहुतायत के कारण दुर्घटनाएँ भी बहुत बढ़ी हैं। नये-नये रोग—जो सभ्यता के परिणाम हैं—उत्पन्न हो गये हैं और बढ़ रहे हैं। रक्तचाप, कैंसर, हृदय के रोग, स्नायु-विकार आदि इनके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त लोगों में अब चिकित्सा की माँग भी बढ़ गयी है। साधारण खाँसी-जुकाम के लिए पहिले साधारण घरेलू दवाएँ पर्याप्त समझी जाती थीं, किन्तु अब उनके लिए डाक्टर की सलाह आवश्यक समझी जाती है। पहिले जिले में एक बड़ा या जिला-अस्पताल होता था। तहसीलों और कुछ बड़े कस्बों में छोटे-छोटे अस्पताल होते थे। बड़े अस्पतालों में पहिले एल०एम०एस० और बाद में एम०बी बी०एस० योग्यता के डाक्टर रखे जाते थे। एम०बी०बी०एस० में वे लोग भर्ती किये जाते हैं जो विज्ञान लेकर इंटर या बी०एस्-सी० करते हैं। किन्तु तहसीलों और बड़े कस्बों में एल०एम०पी० डाक्टर रखे जाते थे। ये ऐंट्रेंस या हाई स्कूल करने के बाद मेडिकल कालिज में ले लिये जाते थे। इनका पाठ्यक्रम कुछ विषयों में एम०बी०बी०एस० के पाठ्यक्रम के समकक्ष होता था, और कुछ में कुछ कम। इनका वेतनमान भी एम०बी०बी०एस० उत्तीर्ण लोगों से कम होता था। किन्तु बाद में एल०एम०पी० की परीक्षा बन्द कर दी गयी, क्योंकि यह कहा गया कि सभी डाक्टरों की योग्यता एक ही स्तर की होनी चाहिए। इधर देहात में रोगी भी बढ़े और चिकित्सा की चेतना भी बढ़ी, इसलिए जनता की सरकारों ने गाँवों में नयी-नयी जगहों में अस्ताल खोले। किन्तु अब यह समस्या उठ खड़ी हुई कि इन गाँवों के अस्पतालों में जाने के लिए डाक्टर तैयार नहीं होते। वे कहते हैं कि उनका जीवनस्तर ऐसा है कि वे गाँवों में नहीं रह सकते। उन्हें वहाँ वे सुविधाएँ नहीं मिलतीं जो शहरों में प्राप्त हैं। उनका यह कहना ठीक भी है। किन्तु देहातों में दूसरे सरकारी कर्मचारी भी तो रहते हैं। तहसीलदार, नायब तहसीलदार, थानेदार, घोड़ा-डाक्टर, सहकारी इंस्पेक्टर, हाईस्कूलों के अध्यापक देहातों में रहते आये हैं और आज भी रह रहे हैं। इनमें अधिकांश ग्रेजुएट हैं। फिर एम०बी०बी०एस० ही को—जो उन्हींके समान भारतीय हैं—गाँवों में क्यों असुविधा है? इसका उत्तर स्पष्ट है। डाक्टरों की कमाई में वेतन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी ऊपरी आय। और देहातों में वे उतना रुपया पैदा करने की आशा नहीं कर सकते जितना शहरों में। फिर, यदि समान योग्यतावाला उनका एक सहयोगी नगर में नियुक्त कर दिया जाता है तो वे ही क्यों गाँवों की धूल फाँकें? यदि सरकारी नौकरी न भी मिली तो नगरों में वे 'प्राइवेट प्रेक्टिस' से पर्याप्त धन पैदा कर सकते हैं क्योंकि अभी नगरों में ही आवश्यकता की पूर्त्ति के योग्य डाक्टर नहीं हैं। फिर सबसे बड़ा कारण यह है कि मेडिकल कालिजों में उनकी शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की होती है कि उनमें सेवा की भावना उत्पन्न न होकर अधिकाधिक रुपया पैदा करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उनके आदर्श मेडिकल कालिज के प्रोफेसर होते हैं जिनकी आय—वेतन के अतिरिक्त—इस देश के साधारण शिक्षित व्यक्ति के लिए ईर्ष्या का कारण हो जाती है। सारांश यह कि मानसिक रूप से मेडिकल कालिजों में आज हमारे भावी डाक्टर शहरों के लिए तैयार किये जा रहे हैं, देहात के लिए नहीं।

उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की विधान सभाओं में कई बार प्रश्नों के उत्तर में सरकार की ओर से यह बतलाया गया कि कितने ही अस्पताल खोल तो दिये गये हैं पर उनमें डाक्टर नहीं भेजे जा सके क्योंकि गाँवों के लिए डाक्टर नहीं मिलते। इस समस्या को हल करने के लिए तीसरी योजना के प्रारूप में यह सुझाव दिया गया है कि एल० एम० पी० के पाठ्यक्रम को फिर से जारी किया जाय। हमारी समझ में यह सुझाव बहुत समीचीन है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, एम० बी० बी० एस० डाक्टरों के गाँवों में न जाने का मुख्य कारण उनकी वह मानसिकता है जो मेडिकल कालिजों में बनती है। वे मानसिक रूप से

गाँवों में जाने को प्रस्तुत नहीं हैं । एल० एम० पी० में भर्ती होनेवाले तभी उसमें जायँगे जब वे देहात में रहने को तैयार होंगे । उनका वेतन भी एम० बी० बी० एस० डाक्टरों से कम होगा क्योंकि उनकी आधारभूत योग्यता उच्चतर माध्यमिक होगी जो इण्टर से अब केवल एक वर्ग कम है । एम० बी० बी० एस० में अब केवल बी० एस-सी० उत्तीर्ण लोग लिये जाने चाहिए क्योंकि इंटर समाप्त हो गया है । इस गरीब देश में बहुत मँहगे डाक्टरों की बहुत आवश्यकता है भी नहीं । आज भी जिस प्रकार आवश्यकता होने पर एम० बी० बी० एस० डाक्टर किसी पेचीदा रोग के लिए बड़े डाक्टरों या विशेषज्ञों को "कंसल्ट" करते हैं, उसी प्रकार एल० एम० पी० भी आवश्यकतानुसार उन्हें 'कंसल्ट' कर लिया करेंगे । हम कितने ही पुराने ल० एम० पी० डाक्टरों को जानते हैं जो योग्यता और चिकित्सा की दक्षता में एल० एम० एस० और एम० बी० बी० एस० डाक्टरों से टक्कर लेते थे । कुछ डाक्टरों ने तीसरी योजना के इस प्रस्ताव का यह कहकर विरोध किया है कि इससे डाक्टरों में "जातियाँ" बन जायेंगी । इसका उत्तर यह है कि डाक्टरों में आज भी कितनी ही 'जातियाँ' हैं । विशेषज्ञों की जाति अलग है, सर्जनों की जाति अलग है, एम० डी० और एम० एस० की जाति अलग है । एफ० आर० सी० एस० आदि की जाति अलग है । जब डाक्टरों में आज भी इतनी 'जातियाँ' हैं तो एक और 'जाति' हो जाने से (जो पहिले भी थी) कोई विपत्ति न आ जायगी । इससे गाँवों की जनता को त्राण मिलेगा । एम० बी० बी० एस० तब निश्चित होकर नगर-निवास करें । तब उनसे देहात में जाने को कोई न कहेगा ।

जैसा बोओ, तैसा काटो

चीन में इस वर्ष फिर भयंकर अन्न-संकट है। १९५९ में देश के कई भागों में भयंकर बाढ़ आई थी। इस वर्ष कई क्षेत्रों में सूखा पड़ा और कीड़ों की असाधारण वृद्धि से बहुत सी खेती नष्ट हो गयी। परिणाम यह हुआ कि वहाँ अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी और अब चीन "पूँजीवादी" देशों से (जैसे कनाडा और आस्ट्रेलिया से) अन्न खरीदने को विवश हो गया है। विचारणीय बात यह है कि इस वर्ष इतने कीड़े क्यों लगे कि उनसे खेती का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया? पाठकों को याद होगा कि दो वर्ष पहिले चीनी कम्यूनिस्टों ने "गौरैया उन्मूलन" अभियान किया था। उन्होंने यह देखा कि चिड़ियाँ खेतों से अन्न चुग लेती हैं। अन्न का यह अपव्यय उन्हें सह्य नहीं हुआ और उन्होंने खेत में चुगनेवाली छोटी चिड़ियों के विरुद्ध इतना सफल अभियान किया कि चीन में चिड़ियाँ दिखलाई नहीं पड़तीं। इस सफलता का उन्हें बड़ा गर्व था। किन्तु वे भूल गये कि प्रकृति ने एक संतुलन कर रखा है। चिड़ियाँ खेतों में जितना अन्न खाती हैं उससे अधिक बचाती हैं क्योंकि जब तक अन्न नहीं होता तब तक, और जब तक वे उन्हें मिलते रहें, वे उन कीड़ों-मकोड़ों को खाती रहती हैं जो खेती को हानि पहुँचाते हैं। चीन ने चिड़ियाँ तो मार डालीं, पर कीड़ों-मकोड़ों को नष्ट करने का उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा। चिड़ियों के नष्ट हो जाने से ये कीड़े-मकोड़े खूब बढ़े, और निश्चित होकर खेती में इतने अधिक लग गये कि खेती का सत्यानाश कर डाला। चिड़ियाँ खेतिहर की मित्र हैं क्योंकि वे खेती को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को खा जाती हैं और उन्हें बढ़ने नहीं

देतीं । इसी प्रकार खेतों के साँप, चूहों को बढ़ने नहीं देते । यदि देहात के साँप निर्मूल कर दिये जायँ तो चूहे इतने बढ़ जायँ कि किसान और बनिया तबाह हो जायँ । प्रकृति के संतुलन को नष्ट करना बड़ा खतरनाक है। जीवदया के स्तर पर चीनियों को चिड़ियों के प्रति दया दिखाने को कहना व्यर्थ था । किन्तु शायद अब वे चिड़ियों की उपादेयता को समझने लगें। अवश्य ही विज्ञान ने ऐसे रासायनिक पदार्थ बनाये हैं जो कीड़ों को नष्ट कर देते हैं। किन्तु वे काफी मँहगे होते हैं, और फिर उनका इतनी बड़ी मात्रा में तैयार करना कि चीन ऐसे विशाल देश की खेती की आवश्यकता पूरी कर सकें, अव्यावहारिक और अर्थसाध्य है । फिर एक बात और है : कीड़ों में थोड़े दिनों में रासायनिक विषों से अप्रभावित होने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । आरम्भ में डी० डी० टी० से बहुत मच्छर मरे । पर लोगों का कहना है कि अब वह इतना प्रभाव नहीं करती जितना पहिले करती थी । मच्छरों ने अपने में उसके प्रभाव से बचने की शक्ति उत्पन्न कर ली है । अतएव रासायनिक विष खेती के कीड़ों की स्थायी दवा नहीं हो सकते । उनके दमन का स्थायी और सर्वोत्तम उपाय प्रकृति ने चिड़ियों को उत्पन्न करके कर दिया है । प्रकृति के प्रबंध में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप करना भयावह है । चीन अकाल की विभीषिका द्वारा अपने बुद्धिहीन कार्य का प्रायश्चित्त कर रहा है ।

अंतरिक्ष में मनुष्य

मनुष्य की एक कामना—अंतरिक्ष में पहुँचने की—अन्त में सफल हो गयी। वह सृष्टि का रहस्योद्‌घाटन करने के लिए अंतरिक्ष में उड़कर चन्द्रमा, मंगल, शुक्र आदि ग्रहों में पहुँचना चाहता है। उसे पृथ्वी ने जकड़ रखा है, किन्तु उसमें उड़ने की, ऊपर जाने की, दुर्दान्त अभिलाषा है। 'नवीन' ने कहा था—

पंख नोच पटका मानव को किसी खिलाड़ी ने धरती पर,
पर होती रहती है उसके अन्तर में पंखों की फर-फर।
निगड़बद्ध मानव के युग पद, पाशबद्ध मानव के युग भुज,
और सतत आक्रांत किये है उसे एक अभिशाप ताप रुज,
जिसे मेदिनी ने जकड़ा है, तुच्छ समझता जिसे प्रभंजन,
और नियति ने डाल दिये हैं जिसके रोम-रोम में बंधन,
उसी द्विपद को नील गगन ने भेजा है उड्डीन-निमंत्रण

× × ×

और नींद में भी तो उसने देखे उड़ने के ही सपने
औ' सन्तत विचरण में भी वह रहा खोजता डैने अपने!

और लाखों वर्षों बाद मनुष्य को वे 'डैने' मिल गये। मनुष्य की कल्पनातीत आकांक्षा सफल हुई। गत मास—१२ अप्रैल को—सोवियत सरकार ने यह महत्त्वपूर्ण घोषणा की कि रूसी वैज्ञानिकों ने एक कृत्रिम उपग्रह में मनुष्य को बैठाकर उसे आकाश में छोड़ा। वह उपग्रह पृथ्वी की एक पूरी परिक्रमा करने के बाद रूस में उतार लिया गया। उस पहिले व्यक्ति का नाम, जिसने सर्वप्रथम अंतरिक्ष की यात्रा की, मेजर गगारिन है। उपग्रह का नाम वास्टॉक (पूर्व) रखा गया था, और उसने पृथ्वी की एक परिक्रमा अंडाकार वृत्त ८९ १/१० मिनिट में की। वह पृथ्वी से कम से कम १७५ किलोमीटर (लगभग ११० मील) और अधिक से अधिक ३०२ किलोमीटर (प्रायः १९० मील) दूर—आकाश में—परिक्रमा कर रहा था। पृथ्वी से इतनी दूर अंतरिक्ष में, जब पृथ्वी की आकर्षण शक्ति प्रायः समाप्त हो जाती है और मनुष्य में भार (वजन) नहीं रह जाता, उस समय उसे कैसा मालूम होता है? इसका उत्तर मेजर गगारिन ही दे सकते हैं। अवश्य ही इतनी ऊँचाई पर हवा नहीं होती, और मेजर गगारिन को साँस लेने, साँस से निकली दूषित वायु को उस बन्द कोठरी से निकालने, भारहीनता से होनेवाली असुविधाओं के परिहार और अंतरिक्ष में व्याप्त घातक किरणों से बचाने का रूसी वैज्ञानिकों ने पूरा प्रबन्ध किया होगा, तभी मेजर गगारिन इस भयंकर यात्रा से सकुशल लौट आये। यही नहीं, उनकी बन्द कोठरी में कुछ ऐसा प्रबन्ध भी किया गया होगा कि वे बाहर देख सकें, उन्होंने इस बात का वर्णन किया है कि इतनी ऊँचाई, और इतनी दूरी से पृथ्वी कैसी मालूम होती है। उनका कहना है कि वहाँ से पृथ्वी की गोलाई स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इस उपग्रह में रेडियो यंत्र लगे थे जिनके द्वारा मेजर गगारिन पृथ्वी से संदेश प्राप्त करते, और अपना समाचार भेजते थे।

इस आश्चर्यजनक उड़ान की दो महत्त्वपूर्ण बातें हमारा ध्यान विशेष रूप से खींचती है। एक तो यह कि इसमें पहिली बार मनुष्य सफलतापूर्वक अंतरिक्ष में जाकर सकुशल लौट आया, और उसके शरीर या मस्तिष्क पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा, और दूसरी बात यह कि रूसी वैज्ञानिकों ने अंतरिक्ष संचार में इतनी उन्नति कर ली है कि वे इतने विशालकाय उपग्रहों या प्रक्ष्येपों को इच्छित स्थान पर, जब चाहें तब, उतार सकते हैं। याद रहे कि इस प्रक्ष्येप का वजन साढ़े चार टन था। यह आश्चर्यजनक बात भी उल्लेखनीय है कि रूस ने प्रक्ष्येपों को दागने की कला में इतनी उन्नति कर ली है कि वे इतने भारी प्रक्ष्येपों को आकाश में सैकड़ों मील दूर दाग सकते हैं।

रूस की यह ऐतिहासिक सफलता स्वर्णाक्षरों में लिखी जायगी। मानव-इतिहास में यह वास्तव में अभूतपूर्व घटना है। मनुष्य का सहस्राब्दियों का स्वप्न पूरा हुआ। मेजर गगारिन की इस उड़ान-यात्रा ने मनुष्य की चन्द्रलोक और मंगलग्रह आदि की यात्रा को अब कल्पनालोक से निकालकर संभावना के क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया है। यह अंतर्ग्रहीय यात्रा की व्यावहारिक भूमिका है।

इस अभूतपूर्व सफलता का श्रेय रूस को मिला, और यह उचित भी था क्योंकि रूस ने इस क्षेत्र में बड़ी लगन से काम किया है और इन प्रयोगों में अपार धन व्यय किया है। मेजर गगारिन ने यह साहसिक यात्रा करके, जिसमें तनिक सी भूल होने पर उनकी जीवन लीला समाप्त हो जाती, जिस वीरता और साहस का परिचय दिया है उसके लिए उन्हें जो सम्मान दिया जाय, वह कम है। किन्तु इस सफलता का वास्तविक श्रेय उन वैज्ञानिकों को है जिन्होंने इस प्रक्ष्येप को बनाया, इतने भारी प्रक्ष्येप को दागने की सफल विधि का आविष्कार किया तथा प्रक्ष्येप को इच्छित स्थान पर उतारने की इतनी सफल और सटीक तरकीब निकाली। मानव जाति वास्तव में उन वैज्ञानिकों की आभारी है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन वैज्ञानिकों के अद्भुत मस्तिष्कों ने ये वास्तविक अर्थ में आश्चर्यजनक यंत्र बनाये वे अज्ञात हैं। उन्हें

कोई नहीं जानता। किन्तु उनके बनाये अंतरिक्ष यान में यात्रा करनेवाला व्यक्ति आज संसार में सर्वाधिक समादृत और प्रसिद्ध व्यक्ति है। इसका कारण समझ में नहीं आता कि जो रूसी सरकार अंतरिक्ष यात्री मेजर गगारिन का इतना प्रचार कर रही है, वह उन महान् वैज्ञानिकों के नाम तक क्यों नहीं लेती, जिन्होंने वे अद्भुत यंत्र बनाये।

प्रक्ष्येपों का आविष्कार सबसे पहिले जर्मन वैज्ञानिकों ने किया। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी ने बाल्टिक समुद्र के किनारे, पूर्वी जर्मनी के पीनमुण्ड नामक स्थान में प्रक्ष्येप अस्त्र बनाने की एक विशाल प्रयोगशाला बनायी थी जिसमें जर्मनी के चोटी के भौतिक विज्ञान और गणित के वे विशेषज्ञ, जिन्होंने अंतरिक्ष में जानेवाले प्रक्ष्येपों के बनाने का विचार किया था, एकत्र कर दिये गये थे। युद्ध समाप्त होने से पहिले उन्होंने वी–१ और वी–२ नामक प्रक्ष्येप तैयार भी कर लिए थे, और पहिली बार मनुष्य को अपने अस्त्र अंतरिक्ष तक भेजने में सफलता प्राप्त हुई थी। जब जर्मनी की हार होने लगी तब पूर्व से रूसी सेना, और पश्चिम से अमरीकन और अंग्रेजी सेनाएँ बर्लिन की ओर बढ़ने लगीं। रूसियों, अमरीकनों और अंग्रेजों को अपने गुप्तचरों से इन प्रक्ष्येपों के प्रयोग का समाचार मिल गया था। दोनों ही पक्ष उन वैज्ञानिकों को पकड़ना चाहते थे। चूँकि रूसी पूर्व से बढ़ रहे थे, उन्होंने पीनमुंड पर अधिकार कर लिया और सारी जर्मन प्रक्ष्येप प्रयोगशाला को तथा जर्मन वैज्ञानिकों को पकड़ कर वे रूस ले गये, और उन्होंने उस प्रयोगशाला को रूस के भीतरी भाग में स्टैलिनग्राड के पास क्यूस्तिन्यान नामक स्थान में स्थापित किया। पकड़े हुए जर्मन वैज्ञानिक भी वहीं भेज दिये गये। इस प्रकार जर्मनों ने प्रक्ष्येप सम्बन्धी जो आविष्कार किये थे और जिन वैज्ञानिकों ने उनका आविष्कार किया था उनमें से ७५ प्रतिशत उनके हाथ लग गये। रूस ने जर्मन वैज्ञानिकों को पूरी सुविधाएँ दीं, उनके प्रयोगों पर करोड़ों ही नहीं, अरबों रूबल व्यय किये। रूसी वैज्ञानिक भी वहाँ काम करने लग गये थे। उन्होंने भी प्रक्ष्येप विद्या सीखी और उसमें उन्नति की। इस प्रकार जर्मनों के मूल्यवान् आविष्कार अनायास रूस के हाथ में पड़ गये और वह प्रक्ष्येपों की दौड़ में औरों से आगे हो गया। अमरीकनों ने भी प्रयत्न किया कि उन्हें भी उन आविष्कारों का पता लग जाय और प्रक्ष्येप-विशेषज्ञ जर्मन वैज्ञानिक उन्हें मिल जायँ। ब्रान नामक एक चोटी का वैज्ञानिक रूसियों से बचने के लिए पीनमुंड से भाग निकला था और अपने साथ प्रायः डेढ़ सौ कारीगरों को भी भगा ले गया था। उसने अमरीकनों को आत्मसर्पण कर दिया। इस प्रकार अमरीकनों को दो-एक जर्मन विशेषज्ञ ही मिल पाये। प्रयोगशाला उनके हाथ न लगी।

रूस की प्रक्ष्येप सम्बन्धी सफलता में जर्मन विशेषज्ञों और रूसी वैज्ञानिकों को कितना श्रेय है, इसका पता लगना असंभव है। जो भी हो, यदि इन आविष्कारों में अधिकतर मस्तिष्क जर्मनों का ही हो, तब भी यह तो मानना पड़ेगा कि यदि रूस सरकार इस विषय में इतनी रुचि न लेती, वैज्ञानिकों को पूरे और मनमाने साधन न देती, रुपये को पानी की तरह न बहाती, तथा इस विद्या का महत्त्व न समझती तो जर्मन वैज्ञानिकों का ज्ञान निरर्थक हो जाता। इस बीच रूसी वैज्ञानिक भी इस विद्या में पारंगत हो गये और आज उनके कारण जर्मन मस्तिष्क पर आधारित यह रूसी विज्ञान संसार में सबसे आगे है।

●

ब्रह्माण्ड-यात्रा में नयी उन्नति

•

गत मास रूस ने ब्रह्माण्ड या अन्तरिक्ष यात्रा में एक नयी और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की। उसने अभी तक इस सम्वन्ध में जो कार्य किया है, वह संक्षेप में इस प्रकार है : (१) उसने पहिले 'वास्तक १' नामक अंतरिक्ष यान को आकाश में भेजा जिसमें एक ब्रह्माण्ड यात्री था (श्री गगारिन)। उस अंतरिक्ष यान ने पृथ्वी की एक परिक्रमा की और वह इच्छित स्थान पर उतार लिया गया। (२) दूसरी बार उसने 'वास्तक २' नामक अंतरिक्ष यान आकाश में भेजा जिसमें एक दूसरा ब्रह्माण्ड यात्री (श्री टिटोव) भेजा गया। उसने पृथ्वी की १७ परिक्रमाएँ कीं और वह भी निर्दिष्ट स्थान पर उतार लिया गया। (३) इसके बाद सात अंतरिक्ष यान, जिनमें कोई यात्री नहीं थे, अंतरिक्ष में वायुमंडल के ऊपरी स्तर का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए भेजे गये। इस अध्ययन के वाद (४) मेजर निकोलेव को 'वास्तक ३' में अंतरिक्ष में भेजा गया। ये लगातार तीन दिन तक पृथ्वी की परिक्रमा करते रहे। (५) 'वास्तक ३' को अंतरिक्ष में भेजने के प्रायः चौबीस घंटे वाद रूस ने 'वास्तक ४' को अंतरिक्ष में भेजा। इसमें कर्नल पोपोविच सवार थे। यह इस सफाई से अंतरिक्ष में प्रविष्ट किया गया कि वह ठीक उसी कक्ष (आर्बिट) में घूमने लगा जिस कक्ष में 'वास्तक ३' घूम रहा था। इतना ही नहीं, वह इस अचूक निशाने से साध कर कक्ष में बैठाया गया कि दोनों अंतरिक्ष यान एक दूसरे के आगेपीछे, इतने निकट, परिक्रमा करने लगे कि एक यान का यात्री दूसरे यान को देख सकता था। इनकी आपस की दूरी जान बूझ कर इतनी कम रखी गयी थी। इसी अवस्था में

येदोनों अंतरिक्ष यान दो दिन तक पृथ्वी की परिक्रमा करते रहे। जिस प्रकार ये दोनों यान परिचालित किये गये उससे यह भी संभव है कि यदि रूसी चाहते तो एक यान दूसरे के पास पहुँच जाता, और दोनों एक दूसरे से सटे हुए उड़ सकते थे, तथा एक यान का ब्रह्माण्ड यात्री दूसरे यान में जा सकता था। दो अंतरिक्ष यानों को एक ही निश्चित कक्ष में, एक ही गति से, एक ही ऊँचाई पर बराबर दो दिन तक उड़ाते रहना, और इस बीच उनकी आपसी दूरी वही बनाये रखना—एक ऐसी उपलब्धि है जिसकी केवल कल्पना ही की जा सकती थी किन्तु जिसको कार्यान्वित करना असंभव मालूम होता था। तीन दिनों में 'वास्तक ३' ने पृथ्वी के चारों ओर १५ लाख मील से अधिक की यात्रा की। अर्थात् यदि वह चंद्रमा की यात्रा करना चाहता तो पृथ्वी से तीन बार चंद्रमा तक जाकर लौट आ सकता था। 'वास्तक ४' ने साढ़े बारह लाख मील से अधिक की यात्रा की। दोनों ही ब्रह्माण्ड यात्री और यान निर्धारित स्थान पर, इच्छित समय पर, उतार लिये गये। इन अंतरिक्ष यानों में फोटो लेने, समाचार भेजने, यानों के भीतर के दूर-चित्र (टेलीविजन चित्र) भेजने आदि की इतनी सुन्दर और पक्की व्यवस्था थी कि दोनों ब्रह्माण्ड यात्री आपस में बातचीत करते थे, वे रूस से बातचीत करते थे तथा उनके चित्र वहाँ दूर-चित्र रजतपट पर दिखलाये भी गये। इन यानों की चाल प्रायः अठारह हजार मील प्रति घंटे थी। ये यान पृथ्वी की जिस कक्ष में परिक्रमा कर रहे थे वह रूस से दक्षिण-पूर्व की ओर चलकर (भू-मध्य रेखा से ६५ अंश पर) साइबीरिया, उत्तरी चीन, जापान के दक्षिणी भाग, प्रशान्त महासागर होती हुई दक्षिण अमरीका के उत्तरी-पश्चिमी भाग को काटती हुई अतलान्तिक महासागर को पार करके उत्तरी योरोप को पार कर फिर रूस में पहुँचकर वृत्त को पूरा करती थी। यह यान दीर्घवृत्तीय (एलिप्टिकल) कक्ष में घूम रहा था। इस वृत्त की पृथ्वी से निकटतम दूरी १०९ मील थी और अधिकतम दूरी (ऊँचाई) १५० मील थी।

रूस के इस कार्य को 'चमत्कार' की ही संज्ञा दी जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि आज रूस ने अंतरिक्ष यात्रा में जो उन्नति कर ली है वह मनुष्य की अब तक की चरम उपलब्धि है। यह विज्ञान और मनुष्य के मस्तिष्क की शक्ति का ऐसा उन्नति-बिन्दु है जिस पर पहुँचना मानव इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इस कीर्तिमान की प्रशंसा के लिए उपयुक्त शब्द खोजना कठिन है।

किन्तु मानवता को इस शानदार उपलब्धि से क्या लाभ है? जिस वातावरण में ये अंतरिक्ष यान विकसित किये जा रहे हैं, उसमें ये मानवता में अधिकाधिक त्रास ही उत्पन्न कर सकते हैं। यदि रूस और अमरीका में सामरिक शक्ति बढ़ाने की इतनी भयंकर होड़ न हो रही होती तो यह कहना कठिन नहीं है कि ये देश इन यानों के बनाने में अरबों और खरबों रुपये खर्च न करते, क्योंकि उन रुपयों से वे अपने देशों की जनता का जीवन-स्तर उठा सकते थे जिसकी रूस में विशेष आवश्यकता है। किन्तु ये दोनों एक दूसरे के भय से प्रेरित होकर, जनता के सुख का बलिदान कर, इन चमत्कारिक आविष्कारों में लगे हैं जिनसे उनकी संहारक-शक्ति अकल्पनीय ढंग से बढ़ती जाती है। अब रूस के ये यान रूस की किसी यंत्रशाला से इस प्रकार परिचालित किये जा सकते हैं कि वे अमरीका के ऊपर इच्छित स्थानों पर होकर निकलें, वहाँके छोटे से छोटे महत्त्वपूर्ण स्थान के चित्र ले लें, दूसरे छोटे अंतरिक्ष यानों को नष्ट कर सकें और शायद वे प्रलयंकर परमाणु या हाइड्रोजन बम भी इच्छित स्थान पर गिरा सकें। इससे अमरीका में जो खलबली मच गयी है, उसका अनुमान किया जा सकता है। अमरीका निश्चय ही ऐसे यानों को बना लेगा, चाहे उसे उनके बनाने में दो-चार वर्षों की देरी लग जाय। और तब तक रूस और कोई नयी वस्तु बना लेगा, या अमरीका कोई नया आविष्कार कर लेगा। विज्ञान के ये सब आविष्कार मनुष्य के मस्तिष्क के कीर्तिकेतु अवश्य हैं, किन्तु

इसमें संदेह नहीं कि वे मानवता के विनाश के भयंकर साधन भी हो सकते हैं। आज मानवता का भाग्य इन दो राष्ट्रों के वैज्ञानिकों की हथेलियों में है।

रूस के इस चमत्कारपूर्ण कीर्तिमान के बाद ही अमरीका ने एक अंतरिक्ष यान शुक्रलोक की ओर भेजा है। इसकी गति पचीस हजार मील प्रति घंटे है। वह सात-आठ दिन लगातार चलता हुआ शुक्रलोक के पास (प्रायः दस हजार मील दूर) होकर निकलेगा। उसमें दूरचित्र भेजने की व्यवस्था है। शुक्र के निकट पहुँचकर वह उसके चित्र पृथ्वी पर भेजेगा। शुक्रलोक के सामने से निकल कर वह सूर्य के वृत्त में पहुँच जायगा और वहाँ पर वह सूर्य की परिक्रमा करने लगेगा। इस आश्चर्यजनक अंतरिक्ष यान का वृत्तांत जानने को मनुष्य उत्सुक हैं।

रूस कहता है कि हम शीघ्र ही चंद्रलोक की यात्रा पर मनुष्य को भेजेंगे। अमरीका शुक्रलोक का हाल जानना चाहता है। और दोनों के पैरों के नीचे की पृथ्वी उनकी प्रचंड संहारकारी शक्ति के भय से काँप रही है!

पैदावार बढ़ाना भी खतरनाक !

यह संसार बड़ा विचित्र है ! "कहीं घी घना, कहीं मुट्ठी भर चना, कहीं वह भी मना।" हमारी सरकार उपज बढ़ाने के लिए करोड़ों और अरबों रुपया लगाकर सिंचाई के साधन बढ़ाने के लिए बड़े-बड़े बाँध बना रही, नहरें खोल रही, नलकूप बनवा रही और रासायनिक खाद के कारखाने खोल रही है। कितने ही जंगल काटकर और कितनी ही गोचर भूमि लेकर हमने वहाँ खेत बना लिए हैं। सरकार का सारा यन्त्र खेती की उपज बढ़ाने पर लगा है, किन्तु अभी भी अमरीका और कनाडा के गेहूँ और वर्मा के चावल के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। 'उपज बढ़ाओ या नष्ट हो' का नारा हमारा राष्ट्रीय नारा हो रहा है। ऐसी अवस्था में दक्षिणी फ्रांस का एक समाचार पढ़कर हम अपनी आँखें मलने लगे। समाचार यह है कि इस वर्ष दक्षिणी फ्रांस के किसानों ने अन्न के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ इतनी पैदा की हैं कि उनके लिए ग्राहक नहीं मिलते। अंगूर की फसल इतनी अच्छी हुई कि उन्होंने कई लाख मन शराब वना डाली। केवल दक्षिणी फ्रांस में इतनी शराब तैयार हो गयी है कि सारे फ्रांस की जनता उसे एक वर्ष में भी नहीं पी सकती—और संसार जानता है कि फ्रांसीसियों को मदिरा कितनी प्रिय है और वे कितनी मदिरा पीते हैं। इसी प्रकार उन्होंने आलू, टमाटर, अंडे, मुर्गियाँ, फल आदि इतने पैदा कर लिए कि उनकी समझ में नहीं आया कि उन चीजों का क्या किया जाय। उन्होंने सरकार से कहा कि इनकी निकासी का उपाय करे। किन्तु सरकारें न कम पैदावार की समस्या हल कर सकती हैं, और न अधिक पैदावार की। फ्रांसीसी

सरकार समस्या पर विचार करने लगी, और उधर आलू, टमाटर, अंडे, फल आदि सड़ने लगे। शराब रखने के लिए पीपों की कमी हो गयी। उसे रखने के लिए बहुतों के पास जगह न रही। मुर्गियों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि किसानों के लिए उनका पालन-पोषण करना सिरदर्द हो गया। जब सरकार केवल विचार ही करती रही, और उसने कुछ न किया तब जुलाई के महीने में किसान परेशान होकर लाखों मन आलू और टमाटर उन नगरों में ले आये जहाँ वे उन्हें बेचा करते थे। उन्होंने उन लाखों मन आलुओं और टमाटरों को सड़कों पर डालकर उन पर ट्रैक्टर चला दिए। मंडी की सड़कों पर आलुओं और टमाटरों की बलि चढ़ा करके वे अपने-अपने गाँव लौट गये। उन्होंने सोचा कि इस 'अहिंसक' प्रदर्शन से सरकार की समाधि भंग होगी, और वह उनकी सहायता का कोई उपाय सोचेगी। किंतु सरकार सोचती ही रही। इस बार किसानों का धीरज छूट गया। वे सरकार से घाटे की पूर्ति के लिए अनुदान की माँग करने लगे। कुछ होता हुआ न देखकर उन्होंने अपनी माँग के समर्थन में उपद्रव आरम्भ कर दिये। अब पुलिस को उनका सामना करना पड़ा। एक जगह तो छः हजार क्रुद्ध किसानों ने सड़क के पत्थर उखाड़-उखाड़कर पुलिस पर ही जवाबी हमला कर दिया। अश्रुगैस छोड़ने से वे किसी तरह काबू में आये। किन्तु फिर भी सरकार समस्या का हल सोचती रही।

जब दंगों का भी कोई फल नहीं हुआ तो किसानों ने एक नये ढंग का अहिंसक प्रतीकात्मक मोर्चा खोला। उन्होंने सड़कों पर जाती हुई मोटरों को रोकना आरम्भ किया। मोटर रोक कर वे सवारियों को एक विज्ञापन देते जिसमें उनकी दुर्दशा का वर्णन और उनकी माँगों का विवरण छपा था। उसके साथ ही वे मोटर की बैठकियों पर बहुत से फल, चीज (पनीर), अंडे, मुर्गियाँ और शराब की बोतलें गाँज देते। केवल एक सप्ताह में इन किसानों ने इस प्रकार मोटरवाले यात्रियों को प्रायः २७,००० शराब की बोतलें भेंट कर दीं। जितनी मुर्गियाँ, अंडे और फल आदि भेंट कर दिये उनकी गिनती नहीं है। किन्तु प्रचार के अतिरिक्त इस मोर्चे से भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। इसी प्रकार वर्ष बीत जायगा। सरकार शायद थोड़ी बहुत क्षति-पूरक तकावी दे देगी, किन्तु किसानों को जो वास्तविक क्षति हुई है उसकी पूर्ति सम्भव नहीं मालूम होती। इस समाचार से यह सार निकलता है कि अति उपज भी उतनी ही दुखदायी है जितनी कम उपज। किन्तु इस देश में हम अभी अति उपज की तो बात ही क्या 'अच्छी' उपज का ही स्वप्न देख रहे हैं। हमारी प्रति एकड़ उपज संसार में प्रायः सबसे कम है। हमारे पशु संसार में सबसे कम दूध देते हैं। अभी तो 'अति' उपज की बात हमें शेखचिल्ली की कहानी ऐसी मालूम पड़ती है।

●

योग का अनोखा राजनैतिक प्रयोग

•

मदरास निगम या महानगरपालिका बड़ी प्रतिष्ठित और उत्तरदायी संस्था है। आजकल इसमें द्रविड़ कड़गम का बहुमत है। गत मास उसने एक नया सिनेमा बनाने की अनुमति दे दी। यह सिनेमा एक हाई स्कूल के निकट बनाया जाने को है। कुछ लोगों ने स्कूल के पास सिनेमा बनाने का विरोध किया। यह विरोध बहुत उचित था क्योंकि स्कूलों के पास सिनेमा होने से विद्यार्थियों के अध्ययन में बाधा पड़ती है। स्कूलों के निकट सिनेमा, शराब आदि की दूकानें होना अवांछनीय है। इसलिए कुछ विरोधी दलों के सदस्यों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। किन्तु जब किसी राजनीतिक दल के हाथों में सत्ता आ जाती है तब वह अपने 'पशु बहुमत' (पाशविक बहुमत ?) मद में इतना चूर हो जाता है कि कभी-कभी उचित-अनुचित का विचार न कर दलगत हित के सही या गलत काम करने का हठ पकड़ लेता है। प्रायः सभी उपस्थित विरोधी सदस्यों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, किन्तु एक कम्युनिस्ट सदस्य को यह प्रस्ताव ऐसा चुभा कि उन्हें हाथ उठाकर सामान्य ढंग से विरोध करना अवसर के उपयुक्त न मालूम हुआ। जब मतदान का समय आया तब शिक्षा-प्रेमी सदस्य (श्री कन्नन) तुरन्त उलटकर सिर के बल खड़े हो गये और इस प्रकार (शीर्षासन) करके उन्होंने अपना विरोध प्रकट किया। अपने विरोध में अधिक जोर लाने के लिए वे पन्द्रह मिनट नक शीर्षासन किये रहे। किन्तु अफसोस ! सत्ताधारी दल पर योग के इस प्रसिद्ध आसन का कुछ असर न हुआ और उसने स्कूल के समीप सिनेमा खोलने की अनुमति दे दी।

कम्युनिस्ट दल के लोग अहिंसा के लिए प्रसिद्ध नहीं हैं। सामान्य लोगों के लिए अहिंसक कम्युनिस्ट उतना ही दुर्लभ है जितना निरामिष बाघ। किन्तु श्री कन्नन ने कम्यूनिस्ट होते हुए भी अपने अहिंसक विरोध प्रदर्शन में कितने ही बड़े-बड़े अहिंसावादियों के कान काट लिए। संसद के सामने 'हल्लापूर्ण' प्रदर्शनों की जगह यदि कम्यूनिस्ट प्रदर्शक श्री कन्नन का अनुकरण कर सामूहिक शीर्षासन करके अपना विरोध प्रकट करें तो अन्तर्राष्ट्रीय समाचार-पत्रों में उनका कितना प्रचार होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। संसद में वाक्‌युद्ध के बजाय यदि सर्वश्री गोपालन, भूपेश गुप्त या हरीन्द्र चट्टोपाध्याय शीर्षासन लगाकर विरोध प्रदर्शित करें तो इस अहिंसक और 'आत्मिक शक्ति' से कांग्रेस दल का पत्थर का दिल भी पिघल जायगा, और अध्यक्ष को भी सदन में अनुशासन एवं शान्ति बनाये रखने में बड़ी सुविधा हो जायगी। कम्यूनिस्ट सदस्यों की सफलता देखकर बहुत सम्भव है कि श्री राममनोहर लोहिया और श्री मणिराम बागड़ी भी विरोध प्रदर्शन के इस अमोघ अस्त्र को स्वीकार कर लें। किन्तु इसके लिए जितना आत्मिक बल होना चाहिए वह लोगों में कहाँ है? जो भी हो, श्री कन्नन को विरोध के इस मौलिक ढंग का आविष्कार और प्रयोग करने का श्रेय तो मिलना ही चाहिए। राजनीति के क्षेत्र में मौलिक प्रयोग करने में भारत की बराबरी विश्व का कौन-सा देश कर सकता है?

विज्ञान और चिड़ियों का संहार

डाक्टर विद्यानिवास मिश्र सिएटल (अमरीका) की वाशिंग्टन यूनिवर्सिटी में अपना कार्यकाल समाप्त कर लौट आये हैं और वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हो गये हैं। वे हाल ही में हमसे मिलने आये। हमने उनसे अमरीका के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये। बातों ही बातों में उन्होंने बतलाया कि अमरीका में चिड़ियों का प्रायः निर्मूलन हो गया है। अब वहाँ चिड़ियाँ बड़ी मुश्किल से देखने को मिलती हैं और उनकी नाना प्रकार की ध्वनियों से प्रकृति का वातावरण मुखर नहीं होता। चारों ओर दिन में भी रात्रि के समान सन्नाटा छाया रहता है। इसका कारण उन्होंने यह बतलाया कि खेती तथा फलों में लगनेवाले कीड़ों को मारने के लिए वहाँ तरह-तरह की कीटनाशक औषधियाँ बड़े पैमाने पर छिड़की जाती हैं और उनकी हलकी-पतली तह नीचे की धरती के सभी वृक्षों, वनस्पतियों और अन्य वस्तुओं पर जम जाती है। सन् १९४४-४७ में हम आगरे में नियुक्त थे। आगरे का सैनिक हवाई अड्डा उन दिनों अमरीकन वायुसेना का बड़ा केन्द्र था। अमरीकन सैनिकों ने मलेरिया से बचने के लिए मच्छरों के विनाश का अभियान आरम्भ किया और वे कुछ दिनों का अन्तर देकर विमान से सारे आगरे नगर और उसके आस-पास के दूर-दूर के क्षेत्र पर डी० डी० टी० का छिड़काव किया करते थे। डी० डी० टी० के इस लगातार छिड़काव के कारण उन दिनों आगरे में मच्छर नहीं रह गये थे। अपने चार साल के आगरे के प्रवास में हमें कभी मसहरी लगाने की आवश्यकता नहीं हुई। इससे स्पष्ट है कि इन ओषधियों का छिड़काव कितना सफल होता है। मच्छरों को नष्ट करने के लिए डी० डी० टी० कारगर थी, किन्तु फसलों और सेव,

नारंगी, नाशपाती, अंगूर आदि फलों में लगनेवाले कीड़ों को मारने के लिए अधिक तेज विषैली कीटनाशक ओषधियों (पैस्टिसाइट और इन्सेक्टिसाइड) का प्रयोग किया जाता है। चिड़ियों के घोंसलों और उनमें रखे अंडों पर विषैली ओषधियों की झिल्ली की तरह पतली तह जम जाती है। ये ओषधियाँ इतनी विषैली होती हैं कि इनसे अंडे नष्ट हो जाते हैं। अमरीका में वर्षों लगातार इन ओषधियों के व्यापक उपयोग का परिणाम यह हुआ है कि खेती और फलों की पैदावार की तो बहुत कुछ रक्षा कर ली गई किन्तु चिड़ियों का संहार हो गया। अमरीका में पहुँचने पर गोरे लोगों ने यहाँ के 'बाइजन' नामक पशु को, जो एक प्रकार का भैंसा होता है, नेस्तनाबूद कर दिया जब उसे नष्ट कर दिया तब उसकी यादगार में उसका चित्र अपने एक सिक्के पर अंकित कर दिया। कनाडा और अमरीका के कुछ दुर्गम स्थानों में कुछ 'बाइजन' बच रहे थे, उनको 'अद्भुत जीव' मानकर उनके संरक्षण के लिए अब कई जंगल सुरक्षित कर दिये गये हैं। फिर भी उनकी संख्या सैकड़ों ही में रह गयी है जब कि वे उत्तरी अमरीका के सारे क्षेत्र में लाखों की संख्या में थे। इसी प्रकार अमरीकी गोरे लोगों ने वहाँ के ताम्रवर्ण मूल निवासियों (रेड इण्डियन्स) का नाश किया और जो थोड़े से बच रहे हैं उनकी सुरक्षा का कानून से संरक्षण किया जा रहा है। इनकी भी यादगार में उन्होंने एक ताम्रवर्णी कबीले के सरदार के चेहरे को अपने एक दूसरे सिक्के पर अंकित कर रखा है। मारिशस में 'डोडो' नामक एक सुन्दर पक्षी होता था। वहाँ पहले फ्रांसीसी गये और बाद में अंग्रेज। उन्होंने उसका शिकार इतनी बेरहमी से किया कि अब उसका केवल नाम ही रह गया है।

भारत इस समय अमरीका का अंध अनुकरण करने में लगा है। अब हमारे यहाँ भी फसलों को कीड़ों से बचाने के लिए कीटनाशक विलायती ओषधियों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया है। यदि ये ओषधियाँ हाथ से पिचकारी द्वारा फसलों पर छिड़की जायें तो कोई विशेष हानि नहीं। किन्तु समाचार पत्रों से ज्ञात हुआ है कि केन्द्रीय कृषि विभाग इन्हें अमरीकन प्रणाली से ऊँचाई से विस्तृत क्षेत्र पर छिड़कने के लिए कई विमान खरीद रहा है। यदि हमारी कल्पनाशून्य सरकार अमरीका का अंधानुकरण करती रही तो जो स्थिति अमरीका में उत्पन्न हो गयी है वही कालान्तर में इस देश में हो जायगी। मोर, हंस, बगुले, सारस, तोते, मैना, कोयल, नीलकंठ, कौए और गौरैया आदि इस देश में मारिशस के 'डोडो' की तरह केवल चित्रों में या अजायबघरों की कांच की अलमारियों में मृत रूप ही में रह जायेंगे। आश्चर्य यह है कि जो देश अहिंसा का इतना बड़ा समर्थक होने का मौके-बेमौके दावा करता रहता है, वह भौतिक उन्नति के लिए ऐसा मार्ग अपनाने जा रहा है जिससे कालान्तर में यह देश पक्षीविहीन हो जायगा। हमारे कितने ही पक्षी खेतों और पेड़ों में लगनेवाले कीड़ों को खाने और इस प्रकार खेती में सहायक होते हैं। कीटनाशक विषों के व्यापक छिड़काव का मनुष्य पर भी प्रभाव पड़ना आवश्यक है, किन्तु अमरीका का ध्यान अभी इस ओर नहीं गया। हम अन्न की पैदावार बढ़ाना आवश्यक समझते हैं और उनमें लगनेवाले कीटों और कीटाणुओं को नष्ट भी करना चाहते हैं। किन्तु यह कार्य इस ढंग से न किया जाना चाहिए जिससे देश के पक्षी नष्ट हो जायें। अन्न का सर्वाधिक नुकसान चूहों से होता है। कम से कम दस प्रतिशत तैयार अन्न उनके उदरों में जाता है। यदि हम उनकी रोकथाम कर सकें तो हमारा अन्न-संकट इसी एक कार्य से बहुत कुछ दूर हो सकता है। किन्तु अमरीका में शायद यह समस्या नहीं है और उन्होंने चूहा-विनाश का कोई उपाय नहीं निकाला। इसीलिए हमारे नकलची विशेषज्ञ और नेता निरुपाय हैं। सरकार द्वारा करोड़ों रुपया शोध और अनुसंधान पर प्रतिवर्ष खर्च किया जाता है किन्तु चूहों की संख्या कम करने का कोई कारगर—रामबाण—नुस्खा अभी तक नहीं निकल पाया। कहीं-कहीं कीड़ों के लगने से शायद फसल की इतनी हानि नहीं होती जितनी इस देश में चूहों से होती है। 'पक्षीहीन' भारत की कल्पना करते ही हम स्तब्ध रह जाते हैं। देश के सौन्दर्य को सुरक्षित रखने की कामना करनेवालों, पक्षी-प्रेमियों और जीवहिंसा के विरोधियों को ऐसा जनमत बनाना चाहिए जिससे हमारी सरकार के अमरीकी अंध-अनुकरण से भारत की पक्षीसम्पत्ति नष्ट न हो जाय। ●

सड़क महत्त्वपूर्ण या पुराने वृक्ष ?

अभी हाल में जापान के एक न्यायाधीश ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया है जिसमें सांस्कृतिक महत्त्व की वस्तुओं के संरक्षण के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय व्यवस्था दी गयी है।

जापान में निक्को नामक एक प्रसिद्ध स्थान है। जो स्थान भारत में ताजमहल का है, वही जापान में निक्को के मन्दिर का है। वह लकड़ी का बना है जिस पर लाख का चिकना और अत्यन्त चटक लाल रंग चढ़ा हुआ है। यह मन्दिर सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में बनाया गया था। कला की दृष्टि से यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि सारे संसार के लाखों लोग इसे देखने प्रतिवर्ष वहाँ जाते हैं।

इस मन्दिर के सामने देवदारु के बारह पुराने वृक्ष लगे हैं। ये प्रायः ४०० वर्ष पुराने हैं। वे स्वयं तो आकर्षक हैं हीं, उनसे उस मन्दिर का सौन्दर्य भी बढ़ता है।

किन्तु वे सड़क से लगे हुए हैं। यह सड़क एक ऐसे स्थान को जाती है जहाँ छुट्टियों में बहुत से सैलानी पहुँचते हैं। यह सड़क वैसे तो बहुत सँकरी नहीं है, किन्तु समृद्ध जापान में मोटरों की संख्या इतनी बढ़ गयी है और छुट्टियों के दिनों में मोटर यातायात इतना बढ़ जाता है कि स्थानीय अधिकारियों ने सड़क चौड़ी करने का निश्चय किया। उसे उस स्थान में चौड़ी करने में इन पुराने देवदारु वृक्षों का काटना अनिवार्य है। जब इनके काटने का समय आया तब मन्दिर के अधिकारियों ने न्यायालय से इस विध्वंस को रोकने की प्रार्थना की। यह मुकदमा पाँच वर्षों से चल रहा था। अन्त में टोकियो के जज श्री ईसीजावा ने

गत मास अपना निर्णय दे दिया। उन्होंने इन पुराने देवदारु वृक्षों को काटने की अनुमति नहीं दी। इस महत्त्वपूर्ण निर्णय का सारांश यह है : एक सड़क के बदले में तो दूसरी सड़क बना कर काम चलाया जा सकता है किन्तु सांस्कृतिक महत्त्व की पुरानी वस्तुओं का कोई विकल्प नहीं है। एक बार इन पुराने वृक्षों को काट दिये जाने पर इनकी पूर्ति नहीं की जा सकती। मन्दिर के सामने लगे ये बारह देवदारु के प्राचीन वृक्ष तेज यातायात से कहीं अधिक सुन्दर और महत्त्व पूर्ण हैं।

हमारे देश में नयी क्षणिक या सामान्य सुविधाओं के लिए प्राचीन स्मारकों का विध्वंस कर देने में बहुत कम लोगों को हिचक होती है। पुराने वृक्षों को काटने में तो यहाँ के अधिकांश नये नागरिक और अधिकारी अत्यन्त हृदयहीन हैं। उन्हें जापान के इस न्यायाधीश की व्यवस्था से शिक्षा लेनी चाहिए। किन्तु अधिकारी तभी इन बातों का विचार करेंगे जब जनता में सांस्कृतिक महत्त्व की वस्तुओं और प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं से प्रेम हो। हमारे सुन्दर और दुर्लभ पशु धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। जंगल, अमराइयाँ और बाग तेजी से काटे जा रहे हैं। यदि यही दशा रही तो वह दिन दूर नहीं है जब यह देश सपाट और सौन्दर्यहीन हो जायगा।

चन्द्रमा पर मनुष्य

मनुष्य में प्रकृति ने अपार जिज्ञासा और कुतूहल भर दिया है। नवीनजी ने इस सम्बन्ध में कहा था :

पंख नोच, पटका मानव को किसी खिलाड़ी ने पृथ्वी पर,
पर होती रहती है उसके अन्तर में पंखों की फर-फर।
पृथ्वी माता ने पहिनायीं उसे बेड़ियाँ आकर्षण की;
और, किसीने सुलगा दी है हिय में चिनगी संघर्षण की,
परवश है, पर, चाह रहा है वह करना रहस्य-उद्‌घाटन,
यह आकुल मन, यह अति लघुजन, पंखहीन यह, यह
संश्लथ तन!

निगड़बद्ध मानव के युग पद, पाशबद्ध मानव के युग भुज,
और सतत आक्रान्त किये है उसे एक अभिशाप-ताप-रुज;
जिसे मेदिनी ने जकड़ा है, तुच्छ समझता जिसे प्रभंजन,
और नियति ने डाल दिये हैं जिसके रोम-रोम में बन्धन,
उसी द्विपद को नील गगन ने भेजा है उड्‌डीन-निमन्त्रण!

गूँज रही है उसके हिय में पंखों की सन्-सन्-सन्-सन्-सन् !
मानव की जिज्ञासा की है साक्षी स्वयं प्रकृति कल्याणी
युग-युग से हुंकारें करता चला आ रहा है यह प्राणी !
ये भीषण दिक्-काल-प्रहर उस ध्वनि-ध्यान से कंपित हैं,
लख मानव के यत्न निरंतर प्रखर प्रभाकर भी स्तम्भित हैं !
देख देखकर इस वामन को अमित चकित हैं नभ तारकगण,
यह रहस्य-उद्‌घाटन-रत-जन चला जा रहा है संश्लथ तन ।

इसी दुर्दमनीय जिज्ञासा और कुतूहल से प्रेरित होकर उसने पर्वतों के दुर्गम शृंगों का आरोहण किया, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के बर्फीले वीरानों का अनुसंधान किया और महासागरों का संतरण किया । फिर उसने विमान का निर्माण करके व्योम बिहार किया और अब वह अंतरिक्षगामी हो रहा है । उसने अंतरिक्ष यात्रा में विजय पाकर अब सौरमण्डल के ग्रहों के अनुसंधान की चेष्टा आरम्भ की है । चन्द्रमा पर उसका पदार्पण इस महान् प्रयास का पहला चरण है ।

अमरीका को चन्द्रमा पर मनुष्य के सर्वप्रथम उतारने का श्रेय मिला है । इसके लिए सारे संसार ने उसकी प्रशंसा की है । उसने अंतरिक्ष यान (अपॉलो ११) की यात्रा का जो कार्यक्रम बनाया था उसका शत-प्रतिशत पालन किया गया । इसके लिए यान के बनानेवालों और उसके चालकों की प्रशंसा मुक्तकंठ से करनी पड़ती है । अपॉलो ११ और उसके रॉकेटों, इंजिनों, चन्द्रमा पर उतरनेवाले छोटे यान (ईगल) तथा उसे छोड़नेवाले 'सेटर्न' राकेट आदि को मिलाकर, इन सबमें, प्रायः पचास लाख पुर्जे लगे थे, यदि इनमें से एक प्रतिशत पुर्जे भी खराब होते तो उनकी संख्या ५०० होती; और इनके बिगड़ने से सारी योजना ध्वस्त हो जाती । इससे स्पष्ट है कि इसके बनानेवाले कारीगरों ने कितनी दक्षता और कुशलता से काम किया होगा । अमरीका की वैज्ञानिक और तकनीकी दक्षता का यह यान (अपॉलो) सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है । किन्तु यह तभी संभव हुआ जब इसके लिए अमरीका ने दिल खोलकर पानी की तरह रुपया बहाया । इस एक योजना में उसने २४ अरब डालर (एक खरब अस्सी अरब रुपये) खर्च किये । इस देश में इतने धन की कल्पना करना भी कठिन है । अंतरिक्ष यात्रियों ने चन्द्रमा पर उतरते समय जो परिधान (कपड़ों का जोड़ा) पहिना था उनमें से प्रत्येक का मूल्य चार लाख डालर (३० लाख रुपये) था । जो देश इतना व्यय कर सकता है वह यदि संसार के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक और कारीगर भी तैयार कर लेता है तो कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है ।

यह यान (अपॉलो ११) 'सैटर्न' नामक रॉकेट (प्रक्षेप्य) से छोड़ा गया था । उसने इस यान को जिस वेग से आकाश में फेंका उसके धक्के की शक्ति ७५ लाख पाउंड थी । इस धक्के से अपॉलो ६००० मील प्रति घंटे की गति से आकाश में ३८ मील ऊपर फेंक दिया गया । इस ऊँचाई पर पहुँचकर उसमें लगा दूसरा रॉकेट छोड़ा गया । इसने उसे १४,००० मील प्रति घंटे की गति से ११४ मील ऊपर पहुँचा दिया । यहाँ पहुँचने पर तीसरा रॉकेट थोड़ी देर के लिए चलाया गया । जिससे अपॉलो की गति बढ़कर १७,५०० मील प्रति घंटे हो गयी, और वह पृथ्वी के कक्ष में जाकर उसकी परिक्रमा करने लगा । दो बार पृथ्वी की परिक्रमा करने के बाद तीसरा रॉकेट फिर चलाया गया । उसके चलाने से उसकी गति बढ़ कर प्रायः २४,३०० मील प्रति घंटे हो गयी और वह पृथ्वी के कक्ष में से निकलकर चन्द्रमा की ओर चल दिया । किन्तु ज्यों-ज्यों वह पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से दूर होता जाता था उसकी गति कम होती जाती थी, अंत में वह प्रायः २,१०० मील प्रति घंटे रह गयी । पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी प्रायः २,४०,००० मील है । जब

अपॉलो चन्द्रमा से ३०,००० मील दूर रह गया तब उस पर चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव पड़ने लगा जिससे उसकी गति बढ़ने लगी, और वह ५,७०० मील प्रति घण्टे तक पहुँच गयी। चन्द्रमा से साढ़े पाँच हजार मील दूर पहुँचने पर चालकों ने अपॉलो की गति घटाकर ३,७०० मील प्रति घंटे कर दी जिससे वह चन्द्रमा के कक्ष में पहुँचकर उसकी परिक्रमा करने लगा।

चन्द्रमा के कक्ष में पहुँचने पर और उसकी कई परिक्रमाएँ करने के बाद इस अभियान के नेता आर्मस्ट्रांग और उनके सहयोगी मुख्य यान (कोलम्बिया) से निकलकर उससे लगे उस छोटे यान (ईगल) में सवार हुए जिसमें बैठकर उन्हें चन्द्रमा पर उतरना था। इस चन्द्रयान (ईगल) में दो इंजिन थे : एक उसे उतारने के लिए और दूसरा उसे चढ़ाने के लिए। इस चन्द्रयान के दो भाग थे; एक बैठकी, जिसके नीचे पाये लगे थे जिनके सहारे उसे चन्द्रतल पर खड़ा होना था; और सरा वह भाग जिसमें वे बैठे थे। इसे मुख्य यान से अलग करके उसे चन्द्रतल पर उतारना आरम्भ किया य । उसकी गति कम करने के लिए उतरनेवाला रॉकेट चलाया गया। चन्द्रतल पर पहुँचकर इन दो्ां व्यक्तियों ने वहाँ अमरीका का झंडा फहराया, भूकम्पमापी यन्त्र लगाया और 'लेसर' की एक मीनार खड़ी की जिसकी रश्मियों से पृथ्वी और चन्द्रमा की ठीक-ठीक दूरी नापी जा सकती है। इसके बाद उन्होंने वहाँ की धूल और बिखरे हुए पत्थरों के नमूने एकत्र करके थैलों में बन्द किये। इसके बाद वे यान में लौट आये और विश्राम करके उन्होंने चन्द्रयान चढ़ानेवाले रॉकेट को चलाकर उसे ऊपर उठाया और वे मुख्य यान से जा मिले जो इस बीच चन्द्रमा की परिक्रमा लगा रहा था। चन्द्रतल से उठते समय चन्द्रयान की बैठकी वहीं छोड़ दी गयी, केवल ऊपर का भाग ही, जिसमें दोनों चालक बैठे थे, ऊपर उठ कर मुख्ययान से मिला था, चन्द्रयान (ईगल) के मुख्य यान (कोलम्बिया) से जुड़ जाने के बाद उसे (ईगल को) भी अंतरिक्ष में छोड़ दिया गया, और मुख्य यान का रॉकेट इंजिन चलाकर उसकी गति बढ़ा दी गयी जिससे वह चन्द्रमा के आकर्षण से निकलकर पृथ्वी की ओर चल पड़ा। पृथ्वी पर उतरते समय मुख्ययान का केवल वह कक्ष जिसमें यात्री बैठे थे, नीचे उतारा गया। उसका शेष भाग अंतरिक्ष में परिक्रमा करने के लिए छोड़ दिया गया। उतरते समय वायुमंडल की रगड़ से इसका बाहरी तापमान ५०० अंश सेंटिग्रेड हो गया, किन्तु उसके बाहरी तल पर ऐसा आवरण लगा था जो इस गर्मी को भीतर जाने से रोके रहा जिससे यात्रियों को वह गर्मी नहीं मालूम हुई। निर्धारित स्थान पर वह उतरा जहाँ अमरीकी जलसेना के जहाज यात्रियों को लेने को तैयार खड़े थे। इस बात की आशंका थी कि चन्द्रमा पर कहीं ऐसे विषैले कीटाणु न हों जो मनुष्य के लिए हानिकारक हों। इसलिए प्रायः दो सप्ताह इन यात्रियों और उनके द्वारा लाये गये चन्द्रमा के पत्थरों और धूल को बन्द कमरों में रखा गया जिनमें परीक्षा करके देखा गया कि उनके साथ चन्द्रमा से कोई कीटाणु तो नहीं चले आये।

मानव की आज तक की वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति का यह यात्रा-चरम-बिन्दु है। साथ ही यह अमरीका के दृढ़ संकल्प की पूर्ति भी है। सन् १९६१ में तत्कालीन राष्ट्रपति कैनेडी ने यह आदेश दिया था कि वर्तमान शतक में अर्थात् १९७० के पहिले अमरीका द्वारा चन्द्रमा पर मनुष्य उतार दिया जाय। उस समय यह काम अत्यन्त दुष्कर समझा जाता था, किन्तु अमरीकी वैज्ञानिक और कारीगर प्राणापण से इस काम में जुट गये और अन्त में—निर्धारित समय के भीतर ही—उन्हें विजयश्री मिल गयी।

प्रश्न उठता है कि सिवाय इस संतोष के कि मनुष्य चन्द्रमा पर पहुँच गया और अमरीका की साख वैज्ञानिक जगत् में बहुत ऊँची हो गयी, तथा उसका मनोबल बढ़ गया, इस अपार व्यय से क्या लाभ हुआ ? वह लाभ मुख्यरूप से वैज्ञानिक जगत् को होगा। चन्द्रमा पर वेधशाला और प्रयोगशाला बनाकर मनुष्य ब्रह्माण्ड के अनेक उन रहस्यों को जान सकेगा जो पृथ्वी के वायुमण्डल के कारण यहाँ से नहीं जाने जा

सकते। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पृथ्वी और ग्रहों की उत्पत्ति, उनके वय आदि के अध्ययन को चन्द्रमा की विजय से सहायता मिलेगी। सूर्य से आनेवाली अनेक सूक्ष्म रश्मियों, ब्रह्माण्ड किरणों (कॉस्मिक रेज़), चुम्बकीय क्रिया आदि के बारे में वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकेगा जिससे पृथ्वी की ऋतुओं और मौसम के परिवर्तनों के कारण मालूम हो सकेंगे। चन्द्रमा से अन्य ग्रहों, जैसे मंगल, शुक्र आदि की यात्रा अपेक्षाकृत सरलता से की जा सकेगी। ये सब कार्य धीरे-धीरे होंगे और बड़े व्ययसाध्य होंगे। अनुमान किया जाता है कि चन्द्रमा पर बीस व्यक्तियों की एक प्रयोगशाला चलाने में प्रति वर्ष ७५ अरब रुपये खर्च होंगे?

चन्द्रमा का दुरुपयोग भी हो सकता है। दुर्भाग्य से मनुष्य ने प्रायः सभी वैज्ञानिक अनुसंधानों का दुरुपयोग किया है। वहाँ से पृथ्वी पर संहार के भयंकर अस्त्र छोड़े जा सकते हैं। किन्तु आशा है कि मनुष्य चन्द्रमा का ऐसा दुरुपयोग नहीं करेगा।

भारत में चन्द्रमा एक देवता माना जाता है। ज्योतिष में चन्द्रमा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रह है। कुछ पंडितों ने कहा कि मनुष्य के चरण पड़ने से वह अपवित्र हो गया और अब पूजनीय नहीं रह गया। एक पंडित ने तो यहाँ तक कह दिया कि जिस चन्द्रमा पर मनुष्य पहुँचा है, वह ज्योतिष का चन्द्रमा ही नहीं है। इन बातों में कोई सार नहीं है। इस देश में हिमालय भी देवता माना जाता है, किन्तु अगणित मनुष्यों के चरण पड़ने पर भी उसका देवत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है। चन्द्रमा का पृथ्वी पर जो प्रभाव पड़ता है वह मनुष्य के जाने से कम नहीं हुआ। आज भी उसके कारण समुद्र में ज्वार-भाटा आता है। जब उसके स्थूल प्रभाव में कोई कमी नहीं हुई तो ज्योतिष में जो उसका सूक्ष्म प्रभाव माना जाता है, वह कैसे कम हो सकता है? चन्द्रमा आकाशीय पिंड और अपनी गठन तथा अपने स्थान के कारण वह पृथ्वी और पृथ्वी-निवासियों को प्रभावित करता है। वह निर्जन, वीरान और चट्टानी होने पर भी सृष्टि के आदि से अपनी चाँदनी द्वारा मनुष्य के हृदय को प्रफुल्लित करता रहा है, और आज भी—मनुष्य के चरण पड़ने के बाद भी उसकी स्निग्ध-धवल चाँदनी उतनी ही विमल, मनोरम और आह्लाददायिनी है। मनुष्य के चरण पड़ने से कोई ग्रह अपवित्र नहीं हो सकता।

भारत में विदेशी राजदूतावासों द्वारा प्रचार

यह प्रचार का युग है और प्रत्येक देश में आज सरकारों पर अपनी जनता के मत और भावनाओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता है। इसलिए जनता के प्रत्येक वर्ग को लक्ष्य करके उच्चाभिलाषी राष्ट्र दूतावास जिस देश में होते हैं वहाँ ऐसा प्रचार कार्य करते हैं जिससे उसमें उनके देश के प्रति सद्भावना उत्पन्न हो तथा उसमें उनके राजनीतिक सिद्धान्तों और राज्यप्रणाली के प्रति सहानुभूति हो जाय। इस समय भारत में अनेक विदेशी दूतावास इस दिशा में विशेष रूप से सक्रिय हैं। भारत सरकार के समाचार-पत्रों के निबन्धक की रिपोर्ट से इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। उनकी पिछली रिपोर्ट में जो तथ्य-सामने आये हैं, उन्हें हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दे रहे हैं।

नई दिल्ली के विदेशी राजदूतावासों में २५ ऐसे हैं जो नियमित प्रकाशन (साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक) निकालते हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं की संख्या १०५ है। इन सबकी प्रतियों का योग सन् १९६९ में १२,७१,२९५ था। इधर पिछले पाँच वर्षों में इन पत्र-पत्रिकाओं की संख्या और प्रचार में बड़ी वृद्धि हुई है। १९६३ में इनकी संख्या केवल ६७ थी। ये मुख्यतः अंग्रेजी में प्रकाशित होती हैं, किन्तु कई राजदूता-

वास हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएँ निकालते हैं, और कुछ तो कई भारतीय भाषाओं में भी । ऐसी १२ भारतीय भाषाएँ हैं जिनमें कोई न कोई राजदूतावास प्रकाशन करता है ।

इस प्रचार कार्य में सबसे प्रमुख (जैसा कि आशा भी की जा सकती थी) रूस और अमरीका हैं । ११६३ में रूसी दूतावास केवल २९ पत्र-पत्रिकाएँ निकालता था, किन्तु १९६८ में उनकी संख्या बढ़कर ४६ हो गयी। इनमें प्रमुख पत्रिका "सोवियत भूमि" है जो अंग्रेजी (सोवियतलैंड) के अतिरिक्त भारत की बारह भाषाओं में प्रकाशित होती है । इसमें चित्रों की संख्या प्रचुर होती है तथा वह अच्छे कागज पर आकर्षक ढंग से छपती है । इन सब संस्करणों को मिला कर उसकी चार लाख प्रतियाँ छपती हैं । तरुणों और विद्यार्थियों के लिए यह दूतावास "स्पुतनिक जूनियर" और "यूथ रिव्यू" नामक पत्रिकाएँ निकालता है । ये उसके प्रमुख प्रकाशन हैं । इनके अतिरिक्त भी वह कई प्रकाशन निकालता है, तथा भारतीय समाचार-पत्रों को नियमित रूप से समाचारों की टिप्पणियों तथा अनेक विषयों के लेख मुफ़्त भेजा करता है ।

रूस के बाद भारत के विदेशी प्रचारकों में अमरीका का स्थान है। वैसे तो वह केवल १६ पत्र-पत्रिकाएँ निकालता है, पर इसके प्रमुख प्रकाशन 'अमेरिकन रिपोर्टर' और 'स्पैन' (अंग्रेजी मासिक) हैं । अमेरिकन रिपोर्टर, अंग्रेजी के अतिरिक्त सात भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित होता है । इन सब संस्करणों की ४,४०,००० प्रतियाँ छपती हैं जिनमें आधी अंग्रेजी संस्करण की होती हैं । "स्पैन" मासिक की सवा लाख प्रतियाँ छपती हैं ।

इस प्रकार रूस और अमरीका के ये दो राजदूतावास प्रचार कार्य में अग्रणी हैं । १९६९ में रूस के प्रकाशनों की संख्या भी अधिक थी और उनकी प्रतियाँ भी अधिक संख्या में प्रचारित होती थीं । उसकी पत्र-पत्रिकाओं की प्रायः ६ लाख ५२ हजार प्रतियाँ वितरित होती थीं । उसी वर्ष अमरीका के पत्रों की ४ लाख १४ हजार के लगभग प्रतियाँ प्रचारित होती थीं । अमरीकी प्रचार अंग्रेज़ी माध्यम के पत्रों द्वारा विशेष रूप से किया जाता है और रूस का भारतीय भाषाओं के द्वारा । विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने के कारण रूसी पत्रिकाएँ अंग्रेजी न जाननेवाली जनता में अधिक गहराई तक पहुँचती हैं । रूसी पत्रिकाएँ विभिन्न स्तर के लोगों के लिए अलग-अलग हैं । उनके द्वारा भेजे जानेवाले लेखों में भी भारतीय रुचि का अधिक ध्यान रखा जाता है, जब कि अमरीकी पत्र-पत्रिकाएँ विशेषकर "स्पैन"—केवल उच्च और शिक्षित वर्ग की रुचि का ध्यान रखती हैं । 'अमेरिकन रिपोर्टर' में अवश्य भारतीय रुचि का कुछ ध्यान रखा जाता है ।

किन्तु दोनों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अमरीकी पत्र-पत्रिकाएँ मुफ्त बाँटी जाती हैं, और रूसी पत्र-पत्रिकाएँ अधिकतर बेची जाती हैं । 'सोवियत भूमि' के तीन लाख ग्राहक बतलाये जाते हैं । उसका मूल्य केवल साढ़े सात रुपये (वार्षिक) है, किन्तु बेचनेवालों को प्रति ग्राहक ढाई रुपये कमीशन दिया जाता है । उसमें विज्ञापन भी नहीं रहते और उसकी छपाई, कागज, रंगीन तथा सादे चित्रों को देखते हुए यह मूल्य बहुत कम है । इस प्रकार 'स्पुत्निक जूनियर' और "यूथ रिव्यू" भी बेचे जाते हैं किन्तु ग्राहकों को तरह तरह के उपहार भी दिये जाते हैं । इस कारण उनका मूल्य बहुत कम मालूम होता है ।

ऊपर से तो यह मालूम पड़ता है कि इस देश में रूसी प्रचार अमरीकी प्रचार की अपेक्षा अधिक है, किन्तु वास्तव में अमरीका जिस वर्ग को लक्ष्य करके प्रचार करता है वह अंग्रेजी भाषी होने के कारण ऐसे अमरीकन पत्र जैसे "टाइम", "लाइफ" "न्यूज़ वीक" बड़ी संख्या में खरीद कर पढ़ता है जिनसे अनजान में वह अमरीकी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होता है । रूस से निकलनेवाले पत्र रूसी भाषा में होने के कारण इस देश में नहीं पढ़े जा सकते । इसलिए रूस को अपना मुख्य प्रचार इसी देश में पत्र निकाल कर करना

पड़ता है। अमरीकी प्रचार का लक्ष्य मुख्य रूप से इस देश का शिक्षित वर्ग है, इसीलिए उसका बल अच्छे अंग्रेजी प्रकाशनों पर है। वह या तो यहाँ की जनता को महत्त्व नहीं देता, या उसकी उपेक्षा करता है और समझता है कि इस देश के थोड़े से अंग्रेजी शिक्षित लोग 'जनमत' बनाते हैं। यदि वह ऐसा न समझता तो वह भी भारतीय भाषाओं में विशेष कर हिन्दी में 'स्पैन' के टक्कर की पत्रिकाएँ निकालता जो इस देश की रुचि का ध्यान रखकर सम्पादित की जातीं। उसके विपरीत, रूसी प्रचार तरुण वर्ग और जनता को लक्षित करके किया जाता है, और इसीलिए उसने भारतीय भाषाओं के माध्यम को इतना महत्त्व दिया है।

अन्य विदेशी राजदूतावासों का प्रचार उन दो देशों की तुलना में बहुत फीका है। केवल पूर्वी (कम्यूनिस्ट) जर्मनी, इंग्लैण्ड और बलगारिया क्रमशः ६, ५ और ४ पत्र निकालते हैं। शेष २० दूतावास एक या दो छोटे पत्र निकालते हैं। इन सब प्रकाशनों की प्रतियों का योग लगभग एक लाख है। अधिकांश पत्र अंग्रेजी में निकलते हैं, कुछ हिन्दी में और उससे भी कम किसी अन्य भारतीय भाषा में।

स्पष्ट है कि रूस और अमरीका अपने इस प्रत्यक्ष प्रचार में लाखों रुपये प्रति वर्ष खर्च करते हैं। उनके यहाँ इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन, अनुवाद आदि के लिए बड़ी संख्या में भारतीय भी नियुक्त हैं और उनकी छपाई में बहुत से छापेखानों को भी बड़ा लाभ होता है।

इस मूल्यवान प्रचार का क्या फल होता है? नगरों में जहाँ पुस्तकों, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं आदि की बहुतायत है और जहाँ नाना प्रकार की पठन-सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है, वहाँ इन प्रकाशनों की बहुत कद्र नहीं है। वहाँ उनका उपयोग मुख्य रूप से यही है कि वे अपने अस्तित्व का विज्ञापन करते रहते हैं, और कुछ लोग उन्हें कमोवेश पढ़ भी लेते हैं। किन्तु छोटे स्थानों में, जहाँ पठन-सामग्री कम या बहुत कम है, वहाँ हमने देखा है कि लोग इन्हें पढ़ते हैं। अपनी यात्राओं में हमने देखा है कि कस्बों और छोटे नगरों के सरकारी, सरकारी सहायता पाने वाले या स्थानीय जनता द्वारा संचालित पुस्तकालयों के पास सामान्यतः पत्र-पत्रिकाएँ खरीदने के लिए काफी व्यय नहीं होता। वे स्थानीय, जिले के या राज्य के एक-दो दैनिक मँगाना परमावश्यक समझते हैं और उन्हें मँगाने के बाद उनके पास अन्य पत्र-पत्रिकाओं को मँगाने के लिए पैसा नहीं रह जाता, और यदि होता भी है तो वे एक-दो से अधिक पत्रिकाएँ नहीं मँगा सकते। ये राजदूतावास ग्रन्थों से पुस्तकालयों की सूची मँगा कर उन्हें अपने प्रकाशन मुफ्त भेज दिया करते हैं। वे उन्हें अपनी मेजों पर सजा देते हैं और अन्य पठनीय साहित्य के अभाव में ये प्रचारपत्र इन पुस्तकालयों में काफी पढ़े जाते हैं।

इन पत्रों का उद्देश्य अपने देश, उसके सिद्धान्त और उसकी नीति का प्रचार है, और इनके सम्पादक बड़ी चतुरता से और ढंग से उसे प्रस्तुत करते हैं। यह कहना तो कठिन है कि पाठकों पर उनका क्या असर पड़ता है, किन्तु यदि सामान्य पाठक उन पत्रों को वर्ष-दो वर्ष बराबर पढ़ता रहे तो उसके विचारों में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

प्रश्न यह है कि क्या हमारे सार्वजनिक और स्कूली एवम् कालिजों के पुस्तकालय और वाचनालय विदेशी प्रचार के लिए मुक्त रूप से खुले रहें? दुर्भाग्य से हमने देश में मुफ्तखोरी की प्रवृत्ति को बढ़ने दिया है। ईसाई मिशनरी यहाँ विदेश से रुपये लाकर चाहे जिस उद्देश्य से स्कूल, अस्पताल, अनाथालय खोलें—हमें स्वीकार है क्योंकि दूसरों का दान लेने में हमें हिचक नहीं है। हम विदेशी दान रूपी सहायता भी राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार कर लेते हैं। हमारा राष्ट्रीय आत्मसम्मान अभी इतना गिरा हुआ है कि हम मुफ्तखोरी को बुरा नहीं समझते। हम जानते हैं कि दान की वस्तु में दोष भी होते हैं, और इसलिए कहा-

वत चल गयी है कि "दान की बछिया के दाँत नहीं देखे जाते।" दान में जो वस्तु मिले उसे उसके गुण-दोष देखे बिना स्वीकार कर लेना चाहिए। यही कारण है कि हमारे गरीब पुस्तकालय और वाचनालय विदेशी प्रचार के इन वाहकों को आँख मूँद कर स्वीकार कर लेते और उनके प्रचार के सहायक होते हैं। इस देश में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अवश्य है और हम यह भी मानते हैं कि विदेशी दूतावासों को इस जनतान्त्रिक देश में अपना प्रचार करने का अधिकार भी है। किन्तु साथ ही हमारे पुस्तकालयों और उसके संचालकों को भी यह अधिकार है कि वे इस बात का निर्णय ले सकें कि वे किस प्रकार का साहित्य अपने यहाँ रक्खेंगे। यदि सरकार पुस्तकालयों और वाचनालयों को उचित सहायता दे—कम से कम उनके आकार और आवश्यकता के अनुसार उन्हें कम से कम पत्र-पत्रिकाओं को खरीदने योग्य अनुदान दे तो उनकी यह दीनता बहुत कुछ दूर हो सकती है और तब वे अपने पाठकों के लिए पठनीय सामग्री का चयन करते समय अपने विवेक और अपनी बुद्धि का उपयोग कर सकेंगे।

आधुनिक शहरी जीवन और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की आधुनिक स्वच्छन्दता का अभिशाप और खतरा

•

बहुत से रोगियों को बाहरी खून चढ़ाने की आवश्यकता होती है। इसके लिए लोगों से रक्तदान लिया जाता है। बम्बई के प्रसिद्ध जमशेदजी जी जी भाई अस्पताल में रक्त देने के लिए जो लोग आये उनमें से ८० प्रतिशत लोग ऐसे पाये गये जिन्हें कोई न कोई रतिरोग (विनीरियल रोग) जैसे उपदंश (गर्मी या सूजाक) था। इनका खून रोगियों को नहीं दिया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से उन्हें भी यह रोग हो जाने का भय है। संसार के उन्नत देशों में खून देने के लिए आनेवालों में ऐसे लोगों का केवल एक प्रतिशत होता है। अतएव बम्बई की स्थिति बड़ी चौंका देनेवाली है। विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में दो करोड़ लोगों को ये रतिरोग हैं। ये रोग छुतिहा होते हैं अर्थात् ऐसे लोगों के जूठे बर्तनों में खाने या पीने से, अथवा उनकी उपयोग की हुई तौलिया आदि उपयोग करने से वे हो सकते हैं। आरम्भ में ये रोग इन रोगों से पीड़ित स्त्री या पुरुष से संभोग करने से उत्पन्न होते हैं। इनमें उपदंश अत्यन्त भयानक है क्योंकि ऊपर से अच्छा हो जाने पर भी रोगी में बीस वर्ष तक यह रोग सुप्तावस्था में रहता है। ऐसे रोगियों की सन्तान भी इन रोगों से जन्म से ही पीड़ित हो सकती है। भारत में यह रोग बहुत कम था।

उसकी इतनी वृद्धि मुख्यतः शहरी जीवन की दुर्व्यवस्था के कारण है। हमारे बहुत से नगरों में लोगों को रहने के लिए उपयुक्त मकान नहीं मिलते और वे अपने परिवारों को अपने साथ नहीं रख सकते। इसके सामाजिक परिणाम भीषण होते हैं। दुर्भाग्य से इस स्वच्छन्दता के युग में जब जीवन की प्राचीन भारतीय मर्यादाओं और मूल्यों का तेजी से ह्रास होता जा रहा है, हमारी नयी पीढ़ी के युवक और युवतियों में अधिक स्वच्छन्दता आ गयी है और इस कारण उनमें भी इन रोगों की वृद्धि हो रही है। यदि समय से इनका उपचार किया जाय तो ये रोग अच्छे हो सकते हैं, किन्तु जिन्हें ये रोग हो जाते हैं वे लोक-लज्जा के कारण उन्हें छिपाते हैं और उनकी चिकित्सा नहीं कर पाते। इससे पुराने होने पर वे बढ़ते हैं और उनके सम्पर्क में आनेवाले लोगों में उनके फैलने का खतरा रहता है। एक दूसरी कठिनाई यह है कि अस्पतालों में उनके विशेषज्ञ प्रायः नहीं होते और उनकी चिकित्सा का भी विशेष प्रबन्ध नहीं है। लोग इन रोगों से पीड़ित लोगों को दुश्चरित्र समझते हैं, इस कारण एक ओर तो रोगी इन्हें छिपाते हैं, दूसरी ओर समाज इन रोगों से युवक और युवतियों को सावधान नहीं करता। अब स्थिति इतनी भीषण हो गयी है कि स्वास्थ्य विभागों को इस समस्या की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। उसे इन रोगों के सम्बन्ध में जनता को इनके कारण, लक्षणों और उनसे बचने के उपायों की काफी जानकारी प्रचारित करनी चाहिए।

भारतीय प्राचीन मर्यादाओं के उल्लंघन और पश्चिम की स्वच्छंदता के अन्धानुकरण के क्या परिणाम हो सकते हैं, यह एक प्रतिष्ठित समाचारपत्र में प्रकाशित एक समाचार से मिलते हैं। उस सम्वाद के अनुसार, इंग्लैण्ड में ब्रिटिश फैमिली प्लैनिंग ऐसोसिएशन के अनुसार विवाह के समय वहाँ पाँच वधुओं में औसत से एक गर्भवती होती है। १९ वर्ष से कम अवस्था की वधुओं में यह अनुपात और अधिक है। उनमें तीन में एक गर्भवती होती है। गत वर्ष वहाँ लगभग एक लाख अविवाहित स्त्रियाँ और लड़कियाँ गर्भवती हो गयी थीं। गत वर्ष वहाँ पहिले तीन महीनों में ४,५५५ गर्भपात कराये गये। इस रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि १९ वर्ष से कम अवस्था के युवकों और युवतियों में दस साल में इन रोगों में २० प्रतिशत वृद्धि हुई। इस संस्था ने इस बात का पता लगाना चाहा कि अविवाहित युवतियों में अक्षत योनिवाली युवतियों का क्या अनुपात है, किन्तु वे इतनी कम मिलीं कि उसने यह खोज बन्द कर दी।

पश्चिम में बहुत सी अच्छी बातें हैं जो अनुकरणीय हैं, किन्तु उनकी सभी बातें अनुकरणीय नहीं हैं। प्रत्येक देश में बहुत लम्बे समय के अनुभव के बाद और अनेक प्रयोग करके कुछ मर्यादाएँ बनायी जाती हैं। हम यह भी मानते हैं कि समयानुसार उनमें परिवर्तन भी किया जाना चाहिए, किन्तु वह परिवर्तन समाज के हित में हो। हम स्वयं स्त्रियों की सामाजिक और शैक्षणिक उन्नति के समर्थक हैं, किन्तु हमें यह ध्यान भी रखना है कि वे भारतीय मूलभूत सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करें। हम स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता में भेद करते हैं। स्वतन्त्रता उचित और शिव है। स्वच्छन्दता अनुचित और अशिव है। स्वतन्त्रता कब स्वच्छन्दता हो जाती है, इसे जानने के लिए बड़े विवेक की आवश्यकता है। जैसा कि किसी अंग्रेज विद्वान् ने कहा (Vice is virtue overstrained) किसी अच्छी बात की अति कर देने से वही बुराई बन जाती है। हमें सामाजिक परिवर्तन करने आवश्यक हैं किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम उन्हें करते समय मूलभूत भारतीय आदर्शों को नष्ट नहीं कर देते।

बड़े शहरों में जहाँ रोजी-रोजगार के लिए लाखों पुरुष जमा हो जाते हैं, वहाँ जब तक उनको अपने परिवारों के साथ रहने के लिए पर्याप्त व्यवस्था नहीं होती तब तक अनेक सामाजिक समस्याएँ बनी रहेंगी। रति रोगों की वृद्धि उनमें से केवल एक समस्या है—यद्यपि वह बहुत भीषण है क्योंकि ये लोग अपने गाँवों में लौटकर वहाँ भी उन्हें फैलाएँगे। इसके लिए सरकार और नगरनिगमों को अपने प्रत्येक नागरिक को

परिवार के साथ रहने योग्य मकान देने की व्यवस्था को प्राथमिकता देनी चाहिए और इस समस्या को शीघ्र से शीघ्र हल करना चाहिए। उद्योग संस्थानों का एक स्थान में अतिशय केन्द्रीयकरण रोकने के उपाय करने चाहिए। किन्तु तात्कालिक आवश्यकता यह है कि सरकार इन रोगों की रोकथाम का कार्य अत्यन्त शीघ्रता से करे और जनता, विशेषकर नवयुवक और युवतियों को, इस सम्बन्ध में जानकारी देने और उनसे सावधान करने के लिए समुचित प्रचार कार्य करे। परिवार नियोजन में जितना ध्यान वह दे रही है, उससे कम इसमें ध्यान न दिया जाय। एक दृष्टि से यह उससे भी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे वर्तमान पीढ़ी ही नहीं, भविष्य की पीढ़ियों को भी इन भयंकर रोगों से बचाना परमावश्यक है।

न्यूरेमबर्ग का मुकदमा और बँगला देश के सैनिक अपराधी

●

बँगला देश के निवासियों पर पाकिस्तानी सेना ने जो अमानुषिक अत्याचार किये हैं और जो भीषण नरसंहार किया है उसके समाचार अन्तर्राष्ट्रीय समाचारपत्रों के सम्वाददाताओं द्वारा संसार के सभी देशों को मिले और सारे संसार में सात्त्विक आक्रोश की एक लहर दौड़ गयी। बंगबंधु शेख मुजीबुर्रहमान के कथन के अनुसार तीस लाख के लगभग निर्दोष हिन्दू-मुसलमान नागरिक मौत के घाट उतार दिये गये। कितने ही गाँव उजाड़ या जला दिये गए। असंख्य मकान नष्ट कर दिये गये। हजारों बंगाली नवयुवतियों पर बलात्कार किये गये। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इन नृशंस कार्यों के अपराधियों को दण्ड देने की माँग उठी। बँगला देश बनने के बाद स्वाभाविक था कि वहाँ के लोग भी इसकी माँग जोर-दार ढंग से करने लगें।

इसकी माँग करने वाले कहते हैं कि इन पाकिस्तानी अपराधियों पर भी उसी प्रकार अभियोग चलाया जाना चाहिए जिस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के बाद जर्मनी के प्रमुख नाजी नेताओं पर चलाया गया था। यह मुकदमा जर्मनी के न्यूरेमबर्ग नगर में हुआ था। हमारे बहुत से पाठक उसके सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातें जानना चाहेंगे, क्योंकि पाकिस्तानी सैनिक अपराधियों पर अभियोग चलाने के लिए इस अन्तर्राष्ट्रीय अदालत में चलाये गये अभियोग का पूर्वदृष्टांत (प्रिसिडैण्ट) के रूप में उल्लेख किया जाता है।

नाजियों ने अपने देश (जर्मनी) की सत्ता हथियाने के बाद अपने ही देश के यहूदियों और नाजी विरोधी नागरिकों पर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया था और उनमें से हजारों मार डाले गये थे। कितने ही किसी तरह देश से भागने में सफल हुए थे। किन्तु जब नाजियों की सेनाओं ने फ्रांस, पौलैंड, चैकोस्लाविया, आस्ट्रिया, बेलजियम, डेनमार्क आदि पर अधिकार कर लिया तब वहाँ भी उन्होंने सैनिक बन्दियों के साथ ही दुर्व्यवहार नहीं किया, प्रत्युत वहाँ के नागरिकों पर भी अनेक लोमहर्षक अत्याचार किये तथा नगरों और नागरिकों की सम्पत्ति लूटी, नगरों और मकानों को जलाया। उन्होंने प्रायः वे सभी अत्याचार किये थे जो पाकिस्तानी सैनिकों ने बँगला देश में किये। नाजियों के केवल एक अत्याचार का उन्होंने अनुकरण नहीं किया, वह था बन्दियों को शिविरों में ले जाकर उनकी वैज्ञानिक उपायों से हत्या करना—यद्यपि बाद में 'अल बदर' के द्वारा उन्होंने बंग देश के बुद्धिजीवियों को समूल नष्ट करने का प्रायः वैसा ही प्रयास बड़े पैमाने पर किया था।

सैनिक बन्दियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, उनसे कौन काम लिये जा सकते हैं और कौन से नहीं लिये जा सकते, उनके प्राणों की रक्षा करना, घायल बन्दियों की चिकित्सा करना आदि के सम्बन्ध में कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सर्वसम्मति से कुछ कानून बनाये गये। उनका उल्लंघन करना अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है। सेना को विजित देश में किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इसकी भी अन्तर्राष्ट्रीय संहिता है। सभी देश उनका पालन करने को बाध्य हैं। अतएव विजित देशों में क्या करना अपराध है, (जैसे, नागरिकों का कत्लेआम, उनकी सम्पत्ति लूटना आदि) यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्ट है, और इनका उल्लंघन करना अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक कानून का उल्लंघन है।

किन्तु अपने ही देश में, अपने नागरिकों पर नृशंस अत्याचार करना उपर्युक्त कानून के अन्तर्गत नहीं आता। ये अपराध सैनिक अपराध न होकर 'मानवता के विरुद्ध' अपराध कहे जा सकते हैं। न्यूरेमबर्ग अभियोग के पहले उन पर अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों को विचार करने का अधिकार नहीं था। इन अपराधों पर उसी देश के कानून के अनुसार उसी देश की अदालतें विचार कर सकती थीं। किन्तु ऐसा अवसर नहीं आता था और अपने देशवासियों पर अत्याचार करने वाले बच जाते थे।

द्वितीय महायुद्ध सन् १९३९ में आरम्भ हुआ और सन् १९४२ तक जर्मनी ने योरोप के कई देशों पर अधिकार करके वहाँ अनेक बर्बर अत्याचार किये। इस पर १९४१ में अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था कि इन अत्याचारियों को उनके अत्याचारों के लिए दण्डित किया जायगा। उनकी इस बात का समर्थन कुछ महीनों बाद ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने भी किया। जनवरी १९४५ में लन्दन में उन नौ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने मिलकर एक सम्मिलित घोषणा की (जो सेण्ट जेम्स पैलेस डिक्लरेशन के नाम से ज्ञात है) कि चूँकि जर्मनी ने अपनी आक्रामक नीति के कारण युद्ध को आरम्भ करके अधिकृत देशों में आतंक का राज्य फैला रखा है जिसमें नागरिकों को बन्दी बना लिया जाता है, बड़ी संख्या में उन्हें अपने देशों से निकाल दिया जाता है, बन्धक व्यक्तियों को मार दिया जाता तथा नरसंहार किया जाता है, अतएव हम (१) इस बात का अभिज्ञान करते हैं कि इस प्रकार असैनिक नागरिकों के विरुद्ध किये गये हिंसक कार्य उन विचारों और मान्यताओं के विरुद्ध हैं जो सभ्य संसार द्वारा सैनिक और राजनीतिक आचरण में मान्य और स्वीकृत हैं। (२) युद्ध के प्रमुख उद्देश्यों में सुसंगठित न्यायालयों द्वारा इन अपराधों के लिए दोषी पाये गये व्यक्तियों को (चाहे उन्होंने उन अपराधों को करने की आज्ञा दी हो, स्वयं किया हो या उनमें भाग लिया हो) दण्ड देना भी एक उद्देश्य है।

१९४२ के अक्टूबर में नाजियों से युद्ध करने वाले १७ राष्ट्रों ने एक 'युद्ध सम्बन्धी अपराधों की जाँच के लिए संयुक्तराष्ट्र आयोग' बनाने का निश्चय किया। इसका मुख्य कार्य युद्ध के अपराधों और उनके लिए संदिग्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में जानकारी एकत्रित करना था।

१९४४ में कालेसागर के तट पर स्थित याल्टा नगर में रूजवेल्ट, स्तालिन और चर्चिल ने मिलकर घोषित किया कि हमारा दृढ़ निश्चय है कि सब युद्ध-अपराधियों को न्यायानुसार तुरन्त दण्ड दिया जाय। इसके बाद पॉट्सडम में १९४५ में यह घोषित किया गया कि उन सभी लोगों को कड़ा दण्ड दिया जायगा जो युद्ध अपराधों के दोषी पाये जायेंगे और उन्हें भी, जिन्होंने हमारे बंदी सैनिकों के ऊपर क्रूरता की है।

इसके बाद उसी वर्ष सभी मित्रराष्ट्रों ने मिलकर लंदन में एक करार किया जिसके अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय (I. M. T.—International Military Tribunal) बनाया गया। इसके घोषणा-पत्र (चार्टर) में सात खण्ड थे जिनमें इसके अधिकार, कार्यवाही के नियम, न्यायालय के अधिकारियों, व्यय आदि के विवरण दिए गए थे।

जब राष्ट्रसंघ बन गया तब ११ दिसम्बर, १९४६ को उसने यह प्रस्ताव (संख्या ९५ (१)) पारित किया :—

राष्ट्रसंघ की महासभा (जनरल ऐसेम्बली) (चार्टर की) धारा १३ के द्वारा उसे सौंपे गये कर्तव्यों का पालन करने के लिए····(तथा) ८ अगस्त, १९४५ के उस न्यूरेमबर्ग ट्रायल के चार्टर के कानून को ध्यान में रखते हुए जो प्रमुख युद्ध अपराधियों पर अभियोग चलाने और उन्हें दण्ड देने के लिए बनाया गया है, उनके अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की पुष्टि करती है।"

उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संहिता बनानेवाली समिति को यह आदेश भी दिये कि न्यूरेमबर्ग मुकदमे के चार्टर में दिये गये सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्राथमिक महत्त्व दे।

इस प्रकार न्यूरेमबर्ग अभियोग के आधारभूत सिद्धान्तों को राष्ट्रसंघ के अनुमोदन से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का रूप मिल गया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि युद्ध के सर्वमान्य नियमों का उल्लंघन युद्ध-अपराध माने जाते हैं, किन्तु अपने देश के या अधिकृत देशों के नागरिकों पर किये गये अपराध युद्ध-अपराधों की परिधि में नहीं आते। नाजियों ने (बँगला देश में पाकिस्तानियों द्वारा वहाँ के नागरिकों पर किये गये भीषण अत्याचारों की तरह ही) अपने देश तथा अधिकृत देशों के नागरिकों पर ऐसे बर्बर अत्याचार किये थे कि संसार की अन्तरात्मा दहल उठी थी। ये अपराध 'मानवता के विरुद्ध' माने गये। अतएव न्यूरेमबर्ग चार्टर में यह एक धारा जोड़ी गयी :—

"धारा ६ (स) मानवता के विरुद्ध अपराध (Crime against Humanity) : अर्थात् हत्या, किसी वर्ण के वर्ग को मार डालना, लोगों को दास बना लेना, देशनिकाला, और अन्य अमानवीय अत्याचार जो किसी नागरिक जनता के विरुद्ध किये गये हों—चाहे वे युद्ध के दौरान या उससे पहले किये गये हों—या (नागरिकों पर) राजनीतिक, वंशगत (रेशियल) या धर्म के कारण किये गये हों, इस न्यायपीठ (ट्राइब्यूनल) के क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले अपराधों का कार्यान्वियन करने में या उनके सम्बन्ध में किये गये हों।"

इस प्रकार न्यूरेमबर्ग अभियोग में युद्ध अपराधों और मानवता के विरुद्ध अपराधों—दोनों पर विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून से अनुमति मिल गयी, और आज सभ्य संसार में यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून, जो राष्ट्रसंघ से अनुमोदित है—मान्य है।

पाठकों को यह भी बतला देना आवश्यक है कि न्यूरेमबर्ग अभियोग में क्या हुआ। इसमें चार देशों के न्यायाधीश थे। ब्रिटेन के लार्ड ओकसे (मुख्य न्यायाधीश) और लार्ड बर्किट, अमरीका के श्री फ्रांसिस बिडल और श्री जॉन जे० पार्कर, फ्रांस के प्रोफेसर दोनेदू दि वाब्रे और श्री फाल्को तथा रूस के मेजर जनरल निकिचेंको और लेफ्टिनेंट कर्नल वॉलचोव। इनमें से प्रत्येक देश की ओर के अभिवक्ता (वकील) थे : श्री राबर्ट नेकसन (अमरीका), सर हृटिले शोक्रॉस (ब्रिटेन), श्री डिमैन्थो (फ्रांस) और जनरल रूडेनको (रूस)।

यह मुकदमा चार भाषाओं में एक साथ चला। उसकी ४०३ खुली सुनवायी हुई। इसमें ३६० गवाह और १,६५,०२२ लिखित अभिलेख (दस्तावेज) पेश किये गये। केवल गवाहों के बयान २४ जिल्दों में, और लिखित अभिलेख १७ छपी हुई जिल्दों में प्रकाशित किये गये हैं।

इस अभियोग में नाजी जर्मनी के प्रमुख राजनीतिक, औद्योगिक, सैनिक आदि नेताओं तथा मन्त्रियों को अभियुक्त बनाकर कटहरे में खड़ा किया गया था। १९३९ से लेकर १९४५ तक के किये हुए उनके अपराधों पर विचार किया गया था—अर्थात् द्वितीय महायुद्ध की अवधि में जो अपराध किये गये थे उन्हीं को लिया गया था। व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ जर्मन संस्थाओं पर भी मुकदमा चलाया गया क्योंकि उन्हें 'अपराधी संस्थायें' घोषित कर दिया गया था। अतएव व्यक्तियों के अतिरिक्त संस्थाएँ भी इस अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि में ले आयी गयी थीं।

इस न्यायपीठ (ट्राइब्यूनल) ने आरम्भ में केवल २४ व्यक्तियों पर अभियोग चलाने का निश्चय किया था। किन्तु एक अभियुक्त राबर्ट ली ने आत्महत्या कर ली थी और प्रसिद्ध उद्योगपति गुस्टाव क्रूप गंभीर रूप से बीमार होने के कारण अदालत के सामने नहीं लाये जा सके। बोरमैन भाग गये थे और मित्र राष्ट्रों की पकड़ में नहीं आये। किन्तु उनकी अनुपस्थिति में उन पर मुकदमा चलाया गया। इस प्रकार २१ व्यक्तियों पर मुकदमा चला। यह मुकदमा बराबर दस महीने चलता रहा। अदालत ने अपना निर्णय ३० सितम्बर और १ अक्तूबर १९४६ को सुनाया। अभियुक्तों को इस प्रकार दण्ड दिया गया :—

नाम	अभियोग	दण्ड
१. मार्शल गोरिंग (वायुसेना अध्यक्ष, हिटलर का मनोनीत उत्तराधिकारी)		फाँसी
२. हैस (हिटलर का उपाध्यक्ष)		आजीवन कारावास
३. फन रिबनट्राप (विदेश मन्त्री)		फाँसी
४. जनरल केटल (प्रधान सेनापति)		फाँसी
५. काल्टेन ब्रूनर (प्रधान पुलिस अध्यक्ष)		फाँसी
६. रोज़ैनबर्ग (मन्त्री)		फाँसी
७. फ्रेंक (पोलैण्ड का नाजी राज्यपाल)		फाँसी
८. फ्रिक (बोहीमिया और मोराविया का राज्यपाल)		फाँसी

९. स्ट्राइखर (यहूदी विरोधी पत्र का प्रकाशक)	फाँसी
१०. फ़ङ्क (अध्यक्ष, राज्य बैंक)	आजीवन कारावास
११. ऐडमिरल रेडर (नौ सेनाध्यक्ष)	,, ,,
१२. सकल (श्रम विभाग का अध्यक्ष)	फाँसी
१३. जनरल जोडल (जर्मन सेनाओं का कार्यकारी अध्यक्ष)	फाँसी
१४. सायस-इनकार्ट (नीदरलैण्ड का नाजी राज्यपाल)	फाँसी
१५. बोरमैन (नाज़ी पार्टी का अध्यक्ष और हिटलर का सचिव)	फाँसी
१६. फ़न शिराख (वियना का राज्यपाल)	२० वर्ष का कारावास
१७. स्पियर (सैनिक सामान बनाने का अध्यक्ष)	२० वर्ष का कारावास
१८. फन न्यूरथ (मन्त्री और युद्ध समिति का अध्यक्ष)	१५ वर्ष का कारावास
१९. शाख्त (प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और राज्य बैंक का भूतपूर्व अध्यक्ष)	छोड़ दिया गया।
२०. फ़न पैपन (वयना का मन्त्री और तुर्की में राजदूत)	छोड़ दिया गया।
२१. फ़िट्ज़ (रेडियो और प्रचार विभाग का अध्यक्ष)	छोड़ दिया गया।

गोरिंग ने फाँसी के दिन से एक दिन पूर्व रहस्यपूर्ण ढंग से विष खाकर आत्महत्या कर ली थी। फाँसी के अभियुक्तों को न्यूरेमबर्ग ही में १६ अक्तूबर को फाँसी पर लटका दिया गया था। कारावास के दण्डितों को स्पैण्डाऊ की जेल में रखा गया जिसका नियंत्रण चारों राष्ट्र करते हैं। अभियुक्तों में अब केवल हैस वहाँ रह गया है। संसार का जनमत अब उसे छोड़ देने की माँग कर रहा है क्योंकि अब वह बहुत बूढ़ा (प्रायः ९० वर्ष का) हो गया है और उसका स्वास्थ्य भी खराब है। ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका उसे छोड़ने को सहमत हैं पर रूस के विरोध के कारण वह नहीं छोड़ा जा रहा है।

न्यूरेमबर्ग के इस मुकदमे में केवल प्रमुख नाज़ी नेताओं पर ही अभियोग चलाया गया था। पर युद्ध अपराधों और मानवता के विरुद्ध अपराधों के दोषी हजारों जर्मन थे। अतएव उस मुकदमे के बाद न्यूरेमबर्ग में अमरीका ने बारह सैनिक न्यायालय बनाये। इनमें केवल अमरीकन न्यायाधीश थे। इनके अतिरिक्त कितने ही और न्यायालय विभिन्न देशों में बनाये गये जिनमें प्रमुख हैं: एशिया और योरप में अमरीकन सैनिक आयोग, योरप और एशिया में अनेक ब्रिटिश सैनिक अदालतें। फ्रेंच स्थायी सैनिक न्यायपीठ जो फ्रांस में अनेक स्थानों में बैठी, राबाउल स्थित आस्ट्रेलिया सैनिक न्यायालय, कनाडियन सैनिक अदालत जो जर्मनी के ऑरिक नगर में बैठी, नीदरलैण्ड का सैनिक न्यायालय, नार्वे का उच्च न्यायालय, चीन का युद्ध-अपराध न्यायालय और पोलैण्ड का सर्वोच्च राष्ट्रीय न्यायालय। ऐसे और भी कितने ही न्यायालय बने जिनमें द्वितीय महायुद्ध के हज़ारों ही युद्ध अपराधियों और मानवता के विरुद्ध अपराध करनेवाले व्यक्तियों का विचार कर उन्हें दण्ड दिया गया। न्यूरेमबर्ग के न्यायालय से ये न्यायालय इस बात में भिन्न थे कि इनका गठन अंतर्राष्ट्रीय न था और इनमें मुकदमे अपने-अपने देशों की विधि के अनुसार चलाये गये थे, किन्तु इनमें सामान्यतः उन्हीं सिद्धान्तों को माना गया था जो न्यूरेमबर्ग मुकदमे के चार्टर में स्वीकार किये गये थे।

दूसरा उल्लेखनीय अंतर्राष्ट्रीय युद्ध-बंदियों का मुकदमा जापान में चलाया गया, जिसमें कई देशों के

न्यायाधीश थे। इसमें भारत के श्री विनोदचन्द्र पाल भी थे। इसमें जापान के प्रधान मंत्री तोजो तथा अनेक मंत्रियों और सेनापतियों को मृत्यु तथा अन्य दण्ड दिये गये थे।

इन अंतर्राष्ट्रीय अभियोगों के संबंध में राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त विधिवेत्ताओं में भी पर्याप्त वाद-विवाद और मतभेद रहा। टोकियों की अंतर्राष्ट्रीय न्यायपीठ के निर्णय में तीन न्यायाधीशों ने असहमति के निर्णय अलग से दिये थे। भारतीय न्यायाधीश श्री विनोदचन्द्र पाल ने 'अनुचित आक्रमण' के अपराध के संबंध में अपना मत दिया था कि 'उचित और अनुचित युद्धों में भेद करना न्यायिक-दार्शनिकों का काम है,' और शान्ति के विरुद्ध अपराध का जो नियम बनाया गया है वह कार्योत्तर (ex post facto) कानून है। उन्होंने यह भी कहा था कि जिस प्रकार जापान के नेताओं का विचार किया गया और उन्हें दण्ड दिया गया है उसी प्रकार यदि जापान युद्ध में जीत जाता तो वह इसी कानून के अनुसार विजित और आज के विजयी नेताओं पर भी मुकदमा चला सकता था।

कुछ भी हो, राष्ट्रसंघ से अनुमोदित होने के कारण युद्ध-अपराधियों और मानवता के विरुद्ध दोषी पाये हुए लोगों को अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दण्ड दिया जा सकता है। यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है और यह अब अंतर्राष्ट्रीय कानून का एक अभिन्न अंग बन गया है। राष्ट्रसंघ द्वारा निर्मित विधि आयोग ने उसकी संहिता भी बना डाली है।

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति अपने उच्च अधिकारियों के आदेश पर ऐसा कोई काम करते हैं जो अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपराध है, वे उसके लिए दोषी हैं या नहीं। इस सम्बन्ध में न्यूरेमबर्ग न्यायपीठ का निर्णय बाद की अदालतों ने माना। न्यूरेमबर्ग के बारह अमरीकन अभियोगों में से एक अभियोग "ऐनसाट्जग्रुपेन" मुकदमे के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें न्यायधीशों ने इस मुद्दे पर मुख्य न्यूरेमबर्ग न्यायपीठ की सम्मति को स्पष्ट करते हुये लिखा था :

"अधीनस्थ व्यक्ति अपने उच्च अधिकारी के केवल न्यायसंगत (लॉफुल) आदेशों को मानने को बाध्य है, और यदि वह किसी आदेश को, जो अपराध है, मान लेता और उसे अपने द्वेष के कारण कार्यान्वित करता है तो वह उच्च अधिकारी के आदेश के पालन की आड़ नहीं ले सकता। यदि जिस काम को करने का आदेश दिया गया है वह स्पष्ट रूप से उस अधिकारी की शक्ति या क्षेत्र से बाहर है, तो अधीनस्थ व्यक्ति यह बहाना नहीं ले सकता कि उसे आदेश के अपराधयुक्त होने का ज्ञान नहीं था। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि यदि वह उच्च अधिकारी के आदेश का पालन न करता तो उसे आज्ञा का उल्लंघन करने का दण्ड भुगतना पड़ता तो उसे यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि आज्ञा की अवज्ञा करने से उसे जो हानि होती वह आज्ञा मानने से जो हानि हो सकती है उससे अधिक थी। उदाहरण के लिए, यदि किसी अधीनस्थ व्यक्ति को किसी निर्दोष व्यक्ति को मार डालने की आज्ञा दी जाती है तो इस आज्ञा को न मानने से केवल कुछ दिनों की कैद होने का भय है। और जब उसके ऊपर उच्च अधिकारी का दबाव या बाध्यता न रह जाय और तब भी यदि वह उस (अपराधी) आज्ञा का पालन करे तो भी वह दोष (अपराध) से मुक्त नहीं हो सकता।"

यों तो न्यूरेमबर्ग ट्रायल के चार्टर के सिद्धान्त और उन पर आधारित अंतर्राष्ट्रीय कानून बहुत जटिल हैं जिनकी व्याख्या में बड़े-बड़े विधिवेत्ताओं में भी मतभेद हैं, पर हमने संक्षेप में उनकी मुख्य बातें और सिद्धान्त (कानूनी भाषा की जटिलताओं को बचाकर) सरल भाषा में रखने का प्रयत्न किया है। यह इसलिए कि बँगलादेश में जो भीषण काण्ड हुआ वह युद्ध-अपराधों और मानवता के विरुद्ध अपराधों के अंतर्गत आता है,

और इसलिए अनेक विचारशील और प्रतिष्ठित व्यक्ति पाकिस्तानी सैनिक नेताओं और सैनिकों पर न्यूरेमबर्ग अभियोग की तरह अभियोग चलाने की माँग कर रहे हैं। हमें आशा है कि पाठक हमारी इस टिप्पणी की पृष्ठभूमि में उस माँग पर अधिक सजगता के साथ विचार कर सकेंगे।

इस अभियोग में 'आक्रमण' (Aggression) को भी एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध माना गया था, किन्तु एक तो वह बड़ा जटिल प्रश्न है, दूसरे बँगलादेश के प्रसंग में वह नहीं उठता। इसलिए हमने उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा।

वियतनाम युद्ध की समाप्ति

●

इस क्षणभंगुर संसार में कोई वस्तु स्थायी नहीं है—लड़ाइयाँ भी नहीं। वियतनाम में जो युद्ध ग्यारह वर्षों से हो रहा था और जिसमें एक ओर रूस और चीन के परोक्ष सहयोग, और दूसरी ओर प्रत्यक्ष अमरीकन सैनिक सहायता से, उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम लड़ रहे थे, और जिस युद्ध का अन्त नहीं दिखलायी पड़ता था, वह अन्त में जनवरी १९७३ में समाप्त हो गया। वाटरलू के विजेता ड्यूक आफ बेलिंग्टन ने एक बार कहा था कि लम्बे युद्ध में जो पक्ष जीतता है वास्तव में उसकी इतनी क्षति होती है कि वह हार के बराबर है, और जो पक्ष हारता है, वास्तव में उसकी मौत-सी हो जाती है। इस ग्यारह वर्ष के प्रयोजनहीन युद्ध में न कोई पक्ष जीता, और न कोई पक्ष हारा। मुख्य पक्ष उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम थे। दोनों ही ने इतनी क्षति उठायी है कि उसका अभी अनुमान करना भी सम्भव नहीं। रूस और चीन की जन-हानि तो नहीं हुई, किन्तु धन में उनको इस युद्ध का क्या मूल्य चुकाना पड़ा, इसका जानना असम्भव है। मुख्य लड़नेवालों की प्रत्यक्ष हानि के प्राथमिक आँकड़े उपलब्ध हैं, और वे लोमहर्षक हैं। उनकी मुख्य बातें ये हैं—

(१) उत्तरी वियतनाम के ९,२८,००० सैनिक मारे गये।

(२) अमरीका के ४५,९३१ सैनिक युद्ध में मारे गये, १०,२९६ घायल होकर या अन्य कारणों से मरे। १२७६ सैनिक लापता हैं। ५८९ सैनिक बन्दी हुए।

(३) दक्षिणी वियतनाम के १,८८,००० से कुछ अधिक सैनिक मारे गये; ४,३३,००० से अधिक घायल हुए।

(४) अन्य देशों (आस्ट्रेलिया आदि के) सैनिक जिन्होंने इस युद्ध में भाग लिया था उनमें से ५,२२१ मारे गये।

(५) अमरीका के ४,८०० से अधिक हैलिकाप्टर और ३६०० से कुछ अधिक युद्ध-विमान नष्ट हुए।

(६) अमरीका ने इस युद्ध में उत्तर और दक्षिण वियतनाम, लाओस तथा कम्बोडिया में ६८ लाख टन (एक टन बराबर २८ मन) भयंकर विस्फोटक, आग लगानेवाले, वनस्पति नष्ट करनेवाले बम गिराये। द्वितीय महायुद्ध में उसने जितने बम योरोप में गिराये थे, उससे ये तिगुने थे।

(७) केवल दक्षिणी वियतनाम में १९६८ और अक्टूबर १९७२ के बीच १३,५०,००० नागरिक मरे, घायल हुए या विस्थापित हो गये। उत्तरी वियतनाम में, जहाँ पिछले दिनों भयंकर बमबारी की गयी, कितने नागरिक मरे, घायल हुए या विस्थापित हुए, इसका अनुमान अभी तक नहीं किया जा सका।

(८) इस युद्ध में अमरीका ने तरह-तरह के बमों का प्रयोग किया। आणविक बमों का प्रयोग तो नहीं किया गया, किन्तु जो बम छोड़े गये वे भयंकरता में अत्यन्त भीषण थे। कुछ बम तो ऐसे थे कि उनमें से एक बम जहाँ गिरता था उसके आस-पास दो-तीन फर्लांग के सारे बड़े-बड़े पक्के मकान ध्वस्त हो जाते थे। उत्तर वियतनामी और कम्यूनिस्ट छापामार बहुधा वहाँ के जंगलों में छिपे रहते थे जिनसे वे दिखायी नहीं पड़ते थे। अमरीका ने उन जंगलों में ऐसे बम छोड़े जिनमें ऐसे रासायनिक पदार्थ थे कि पेड़ों की पत्तियाँ जल जाती थीं और केवल उनके ठूँट खड़े रह जाते थे। किसी समय बगदाद के आस-पास का इराकी क्षेत्र इतना हरा-भरा था कि वह पश्चिम एशिया का उद्यान कहा जाता था, किन्तु चंगेज खाँ और तैमूर ने वहाँ के पेड़ों को इतनी बुरी तरह नष्ट कर दिया कि वह रेगिस्तान हो गया और आज भी वह पनप नहीं पाया और रेगिस्तान बना हुआ है। अमरीकनों ने वियतनाम के जंगलों का जो व्यापक ध्वंस किया है उसका परिणाम क्या होगा, यह भविष्य ही में मालूम होगा। उत्तर और दक्षिणी वियतनाम में कितने गाँव, खेत, नगर और मकान नष्ट हुए हैं, उसका अनुमानित लेखा लगाना भी इस समय असम्भव है।

(९) अमरीका का यह सबसे लम्बा युद्ध था जो ग्यारह वर्ष चला। उसमें उसका आनुमानित व्यय ९८,५५० करोड़ रुपया है। इतना व्यय उसने अभी तक किसी युद्ध में नहीं किया।

इन आँकड़ों से इस युद्ध की भयंकरता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु इससे वियतनाम और अमरीका के नागरिकों को जो कष्ट हुआ, और वियतनामी जनता की जो दुर्दशा और दयनीय अवस्था हो गयी, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। असंख्य परिवार नष्ट हो गये, असंख्य परिवारों के रोटी कमानेवाले मर गये, असंख्य लोग गृहहीन और अकिंचन हो गये। अमरीका के ५ लाख सैनिक वियतनाम में कई वर्ष रहे। उनसे लाखों वियतनामी स्त्रियों को संतानें हुई जो वियतनाम के लिए एक स्थायी समस्या और सिर दर्द है। इस दोगली सन्तान की वहाँ क्या स्थिति होगी, यह एक भीषण सामाजिक प्रश्न है।

वास्तव में वियतनाम में युद्ध का श्रीगणेश द्वितीय महायुद्ध के समय हुआ था। हिन्दचीन (जिसमें उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया के वर्तमान राज्य सम्मिलित थे) पिछली शती में

फ्रांस के अधिकार में उसी तरह आ गया था जिस तरह भारत अंग्रेजों के अधिकार में। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर जर्मनों ने फ्रांस को हराकर उसके उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया था जिससे हिन्द-चीन में फ्रांसीसी कमजोर हो गये थे। जब जापान युद्ध में कूदा तब उसने हिन्दचीन पर अधिकार कर लिया। हिन्दचीन के निवासियों ने तभी से जापानियों के विरुद्ध छापामार युद्ध आरम्भ कर दिया था। जर्मनों की पराजय के बाद फ्रांस ने हिन्दचीन पर पुनः अधिकार कर लिया, किन्तु अब हिन्दचीन के लोग स्वतन्त्र होना चाहते थे और उन्होंने हिन्दचीन स्थित फ्रांसीसी सेनाओं के विरुद्ध लड़ना आरम्भ कर दिया। उनका नेता प्रसिद्ध हो चिन्ह-मिन्ह था। यह युद्ध १९४६ से १९५४ तक चला। अन्त में फ्रांस की पराजय हुई और उसे हिन्दचीन छोड़ना पड़ा। हो चिन्ह-मिन्ह कम्यूनिस्ट था और उसकी मुख्य सेना भी कम्यूनिस्ट थी, किन्तु जाते समय फ्रांसीसियों ने वियतनाम के पुराने नरेश को (जिसकी राजधानी साइगॉल में थी। राजनीतिक सत्ता सौंप दी थी। उसने लाओस और कम्बोडिया को भी हिन्दचीन की तरह ही स्वतन्त्र कर उनके पुराने राजाओं को दे दिया था। इस प्रकार फ्रांसीसी हिन्दचीन तीन राज्यों (वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया) में विभाजित हो गया। जापान और फ्रांस से लड़ने के लिए जो सेना बनी थी उसका नेता हो-चिन्ह-मिन्ह था जो पक्का कम्यूनिस्ट था और उसकी सेना में कम्यूनिस्टों की काफी संख्या थी। उसका प्रभाव उत्तरी वियतनाम में (जो चीन से लगा हुआ है और जहाँ से उसे सहायता मिलती थी) विशेष था। उसने उत्तरी वियतनाम पर अधिकार कर लिया और उसने वियतनाम के राजा को हटाकर सारे वियतनाम पर अधिकार कर उस पर कम्यूनिस्ट शासन स्थापित करने का निश्चय किया। अतएव वहाँ गृहयुद्ध होने लगा। तब योरोप की बड़ी शक्तियों ने इस युद्ध को समाप्त करने के लिए जिनेवा में एक सम्मेलन किया जिसमें यह निश्चय हुआ कि अस्थायी रूप से उत्तर में हो चिन्ह-मिन्ह का और दक्षिण में साइगॉन के राजा का शासन रहे। दोनों की सीमा १७वीं अक्षांश या समानान्तर रेखा (पैरेलैल) हो। इसके दोनों ओर पाँच मील का क्षेत्र असैनिक हो जिसमें कोई पक्ष अपनी सेना न रखे। बाद में शांति स्थापित होने पर एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की अध्यक्षता में दोनों वियतनामों में मतदान कराकर सारे देश के लिए एक सरकार बना दी जाय और दोनों भाग मिला दिये जायँ। इस आयोग में चार देश सदस्य थे जिनका अध्यक्ष भारत था। किन्तु शान्ति स्थापित नहीं हो पायी। दक्षिण में भी कुछ कम्युनिस्ट थे। उन्होंने उत्तरी वियतनाम की शासक कम्यूनिस्ट पार्टी की सहायता से दक्षिणी वियतनाम की सरकार से छापामार युद्ध करने के लिए एक संगठन बनाया जो बाद में 'वियतकांग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतएव वियतनाम का युद्ध जारी रहा और अन्तर्राष्ट्रीय आयोग प्रायः निष्क्रिय बना रहा।

जिनेवा में जो अन्तर्राष्ट्रीय करार हुआ था उस पर अमरीका ने हस्ताक्षर नहीं किये थे। दक्षिण वियतनाम ने भी अपने को उससे अलग रखा। उत्तरी वियतनाम में कम्यूनिस्ट शासन होते ही वहाँ से लाखों वियतनाम ईसाई भागकर दक्षिण वियतनाम में आ गये। ये लोग घोर कम्यूनिस्ट-विरोधी थे। अतएव दक्षिण वियतनाम के कम्यूनिस्ट विरोधियों को उनसे बड़ा बल मिला। इसी बीच दक्षिण वियतनाम के राजा को अपदस्थ करके वहाँ राष्ट्रपति शासन स्थापित हो गया। इस नये शासन में ईसाइयों का बड़ा प्रभाव था। इसलिए दक्षिण वियतनाम के बौद्ध उसके विरोधी हो गये। वे बड़े असमंजस में थे क्योंकि एक ओर वे उत्तर के कम्यूनिस्टों के विरोधी थे, तो दूसरी ओर साइगॉन की ईसाई-प्रधान सरकार के भी विरोधी थे। इसी बीच जब चीन पर कम्यूनिस्टों का अधिकार हो गया और उत्तर वियतनाम की कम्यूनिस्ट सरकार को चीनी कम्यूनिस्टों से पूरी सैनिक सहायता मिलने लगी तब अमरीका चिन्तित हुआ। उस युग में अमरीका में कम्यूनिस्टों के विरुद्ध बड़ी प्रबल भावना थी। उन्होंने देखा कि यदि उत्तरी वियतनाम के कम्यूनिस्ट दक्षिण

वियतनाम के छापामर कम्यूनिस्टों की सहायता से दक्षिण वियतनाम पर अधिकार कर लेते हैं तो लाओस और कम्बोडिया तथा थाईलैण्ड पर भी कालान्तर में वे अधिकार कर लेंगे। इससे साइबीरिया और चीन से लेकर हिन्दचीन और थाईलैण्ड तक कम्यूनिस्टों का शासन हो जायगा। उन्हीं दिनों बर्मा में भी कम्यूनिस्ट सक्रिय थे। अतएव अमरीकियों को आशंका भी थी कि यदि सारे वियतनाम पर कम्यूनिस्ट शासन हो गया तो हिन्द महासागर तक वे छा जायेंगे। बाद में लाओस में भी पाथेटलाओ के नाम से दक्षिण वियतनाम के वियतकांग की तरह संगठन बन गया और उत्तरी वियतनाम की कम्यूनिस्ट सरकार की सहायता से उसने भी लाओस के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया, और वहाँ के राजा को निकालकर वह सारे लाओस में कम्यूनिस्ट सरकार बनाने का प्रयत्न करने लगा।

अतएव दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्यूनिस्ट-विस्तार रोकने के लिए अमरीका ने दक्षिण वियतनाम को सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। आरंभ में यह सहायता सैनिक सामान और कुछ सैनिक-सलाहकारों तक सीमित थी, किंतु ज्यों-ज्यों वियतनाम का युद्ध जोर पकड़ने लगा त्यों-त्यों अमरीका उसमें अधिक फँसता गया। उन दिनों शीतयुद्ध जोरों पर था। रूस और अमरीका में आपसी वैमनस्य चरम सीमा पर था। चीन तो उत्तरी वियतनाम की सहायता कर ही रहा था, किन्तु अब एक कम्युनिस्ट सरकार (उत्तरी वियत-नाम) को अमरीका से बचाने और उसे सारे वियतनाम पर अधिकार करने को सक्षम बनाने के लिए, रूस ने भी उत्तरी वियतनाम की सैनिक सहायता आरंभ कर दी। वास्तव में यह युद्ध दो दलों के बीच था। प्रत्यक्षरूप से एक ओर अमरीका और दक्षिणी वियतनाम थे, दूसरी ओर प्रत्यक्षरूप से उत्तरी वियतनाम और वियतकांग तथा परोक्ष रूप से उनके साथ रूस और चीन। रूस ने उत्तरी वियतनाम को अरबों रुपये का सैनिक सामान दिया और बराबर देता रहा। उसने उसे अपने आधुनिकतम वे हथियार भी दिये जो उसने मिस्र को भी नहीं दिये थे। कटते-मरते थे वियतनामी और अमरीकन, पर वास्तविक युद्ध रूस तथा चीन का अमरीका के साथ हो रहा था। अमरीका ने देखा कि दक्षिणी वियतनामी न तो इतने संगठित हैं और न सैनिक मामलों में इतने प्रशिक्षित हैं कि आधुनिक रूसी हथियारों से लैस अनुभवी तथा प्रशिक्षित उत्तरी वियतनामी सेना का सामना कर सकें। एक ओर तो उसने दक्षिणी वियतनामियों को सैनिक प्रशिक्षण देना आरंभ किया और दूसरी ओर उसने अपनी सेना (जल, स्थल और वायु सेना) भेजनी आरंभ कर दी। सातवें अमरीकन बेड़े के कुछ दस्तों ने वियतनाम के पास के समुद्र (टानकिन की खाड़ी) में प्रवेश किया और अमरीकन सैनिक वियतनाम में भेजे जाने लगे। एक समय तो वहाँ पाँच लाख के लगभग अमरीकन सैनिक पहुँच गये थे। जिस प्रकार स्पेन के गृह युद्ध में जर्मनी तथा अन्य राष्ट्रों को अपने-अपने नये अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग करने का अवसर मिला जो बाद में द्वितीय महायुद्ध में उनके काम आया, उसी प्रकार वियतनाम के इस युद्ध में रूस और अमरीका को अपने-अपने नये अस्त्र-शस्त्रों की उपयोगिता जाँच करने का अवसर मिला। इसमें दोनों पक्षों ने अनेक नये हथियारों का परीक्षण किया। उदाहरण के लिए, अमरीकन विमानों ने 'लेसर' चालित बमों का प्रयोग किया जो लेसर द्वारा अपने निशाने पर अचूक ढंग से गिरते हैं। दूसरी ओर रूसियों ने अमरीका के महाकाय फोर्ट्रेस विमानों को गिराने के लिए जो गुप्त हथियार बनाये थे, उनका प्रयोग किया। अमरीका ने तरह-तरह के बमों का प्रयोग करके उनकी त्रुटियों और अच्छाइयों का परीक्षण किया। इन अनुभवों से दोनों महाशक्तियों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके आधार पर वे भावी युद्ध के लिए अपने हथियारों में सुधार और परिवर्तन कर सकेंगे, तथा नये तथा और भी भयंकर हथियार बनाने का प्रयत्न कर सकेंगे।

संसार के इतिहास में शायद ही कोई युद्ध हुआ हो जिसका संसार की जनता ने इतना विरोध

किया हो। भीषण नरसंहार और वियतनामी जनता के अवर्णनीय कष्टों ने मानवता की अंतरात्मा को झकझोर दिया था। यहाँ तक कि अमरीका में भी बहुत से विचारशील व्यक्ति और नागरिक उसके विरोधी हो गये थे। अमरीकन सरकार की गति 'साँप-छछूँदर' की सी हो गयी थी। बाबाजी कमली छोड़ना चाहते थे, पर कमली बाबाजी को नहीं छोड़ती थी। सबसे बड़ा खतरा यह था कि उसके कारण कहीं रूस और अमरीका में सीधा युद्ध न होने लगे। यदि वह होता तो तीसरा विश्व युद्ध आरम्भ हो जाता और मानवता आणविक युद्ध के खतरे में पड़ जाती। साथ ही अमरीका यह भी सहन नहीं कर सकता था कि वह उससे इस प्रकार हटे कि उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचे तथा रूस उसकी खिल्ली उड़ावे। अतएव राष्ट्रपति निक्सन ने इस युद्ध को समाप्त करने की भूमिका के रूप में पहिले रूस और चीन से संबंध सुधारने की योजना बनायी जिससे उत्तरी वियतनाम के ये दो सहायक—और वास्तविक योद्धा—भी युद्ध समाप्त करने में उनकी परोक्ष सहायता करें। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। यदि वे रूस और चीन से समझौता किये बिना ही उत्तर वियतनाम की समुद्री नाकाबन्दी (ब्लॉकेड) कर देते और उसके बंदरगाहों में सुरंगें बिछा कर उन्हें बन्द कर देते तो बहुत सम्भव था कि रूस इन बन्दरगाहों में सैनिक सामान ले जाने वाले अपने जहाजों के अबाध प्रवेश के लिए लड़ाई छेड़ देता तथा चीन भी झगड़ पड़ता। राष्ट्रपति निक्सन ने अमरीकी जनता के विरोध के कारण यह तय कर लिया था कि अमरीका वियतनाम से निकल आवेगा। अतएव उन्होंने अपने कूटनीतिज्ञ सलाहकार डा० कीसिंगर द्वारा उत्तरी वियतनाम से गुप्त वार्ता आरंभ की और अनेक बाधाओं को पार कर अंत में एक ऐसा समझौता कर लिया जिसके सहारे वे इस युद्ध से अमरीका का पीछा छुड़ाने में सफल हुए। अब युद्ध-विराम हो गया है और उसे लागू करने, और उसका अतिक्रमण न होने देने के लिए, दो अंतर्राष्ट्रीय आयोग बना दिये गये हैं। बाद में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन होगा जो वियतनाम के भविष्य पर विचार करेगा। इस बीच अमरीका के जो सैनिक वियतनाम में बच रहे हैं वे अमरीका लौट जायेंगे और उत्तरी वियतनाम अमरीकन बंदियों को छोड़ देगा।

इस समझौते से किसे लाभ हुआ, किसने क्या खोया या क्या पाया, इसका भावी परिणाम क्या होगा—ये प्रश्न ऐसे हैं जिन पर इस समय हम विचार न करेंगे। बड़ी और अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह कि यह भीषण युद्ध जिसमें अपार नर-संहार हो रहा था और जिससे असंख्य निर्दोष जनता का जीवन नरक हो गया था, बन्द हो गया। अमरीका युद्ध से हट गया। संसार को इस युद्ध का बढ़कर तीसरे विश्व महायुद्ध का जो थोड़ा बहुत खतरा था, वह दूर हो गया। संसार ने राहत की साँस ली। भावी इतिहासकार ही इस युद्ध की सार्थकता या निरर्थकता पर तटस्थ सम्मति दे सकेंगे। इस समय तो इस शान्ति-स्थापना से संसार के शान्ति के समर्थकों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी है। किन्तु वियतनाम के दोनों दल फिर गृह-युद्ध करके अपने देश की जनता को बरबाद करेंगे या नहीं, अथवा उनके लिए यह युद्ध विराम है या स्थायी शान्ति—इसका उत्तर वे ही दे सकते हैं और दो-तीन महीनों ही में स्थिति इन प्रश्नों का उत्तर दे देगी।

●

उत्तरप्रदेश के बिजली अभियन्ताओं की हड़ताल

•

अपने जन्मस्थान इटावे में हमने लड़कपन में एक कहावत सुनी थी—"राँड रोवें सेर-सेर, अहिबाती रोवें दो-दो सेर।" कम वेतन पानेवाले मजदूरों, क्लर्कों आदि की इस महँगाई में वेतन-वृद्धि तथा सेवा में अधिक सुविधाओं की माँग के लिए हड़तालों का औचित्य तो कुछ समझ में भी आता है, किन्तु मोटी तनख्वाह पानेवाले उच्च पदाधिकारी अभियन्ताओं की हड़ताल उनकी पद-मर्यादा के लिए अशोभनीय ही नहीं, हृदयहीन भी थी क्योंकि उनकी हड़ताल के कारण बिजली न मिलने से सभी वर्ग की जनता को अपार कष्ट हुआ। इसका रेलों और कारखानों पर ही पर ही कुप्रभाव नहीं पड़ा, प्रत्युत नलकूपों के बन्द हो जाने से खेती को भी हानि हुई। इससे प्रान्त को करोड़ों रुपयों की हानि उठानी पड़ी। "स्वार्थान्धो नैव पश्यति" स्वार्थ के अन्धों को सिवाय अपने स्वार्थ के कुछ नहीं दिखाई देता। वे विवेकहीन हो जाते हैं। हम सरकार को क्या कहें? उसने आवश्यक सेवाओं को जारी रखने (मैंटेनैन्स आफ ऐसेंशल सर्विसेज) का कानून लगाया जिसके अनुसार सेवा से विमुख होना दण्डनीय अपराध है। उसने तथाकथित तोड़-फोड़ के लिए कुछ इंजिनियरों को गिरफ्तार भी किया जिन पर मुकद्दमा चलाकर उनके दोषी होने या न होने का अदालत द्वारा निर्णय आवश्यक था। उसने उन सेवापरायण इंजिनियरों की पदोन्नति भी कर दी जो हड़ताल में सम्मिलित न हुए थे। किन्तु हमारी सरकार इतनी मेरुदण्डहीन है कि उसने, अन्त में, अनुशासनहीन लोगों के सामने घुटने टेक दिये। उनकी सभी शर्तें मान लीं। कानून—जिसका उसने सहारा लिया था—उसकी

उसने स्वयं अवहेलना कर उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया । जिन सेवापरायण इंजिनियरों की पदोन्नति की थी उसकी कर्तव्यनिष्ठा का उन्हें यह पुरस्कार मिला कि वे 'पुनर्मूषको भव' कहकर फिर पुराने निम्न पदों पर अवनत कर दिये गये । अनुशासनहीन विद्रोही इंजिनियरों की सब बातें मान ली गयीं, और इस प्रकार सरकार की मेरुदण्डहीनता और हड़ताली इंजिनियरों की विजय जनता के सामने स्पष्ट हो गयी । यह भविष्य में सेवापरायण और कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारियों और कर्मचारियों को सरकार के प्रति निष्ठा बनाये रखने से रोकेगी, तथा अधिकारियों एवं कर्मचारियों को सामूहिक रूप से अपनी मनमानी माँगों को सरकार से ऐसी हड़ताल द्वारा मनवाने को प्रोत्साहित करेगी । ऐसी सरकार की क्या दशा होगी ? महाभारत में कहा है—

अवन्ध्य कोपस्य विहन्तरापदाम
भवन्तिवश्याः स्वमेव देहिनः
अमर्यशून्यस्य जनस्य जन्तना
न जातहार्दो न च विद्विषादरः ।

जिसका कोप निष्फल नहीं होता और जो दूसरों की विपत्ति दूर करने में समर्थ है उसके वश में सभी लोग हो जाते हैं, किन्तु जिसमें अमर्ष नहीं होता और जो विद्वेष नहीं कर सकता, उस व्यक्ति का निकृष्ट व्यक्ति भी न तो हृदय से आदर करते हैं और न उससे डरते हैं ।

हो सकता है कि इंजिनियरों की कुछ क्या, अधिकांश शिकायतें सही और उचित हों । हमारी सरकार लालफीताशाही में उलझी रहती है और उसके दरबार में सुनवायी देर से होती है । हम भी यह जानते हैं किन्तु ये उत्तरदायी पदों पर नियुक्त मोटे वेतन पानेवाले अधिकारयुक्त उच्च शिक्षित व्यक्ति हैं, उनसे अपेक्षा की जाती है कि उनमें अपने कार्य के परिणामस्वरूप जनता और देश को होनेवाले कष्टों और क्षति का ज्ञान होगा । उनके निजी अहम् को कितनी ही ठेस क्यों न लगती हो, और उन बड़ी तनख्वाह पानेवालों को और अधिक वेतन या और अधिक उच्च पद पाने में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न होती हों, उन्हें अपने स्वार्थ-साधन के लिए अशिक्षित मजदूरों की तरह प्रान्त की आठ करोड़ जनता को कष्ट और इस सूखे के वर्ष में खेती को क्षति न पहुँचाना था ।

ऐ क़ैस ! सदमए-ग़मे-हिजरां बजा, दुरुस्त;
यह सब सही, मगर तुम्हें जीना ज़रूर था ।

अभियन्ताओं को अपनी उचित माँगों के लिए अगर कुछ उग्र उपाय करने ही थे तो अन्य उपाय (मन्त्रियों का घिराव, अनशन आदि) करने चाहिए थे न कि ऐसी हड़ताल जिससे निर्दोष जनता को घोर कष्ट हो ।

●

जनाब आनन्दनारायण मुल्ला की स्याही की बूँद और बलिदानियों का रक्त

•

जनाब आनन्दनारायण मुल्ला इस समय शायद मुसलमानों से भी अधिक कट्टर उर्दू के हिमायती हैं। यह स्वाभाविक है कि उर्दू वाले उन्हें आसमान पर चढ़ाने का प्रयत्न करें। अभी हाल में उनका एक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसका नाम है 'स्याही की बूँद'। उसके विमोचन के लिए लखनऊ के रवीन्द्रालय में 'जश्न-ए-मुल्ला' के नाम से एक बड़ा शानदार जलसा किया गया—वह इतना शानदार था कि स्वयं प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी उसमें पधारी और उन्होंने उसका विमोचन किया। मुख्य मन्त्री पंडित कमलापति त्रिपाठी ने भी उस अवसर पर ऐसी सलीस उर्दू में भाषण दिया कि जिसे सुन कर श्रोता चकित रह गये। पुस्तक विमोचन का इस अवसर का उपयोग जनाब मुल्ला की प्रशंसा ही में नहीं किया गया पर उर्दू की प्रचारात्मक प्रशंसा में भी किया गया। हमें इस पर कोई आपत्ति नहीं है। 'पुस्तक विमोचन' की विचित्र प्रथा इस क्षेत्र में प्रकाशकों द्वारा पुस्तक के, और लेखकों द्वारा अपने प्रचार के लिए आवश्यक समझी जाने लगी है। प्रचार के युग का यह एक सिद्धान्त है कि इतनी अधिक पुस्तकें निकलती हैं और लोग अपने कामों में इतने उलझे रहते हैं कि ढोल पीटकर किसी पुस्तक की ओर उनका ध्यान न दिलाया जाय तो अपने गुण के कारण वह लोगों को आकर्षित नहीं कर पातीं। हमारा अनुभव ऐसा नहीं है। हम बड़े-बड़े लेखकों की भी कई पुस्तकों को जानते हैं जो 'विमोचन' के बावजूद नहीं 'चलीं'। न तुलसीदास की

रामायण का विमोचन हुआ, न सूर के सूरसागर का, न गुप्तजी के साकेत का न प्रसादजी की कामायनी का, न हरिऔध के प्रियप्रवास का, न गालिब की 'कुल्लियात' का और न अकबर इलाहाबादी के संकलन का।

किन्तु जैसा कि हमारे अनेक मित्र कहा करते हैं, युग के अनुसार मान्यताएँ बदलती रहती हैं और इस 'प्रोपगेंडा' और 'प्रचार' के युग में ग्रन्थ-विमोचन की मान्यता भी युगानुकूल मान्यता है। हमें वह निरीह मालूम होती है। यदि उससे प्रकाशक को व्यापार में कुछ सहायता मिलती और लेखक के 'अहं' की कुछ तुष्टि होती है, तो इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? अतएव जनाब मुल्ला की 'स्याही की बूँद' का 'विमोचन' उत्सव वाजिब ही था। वह इतनी शान से हुआ, यह भी ठीक ही था क्योंकि जनाब मुल्ला हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज हैं, संसद के सदस्य हैं, उर्दू एकाडमी के अध्यक्ष हैं और भारत में उर्दू के चोटी के हिमायती हैं। लखनऊ उर्दू का गढ़ समझा जाता है। इस समय भारत और उत्तर प्रदेश सरकार में उर्दू के प्रति विशेष प्रेम उत्पन्न हो गया है। जनाब मुल्ला लखनऊ में उर्दू के सबसे बड़े स्तम्भ हैं। अतएव यह उत्सव बहुत शानदार और उर्दू प्रचार का एक बड़ा साधन बन गया।

मंच पर 'स्याही की बूँद' की एक शैर बड़े अक्षरों में प्रदर्शित की गयी थी। वह शैर यह है:

"ख़ूने शहीद से भी है क़ीमत में कुछ सिवा
फ़नकार के क़लम की सियाही की एक बूंद।"

(कलाकार की कलम की स्याही की बूँद शहीदों—बलिदानियों के रक्त से भी कुछ अधिक मूल्यवान होती है।)

इस शैर से लोगों में व्यापक असन्तोष उत्पन्न हो गया क्योंकि इसमें उन्हें शहीदों का अपमान लगा और बहुतों ने इसकी कड़ी आलोचना की। इस वाद-विवाद में कुछ व्यक्तिगत बातें भी मिला दी गयीं, जैसे यह कहा गया कि काकोरी षडयंत्र मुकदमे में, जिसमें चार क्रांतिकारियों को फाँसी और कितने ही को लम्बी कड़ी सजाएँ दी गयी थीं, उसके सरकार की ओर से वकील जनाब मुल्ला के वालिद 'माजिद' थे। इन असंगत बातों से मूल बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और हम उनकी चर्चा नहीं करेंगे।

जनाब मुल्ला ने इस व्यापक विरोध (जिसकी गूँज विधान सभा में भी सुनायी पड़ी) का उत्तर देते हुए अपना स्पष्टीकरण दिया है। उन्होंने अंग्रेजी में उसका जो अनुवाद दिया वह अनुवाद नहीं है, लीपापोती है। उन्होंने स्वीकार किया कि इस विषय पर दो मत हो सकते हैं कि 'विचारक' और 'शहीद' में किसे वरीयता मिलनी चाहिए। व्यक्तिगत रूप से उनके विचार में 'विचारक' का स्थान बलिदानी से ऊँचा है क्योंकि उन्हीं के शब्दों में "थिंकर्स हैव यूनिवर्सेलिटी ह्वाइल मार्टिर्स आर इन्स्पाइर्ड बाई ए कण्ट्री ऑर ए काज़। दि स्कोप आफ़ दि लैटर इज़ लिमिटैड। दस, थिंकर्स हैव ए प्रिसिडैंस ओवर मार्टिर्स। हैड देयर बीन नो 'डास कैपिटल', देयर उड नॉट हैव बीन रशन रिवोल्यूशन।" (विचारकों में सार्वभौमिकता होती है जब कि शहीद किसी देश या किसी उद्देश्य विशेष से प्रेरित होते हैं। शहीदों का क्षेत्र सीमित होता है। इसलिए विचारक शहीदों की अपेक्षा वरीयता प्राप्त हैं। यदि (मार्क्स ने) 'दि कैपिटल' नामक पुस्तक न लिखी होती तो रूस में क्रान्ति नहीं हुई होती।)

पहिली बात तो यह है कि जनाब मुल्ला ने 'फ़नकार' शब्द के अर्थ गलत किये हैं। 'फ़नकार' उर्दू में उसी तरह नया गढ़ा गया शब्द है जिस प्रकार हिन्दी में 'कलाकार' जो सर्जनात्मक साहित्य (कवि, नाटककार, नर्तक, अभिनेता के लिए) प्रयोग में आने लगा है। 'फ़नकार' के अर्थ आधुनिक उर्दू में 'कलाकार' हैं, न कि 'विचारक' जैसी कि बचाव के वकील की पुरानी आदत के अनुसार उन्होंने उसके गलत अर्थ करके प्रस्तुत विषय और आक्षेप से कतराने की कोशिश की है। यदि 'फ़नकार' जनाब मुल्ला के अनुसार

विचारक या दार्शनिक हैं तो पाणिनि, कपिल, पतंजलि ही नहीं, चार्ल्स डारविन, फ्रायड और आइन्स्टाइन भी फ़नकार' हैं। यह बात इतनी हास्यास्पद होगी कि लोग उसे हँस कर उड़ा देंगे। जनाब मुल्ला विचारक भी हो सकते हैं, किन्तु 'स्याही की बूँद' दर्शनशास्त्र की पुस्तक नहीं, कविता की पुस्तक है। उसमें वे विचारक के रूप में नहीं, उर्दू के शायर के रूप में जनता के सामने आये हैं और इसी शायरी के बल पर उर्दू के शायरों में उनका स्थान है। भारत के विचारकों में उनका क्या स्थान है, यह हमने नहीं सुना। वे 'लेफ्टिस्ट' हैं। उनके विचारों का रंग हलका गुलाबी है या गहरा लाल—हम यह भी नहीं जानते। किन्तु जश्ने-मुल्ला में शायर मुल्ला का अभिनन्दन हुआ था, उनकी शायरी की किताब का विमोचन हुआ था—न कि विचारक मुल्ला के किसी दार्शनिक और विचारपूर्ण ग्रंथ का। 'फ़नकार' और 'विचारक या दार्शनिक' को गलत मिला कर उन्होंने जनता को भ्रम में डालकर मुख्य प्रश्न को टालने का असफल प्रयत्न किया है।

हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि काव्य, उपन्यास या नाटक के विचार होते ही नहीं। ये तो उच्च कला के माध्यम हैं। लोगों को हिला देने और आन्दोलित करने का काम तो कभी-कभी बड़ी सफलता से कार्टून बनानेवाले या हास्य या व्यंग्य के लेखक भी कर देते हैं। वे भी 'फ़नकार' हैं न कि विचारक और दार्शनिक। और न हर 'फ़नकार' या 'विचारक' संसार को आन्दोलित ही कर सकता है। इक़बाल बड़े ऊँचे 'फ़नकार' थे, किन्तु वे दार्शनिक और विचारक भी थे और उन्होंने 'पाकिस्तान' का विचार दिया। क्या फ़नकार मुल्ला फ़नकार इक़बाल के पाकिस्तान के 'आइडिया' को 'यूनिवर्सल' मानते हैं? वह संकुचित नहीं हैं? फ़नकार जनाब मुल्ला ने दुनिया या भारत को हिलाने की बात तो दूर, उत्तर प्रदेश या लखनऊ नगर को ही अपनी फ़नकारी से हिलाने का करिश्मा अभी तक नहीं दिखाया। हम व्यास, वाल्मीकि, तुलसी, नानक, कबीर, शंकराचार्य शादि को सन्त मानते हैं न कि फ़नकार। उनके 'संतत्व' ने अवश्य जनता और देश को आन्दोलित किया—जो सैकड़ों ज़ौक, मीर, सौदा, देव, बिहारी या मतिराम जैसे 'फ़नकार' नहीं कर सके।

संभव है कि किसी 'फ़नकार' (जैसे बन्देमातरम् और झंडा ऊँचा रहे हमारा के लेखक) की कोई रचना जनता के हृदय को आन्दोलित करनेवाली हो और उसका बड़ा मूल्य हो। किन्तु हर 'फ़नकार' की हर रचना मूल्यवान नहीं होती। बहुधा वह थोड़ी देर के मनोरंजन के बाद भुला दी जाती है और राष्ट्र तथा समाज पर उसका दैनिक समाचार-पत्र के समाचारों से अधिक प्रभाव नहीं रह जाता। कभी-कभी तो इन 'फ़नकारों' की कृतियाँ स्पष्ट रूप से अशिव भी हो सकती हैं, किन्तु शहीदों के खून की एक-एक बूँद उच्च आदर्शों पर सर्वोच्च बलिदान का प्रमाण है जो सामान्यरूप से हृदयहीन व्यक्ति को भी हिला देती है। 'लेफ्टिस्ट' जनाब मुल्ला की निगाह में देशभक्ति या देश के लिए बलिदान संकुचित या सीमित आदर्श है। किन्तु जो मानवतावाद की हवाई बातें करता है, जो अपने जीवन के व्यक्तिगत सुख-समृद्धि को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है, जनाब मुल्ला साहब की निगाह में, अपने देश के लिए सर्वोच्च बलिदान देने वाले शहीद के रक्त से अधिक कीमत का है। उनकी निगाह में भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, बिस्मिल, अश्फाक के बलिदानी रक्त की बूँद, उनके समान 'मानवतावादी' फ़नकार की कलम की स्याही की एक बूँद के सामने हेय है।

भारत, पोलैण्ड, आयरलैण्ड, इटली, ग्रीस आदि के उन शहीदों को जाने दीजिए जिन्होंने अपने देश की मानव-स्वतन्त्रता के लिए स्वेच्छा से और खुशी-खुशी अपना रक्त बहाया क्योंकि, बक़ौल फ़नकार मुल्ला के, उनका प्रेरणास्त्रोत संकुचित था। किन्तु ईसा मसीह के बलिदान को, उनके प्राणोत्सर्ग के समय उनके हाथ-पाँवों में ठुकी कीलों से निकलते रक्तप्रवाह की बूँदों को वे अपनी 'स्याही की बूँद' के मुकाबले कहाँ रखेंगे।

क्या जनाब मुल्ला शहीद हजरत ईसामसीह से भी अधिक 'विशाल हृदय', 'मानवतावादी' और 'यूनिवर्सल' हैं ? गांधी, सुकरात, सरमद आदि कितने ही ऐसे और उदाहरण दिये जा सकते हैं।

जनाब मुल्ला ने इस पंक्ति से, अपनी अहमन्यता के कारण अगणित देशवासियों के हृदय को दुखाया है। विडम्बना यह है कि वे अब भी इसे अनुभव नहीं कर रहे। पर हम शायर मुल्ला की शायरी की बातों को महत्त्व देना इसलिए आवश्यक नहीं समझते क्योंकि हमने शेक्सपियर की (भला उससे अधिक कवियों की नस कौन पहचान सकता था) ये पंक्तियाँ विद्यार्थी जीवन में पढ़ी थीं—

The lover the lunatic and the poet
All of imagination compact.

शेक्सपियर ने आशिकों, पागलों और शायरों को एक कोटि में रख दिया है। यदि शेक्सपियर की फ़नकारों (शायरों) के बारे में दी गई राय में किसी को शक हो तो वह फ़नकार मुल्ला के एक पूर्वज फ़नकार की इस शैर से जान जायगा कि शेक्सपियर कितना सही था, और वास्तव में ये फ़नकार विचारकों को क्या समझते हैं :

इक तिफ्ल दबिस्ताँ हैं फलातूँ मेरे आगे
क्या ताब कि अरस्तूँ भी करे चूँ मेरे आगे !

बाबा तुलसीदास भी एक दूसरे संदर्भ में लिख गये हैं :

"तुलसी बुरा न मानिये जो ·· ··· कहि जाय।"

शायर मुल्ला की 'स्याही की बूँद' ने चाहे और कुछ न किया हो, अनेक देशवासियों की निगाह में उनके कृतित्व पर स्याही अवश्य फेर दी है।

भारत ने पहला परमाणु विस्फोट किया

•

मई, १९७४ को एक दिन सबेरे प्रायः साढ़े आठ बजे, राजस्थान की मरुभूमि के एक कोने में, भारतीय वैज्ञानिकों ने अपनी वैज्ञानिक योग्यता से तैयार किए हुए, सर्वथा 'स्वदेशी' एक परमाणु बम का भूगर्भ में विस्फोट किया। अंतर्राष्ट्रीय समझौते के अनुसार भूगर्भ में परमाणु बम का विस्फोट करना वर्जित नहीं है। वर्जित है आकाश में उसका विस्फोट करना जो फ्रांस और चीन धड़ल्ले से करते रहते हैं। किन्तु भारत संसार के जनमत का आदर करने का अभ्यस्त है और उसने इसीलिए यह विस्फोट भूगर्भ में किया। ३३० फुट गहरी एक सुरंग खोदी गयी और फिर उसे बायीं ओर कई सौ फुट घुमा दिया गया। इस घुमावदार सुरंग में रखकर परमाणु बम का विस्फोट किया गया। यह बम अपेक्षाकृत छोटा था। इसकी शक्ति प्रायः १००० टन की अर्थात् एक हजार टन डायनामाइट के विस्फोट के बराबर थी। यह बम उस छोटे आरंभिक बम से भी छोटा था जो अमरीका ने जापान के हीरोशिमा नगर पर छोड़ा था। इसके धमाके से विस्फोट के स्थान के ऊपर की धरती उठ गयी और वहाँ एक छोटा टीला बन गया। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि जब परमाणु बम का विस्फोट होता है तब उससे रेडियो-सक्रिय कण निकलते हैं, जो मनुष्य के लिए घातक या हानिकारक होते हैं। किन्तु वैज्ञानिकों ने अच्छी तरह परीक्षण करके बताया कि भूगर्भ के इस विस्फोट से रेडियो-सक्रिय कण वहाँ के वायुमंडल में नहीं मिले। यह हमारे वैज्ञानिकों की बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि

संसार के वैज्ञानिक रेडियो-सक्रिय कण-हीन (क्लीन या स्वच्छ) बम बनाने का प्रयत्न बहुत दिनों से कर रहे हैं। और देशों ने एक-एक बम बनाने में करोड़ों रुपये व्यय किये हैं, किन्तु कहा जाता है कि भारतीय वैज्ञानिकों के बनाये इस बम की लागत केवल चालीस लाख रुपये के लगभग थी।

जब इस प्रकार का कोई महत्त्वपूर्ण गुप्त प्रयोग किया जाता है तब उसकी सफलता का समाचार देने के लिए कुछ संकेत शब्द (कोड वर्ड्स) बना दिये जाते हैं, जो अत्यन्त गुप्त रखे जाते हैं। अब मालूम हुआ कि इस बम के सफल विस्फोट की सूचना देने के संकेत शब्द थे—'बुद्ध मुस्कुरा रहे हैं।' परमाणु बम के विस्फोट से बुद्ध को संबद्ध करना यदि बुद्ध की विडम्बना नहीं, तो आश्चर्यजनक अवश्य है। शायद बुद्ध का नाम इसलिए जोड़ा गया कि अनजान लोग यही कल्पना कर सकें कि इन संकेत-शब्दों से किसी प्रकार के शान्तिपूर्ण प्रयोग की चर्चा की गयी है।

इस बात का पूरा श्रेय श्रीमती गांधी को है कि भारत ऐसा पिछड़ा और धनहीन देश परमाणु बम बनाने में सफल हुआ। इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है। इतना व्यस्त होते हुए भी उन्होंने परमाणु ऊर्जा विभाग किसी अन्य मंत्री को न देकर स्वयं अपने पास ही रखा, प्रत्युत उसके काम में वे बराबर रुचि लेती रहीं और वैज्ञानिक जिन चीजों की माँग करते हैं उन्हें तत्परता से पूरा करती रहीं तथा उनकी कठिनाइयों को दूर करती रहीं।

इस विस्फोट के कई परिणाम हुए। पहला तो यह कि आर्थिक कठिनाइयों, मूल्यों के लगातार बढ़ने, रुपये के दिन-दिन अवमूल्यन, राजनीतिक समस्याओं और हड़तालों के कारण देश का जो मनोबल गिर रहा था, वह इस विस्फोट से ऊँचा हो गया और कुछ समय के लिए हम अपनी दैनंदिन कठिनाइयाँ भूल गये। राष्ट्र में एक नया आत्मविश्वास और आत्मगौरव उत्पन्न हुआ। जो विदेश भारत को पिछड़ा समझते थे और उसकी प्रतिष्ठा का अवमूल्यन कर रहे थे, उनकी योजनाओं को धक्का लगा। देश-विदेश में इस विस्फोट से भारत का गौरव और प्रतिष्ठा बढ़ी।

श्रीमती गांधी तथा परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष श्री सेठना ने स्पष्ट शब्दों में, और बार-बार, यह घोषित किया कि हमने यह विस्फोट शान्ति के कार्यों—कृषि, खनिज और भूगर्भ में तेल और प्राकृतिक गैस की खोज में उपयोग करने के लिए किया है। हम परमाणु बम का युद्ध में उपयोग न करने के लिए वचनबद्ध ही नहीं, कृत संकल्प भी हैं। किन्तु संसार के अन्य देशों में हमारे इस विस्फोट की जो प्रतिक्रिया हुई है उससे यह मालूम होता है कि हमारे वक्तव्यों का अधिकांश देशों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इसका एक कारण शायद यह भी है कि अभी तक अमरीका और रूस ऐसे परमाणु शक्ति में अग्रणी देशों ने भी परमाणु विस्फोट का किसी शांति के काम में उपयोग नहीं किया। इसलिए उनकी शंका या संदेह अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु यदि उन्होंने परमाणु विस्फोट का उपयोग अभी तक नहीं किया तो वे यह कैसे कहते या समझते हैं कि भारत और भारतीय वैज्ञानिक इन विस्फोटों का शांतिपूर्ण कार्यों तथा देश के उद्योगों और कृषि के हित में करने में असमर्थ रहेगा ? भारत ने दिखा दिया है कि उसके पास वैज्ञानिक प्रतिभा की कमी नहीं है और यदि वह परमाणु विस्फोटों का उपयोग शान्ति के कामों के लिए करने की योजना बनाता है तो हमें विश्वास है कि वह इसमें अवश्य सफल होगा। यह कोई तर्क नहीं है कि जिस काम को रूस और अमरीका ने नहीं किया वह भारत कैसे कर सकता है। उत्तर में हम कह सकते हैं कि जो हमने किया, उसे अमरीका और रूस ने नहीं किया। एक छोटा सा विनोदपूर्ण उदाहरण देना पर्याप्त होगा। हम जलेबी

बनाते हैं, रसगुल्ले बनाते हैं और अमरीकन और रूसी दोनों ही को वे प्रिय हैं। किन्तु हमने उन्हें बनाया और उनका उपयोग किया, और वे उनका आविष्कार न कर सके।

इस सम्बन्ध में जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियायें हुई हैं, उनसे क्या परिणाम संभाव्य है और उनके विरोध या दबाव से भारत की परमाणु विस्फोट सम्बन्धी नीति पर आगे चल कर क्या प्रभाव पड़ सकता है, इन बातों का विश्लेषण हम आगे करेंगे। अभी तो हम इस गौरवपूर्ण सफलता पर अपने वैज्ञानिकों और सरकार को हार्दिक बधाई देकर संतोष करते हैं।

कहीं घी घना, कहीं मुट्ठी भर चना और कहीं वह भी मना

•

उत्तर प्रदेश की जनता ने यह समाचार बड़े आश्चर्य से सुना कि ४५ करोड़ से अधिक घाटे का बजट बनाने वाली उत्तर प्रदेश सरकार ने कई लाख रुपया लगाकर लखनऊ में विधान सभा और विधान परिषद के भवनों को वातानुकूलित कर दिया है जिससे हमारे मंत्रियों और विधायकों के दिमाग, जो जल्दी ही गरम हो जाते हैं, ठंडे बने रहें और ठंडे वातावरण में बैठने से उनकी कार्य-कुशलता (ऐफिशिएंसी) बढ़े। वातानुकूलन यंत्र बिजली से चलते हैं और सरकार का कहना है कि उत्तर प्रदेश में बिजली की कमी है। हमारे ये नेता राजाओं, महाराजाओं और सामंतों के वैभवपूर्ण जीवन की कटु आलोचना करते थे और उनकी सुखसुविधाओं की तुलना गरीब जनता के कष्टों से करते थे। हम इस स्तंभ में बतला चुके हैं कि संसद सदस्यों को क्या क्या अपूर्व सुविधायें प्राप्त हैं और उन पर कितना व्यय होता है। उनमें से प्रायः ८० प्रतिशत भवन में बोलते भी नहीं। मतदान के समय हाथ उठा देना, लाबी में जाकर मत देना या जब विरोधियों से झड़प हो तब शोर मचाना मात्र उनके प्रत्यक्ष कार्य हैं। हमारी विधान सभा के अधिकांश सदस्य गाँवों से आते हैं जहाँ सामान्यतः बिजली का पंखा उपलब्ध नहीं है। उनसे अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने वाले और उसी विशाल भवन के दूसरे कमरों में बैठने वाले अधिकारी और बाबुओं की कार्यकुशलता बढ़ाने को उनके लिए वातानुकूलन करने की आवश्यकता

नहीं समझी गयी। १९७४ में पुराने राजा, तालुकेदार जमींदार नहीं रह गये। उनके स्थान पर 'नबाब-बेमुल्कों' का एक वैसा ही नया वर्ग बन गया है जिन्हें जनता मंत्री या विधायक कहती है। अतएव यदि ये नये सामन्त अपने पूर्ववर्ती सामन्तों की तरह सुखसुविधा का जीवन उन्हीं की तरह जनता की गाढ़ी कमाई के बल पर, विताते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। ग्रीस में जब ईसाई धर्म फैला था तब वहाँ जियस एथेना आदि गैर-ईसाई देवताओं की मूर्तियाँ बनती और उनकी पूजा होती थी। जब वहाँ ईसाई धर्म फैल गया तब ईसामसीह, उनकी माता मरियम, सेंट पॉल आदि की मूर्तियाँ स्थापित कर दी गयीं। मूर्तिपूजा कायम रही। केवल देवता बदल गये। यह सनातन रीति है। सनातनधर्मी होने के कारण हम इस पर कैसे आपत्ति कर सकते हैं।

किन्तु इंडिकेट कांग्रेस के मुखपत्र, 'नेशनल हैरल्ड' ने इस सम्बन्ध में जो एक समाचार अपने दिनांक १२ जून के अंक के मुखपृष्ठ पर दिया है, उसे हम बिना टीका-टिप्पणी के अपने पाठकों के मनोरंजनार्थ छाप रहे हैं।

THE LIGHT AND DARK SIDE OF A DEBATE

By Our Staff Reporter

LUCKNOW—June, 11. While top officials of the Lucknow Electricity Supply Undertaking virtually stood on their toes outside Council House to prevent and breakdown in power supply to the air-conditioned Assembly chamber and the Secretariat, patients at the Cantonment General Hospital about a mile away, tossed in their beds restlessly for the fifth day to-day since the fans over their heads stopped moving on the evening of June 5 following a cyclone.

When the Assembly was debating the cut in power supply in the state in the afternoon, the Chairman and other senior officials of the U.P. State Electricity Board were present in the officers' gallery. Outside, the LESU's superintending engineer, the resident engineer, two assistant engineers and a gang of workers equipped with a ladder kept an anxious vigil over the power distributor installed near the rear gate of Council House almost throughout the day.

The debate on power cut over the electricity officials heaved a sigh of relief and went back. About the same time the staff of the Cantonment Hospital were moving about with candlesticks in their hands to light the dark wards.

Power supply to the hospital, which has a maternity ward also, it is stated, had not been restored despite repeated reminders to the LESU since the breakdown occurred on the evening of June 5.

एक बहस के अँधेरे और उजाले पक्ष

(हमारे कार्यालय संवाददाता से)

लखनऊ, सोमवार ११ जून

(जिस समय विधान भवन के बाहर लखनऊ विद्युत् आपूर्ति संस्थान (लखनऊ इलेक्ट्रीसिटी सप्लाई अंडरटेकिंग) के चोटी के अधिकारी वस्तुतः अपने पंजों पर खड़े इस प्रयास में लगे थे कि वातानुकूलित विधान सभाकक्ष और सचिवालय में बिजली किसी प्रकार बन्द न होने पाये ठीक उसी समय वहाँ से लगभग

एक मील दूर कैंटूनमेंट सार्वजनिक (जनरल) अस्पताल में पड़े वे रोगी अपने विस्तरों पर आज पाँचवें दिन भी बेचैनी से छटपटा रहे थे जिनके ऊपर के पंखे ५ जून की शाम की आँधी के बाद से चलने बन्द हो गये थे।

जब विधान सभा में अपराह्न में राज्य में बिजली की आपूर्ति के सम्बन्ध में बहस चल रही थी तब अधिकारियों की दीर्घा में उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत् परिषद् के अध्यक्ष और अन्य वरिष्ठ अधिकारी बैठे थे। बाहर विधान सभा के पिछले फाटक के पास बने विद्युत् वितरण केन्द्र पर लखनऊ विद्युत् आपूर्त्ति संस्थान के अधीक्षक अभियन्ता, आवासीय अभियन्ता, दो सहायक अभियन्ता सीढ़ी से लैस कर्मचारियों के दल के साथ प्रायः सारे दिन बड़ी चिन्ता के साथ देख-भाल में चौकस रहे।

बिजली की कटौती-सम्बन्धी बहस समाप्त होने पर विद्युत् विभाग के अधिकारी सुख की साँस ले वहाँ से लौटे। प्रायः उसी समय कैंटोनमेंट अस्पताल के कर्मचारी अपने हाथों में मोमबत्तियाँ लिये अँधेरे कक्षों में उजाला करते फिर रहे थे।

कहा जाता है कि ५ जून को बिजली बन्द होने के बाद लखनऊ विद्युत् आपूर्त्ति संस्थान को बार-बार स्मरण कराने पर भी उस अस्पताल को, जिसमें प्रसूतिका-कक्ष भी है, बिजली मिलना आरम्भ नहीं हुआ।)

जब 'एयर-कण्डिशण्ड' शब्द का रेलों और अन्यत्र प्रयोग होने लगा तब उसके हिन्दी पर्याय की आवश्यकता हुई। तब तक भारत सरकार के महा पंडितों ने उसका पर्याय नहीं बनाया था क्योंकि उनका काम बहुत सोच-विचार कर होता है और उनके कार्य की प्रक्रिया इतनी वैज्ञानिक है कि उसमें समय लगना स्वाभाविक है। हमको भी अंग्रेजी के ऐसे शब्दों के पर्याय बनाने की कभी-कभी आवश्यकता पड़ जाती है। हमने सोचा कि वह यंत्र जाड़े के दिनों में सर्दी का संहार कर स्थान को गर्म, और गर्मी में गर्मी का संहार कर ठंडा कर देता है, अर्थात् यह उस समय की ऋतु का संहार करता है, और इसलिए हमने कालिदास से प्रेरणा लेकर उसका पर्याय 'ऋतु संहार' बनाया। किन्तु भारत सरकार के महा पंडितों ने बहुत विचार कर उसके लिए 'वातानुकूलित' शब्द गढ़ा। यह तो वैज्ञानिक और शाब्दिक विद्वान् ही बतला सकते हैं कि 'वात का अनुकूलन' 'एयर कंडिशनिंग' का ठीक अनुवाद है कि नहीं। किन्तु चलता तो सरकारी सिक्का ही है, और 'वातानुकूलित' शब्द, जिसके बोलने में साधारण व्यक्ति के लिए न तो मुख-सुख है और न जिसका अर्थ समझना भी उसके लिए सरल है, चल गया। हमारे नगर के गौरव अकबर इलाहाबादी के समय में अंग्रेजों का राज था। जो वस्तु अंग्रेज बनाते वही चलने लगती। इस पर उन्होंने एक शेर कहा—

बूट डासन ने बनाया मैंने इक मज़मूँ लिखा।
मुल्क में मज़मूँ न फैला और जूता चल गया॥

सो वर्तमान सरकार का बनाया 'वातानुकूलित' चल गया। किन्तु हम निजी जीवन में उसके लिए 'ऋतु संहार' ही का प्रयोग करते हैं। उ० प्र० की विधान सभा का ऋतु संहार करने का श्रेय दो पर्वतीयों को है : मुख्य मन्त्री श्री हेमवती नंदन बहुगुणा और वित्त मन्त्री श्री नारायणदत्त तिवारी। दोनों ही हिमालय क्षेत्र से आये हैं। हम इलाहाबादियों को तो गर्मी सहने की आदत है किन्तु उन्हें स्वभावतः गर्मी सताती है। इनमें से एक निर्णय लेता है, पर वह तभी कार्यान्वित हो सकता है जब दूसरा रुपया दे। यदि वित्त-मन्त्री किसी योजना के लिए 'किफायत' या 'धन की कमी' कहकर रुपया न दे तो योजना धरी रह जाय। विधान सभा का ऋतुसंहार करना दोनों के हित में था क्योंकि लखनऊ की गर्मी में उनका दिमाग इतना

ठंडा नहीं रह सकता जिससे वे ठंडे दिल से जटिल प्रशासकीय प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार कर सकें। नहीं तो इतने घाटे का बजट बनानेवाला वित्त मन्त्री कभी इतने लाख रुपया देने को सहमत नहीं होता। इन्हीं की कृपा से उत्तर प्रदेश को अपनी विधान सभा और विधान परिषद को 'वातानुकूलित' करने का गौरव प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि उस पर दस हजार रुपया मासिक व्यय होगा, किन्तु ९०० करोड़ के बजट में तो वह दूध के कड़ाह की खुर्चन के एक छोटे अंश से निकल आवेगा। इस ऐतिहासिक शुभ अवसर पर हम ऐसे गद्यात्मक व्यक्ति में भी कविता का स्फुरण हो गया और अनायास यह दोहा बन गया :

दो कस्तूरी मृग आगये उत्तर से, बलिहार !
गृह बिधान में कर दिया, पूरा ऋतुसंहार ॥

खण्ड ४

युद्ध और शान्ति

युद्ध और शान्ति

●

युद्धाय कृतनिश्चयः

•

तुलसीदासजी ने कहा है : "अति संघर्ष करै जो कोई, अनल प्रकट चन्दन तें होई।" चन्दन का मुख्य गुण उसकी शीतलता है। किन्तु यदि उसे अत्यधिक रगड़ा जाय तो वह भी गर्म हो जाता हैं, और जिस प्रकार चकमक पत्थर को रगड़ने से उसमें से आग की चिनगारियाँ निकलने लगती हैं उसी प्रकार चन्दन से भी अग्नि प्रकट हो सकती है। भारत ने बुद्ध के समय से चन्दन के समान शीतलता रूपी अहिंसा को अपनाया। वैष्णवों और जैनों ने इसका प्रचार किया और राष्ट्रपिता ने इसे नवीन भारत का एक मौलिक सिद्धान्त बना दिया। इसीलिए स्वतन्त्रता के बाद के भारत ने युद्ध-त्यागी अशोक के धर्मचक्र को अपने राष्ट्रीय ध्वज पर स्थान दिया। भारत ने स्वतन्त्र होने के बाद पंचशील के सिद्धान्तों की घोषणा ही नहीं की, उस पर अमल भी किया। उसने सब राष्ट्रों से मित्रता रखने का प्रयत्न किया। अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का सहारा न लेकर आपसी समझौते का उपाय स्वीकार किया। वह किसी सैनिक गुट में सम्मिलित नहीं हुआ। वास्तविकता तो यह है कि स्वतन्त्रता के बाद उसने अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने के बजाय घटाने का ही प्रयत्न किया, क्योंकि उसने सोचा कि जब हम किसी से लड़ना ही नहीं चाहते तो हमसे कोई क्यों लड़ेगा ? १९४७ में पाकिस्तान ने कश्मीर को हड़पने के लिए उस पर सहसा आक्रमण कर दिया। हमने उसको विफल कर दिया, और यदि हम चाहते तो सारे कश्मीर से पाकिस्तानी आततायियों को अपने सैन्यबल से निकाल देते। किन्तु हमने उनका आक्रमण रोक कर, पाकिस्तान से उसी

समय निबट लेने के बजाय, राष्ट्रसंघ में संसार के विवेक के सामने सारा मामला रख दिया। किन्तु वहाँ यह मामला अंतर्राष्ट्रीय गुटबाजी के दलदल में ऐसा फँसा कि वह आज तक उससे नहीं निकल पाया। केवल एक विराम संधि हुई, और विराम संधिरेखा को भंग न होने देने के लिए राष्ट्रसंघ के पर्यवेक्षक कश्मीर में भेज दिये गये। किन्तु इन अठारह वर्षों में पाकिस्तान ने अक्षरशः हजारों बार इस विरामसंधि-रेखा को भंग किया और भारतीय कश्मीर में घुसकर लूटमार करते रहे। हम चाहते तो हम भी तुर्की-ब-तुर्की जवाब दे सकते थे। हमारी सैन्यशक्ति इतनी थी कि हम इन हमलों के उत्तर में पाकिस्तान-अधिकृत कश्मीर के किसी भी स्थान को छीन सकते थे। किन्तु विरामसंधि-रेखा पर स्थित राष्ट्रसंघ के पर्यवेक्षकों का ध्यान आकर्षित करने के अतिरिक्त हमने और कोई कार्रवाई नहीं की। हमारी इस 'निष्क्रियता' को पाकिस्तान ने हमारी कमजोरी समझा।

इस बीच उसने अमरीका द्वारा अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए बनायी गयी सैनिक गुटबंदियों का सदस्य बनकर उससे अरबों रुपये के आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र ले लिये। इन आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों का अपार भण्डार एकत्र कर लेने तथा अपनी सैनिकशक्ति बढ़ाने के बाद वह समझने लगा कि वह भारतीय सेना को कुचल सकता है क्योंकि भारत ने पहिले तो सेना की ओर ध्यान ही कम दिया, दूसरे उसने किसी से सैनिक सहायता नहीं ली।

किन्तु फिर भी पाकिस्तान को भारतीय सेना ने कश्मीर में जो सबक सिखाया था उसे वह भूला न था, और इतने भयंकर एवं आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों के प्राप्त करने के बाद भी उसका साहस भारत पर आक्रमण करने का नहीं होता था। इसी बीच भारत चीन के साम्राज्य-विस्तार का शिकार हो गया। चीन के आक्रमण ने भारत को वास्तविकता का दर्शन करा दिया, और वह सजग होने लगा। चीन का आक्रमण उस समय तो टल गया, किन्तु उसके आक्रमण की संभावना भारत के सिर पर कच्चे धागे से लटकती हुई तलवार के समान सदैव प्रस्तुत रहती है। धूर्त और कृतघ्न पाकिस्तान ने सोचा कि "शत्रु का शत्रु मेरा मित्र हो सकता है।" इसलिए उसने उस कम्युनिस्ट चीन से, जिससे लड़ने के लिए अमरीका और पाकिस्तान की संधि हुई थी और केवल जिसके लिए अमरीका ने पाकिस्तान को अरबों रुपयों की सैनिक सहायता दी थी, मित्रता कर ली। इतिहास में ऐसी गर्हित अनैतिक अवसरवादिता का उदाहरण शायद ही कोई दूसरा मिले। चीन तो अपने पड़ोस के राज्यों का विनाश चाहता ही है क्योंकि उसकी लोलुप निगाह उन पर है और वह उन्हें हड़प करना चाहता है। भारत के प्रति द्वेष में अंधे पाकिस्तान को चीन का यह भयंकर रूप नहीं दिखलायी पड़ता। जब दोनों में मित्रता हो गयी, और पाकिस्तान को चीन के समर्थन, सहयोग और सहायता का आश्वासन मिल गया तब उसने भारत पर भीषण आक्रमण करने की योजना बनायी।

यह शैतानी योजना इस प्रकार बनायी गयी थी कि भारत धोखे में रहे, और उसे पाकिस्तान के असली आक्रमण का तब तक पता न चले जब तक उसकी सुसज्जित शक्तिशाली सेना कश्मीर में घुस न जाय! भारत का ध्यान बटाने के लिए उसने पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पर जगह-जगह छोटे-मोटे आक्रमण आरम्भ कर दिये। कहीं-कहीं तोपों से गोलाबारी भी की जाने लगी। पाकिस्तान ने ऐसा स्वाँग रचा कि मानों पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पर शीघ्र ही कोई बड़ी घटना होनेवाली है जिससे भारत अपनी सेना का बहुत सा भाग असम, त्रिपुरा, पश्चिमी बंगाल आदि की रक्षा के लिए वहाँ रखने को विवश हो जाय। इतना ही नहीं, उसने भारत के सैन्य-बल को बिखरा देने के लिए कच्छ के रण पर भी आक्रमण कर दिया जिससे कच्छ, गुजरात और राजस्थान के दक्षिणी भाग की रक्षा के लिए भारत को अपनी सेना का कुछ

भाग अटका देना पड़े। इधर तो पूर्व और पश्चिम में भारत का ध्यान बटाने के लिए ये घटनाएँ की जा रही थीं, उधर कश्मीर पर आक्रमण करने की योजना बनायी जा रही थी।

कश्मीर-विजय की पाकिस्तानी योजना स्पष्टता और सादगी में बेजोड़ थी। पाकिस्तान को विश्वास था कि कश्मीर का मुसलमान उसका उपासक है, और जैसे ही उसे पाकिस्तान की सहायता मिलेगी वह भारत के विरुद्ध विद्रोह कर देगा। इसलिए उसने कई हजार सैनिकों और किराये के लोगों को जो अपने को 'मुजाहिद' (जेहाद करनेवाले) कहते हैं, भेष बदलकर कश्मीर में लुके-छिपे घुस जाने और वहाँ तोड़फोड़ करके प्रशासन को अस्तव्यस्त करने और कश्मीरी मुसलमानों में धर्म के नाम पर विद्रोह की आग लगाने की शिक्षा दी। पाकिस्तान की योजना थी कि विरासंधि-रेखा के पश्चिमी और उत्तरी भाग से ये लोग छोटे-छोटे जत्थे बनाकर कश्मीर की घाटी में घुसकर वहाँ अराजकता और विद्रोह फैला दें जिससे प्रशासन ठप्प हो जाय और वहाँ की भारतीय सेना उसे दबाने में लग जाय, और उधर छम्ब क्षेत्र से (जो विराम-रेखा के दक्षिण-पश्चिमी सिरे पर पंजाब से मिला हुआ है) एक बहुत बड़ी पाकिस्तानी सेना जम्मू में घुस जाय और अखनूर पर अधिकार करके उस एकमात्र सड़क को हथिया ले जिससे विराम-रेखा पर नियुक्त भारतीय सेना को कुमक भेजी जाती है। बाद में वह जम्मू पर अधिकार कर ले और कश्मीर और भारत को जोड़नेवाली एकमात्र पठानकोट-जम्मू सड़क को बंद कर दे जिससे कश्मीर में स्थित भारतीय सेना को भारत से किसी प्रकार की सहायता न मिल सके। जम्मू पर अधिकार करने के लिए उसने जम्मू के दक्षिण में कुछ दूर स्थित अपने नगर स्यालकोट में भारी सेना एकत्र कर रखी थी।

भारत के शान्तिप्रिय प्रधान मंत्री को तब तक इस योजना का पता न था। वे कच्छ के रण के युद्ध को समाप्त करने के लिए ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री विलसन के प्रस्ताव से सहमत हो गये थे। देश में उस विरामसंधि का काफी विरोध था, किन्तु हमारे शान्तिप्रिय प्रधान मंत्री युद्ध की अपेक्षा समझौते का ही मार्ग श्रेयस्कर समझते थे। उन्होंने आन्तरिक विरोध के बावजूद कच्छ के रण के समझौते को मान लिया और यह आशा प्रकट की कि यह समझौता पाकिस्तान और भारत के बीच वैमनस्य समाप्त करने का श्रीगणेश होगा। किन्तु तब तक उन्होंने पाकिस्तान के असली रूप को नहीं पहिचाना था।

एक ओर पाकिस्तान के नेता इस समझौते पर हस्ताक्षर कर रहे थे, दूसरी ओर वे कश्मीर पर दुहरे आक्रमण की तैयारी के कीलकाँटे दुरुस्त कर रहे थे। इधर इस समझौते पर हस्ताक्षर हुए, और उधर ज्योंही पाकिस्तान की तैयारी पूरी हुई कि पाकिस्तान के हजारों छद्मवेशी सैनिकों और मुजाहिदों ने चोरी छिपे कश्मीर घाटी में घुसना आरंभ किया। किन्तु कश्मीर के मुसलमानों को पंजाबी मुसलमानों और पठानों का बड़ा कटु अनुभव है। वे उनके सदियों के अत्याचार और दुर्व्यवहार को नहीं भूले हैं। अतएव वे भली-भाँति जानते हैं कि एक बार उन पंजाबी मुसलमानों और पठानों के शिकंजे में फँस जाने के बाद उनके दुःखों का अन्त न होगा। अतएव उन्होंने उनका साथ नहीं दिया। इतना ही नहीं, वे उन्हें पकड़वाने लगे। कश्मीर की सरकार, वहाँ की पुलिस और सेना ने तुरन्त ही उनको बीन-बीनकर पकड़ना आरम्भ किया। कितने ही आततायी पकड़े गये, और कितने ही भाग गये। जो भाग नहीं पाये, वे जंगलों में छिप गये। इस प्रकार पाकिस्तान की योजना का पहिला अंश असफल हो गया।

इस योजना के दूसरे अंश के अनुसार एक दिन सहसा छम्ब क्षेत्र में बहुत बड़ी पाकिस्तानी सेना घुस आयी और अखनूर की ओर बढ़ने लगी। छम्बक्षेत्र में हमारी थोड़ी ही सेना थी। वह पहाड़ी क्षेत्र में थी जहाँ भारी तोपों या बड़े टैंकों की आवश्यकता नहीं होती। पंजाब के मैदान से छम्ब क्षेत्र लगा हुआ है और

अखनूर की चढ़ाई तक प्रायः मैदान है। पाकिस्तानी सेना के साथ अमरीका के बने प्रायः एक सौ भीमकाय 'पै न' नामक टैंक थे। ये टैंक चलते-फिरते छोटे-मोटे किले होते हैं। ये मोटे लोहे के बने होते हैं और उनमें तोपें लगी होती हैं। इन्हें केवल भारी तोपों के गोलों या क्षेप्यास्त्रों (राकेटों) द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। हमारी मुट्ठी भर सेना ने बड़ी वीरता से इस विशाल शक्तिशाली शत्रु-सेना का सामना किया, और ऐसा डटकर सामना किया कि उसे आज तक अखनूर नहीं पहुँचने दिया। हमारी मुट्ठी भर सेना में साहस और वीरता की मात्रा तो आवश्यकता से अधिक थी, किन्तु वे इन लोहे के किलों (पैटन टैंकों) का सामना कैसे कर सकते थे ? अतएव समाचार पाते ही हमारी वायुसेना के लड़ाकू विमान भेजे गये। उन्होंने अपने राकेटों से कितने ही पैटन टैंकों के धुर्रे उड़ा दिये। छम्ब का यह आक्रमण पाकिस्तान की सेना ने खुल्लमखुल्ला किया था, और यह स्पष्ट था कि इस भीषण आक्रमण के द्वारा पाकिस्तान ने भारत को लड़ाई के लिए ललकारा था।

इन अठारह वर्षों में पाकिस्तान ने कश्मीर की विरामसंधि-रेखा के इस पार असंख्य छोटे-मोटे आक्रमण किये। शायद ही कोई महीना गया हो जिसमें उसने एक-दो घटनाएँ न की हों। इधर कई वर्षों से पूर्वी पाकिस्तान की सीमा से लगे हुए भारतीय क्षेत्रों पर भी वह राइफिल या तोपों से गोलाबारी करता रहा है। भारत की सहनशीलता और ईंट का उत्तर ईंट से न देने की नीति के कारण उसका साहस बढ़ता ही गया। तब उसने अपनी सेना को कच्छ के रण के क्षेत्र में घुसा दिया। फिर भी भारत की शान्तिप्रियता भंग न हुई। किन्तु कच्छ के रण के समझौते के साथ-साथ गुप्त रूप से कश्मीर में आततायियों को भेजने और छम्बक्षेत्र में खुला और भारी सैनिक आक्रमण ऐसी घटनाएँ थीं कि भारत का भी धैर्य टूट गया। उसका शान्ति का नशा हिरन हो गया, और उसने देख लिया कि पाकिस्तान केवल शस्त्रों ही की भाषा समझता है। अतएव भारत को छम्ब क्षेत्र में पाकिस्तानी आक्रमण को विफल करने के लिए उसके बाजू पर आक्रमण करना पड़ा। हमारी सेनाएँ लाहौर के क्षेत्र में घुस गयीं। अन्त में भारत को भगवान् श्रीकृष्ण का वह आदेश जो उन्होंने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिया था मानना पड़ा। वह उपदेश था : युद्धाय कृतनिश्चयः अर्थात् युद्ध करने का निश्चय करो।

भारत और युद्ध

•

कहावत है कि 'युद्धस्य वार्ता रम्या'। युद्ध की बातें बड़ी मनोरंजक मालूम होती हैं। आल्हा खण्ड में लड़ाइयों का वर्णन सुनने में लोगों को बड़ा आनन्द आता है, किन्तु यदि वे लड़ाई में फँस जायँ तो सब मनोरंजकता भाग खड़ी हो। जो देश "द्यौ शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः" का निरंतर शान्तिपाठ करता है, जिसके नेताओं ने देश को शान्ति की मोह नगरी में बन्द कर रखा है और जिसने "पैक्स ब्रिटेनिका" (अँगरेजों द्वारा स्थापित शान्ति) के कारण एक शती से अपनी भूमि पर कोई युद्ध देखा ही न हो, वहाँ की जनता यदि युद्ध की वास्तविक भीषणता को भूल गयी हो तो इसमें क्या आश्चर्य है। यह सही है कि १९४७ में पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया था और १९६२ में चीन ने उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश (नेफा) और लद्दाख में। किन्तु ये अल्पकालीन और अत्यन्त सीमित क्षेत्र में थे। यदि चीनी आक्रमण रुक न जाता और यदि युद्ध की आग असम के मैदान में फैल जाती तो देश को युद्ध का कुछ आभास हो जाता। वास्तव में वर्तमान युद्ध ही भारत का प्रथम युद्ध है जिसमें कच्छ से कश्मीर तक किसी न किसी रूप में युद्ध की आग लगी हुई है। पूर्वी पाकिस्तान में भी युद्ध का धुआँ उठ रहा है, और न मालूम पाकिस्तानी पागलपन की हवा उसे किस दिन प्रज्वलित करके युद्ध की लपटें असम, पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा आदि में फैला दे। इस युद्ध में स्थल, जल और वायु सेनाएँ भाग ले रही हैं। प्रथम महायुद्ध में प्रसिद्ध वीर जर्मन क्रूजर 'एमडेन' ने मदरास पर एक बार अपनी तोपों से गोले गिराकर पेट्रौल के भण्डार में आग लगा

दी थी। द्वितीय महायुद्ध में एक बार एक एकाकी जापानी वायुयान कलकत्ते पर एक छोटा सा बम गिरा गया था। बस, हमारी भूमि को आधुनिक युद्ध का इतना ही परिचय है। किन्तु इस बार अमरीका की कृपा से पाकिस्तान के पास अनेक आधुनिकतम लड़ाकू और बमवर्षक सैनिक वायुयान हैं, नये ढंग की बड़ी तोपें और क्षेप्यास्त्र (राकेट और मिसाइल्स) हैं, भीमकाय टैंक हैं तथा पनडुब्बी है। अँगरेजों के दिये हुए लड़ाई के जहाज हैं। यह आशा न करनी चाहिए कि पाकिस्तानी भारतीय क्षेत्र में इनका उपयोग या दुरुपयोग करने में कोई संकोच करेंगे। हमारी सेना इनसे भली भाँति निबट लेगी, किन्तु इस बार जनता को युद्ध की भीषणता का अनुभव होगा। यह अक्षरशः उसकी अग्नि-परीक्षा है। जिस जाति या राष्ट्र का मनोबल जितना शक्तिशाली होता है, आत्मविश्वास जितना दृढ़ होता है तथा अपने पक्ष की सत्यता में जितना अटल विश्वास होता है वह इस परीक्षा में उतनी ही सफल होती है। भर्तृहरि ने कहा है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताड़नैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा।

जिस प्रकार सोने की परीक्षा घिसकर, छेदकर, तपाकर और पीटकर चार तरह से की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य की परीक्षा भी उसके त्याग, शील, गुण और कर्म से की जाती है। इस अग्नि-परीक्षा के अवसर पर राष्ट्र के नागरिकों को देश के लिए त्याग, सब वर्गों और धर्मों में सद्भावना बनाये रखने का शील, देशसेवा का गुण और राष्ट्र के हित में कोई भी काम करने की क्षमता होनी चाहिए। यदि हम इस परीक्षा में खरे उतरे तो फिर हमारी ओर आँख उठाने का साहस कभी किसीको न होगा।

इस सम्बन्ध में हमें महाभारत के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थल की याद हो आयी। कौरवों की अपार सेना और भीष्म, द्रोण, कर्ण के समान वीरों को अपने विपक्ष में देखकर युधिष्ठिर घबड़ा गये। तब अर्जुन ने उनसे कहा था—

न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च।
त्यक्त्वा धर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः
युद्धयध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः।
एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोस्माकं रणे जयः
यथा तु नारदः प्राह यतः कृष्णस्ततो जयः।

"विजय की इच्छा रखनेवाले शूर-वीर अपने बल और पराक्रम से वैसी विजय नहीं पाते जैसी कि सत्य, सज्जनता, धर्म तथा उत्साह से प्राप्त करते हैं। लड़नेवाले तो सभी शूरवीर और पराक्रमी होते हैं, किन्तु जिनमें सत्य, सज्जनता, धर्म तथा उत्साह है, उन्हींको विजय मिलती है। अधर्म, लोभ और मोह त्यागकर और अहंकार छोड़कर उद्यम (पराक्रम) का सहारा लेकर युद्ध करो। जहाँ धर्म है वहाँ विजय अवश्य होगी। हे राजन्! आप भी निश्चित-रूप से विश्वास कर लें कि युद्ध में हमारी विजय अवश्य होगी क्योंकि (जैसा कि नारद ने कहा है) जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है।"

पाकिस्तान का सैन्यबल—युद्ध के समय शत्रु की शक्ति जानने की उत्सुकता स्वाभाविक है। हमारे पाठकों को भी यह जिज्ञासा होगी। किन्तु वर्तमान काल में सही-सही सैनिक सूचनाएँ मिलना अत्यन्त कठिन

है क्योंकि आजकल उन्हें अधिकृत रूप से प्रकाशित नहीं किया जाता। फिर भी विशेषज्ञ उनका अनुमान लगा लेते हैं जो अधिकतर सत्य के निकट होती हैं। पाकिस्तान के सैन्यबल के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त है, और जिसे बहुत कुछ सही समझा जा सकता है, वह इस प्रकार है :

स्थल सेना—पाकिस्तान की स्थल सेना अमरीकन सेना के आदर्श पर संगठित है। अमरीकन सेना की मान्य इकाई 'डिवीजन' है जिसमें प्रायः १५, ००० सैनिक होते हैं। एक डिवीजन में तीन ब्रिगेड होते हैं। प्रत्येक डिवीजन के साथ उसके अपने "टैंक" कवचदार (आर्मर्ड) लड़ाकू मोटरें और छोटा-बड़ा तोपखाना होता है।

पाकिस्तानी सेना में निम्नांकित इकाइयाँ है :

८ डिवीजन

१ कवचधारी (आर्मर्ड) डिवीजन

२ स्वतन्त्र ब्रिगेड

१ हवाई रक्षक ब्रिगेड

१ स्वतन्त्र कवचधारी संगठन (ग्रूप)

आजाद कश्मीर सेना (अनुमानित संख्या, २०,०००)

सीमान्त सेना (फ्रंटियर कोर) अनुमानित संख्या, २५,०००)

पश्चिमी पाकिस्तान रेन्जर्स—(अनुमानित संख्या, १०,०००)

पूर्वी पाकिस्तान राइफिल्स—(,, ,, १०,०००)

अनुमान किया जाता है कि पाकिस्तान के पास ६०० टैंक हैं। कुछ विशेषज्ञ इनकी संख्या १००० बतलाते हैं। इनमें तीन प्रकार के टैंक मुख्य हैं—पैटन, चैफीज और शर्मन। टैंक तीन प्रकार के होते हैं—भारी, मझोले और हलके। पाकिस्तान के पास भारी टैंक नहीं के बराबर हैं। पैटन टैंकों की संख्या (प्रायः ४००) सबसे अधिक है। ये टैंक अमरीका के बने हैं और द्वितीय महायुद्ध के प्रसिद्ध 'पर्शिंग' टैंक के उन्नत रूप हैं। इनका वजन ४७ या ४८ टन है। इनमें ७ इंच मोटी इस्पात की चद्दर का कवच (बख्तर) लगा है। इसमें मशीनगन के अतिरिक्त एक ९० मिलीमीटर मुहाने की तोप लगी रहती है जो दस मील तक की मार कर सकती है। इसकी गति प्रायः २५ मील प्रति घंटे है।

वायु सेना—पाकिस्तान को अमीरका ने आधुनिक और बहुत अच्छे लड़ाई के विमान दे रखे हैं। लड़ाई के विमान तीन प्रकार के होते हैं : बमवर्षक, लड़ाकू और सेना-वाहक। विमानों के एक स्क्वाड्रन में १२ विमान होते हैं।

एक स्क्वाड्रन एफ—१०४ ए के स्टार फाइटर ध्वनि भेदी (सुपरसॉनिक) लड़ाकू वायुयानों का।

चार स्क्वाड्रन एफ—८६ एफ सेबर लड़ाकू वायुयानों के। ये साइडविंडर नामक प्रक्षेप्य (मिसाइल) से लैस होते हैं।

दो कैनबेरा नामक बमवर्षकों के स्क्वाड्रन।

सी—१३० हर्क्युलीज सेनावाहक विमान (ट्रांस्पोर्ट प्लेन)। इनकी संख्या अधिक नहीं है।

पाकिस्तानी वायुसेना के पास सर्वोत्तम लड़ाकू विमान एफ–१०४ हैं। ये अमीरका के सर्वोत्तम विमानों में हैं। ये ध्वनिभेदी (सुपरसॉनिक) हैं। इनकी गति १४०० मील प्रति घंटे के लगभग है। यह जैट विमान हैं।

सेबर जैट लड़ाकू विमानों की गति प्रायः ६५० मील प्रति घंटे है।

जल सेना—पाकिस्तान की जलसेना में एक क्रूजर, पाँच विध्वंसक (डिस्ट्रॉयर), एक पनडुब्बी (सबमैरीन), दो पनडुब्बीनाशक फ्रिगेट, आठ सुरंग हटानेवाले जहाज और दस अन्य छोटे-मोटे सहकारी जहाज हैं। क्रूजर और चार विध्वंसक जहाज इँगलैंड की नौसेना के पुराने जहाज हैं। इन्हें पाकिस्तान ने खरीदा है। किन्तु ये इतने पुराने थे कि इन्हें आधुनिक बनाने के लिए इनमें बहुत कुछ परिवर्तन और सुधार आवश्यक थे। अमरीका ने पाकिस्तान को क्रूजर और दो विध्वंसकों के नवीकरण का व्यय दिया जिससे इँगलैंड ने इनका नवीकरण कर दिया। पाँचवाँ विध्वंसक अमरीका ने खरीदकर पाकिस्तान को दिया। अमरीका ने एक पनडुब्बी पाकिस्तान को उधार दे रखी है। पनडुब्बी-नाशक फ्रिगेट वास्तव में इंगलैंड के पुराने विध्वंसक हैं जो इंगलैंड ने पाकिस्तान को सुधार कर दिये हैं। एक फ्रिगेट (जुल्फिकार) और चार सुरंग हटानेवाले जहाज भी पाकिस्तान को अमरीका से मिले हैं।

पाकिस्तान को अमरीका से अरबों रुपयों का सैनिक सामान प्रतिवर्ष मुफ़्त मिलता है। अमरीका ने अपने व्यय से पाकिस्तान के कई हवाई अड्डे बना दिये हैं या उनका पुनर्निर्माण करके उन्हें आधुनिकतम बना दिया है। अनुमान किया जाता है कि पिछले आठ-नौ वर्षों ही में पाकिस्तान को अमरीका ने एक अरब पचास करोड़ (१,५०,००,००,०००) डालर की युद्धि-सामग्री दी है (एक डालर = ४.७६ रुपये)। इसीसे अनुमान किया जा सकता हैं कि पाकिस्तान के पास अमरीका के कितने अधिक भयंकर और आधुनिक अस्त्र-शस्त्र हैं। पाकिस्तान अपने पास से सेना पर जो व्यय करता है, वह अलग है। हमें १९६०-६१ के आँकड़े उपलब्ध हैं। उस वर्ष पाकिस्तान का केंद्रीय व्यय १७४ करोड़ रुपये का था। इसमें ९८ करोड़ ५९ लाख रुपये (आधे से अधिक) सेना के लिए था। इसीसे मालूम पड़ सकता है कि पाकिस्तान अपनी सेना को कितना महत्त्व देता है। अमरीका ने उसे जो इतना सैनिक सामान दिया है वह इसलिए कि १९ मई १९५४ को कराँची में अमरीका और पाकिस्तान के बीच परस्पर सहयोग के करार पर हस्ताक्षर हुए। अमरीका कम्यूनिस्ट शक्तियों को रोकने के लिए पाकिस्तान का सहयोग चाहता था। पाकिस्तान ने कम्यूनिस्टों के विरोध के लिए अपनी सेना को सज्जित करने का वचन दिया। अमरीका ने स्पष्ट रूप से भारत को यह आश्वासन दिया था कि वह (अमरीका) पाकिस्तान को अमरीका के अस्त्रशस्त्रों का उपयोग भारत के विरुद्ध न करने देगा। किन्तु ये अंतर्राष्ट्रीय वादे उर्दू के शायरों के माशूकों के वादों की श्रेणी के हैं। उन पर विश्वास करना ही मूर्खता है। गालिब ने कहा है।

तेरे वादे पै जिये हम ! तो ये जान झूठा जाना
कि खुशी से मर न जाते, अगर ऐतबार होता।

•

युद्ध का लेखा-जोखा

●

भारत और पाकिस्तान युद्ध में विराम-संधि हो गयी है। इसका श्रेय राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् को है। यह कहना अधिक सत्य होगा कि इसका वास्तविक कारण संसार की दो महान् शक्तियों (अमरीका और रूस) का इस युद्ध को बन्द करने का अपार आग्रह था। यदि इसमें से एक भी शक्ति उसे बन्द करने को उत्सुक न होती तो यह युद्धविराम न होता, और इस बात का भय था कि युद्ध की आग भारत के वाहर भी फैल जाय। भारत ने युद्धविराम के प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया था, किन्तु पाकिस्तान ने उसे बड़ी अनिच्छा से माना है, और वह उसे मानने के बाद भी जहाँ-तहाँ भंग करता रहता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि यह विराम कब तक चलेगा। फिर भी, अभी तो विराम हो गया है, और इस अवसर पर युद्ध के नैतिक, सैनिक और राजनीतिक परिणामों का तत्कालीन लेखा-जोखा लिया जा सकता है।

इस अल्पकालीन युद्ध का सबसे बड़ा लाभ जो भारत को हुआ है, वह नैतिक है। १९६२ में चीनियों ने, और इस वर्ष पाकिस्तान ने, कच्छ के रण में हम पर जो आक्रमण किये, वे दोनों ही अचानक हुए। जिन क्षेत्रों में उन्होंने आक्रमण किये वे उनके लिए सैनिक दृष्टि से जितने सुविधाजनक थे, हमारे लिए वे उतने ही असुविधाजनक थे। जब तक हम सम्हलें सम्हलें तव तक चीनियों ने युद्ध-समाप्ति की घोषणा कर दी। कच्छ के रण में हम राजस्थान से घुसकर शत्रु पर पीछे से आक्रमण करके अपनी रक्षा कर सकते थे, किन्तु

राजनीतिक कारणों से हम उसे नहीं कर सके। ऐसी अवस्था में संसार ने यही समझा कि इन दोनों ही क्षेत्रों में हमें जो हटना पड़ा उसका कारण हमारी सैनिक कमजोरी थी। जवानों में भी इस सैनिक गतिरोध और हार से बड़ा असंतोष था। उससे उनके मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का भय था। वास्तविक स्थिति और कारणों को न जानने के कारण लोगों की यह धारणा बनने लगी थी कि भारतीय सेना कमजोर है। इसके विपरीत, अमरीका से विपुल मात्रा में पाकिस्तान द्वारा आधुनिकतम शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र पा जाने और उसकी डींग हाँकने की प्रवृत्ति के कारण पाकिस्तानी सेना को बड़ा शक्तिशाली और अजेय समझा जाने लगा था। पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब ने स्वयं एक बार शेखी बघारते हुए कहा था कि उनकी टैंकों की कवचधारी सेना मजे से टहलती हुई निर्विरोध दिल्ली पहुँच सकती है। पाश्चात्य सेना-विशेषज्ञ भी समझने लगे थे कि पाकिस्तानी सिपाही भारतीय जवान से कई गुना अधिक अच्छा है, और उसकी कवच-धारी सेना तो भारत की सेना के लिए अजेय है।

इस अल्पकालीन युद्ध ने लोगों की इन भ्रमपूर्ण धारणाओं को नष्ट कर दिया। पाकिस्तान और उनके सैनिक-सहयोगियों द्वारा निर्मित भ्रम का यह कोहरा भारत की तोपों ने एक सप्ताह ही में साफ कर दिया। पैरिस में नाटो (NATO) का मुख्य कार्यालय है। इसकी सैनिक गतिविधियों का उत्तरदायित्व दो संस्थाओं पर है जिसमें एक का नाम शाफे (SHAFE) है। यह योरप और एशिया के नाटो सदस्यों की सैनिक शक्ति और योग्यता की जाँच किया करती है। उसने इस युद्ध का विशेष अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध में टाइम्स आफ इंडिया के प्रतिनिधि ने पैरिस से यह संवाद भेजा है। "(इस युद्ध में) पाकिस्तान के सिपाहियों और शस्त्रों के करतब से सैनिक विशेषज्ञों की आँखें खुल गयी हैं। वर्षों से पश्चिमी सेना-विशेषज्ञ यह मानने लग गये थे कि एक पाकिस्तानी सिपाही ५ से १० भारतीय जवानों के बराबर है, तथा पाकिस्तान की एक सुसज्जित वटालियन प्रायः अजेय है।........एक परिणाम जो पूरी तरह से ही स्पष्ट हो गया है वह यह है कि पाकिस्तानी सिपाही की शक्ति और योग्यता बहुत बढ़ा,चढ़ाकर मानी जाने लगी थी। अब यहाँ भारतीय जवान के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन दिखायी पड़ने लगा है और अब उसे नये सम्मान की दृष्टि से देखा जा रहा है। इसी तरह यहाँ भारतीय रण-कौशल की भी प्रशंसा हो रही है।"

इस अल्पकालीन युद्ध ने राष्ट्रपति अयूब को समझा दिया कि दिल्ली दूर है। वे वहाँ चहलकदमी करते हुए नहीं पहुँच सकते। उनका गर्व खर्व कर दिया गया, और जिन लोगों ने भारतीय सेना को बेकार समझ रखने की भूल करके उसके प्रति अवज्ञा प्रकट की थी, उन्हें भी मालूम हो गया कि वे कितने भ्रम में थे। युद्धक्षेत्र में अपना शौर्य, पराक्रम और रण-कुशलता दिखाने का उचित अवसर पाकर हमारी सेना का आत्मविश्वास और मनोबल बहुत ऊँचा उठ गया है। देश के बहुत से लोगों पर विदेशी प्रचार के कारण अपनी सेना में विश्वास कम हो गया था। आज इस युद्ध ने सारे देश में सेना के प्रति अभूतपूर्व आदर, प्रेम और विश्वास उत्पन्न कर दिया है। ये सब हमारी नैतिक उपलब्धियाँ हैं। इनका अपार महत्त्व है। राष्ट्र की रक्षा के लिये इस नैतिक वल और अदम्य मनोबल की अत्यन्त आवश्यकता है। उनकी पुनः प्राप्ति हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

दूसरी नैतिक उपलब्धि अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका व्यापक और दीर्घकालीन प्रभाव होगा। इस अपरिपूर्ण संसार में, जिसमें आज भी युद्ध एक कठोर वास्तविकता है और जहाँ भारत विरोधी एवं लड़ाकू राष्ट्रों से घिरा हुआ है, हमारे स्वप्नदर्शी, मानवतावादी और आदर्शप्रिय नेता शान्ति और पंचशील के सिद्धान्तों में इतना अधिक विश्वास करने लग गये थे कि उन्होंने देश की सैनिक शक्ति को बढ़ाने की ओर समुचित ध्यान ही नहीं दिया। यह समझकर कि हम सबके मित्र हैं, और चूँकि हम किसी पर आक्रमण

नहीं करना चाहते, वे किसी के आक्रमण की आशंका ही नहीं करते थे। वे अपने देश को पंचशील, तटस्थता की नीति और शान्तिप्रियता के कवच के कारण उसे आक्रमण से सुरक्षित समझते थे। संसार के स्वप्नदर्शी उस दिन का स्वप्न देखते हैं जिस दिन संसार की सारी तलवारें तोड़ दी जायेंगी और उनके लोहे से हल के फाल बना दिये जायँगे। हमने एक अर्थ में यह कर दिखाने का दुष्प्रयास किया भी। हमारे सरकारी अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने राइफिलें बनाने पर जोर न देकर लोहे की मेज़-कुर्सियाँ, काफी के पात्र आदि बनाने लगे थे। हमारे कुछ 'महात्मा' स्वप्नदर्शी तो सेना भंग करने तक की सलाह देने लगे। इस वातावरण में सेना बेचारी की जो गति हुई होगी, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु विपत्ति के रूप में चीन के आक्रमण की चेतावनी ने हमारे होश बहुत कुछ ठीक कर दिये। उस समय, कहा जाता है कि भारत ने सेना में बहुत बड़ी वृद्धि करने का फैसला किया था। किन्तु चीन के पीछे हटने के कुछ दिनों बाद हमारा संकटबोध फिर कम हो गया। हमने सेना वृद्धि तो की; किन्तु जितनी वृद्धि करने का संकल्प किया था, उसकी तिहाई या चौथाई ही वृद्धि की। पाकिस्तान के इस जोरदार और अचानक आक्रमण ने हमारे नेताओं के दिमागों के 'शान्ति', 'पंचशील', 'तटस्थता' आदि के मकड़ी के जालों को बहुत अंशों में साफ कर दिया है, और इस कड़े युद्ध ने हमारे नेताओं को सेना की वृद्धि करने और उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति को प्राथमिकता देने का महत्त्व स्पष्ट कर दिया है। आशा है कि उनका यह 'बोध' इस बार पिछले 'बोध' की तरह क्षणिक न रहेगा। देश और देश की जनता में, सुरक्षा की दृष्टि से, सेना की वृद्धि और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति को प्राथमिकता देने की जो व्यापक भावना उत्पन्न हो गयी है वही हमारी बहुत बड़ी नैतिक उपलब्धि है। अन्य जो नैतिक उपलब्धियाँ हुई हैं, जैसे, साम्प्रदायिक झगड़े न होना, जाति, वंश, राजनीति और धर्म का भेद भूलकर सब भारतवासियों का मातृभूमि के लिए एक हो जाना, जनता का युद्ध-प्रयत्नों में उत्साह आदि उन नैतिक उपलब्धियों की ओर संकेत मात्र करना पर्याप्त है।

सैनिक उपलब्धि

•

पहिला प्रश्न तो यह है कि शत्रु क्या करना चाहता था ? हमने उसे अपना लक्ष्य प्राप्त करने दिया कि नहीं ? हम क्या करना चाहते थे ? जो हम चाहते थे वह हम कर पाये या नहीं ? इन प्रश्नों के उत्तरों से पाकिस्तान की और हमारी सफलता या असफलता का पता लग सकता है ।

पाकिस्तान का तात्कालिक एकमात्र उद्देश्य कश्मीर पर अधिकार कर लेने का था । १९४८ की राष्ट्रसंघ द्वारा नियोजित विराम-संधि के अनुसार हम कश्मीर में एक निश्चित संख्या से अधिक सेना नहीं रख सकते । पाकिस्तान इस संख्या को जानता है, और वह वहाँ इतनी अधिक सेना भेज देना चाहता था कि कश्मीर की हमारी सेना उससे दब जाय । उसकी दूसरी चाल यह थी कि वह उन सड़कों पर अधिकार कर ले जिनके द्वारा भारत से कश्मीर को सैनिक सहायता भेजी जा सकती है । इस मार्ग का द्वार जम्मू है जहाँ से एक सड़क उत्तरी कश्मीर (श्रीनगर, लद्दाख, कारगिल आदि) को गयी है, और दूसरी सड़क जम्मू से अखनूर होती हुई नौशेरा, रजौरी, मेंढर, पूँच आदि पश्चिमी विराम-संधि-रेखा के मोर्चों को जाती है । जम्मू के छम्ब क्षेत्र से पाकिस्तान के कई शक्तिशाली सैनिक केन्द्र और छावनियाँ (जैसे स्यालकोट, गुजरात, खारियाँ) बहुत निकट हैं । छम्ब से अखनूर प्रायः २५ मील है । इस स्थान में हमारी बहुत कम सेना रहती है । अतएव पाकिस्तान एक बड़ी शक्तिशाली सेना लेकर (जिसमें ७० पेटन टैंक थे) अचानक छम्ब क्षेत्र में घुस आया, और तेजी से अखनूर की ओर बढ़ने लगा । यदि वह अखनूर को ले लेता तो पूँच आदि हमारे

क्षेत्र अनायास उसके हाथों में पड़ जाते। इसके बाद वह अखनूर से जम्मू पर आक्रमण करता। जम्मू से स्यालकोट की प्रसिद्ध पाकिस्तानी छावनी केवल २४-२५ मील है। वहाँ पाकिस्तान ने पैटन टैंकों का एक पूरा डिवीजन (१९० टैंक) तथा पैदल सेना के दो तीन डिवीजन तैयार खड़े रखे थे। इधर अखनूर से जम्मू पर आक्रमण होता, और उधर स्यालकोट से। भारत से केवल एक सड़क पठानकोट से पाकिस्तान की सीमा के पास होती हुई जम्मू जाती है। कहीं-कहीं तो यह सड़क सीमा से दो-ढाई मील ही रह जाती है। अतएव जम्मू को भारत से सहायता भेजना अत्यन्त कठिन हो जाता। वहाँ की सीमित भारतीय सेना को दो ओर से मार करने वाली पाकिस्तानी सेनाएँ बेकार कर देतीं। जम्मू से श्रीनगर जानेवाले मार्ग के वन्द हो जाने से श्रीनगर, लद्दाख आदि में पड़ी हमारी सेना चूहेदान में फँसे चूहे की तरह बेबस हो जाती। इस प्रकार केवल अखनूर और जम्मू को ले लेने से पाकिस्तान का कश्मीर लेने का स्वप्न पूरा हो जाता।

छम्ब के क्षेत्र में हमने पाकिस्तानी आक्रमण का सामना किया और उसकी गति अवरुद्ध कर दी; किन्तु उसके स्यालकोट, खारियाँ, गुजरात आदि सैनिक केन्द्रों से बराबर कुमक पाते रहने के कारण हम वहाँ उसे ध्वस्त नहीं कर सकते थे। और जम्मू-कश्मीर से छम्ब का अपनी सेना को बराबर इतनी सहायता देते रहना भी संभव नहीं था कि पाकिस्तानी सेना की गति को हम अनिश्चित काल तक अवरुद्ध किये रहें। इसका एकमात्र उपाय यह था कि छम्ब के रास्ते से अखनूर और जम्मू पर पाकिस्तान के बढ़ाव को रोकने के लिए हम आक्रमणकारी सेना के पार्श्व और पीछे से आक्रमण करें जिससे शत्रु छम्ब की अपनी सेना को पूरी कुमक न भेज सके। इस कुमक के बिना छम्ब की सेना न तो अखनूर ले सकती थी और न जम्मू की ओर बढ़ ही सकती थी। छम्ब की पाकिस्तानी सेना के जम्मू के निकट पहुँचते ही स्यालकोट में तैयार खड़ी पाकिस्तानी सेना भी दक्षिण से जम्मू पर आक्रमण कर देती। हमें स्यालकोट की इस सेना को भी इतना बेकार कर देना था कि वह जम्मू पर आक्रमण करने योग्य ही न रह जाय। अतएव हम पंजाब से पाकिस्तान में लाहौर और स्यालकोट की ओर बढ़ते हुए घुस गये। पाकिस्तान में हमारे घुसते ही उसकी छम्ब की योजना ठप्प हो गयी। उसे कुमक पहुँचना बन्द हो गया और उसे कुछ पीछे हटना पड़ा। अखनूर पर जो संकट आया हुआ था वह टल गया। इस सेना से अब जम्मू को भी कोई खतरा नहीं रह गया। इससे जम्मू से ऊड़ी, पूँच, श्रीनगर, लद्दाख आदि जाने वाली सड़कें निरापद हो गयीं, और हमारा यातायात नष्ट न कर सकने के कारण पाकिस्तान की कश्मीर हड़पने की योजना भी समाप्त हो गयी।

यदि संक्षेप में कहा जाय तो पाकिस्तान अपनी सैनिक कार्यवाही का लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सका। वह न अखनूर को ही ले सका और न जम्मू को। कश्मीर तो उसके लिए गूलर का फूल हो गया। इसके विपरीत, हम अपने सैनिक लक्ष्य में (पाकिस्तान द्वारा कश्मीर के अपहृत करने के उस खतरे को बचाना जो पाकिस्तान द्वारा अखनूर और जम्मू पर अधिकार करने से उत्पन्न हो जाता) सफल हुए। यही इस युद्ध का मुख्य उद्देश्य था। कश्मीर आज भी भारत का अंग है। उसे पाकिस्तान सेना के जोर लेना चाहता था। हमारी सेना की चतुरता तथा शक्ति ने उसका यह मनोरथ विफल कर दिया। यह हमारी रणनीति की प्रमुख सफलता है।

किन्तु युद्ध में यह भी देखा जाता है कि किस पक्ष की कितनी हानि हुई, और जो हानि हुई उससे उसकी सेना कमजोर हुई या नहीं। युद्ध में सैनिक हताहत होते ही हैं। कुछ अपना सामान भी नष्ट होता है। किन्तु यदि हताहत सैनिकों की जगह लेने के लिए हमारे पास प्रशिक्षित सैनिक हैं और नष्ट हुए सामान की क्षतिपूर्ति हम आसानी से कर सकते हैं, तो चिन्ता की कोई बात नहीं है। किन्तु यदि हमारे ऐसे शस्त्र नष्ट हो जायँ जिनकी हम पूर्ति न कर सकें तो वह हानि सेना को कमजोर कर दे सकती है।

पाकिस्तानी और भारतीय सेना में एक बड़ा अन्तर यह है कि पाकिस्तान की सेना के पास अमरीका से मुफ़्त मिले हुए आधुनिकतम शस्त्र हैं। इनमें मुख्य हैं आधुनिकतम भारी पेटन टैंक, चैफी टैंक, सेबर जैट नामक लड़ाकू विमान, स्टार फाइटर और आधुनिकतम बमवर्षक विमान। इनके अतिरिक्त उसके पास 'साइड विंडर' नामक भयंकर प्रक्षेप्य अस्त्र है जो लड़ाकू विमान से शत्रु के विमान के ऊपर छोड़ा जाता है। जिस प्रकार रामायण में जयन्त का पीछा रामचन्द्रजी का बाण कर रहा था, उसी प्रकार वह शत्रु के विमान का पीछा कर उसे नष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त उसके पास पश्चिमी जर्मनी का बना 'कोबरा' नामक एक क्षेप्यास्त्र है जो बड़ा शक्तिशाली होता है।

इसके विपरीत हमारी सेना के पास अधिकतर अपेक्षाकृत हलके और साधारण शस्त्र थे। हमारे टैंक संख्या में कम और बहुत पुराने थे। हमारे पास प्रक्ष्येप्य भी नहीं थे। केवल साधारण तोपखाना, मार्टर, मशीनगन आदि शस्त्र थे—वे भी अधिकतर भारत ही के बने हुए।

इन्हीं अमरीका के दिये हुए आधुनिक शस्त्रों के कारण पाकिस्तानी सेना अपने को शक्तिशाली समझती थी। उसका एक डिवीजन हमारे डिवीजन की अपेक्षा एक बार में हमसे कहीं अधिक, और अधिक भयंकर, गोलाबारी कर सकता था। उसकी तोपें बड़ी संहारक थीं। इसके कारण वह समझता था कि वह हमारी सेना को चुटकी में उड़ा देगा।

किन्तु वास्तव में हुआ क्या? युद्ध-विराम के बाद भारतीय सेना के सेनापति जनरल चौधरी ने अपनी और पाकिस्तान की हानि का संक्षिप्त वर्णन दिया।

उपर्युक्त लेखे से स्पष्ट है कि पाकिस्तानी शक्ति का तेजी से क्षय होता जा रहा था तथा हमारी सेनाएँ पाकिस्तानी सेना को धीरे-धीरे किन्तु स्पष्ट रूप से ढकेलती जा रही थीं। पाकिस्तान ने लड़ाई की पूरी तैयारी कर रखी थी और भारत की सीमा की ओर गाँवों में सीमेंट के पक्के मोर्चे और सिपाहियों के लड़ने के लिए सुरक्षित पक्के आश्रय बनवा रखे थे। यही नहीं, उसने इस क्षेत्र की नहरों को मोटी सीमेंट की दीवालों से बनवाया था जिससे वे युद्ध में मोर्चे का काम दे सकें। इन सब कारणों से हमारी सेना की आरम्भिक गति कुछ धीमी रही। किन्तु ज्यों-ज्यों अमरीका का दिया हुआ शस्त्रागार खाली होता गया और शत्रु के आधुनिक शस्त्र कम होते गये त्यों-त्यों हमारी सेना की गति में तेजी आती गयी। अतएव इस लेखे-जोखे से स्पष्ट है कि जहाँ तक लड़ाई लड़ने की बात है, हमारी सेना बड़े शौर्य, साहस और चतुरता से लड़ी। पाकिस्तानी सैनिक भी अच्छा योद्धा होता है। वह भी जम के लड़ा। उसे अधिक उन्नत शस्त्रों की सुविधा भी थी। किन्तु हमारे वीर जवानों ने सभी जगह उसको पीछे ही ढकेला और शत्रु की शस्त्र-शक्ति को पंगु कर दिया।

●

दीर्घकालीन सैनिक योजना

यद्यपि हमें अपना तात्कालिक लक्ष्य (सैनिक बल से कश्मीर हड़पने की पाकिस्तानी योजना विफल करना) प्राप्त हो गया, किन्तु युद्ध का दीर्घकालीन लक्ष्य है शत्रु की सैनिक शक्ति को इतना नष्ट कर देना कि वह फिर बहुत दिनों तक आक्रमण करने की कल्पना भी न कर सके। युद्ध-विराम इतना शीघ्र हो गया कि इस अल्पावधि में यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता था। शत्रु की सैनिक क्षमता (War potential) को नष्ट करना आवश्यक होता है। पाकिस्तान की युद्ध-क्षमता क्या है ? उसके शस्त्रागार, शस्त्रों के कारखाने, छावनियाँ, हवाई अड्डे तथा वे सभी चिजें जिनसे उसकी सेना की शक्ति बढ़े, उसकी युद्ध-क्षमता है। स्यालकोट और लाहौर से लेकर पेशावर तक पाकिस्तान के सैनिक अड्डे बिखरे हुए हैं। यहाँ उसके विशाल शस्त्रागार हैं। ये अभी प्रायः ज्यों के त्यों बने हैं। पाकिस्तान की युद्धप्रवृत्ति और भारत के प्रति उसके "बुग्जलिल्लाही" को देखते हुए पाकिस्तान की ओर से असावधान हो जाना राष्ट्रीय आत्महत्या करना होगा। इसके लिए हमें अपनी सेना बढ़ानी होगी। पाकिस्तान के साथ चीन का गठबंधन हो गया है। ये दुर्दान्त अलग भले ही माने जायें, किन्तु मिलकर ये 'एक-एक दो' नहीं, 'एक-एक ग्यारह' हो जायेंगे क्योंकि वे भारत को तीन ओर से घेरे हुए हैं। उनसे रक्षा करने के लिए हमें अपनी सेना की समुचित वृद्धि करनी होगी। "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे" का पुराना उपदेश वाक्य अपना आदर्श वाक्य बनाकर हमें शस्त्रों के मामले में यथासंभव आत्मनिर्भर रहना होगा। उन्हें बाहर से

भी प्राप्त करना होगा। हमारी सेना कितनी बड़ी हो ? क्या देश की रक्षा के लिए सौ व्यक्तियों में से एक व्यक्ति का लग जाना बहुत बड़ी या असंभव बात है ? संभव है कि आरंभ में शस्त्रों की कमी हो। आरंभिक काल में यही हाल चीन में भी था जहाँ एक सिपाही बंदूक लेकर चलता था और ४-५ सिपाही उसके पीछे गोलियाँ बारूद लेकर चलते थे, और उसके गिरने पर दूसरा निहत्था सिपाही उसकी बंदूक उठाकर उसे दागने लगता था। किन्तु धीरे-धीरे चीन ने यह स्थिति सुधार ली। हम समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि हमारी हिमालय की अमुक चौकी या अमुक पतरोल में पहरे के तीन-चार सिपाही थे। ३०-४० चीनी सिपाहियों ने उन पर आक्रमण कर दिया। हम पहरे पर उतने ही सिपाही क्यों नहीं रख सकते जितने चीनी रखते है ? उत्तर यही होगा कि हमारी सेना अपेक्षाकृत कम है। सीमा के पीछे ताक में बैठे दुर्दान्त शत्रु की निगाहों में खटकने वाले हमारे हजारों मील के सीमान्त की रक्षा बिना एक विशाल सेना के नहीं हो सकती। हम अपने पड़ोसियों से मित्रता चाहते हैं, किन्तु तुलसीदास का यह सहज बुद्धि का उपदेश भूल जाते हैं—'बिन भय होय न प्रीति।' यदि देश शक्तिशाली है तो सभी उसकी मित्रता के इच्छुक होंगे। एक बार किसी ने स्टालिन से कहा कि पोप उसकी अमुक नीति के विरुद्ध है। उस पर स्टालिन ने पूछा—"पोप के पास सेना के कितने डिवीजन हैं ?" उत्तर मिला, "एक भी नहीं।" तब उसने उत्तर दिया, "पोप की सम्मति पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।" इस अपूर्ण संसार की वास्तविकता यही है। इसे भुला कर रक्षा के उपयुक्त उपाय न करना और "मानवता, शान्ति, न्याय, पंचशील" के स्वप्नलोक में विचरण करते रहना देश के लिए गंभीर खतरा मोल लेना होगा।

विचित्र और अशान्त युद्ध-विराम

भारत और पाकिस्तान का अघोषित युद्ध संसार की महान् शक्तियों के परोक्ष, और सुरक्षा-परिषद् के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से रुक गया और दोनों में युद्ध-विराम हो गया। युद्ध-विराम (जिसे अंग्रेजी में सीजफायर कहते हैं) का नियम यह है कि युद्धबंदी जिस समय से लागू हो उस समय लड़ाई एकदम बंद हो जाय, जिस दल की सेना जहाँ पर हो वहीं रुक जाय और वह उस स्थल से न तो आगे बढ़े, न विरोधी पर किसी प्रकार का आक्रमण करे और न अन्य किसी प्रकार की आक्रामक कार्रवाई करे। युद्ध-बंदी के निर्दिष्ट समय पर लड़ाई बंद हो गयी और दोनों पक्षों की जो सेनाएँ जहाँ थीं, वहीं रुक गयीं। उधर पाकिस्तान ने अपने देश की जनता में यह धुआँधार प्रचार कर रखा था कि पाकिस्तानी सेना ने भारतीय सेना को खदेड़ दिया है और भारत की हजारों वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया है। युद्ध-विराम के बाद स्थिति स्पष्ट हो गयी। मालूम हुआ कि भारतीय सेना की पिस्तौल लाहौर की छाती पर तनी हुई है और स्यालकोट उसके पूरे शिकंजे में है। पाकिस्तानी पंजाब के प्रायः तीन सौ गाँवों पर उसका अधिकार है। डोगराई (जिसे छोटा लाहौर कहते हैं) तथा उपनगर बर्की पर तिरंगा लहरा रहा है। इसके विपरीत भारत का केवल एक छोटा कस्बा खेमकरन और उसके आसपास की कुछ भूमि पाकिस्तान के पास रह गयी है। सिन्ध में पाकिस्तान का गदरा नगर और उसके आगे बीस मील का क्षेत्र भी भारत के अधिकार में है। वहाँ हमारी रेल की सीमा का केवल अंतिम छोटा स्टेशन उसके हाथ लगा है। कश्मीर में छम्ब क्षेत्र में जहाँ पाकिस्तान

ने पहिला बड़ा आक्रमण किया था, दस-बारह मील लंबे भू-भाग में पाकिस्तानी सेना अब भी पड़ी हुई है क्योंकि हमारी सेना को उधर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला था। कश्मीर में हमारी सेना उत्तर में आगे बढ़ती हुई किशनगंगा नदी तक पहुँच गयी थी और उसने उड़ी और पूँच के बीच के विस्तृत क्षेत्र में से पाकिस्तानी सेना को मार भगाया, इसी क्षेत्र में हाजीपीर दर्रा है जो आजाद कश्मीर की राजधानी मुजफ्फराबाद से श्रीनगर आनेवाले मार्ग का द्वार है। युद्ध के दिनों में पाकिस्तान ने अपने देश में अपनी विजयों का ऐसा बढ़ा-चढ़ाकर प्रचार किया कि पाकिस्तानी जनता समझने लगी कि पाकिस्तानी सेना की बराबर विजय हो रही है तथा भारतीय सेना पीछे हट रही है। जब युद्ध बन्द हो गया और इस बात को छिपाना असंभव हो गया कि भारतीय सेना लाहौर और स्यालकोट की छाती पर चढ़ी बैठी है, तब पाकिस्तान किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। भारत द्वारा अधिकृत प्रायः तीन सौ पाकिस्तानी गाँवों की अधिकांश जनता भारतीय सेना के निकट आने पर भाग गयी और उसने लाहौर के पश्चिम में जाकर शरण ली। स्यालकोट की तो अधिकांश जनता वहाँ से भाग ही गयी, और लाहौर से प्रायः ६-७ लाख स्त्री-पुरुष निकल भागे। ये विस्थापित लोग पाकिस्तानी सरकार की विजयों के प्रचार के थोथेपन को दिखलाने के लिए सजीव और चलते-फिरते प्रमाण हैं। कहावत है कि "खिसियानी बिल्ली खंभा नोचै।" उसी प्रकार खिसिया जाने के कारण पाकिस्तान अपने अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को भूलकर भारत में जहाँ-तहाँ कुछ आगे बढ़ने या भारतीय अधिकृत पाकिस्तानी भूमि पर फिर से अधिकार करने का बराबर प्रयत्न करता रहता है। युद्ध-क्षेत्र में हमारे सैनिक इतने सजग और सतर्क हैं कि पाकिस्तानी सेना का एक भी प्रयत्न सफल नहीं हो पाया। फिर भी पाकिस्तान अपनी हरकतों से बाज नहीं आता। अक्तूबर के अंत तक वह प्रायः एक हजार बार युद्ध-विराम भंग करने का दोषी है, और अभी तक उसके सुधार के कोई लक्षण नहीं दीख पड़ते।

युद्ध-क्षेत्र में निराश होने पर उसने राजस्थान की ओर ध्यान दिया। राजस्थान की पश्चिमी सीमा पाकिस्तान से लगती है। यह सीमा प्रायः सात सौ मील लम्बी है। सारी सीमा पर दोनों ओर दूर-दूर तक मरुस्थल फैला हुआ है जिसमें कहीं-कहीं छोटी-छोटी कंटीली झाड़ियाँ हैं तथा दो सौ फुट ऊँचे रेतीली मिट्टी के ढूह हैं जो हवा के कारण बराबर अपना स्थान बदलते रहते हैं। बीस-बीस और कहीं-कहीं पचास मील तक पानी नहीं मिलता। सड़कें नहीं के बराबर हैं। यातायात का साधन केवल ऊँट है। चालीस-चालीस या पचास-पचास मील पर एकाकी गाँव बसे हैं। यहाँ से जिले के मुख्य नगर (जैसलमेर, बीकानेर आदि) को समाचार भेजना कठिन है। कहीं-कहीं ये गाँव पाकिस्तानी सीमा के अत्यन्त निकट हैं। इनमें जो पुलिस चौकियाँ हैं वे बहुत छोटी हैं। यहाँ से दूसरे गाँवों या जिले के कार्यालय को सूचना भेजने में कई दिन लग जाते हैं। इनमें तार का भी प्रबंध नहीं है। चाहिए तो यह था कि इन सीमान्त गाँवों की पुलिस चौकियों में बेतार के तार के यंत्र लगाये जाते, किन्तु हमारा ध्यान सीमान्त की ओर ठीक तरह से गया ही नहीं। अतएव हमारी सीमा के ये बिखरे हुए गाँव प्रायः "स्वरक्षित" हैं। सीमा के निकट के इन गाँवों पर युद्ध-बंदी के बाद पाकिस्तान ने आक्रमण करना आरम्भ किया। जहाँ कहीं दो-चार सौ सशस्त्र पाकिस्तानी सैनिक आक्रमण कर देते हैं वहाँ गाँववाले उनको भगाने में असमर्थ होते हैं। छोटे-मोटे आक्रमण तो वे विफल कर ही देते हैं। अधिकांश पाकिस्तानी आक्रमण ऊँट-रिसालों द्वारा किये जाते हैं। यदि एक गाँव पर उनका अधिकार हो गया तो वे यह घोषित कर देते हैं कि उसके आस-पास की सौ-पचास वर्गमील की भूमि पर उनका अधिकार हो गया। वे यह सब इसलिए कर रहे हैं जिससे वे पाक जनता को यह बतला सकें कि भारत ने पाकिस्तान की जितनी भूमि पर अधिकार कर लिया है, उतनी ही या उससे भी अधिक भारतीय भूमि पर उनका अधिकार है। भारतीय सेना को जब किसी गाँव पर पाकिस्तानी अधिकार या आक्रमण का

समाचार मिलता है तब वह उन्हें वहाँ से निकाल देती है। तब वे दूर के किसी दूसरे गाँव पर आक्रमण कर देते हैं।

इस प्रकार यह युद्धबंदी वास्तविक नहीं है। युद्धबंदी के दिन से अब तक कोई दिन ऐसा नहीं गया जिस दिन पाकिस्तानी सेना ने उसे भंग न किया हो या गोली न चलायी हो। हाँ, जो बड़े पैमाने पर युद्ध हो रहा था, वह अवश्य बन्द हो गया। इससे पाकिस्तान को लाभ हुआ। जिस समय युद्धबंदी हुई उस समय स्थिति कुश्ती की उस दशा के समान थी जब एक पहलवान आरंभिक दाँवपेच के बाद विपक्षी को नीचे ले आता है। विरोधी पहलवान नीचे तो आ गया, किन्तु अभी चित्त नहीं हुआ। ऊपरवाला पहलवान उसे थोड़ी देर में चित्त कर देता कि इतने ही में कुश्ती छुड़ा दी गयी। यही हालत इस युद्ध में हुई। आरम्भिक दाँवपेचों के बाद भारतीय सेना ने पाकिस्तानी अस्त्र-शस्त्रों को बुरी तरह से नष्ट करके उसकी सेना को लाहौर और स्यालकोट में पटक दिया था। यदि दो-चार दिन का समय और मिलता तो हमारी सेनाएँ इन नगरों में होतीं और उनके निकट के सैनिक अड्डों, शस्त्रागारों आदि पर अधिकार कर लेतीं। यह हमारी गर्वोक्ति नहीं है। हम इस प्रकार के 'ऊँचे बोल' बोलने के आदी नहीं हैं। जो विदेशी विशेषज्ञ और पत्रकार इस युद्ध के पहिले पाकिस्तानी सेना को भारतीय सेना से अधिक कुशल और शक्तिशाली समझते थे, उन्हें इस युद्ध के बाद अपनी धारणाएँ बदलनी पड़ीं। लंदन के एक प्रतिष्ठित पत्र के विशेष संवाददाता ने तो इस युद्ध के बाद स्पष्ट रूप से लिख दिया है कि पाकिस्तान के लिए भारत को रणभूमि में पराजित करना अशक्य है। हमारे यह कहने का कि यदि युद्ध एक-दो सप्ताह और चलता तो पाकिस्तान पराजित हो जाता, एक विशेष कारण है। अमरीका से पाकिस्तान को जो वायुयान, तोपें, टैंक आदि मिले हैं उनके लिए गोला-बारूद, राकेट आदि बहुत सीमित मात्रा में मिले हैं। अमरीका नहीं चाहता कि पाकिस्तान बहुत शक्तिशाली या उसके नियन्त्रण के बाहर हो जाय। इसलिए उसने उसे उतना ही सामान दिया था जो एक महीने की लड़ाई के लिए पर्याप्त हो। १५ दिन की लड़ाई के बाद ही पाकिस्तान को तोप के गोलों की कमी का अनुभव होने लगा था और उसने सैनिकों को आदेश दिया था कि विशेष तोपों के गोले हाथ खींचकर खर्च किये जायें। जिस पैमाने पर युद्ध हो रहा था, उसको देखते हुए एक-दो सप्ताह में पाकिस्तानी सेना को गोले-बारूद का संकट हो जाता। इस युद्ध में आगे अमरीका खुले रूप में पाकिस्तान को गोला-बारूद न देता। इधर भारतीय सेना का गोला-बारूद मँगनी का नहीं है। हम अपना अधिकांश गोला-बारूद स्वयं बनाते हैं। इसलिए हमें यह समस्या इस प्रकार तंग न करती। अतएव यदि युद्ध दस-पन्द्रह दिन और चलता तो पाकिस्तान को गोला-बारूद की कमी के कारण ही युद्ध करना कठिन हो जाता। फिर, टैंकों आदि की क्षति के कारण उसकी शक्ति में जो क्षय हुआ है, उसने उसे वैसे ही कमजोर कर दिया है। इसीलिए हमने यह कहा था कि पहलवान नीचे आ गया था, यदि कुश्ती चलती रहती तो हम उसे शीघ्र ही चित्त कर देते।

किन्तु संसार की कई प्रभावशाली शक्तियाँ पाकिस्तान की इतनी खुली पराजय नहीं चाहती थीं। वे असल में उत्तर (खेमकरन), बर्की, डोगरई, फल्लोरा आदि में अपने पिट्ठू की पिटायी से स्तब्ध हो गयी थीं। अतएव उन्होंने विशेष प्रयत्न करके युद्ध-बंदी करा कर पाकिस्तान को संकट से उबार लिया। हमें इसकी शिकायत नहीं है। हम पाकिस्तान का अशुभ नहीं चाहते। हम बराबर उसकी मित्रता के इच्छुक रहे हैं, और अभी तक बुद्ध और अशोक की सीख कि "अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्, असाधुं साधुना जयेत्" पर चलते रहे। किन्तु ये सीखें सतयुग के लिए थीं। इस कलियुग के लिए तो बाबा तुलसीदास के ही वचन ठीक हैं कि "भय बिनु होय न प्रीति।" हमें विवश होकर इस सीख का प्रयोग करना पड़ा क्योंकि पाकिस्तान को यह भ्रम हो गया था कि अमरीका के भीषण हथियारों के मिल जाने के कारण वह भारत से

अधिक शक्तिशाली हो गया है। वह सोचने लगा था कि वह जिस दिन चाहेगा "टहलता हुआ" दिल्ली आकर उस पर अधिकार कर लेगा और उसका एक सिपाही तीन भारतीय जवानों के बराबर है। वह भूल गया कि उसे दिल्ली जाते समय उस भूमि से निकलना पड़ेगा जिसमें प्रातः स्मरणीय गुरु गोविन्दसिंह जी ने एक-एक सिख को सवा लाख शत्रुओं से लड़ने की शक्ति दी थी। दुर्भाग्य से विदेशी विशेषज्ञों और पत्रकारों ने भी पाकिस्तान का दिमाग खराब करने में काफी सहयोग दिया। वे पाकिस्तानी सेना और सैनिक की असंतुलित प्रशंसा और भारतीय सेना की अवमानना करते रहे। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इन सब बातों से पाकिस्तान को अपनी शक्ति और योग्यता के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम हो गया। एक बहुत पुरानी कहानी है कि एक कौए ने हंस के पर लगा लिए और अपने को हंस समझने लगा। किन्तु बेचारा हंस की चाल कहाँ से लाता ! पाकिस्तान मँगनी के पेटन टैंक, चैफी टैंक, सेबरजेट, साइडविंडर प्रक्षेप्य आदि अपनी सेना में खोंसकर अपने को महान् सैनिक शक्ति समझने लगा। किन्तु "सिखाने से कहीं अन्दाजे माशूकाना आता है !" अनधिकारी के हाथों पड़कर अमरीका के अजेय समझे जानेवाले पेटन टैंकों और सेबर जेटों की दुर्दशा हो गयी। इससे पाकिस्तान की जो क्षति हुई वह-तो हुई ही, साथ में अमरीकन शस्त्रों की साख घाते में गिर गयी। जो पेटन टैंक रूस से लड़ने के लिए योरप के देशों को दिये गये थे, उन्हें भारत के समान पिछड़ी हुई सैनिक शक्ति ने चूर कर दिया। यदि इस युद्ध के अनुभव से पाकिस्तान का यह भ्रम दूर हो जाय कि वह भारत को शक्ति से दबा सकता है तो इस युद्ध का संहार कुछ सार्थक समझा जायगा, क्योंकि तब वह भारत से बेसिर-पैर की माँगें न करेगा। युक्ति-संगत और बुद्धि-संगत बात मानने को भारत सदैव तैयार है।

यह विचित्र स्थिति

लन्दन के प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स' ने अपने विशेष संवाददाता का एक लेख छापा है। वह संवाददाता युद्धबन्दी के बाद पहिले भारत आया और फिर पाकिस्तान गया। उसने लिखा है कि जब वह भारत में था तो उसने वहाँ देखा कि भारतीय जनता को विश्वास है कि इस युद्ध में भारत की विजय हुई है। और जब वह पाकिस्तान गया तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँकी जनता में भी अपनी विजय का उतना ही विश्वास है। वह भी समझती है कि इस युद्ध में पाकिस्तान का ही पलड़ा भारी रहा। इसी प्रकार सुरक्षा-परिषद् के ताजे-टटके प्रस्ताव को भी दोनों देश अपनी-अपनी सफलता समझते हैं। श्री भुट्टो ने भी उससे संतोष प्रकट किया और सरदार स्वर्णसिंहजी ने भी। यह विचित्रता इसी युद्ध में देखी गयी कि युद्ध के परिणाम से दोनों ही पक्ष प्रसन्न और उत्साहित हैं। दोनों ही का मनोबल ऊँचा है। किन्तु 'टाइम्स' के संवाददाता ने लिखा है कि पाकिस्तान की जनता किसी न किसी दिन अपने शासकों से अवश्य ही यह पूछेगी कि "यदि हमारी इतनी भारी विजय हुई है और यदि भारत निर्बल हो गया है तो जिस पुरस्कार के लिए हम लड़ रहे थे, अर्थात् कश्मीर, वह हमें अभी तक क्यों नहीं मिला" और कश्मीर पाकिस्तान की पहुँच से आज भी उतनी ही दूर है जितने कहानीवाली लोमड़ी से अंगूर। पाकिस्तान के शासकों ने अपनी सफलताओं और विजयों की जो कल्पित कहानियाँ गढ़कर प्रचारित की हैं, उनकी निःसारता पाकिस्तानी जनता पर एक दिन अवश्य प्रकट हो जायगी। पाकिस्तान के लिए "कश्मीर दूरस्त" उतना ही ठोस सत्य है जितना कि प्राचीन वाक्य "देहली दूरस्त।"

अमरीका और इंगलैंड का पाकिस्तानी पोषण

•

अमरीका ने १९५४ में पाकिस्तान से सैनिक सहायता देने की संधि की थी। यह सैनिक गठबंधन चीन के विरुद्ध बतलाया गया था। अमरीका और उसके मित्र चीन को एशिया में आगे बढ़ने से रोकना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने गिलगिट, पेशावर, सरगोधा आदि में बहुत बड़े आधुनिकतम हवाई अड्डे बनाये जिससे आवश्यकता पड़ने पर वे चीन पर हवाई आक्रमण कर सकें। उनका यह काम भी समझ में आ सकता है। किन्तु यदि सारी सैनिक तैयारी चीन ही के विरुद्ध थी तो पाकिस्तान को अमरीका ने पेटन और चैफी टैंक क्यों दिये ? क्या ये पेटन टैंक दुर्गम हिमालय और कराकोरम की सैकड़ों मील की चौड़ाई पार कर चीन के विरुद्ध उपयोग में लाने के लिए दिये गये थे ? आठ-दस वर्ष के बच्चे के गले भी यह बात न उतरेगी। स्पष्ट है कि इनका उपयोग केवल भारत के विरुद्ध हो सकता था। जब भारत ने इस पर आपत्ति की तब अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री आइजनहावर ने यह आश्वासन दिया था कि उन्हें भारत के विरुद्ध उपयोग में न लाने दिया जायगा। किन्तु जब कच्छ के रण के युद्ध में पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध उनका उपयोग किया और अमरीकन सेना-विशेषज्ञों को उनका उपयोग प्रमाणित करके अमरीका को उसके आश्वासन की याद दिलायी तो उसने चुप्पी साध ली। छम्ब में भी पाकिस्तान ने उनका उपयोग किया। भारत ने फिर प्रतिवाद किया, किन्तु वाचालु अमरीकनों की जीभ को काठ मार गया। पाकिस्तान में कितने ही

अमरीकन सैनिक अधिकारी अमरीका की ओर से नियुक्त हैं। उन्हें क्या पाकिस्तान के इन शस्त्रों के दुरुपयोग का ज्ञान नहीं था ? यदि था, तो उन्होंने अपनी सरकार को सूचित किया या नहीं, और यदि किया (जैसा कि होना चाहिए) तो अमरीकन सरकार ने इस दुरुपयोग को रोकने के लिए क्या किया ? जल-विवाद को निबटाने के लिए संसार बैंक (वर्ल्ड बैंक) के द्वारा समझौता कराया गया और हमसे पाकिस्तान में नहरें बनाने के लिए करोड़ों रुपये दिलाये गये। इस बैंक का अध्यक्ष अमरीकन है। इच्छोगिल नहर केवल सिंचाई के लिए नहीं, लाहौर की सुरक्षा की दृष्टि से बनायी गयी और उसमें करोड़ों रुपये उसे सैनिक कार्रवाई के लिए उपयुक्त बनाने में लगाये गये। वह बैंक ही उसकी रूपरेखा, व्यय के अनुमान आदि स्वीकृत करता है। क्या यह भारत-विरोधी कार्य अमरीकन अधिकारियों की जानकारी में न था ? यदि था तो उसके लिए भारत से रुपया क्यों दिलाया गया ? क्या पाकिस्तान स्थित अमरीकन सैनिक अधिकारियों को यह नहीं मालूम था कि भारतीय सीमा से लाहौर तक खेतों, खलिहानों और गाँवों में असंख्य छिपे हुए सीमेंट कांक्रीट के अत्यन्त सुदृढ़ तोपघर बनाये गये हैं ? ये सब किसके विरुद्ध थे ? मालूम पड़ता है कि पाकिस्तान में अपने अड्डे बनाये रखने के लिए अमरीका ने पाकिस्तान की इन सब भारत-विरोधी तैयारियों और अमरीका-प्रदत्त हथियारों के दुरुपयोग की ओर से आँखें मूँद ली हैं। यह भी संभव है कि १९५४ की अमरीकन-पाकिस्तानी सैनिक संधि में कोई ऐसी गोपनीय धाराएँ भी हों जिनसे पाकिस्तान को अमरीका-प्रदत्त हथियारों का भारत के विरुद्ध मनमाना उपयोग करने की छूट हो। अमरीकन इतने भोले नहीं हैं कि वे यह न समझते हों कि पाकिस्तान को दिये गये टैंक आदि स्थलीय हथियार चीन के विरुद्ध काम में नहीं लाये जा सकते। जब भारत ने चीनी आक्रमण के बाद अमरीका से विशेष प्रकार के शक्तिशाली बमवर्षक वायुयान माँगे (जो उसने पाकिस्तान को दे रखे थे) तो अमरीका ने यह कहकर उन्हें देने से इनकार कर दिया कि भारत को उनकी आवश्यकता नहीं है। तब क्या अमरीका को यह विश्वास हो गया था कि पाकिस्तान को चीन के विरुद्ध उपयोग करने के लिए पेटन टैंकों की आवश्यकता है ? बात यह है कि अमरीका पाकिस्तान के गिलगिट, पेशावर, सरगोधा आदि में अपने अड्डे बनाये रखने को इतना उत्सुक है कि वह पाकिस्तान की उचित अनुचित सभी प्रकार की माँगें मानने को विवश है। वह जानता है, और उसे जानना चाहिए कि पाकिस्तान का एकमात्र उद्देश्य भारत पर आक्रमण करने का है, और वह अमरीकन शस्त्रास्त्रों का उपयोग उसीके लिए करेगा। यदि पहिले यह बात संदिग्ध और विवादास्पद रही भी हो, तो आज वह स्पष्ट है। अमरीका अपने को भारत का मित्र और शुभैषी कहता है। उसने भारत की बड़ी आर्थिक सहायता की है और चीन के आक्रमण के अवसर पर उसने जिस तत्परता से भारत की सहायता की, वह हम नहीं भूल सकते। किन्तु अब दो नावों पर एक साथ सवारी नहीं की सकती। अब अमरीका को अपनी नीति स्पष्ट करनी होगी। वह पाकिस्तान का सैनिक बल बढ़ाते हुए भारत का मित्र नहीं रह सकता।

इस युद्ध में इंगलैण्ड का वर्ताव बड़ा निराशापूर्ण रहा। वहाँ आजकल लेबर दल का शासन है। भारत इस दल को सदैव अपना हितचिन्तक समझता रहा है। शायद इसीलिए उसके व्यवहार से भारत की निराशा और भी तीव्र हो गयी है। कच्छ के रण के युद्ध में इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री श्री विलसन ने बीच-बिचाव करके युद्धविराम करा दिया था। उसकी कुछ शर्तों का देश में कड़ा विरोध भी हुआ, किन्तु भारत सरकार ने श्री विलसन की सद्भावना में विश्वास कर उसे मान लिया। इसके बाद जब पाकिस्तान ने छिपाकर अपने सैनिकों और गुर्गों को कश्मीर में उपद्रव और तोड़-फोड़ करने को भेजा तब श्री विलसन चुप रहे। प्रायः एक महीने तक कश्मीर में इन आततायियों के उपद्रव होते रहे किन्तु विलसन साहब चुप रहे। जब पहिली सितम्बर को पाकिस्तानी सेना अंतर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन कर छम्ब में घुस पड़ी तब भी वे चुप रहे।

किन्तु जब इस आक्रमण को विफल करने के लिए भारत ने पीछे से लाहौर और स्यालकोट पर आक्रमण किया तब विलसन साहब का कंठ एकाएक खुल पड़ा और उन्होंने भारत पर यह अभियोग लगाया कि उसने पाकिस्तान पर आक्रमण किया है। शायद विलसन साहब की सम्मति में छम्ब क्षेत्र में ७० टैंक लेकर पाकिस्तानी सेना पिकनिक करने या सद्भावना शिष्ट मंडल के रूप में घुस गयी थी। वह आक्रमण नहीं था। किन्तु उनकी सम्मति में भारत का जवाबी हमला 'आक्रमण' था।

भारत की सेना पहिले अंग्रेजों के अधिकार में थी। उसके अस्त्र-शस्त्र इंगलैण्ड के बने थे। उनके पुर्जे इंगलैण्ड ही से मँगाये जाते थे। उनमें लगनेवाला गोला बारूद भी वहीं से आता था। दूसरे देशों में उन अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग का सामान बड़ी कठिनाई से मिल सकता है। स्वतंत्रता के बाद हम इंगलैण्ड से यह सब सामान नकद रुपया देकर खरीदते रहे हैं। युद्ध के समय तो इस सामान की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। किन्तु पाकिस्तान से युद्ध छिड़ते ही श्री विलसन की सरकार ने यह 'फरमान' निकाल दिया कि युद्धकाल में भारत और पाकिस्तान को कोई सैनिक सामान इंगलैंड से न भेजा जाय। देखने में तो यह बात बड़ी निष्पक्ष मालूम होती है, किन्तु वास्तविक बात यह है (और विलसन अच्छी तरह जानते हैं) कि उनकी इस आज्ञा का दुष्प्रभाव केवल भारत पर पड़ेगा, क्योंकि पाकिस्तान तो "मुफ्तुल्ला" है। उसे तो प्रायः सारा सैनिक सामान अमरीका से मुफ़्त मिलता रहा है। उसके पास अधिकांश अस्त्र-शस्त्र अमरीका के हैं और उनके पुर्जे, गोला-बारूद आदि वहीं से आते हैं। इंगलैण्ड ने आक्रामक पाकिस्तान और आक्रमण के शिकार भारत को एक ही स्तर पर रखकर अपनी विचित्र न्याय-बुद्धि का परिचय दिया। अतएव गाढ़े समय में इंगलैण्ड ने हमारे साथ यह व्यवहार किया। इसे ही पीछे से छुरी भोंकना कहते हैं। बाबा तुलसीदास ने ठीक ही कहा है—

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी
आपति काल परखिए चारी।

सो, आपत्ति के समय इंगलैंड की मित्रता की परीक्षा हो गयी। भारत को चाहिए कि वह यथाशीघ्र अंग्रेजी अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग बंद कर दे और ऐसे देशों से शस्त्रास्त्र मँगावे जो समय पर धोखा न दें। जब तक हम शस्त्रास्त्रों को बनाकर आत्मनिर्भर नहीं हो जाते तब तक हमें कुछ सैनिक सामान तो बाहर से मँगाना ही होगा। इस युद्ध ने प्रमाणित कर दिया है कि इंगलैंड पर इनके लिए निर्भर रहने में राष्ट्र के लिए बड़ा जोखिम है।

इस अवसर पर रूस ने हमारी जो सहायता की है तथा जो सहानुभूति दिखलायी है उसे हम कदापि न भूलेंगे। रूस से हमें जो नैतिक और सैनिक सहायता मिली है, उस पर हम विस्तार से फिर कभी लिखेंगे।

●

पेटन टैंकों की शव-परीक्षा

अमरीका के पेटन टैंक बहुत उन्नत और आधुनिक समझे जाते रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध में अमरीका ने पर्शिंग नामक जो टैंक बनाया था और जो काफी उपयोगी सिद्ध हुआ था, उसका यह उन्नत संस्करण है। ये पेटन टैंक अमरीका ने नाटो की उस सेना को दिये हैं जो जर्मनी में कम्यूनिस्टों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए पड़ी हुई है। ये ही टैंक उसने पाकिस्तान को दिये थे। इन आधुनिक और शक्तिशाली टैंकों को पाकर पाकिस्तानी सेना की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी और उसे उन पर गर्व था। वह समझता था कि वे भारत के लिए अजेय हैं और उनके बढ़ाव का रोकना भारतीय सेना के बस की बात नहीं है। किन्तु भारत-पाकिस्तान युद्ध में इन टैंकों को भारतीय सेना ने बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उनका कवच बहुत मोटा होता है किन्तु भारतीय टैंकों की तोपों ने उनके सबसे मोटे भाग को सरलता से बेध दिया। लोहे के होने पर भी कितने ही पेटन टैंकों में आग लग गयी और वे जल गये। भारत के हाथ पाकिस्तान के प्रायः दो सौ टैंक लगे हैं जिनमें पेटन टैंकों की संख्या अधिक है। कितने ही पेटन टैंक तो अक्षत मिल गये हैं। संसार के सेना-विशेषज्ञों को पेटन टैंकों की इस दुर्दशा से बड़ा आश्चर्य हुआ। जनरल चौधरी से जब पत्रकारों ने पूछा कि पेटन टैंक इतनी अधिक संख्या में कैसे नष्ट कर दिये गये तो उन्होंने भी आश्चर्य व्यक्त किया। विदेशी राजदूतावासों में विदेशी सैनिक-सहचारी (मिलिटरी एटैची) भी रहते हैं। युद्ध-बंदी के बाद हमारे अधिकारियों ने कितने ही विदेशी सैनिक-सहचारियों को युद्ध-क्षेत्र

में ले जाकर इन क्षतिग्रस्त पेटन टैंकों को दिखलाया। ये सहचारी अपनी-अपनी सरकारों को गोपनीय प्रतिवेदन देंगे। उनकी सम्मति हमें नहीं मालूम हो सकती, किन्तु लन्दन के टाइम्स दैनिक पत्र ने अपने सैनिक संवाददाता के विचार अभी हाल में प्रकाशित किये हैं। उसने कहा है कि भारत के पास इङ्गलैण्ड के बने जो पुराने 'सैंचूरियन' नामक टैंक हैं, उनकी मुठभेड़ कई जगह पेटन टैंकों से हुई। 'सैंचूरियन' की चाल की गति पेटन से कम है और उसकी तोप भी पेटन की तोप से छोटी है। किन्तु उस सैनिक विशेषज्ञ का कहना है कि सैंचूरियन की तोप के गोले पेटन के कवच के सबसे मोटे भाग को भी बेध देते थे। तोप और मशीनगन चलाने के लिए उनके गोले और कारतूस टैंक के भीतर निर्धारित स्थान पर रखे जाते हैं। इतने पेटन टैंकों के जलने का कारण उस संवाददाता ने यह बतलाया कि पेटन में गोले-कारतूस आदि ऐसे स्थान में रखे जाते हैं जहाँ वे शत्रु के गोले से सहज ही आग पकड़ कर विस्फोट करने कगते हैं। इसी कारण उसमें इतने शीघ्र आग लग जाती है। उसने यह भी कहा है कि पेटन टैंक से आरंभिक गोला फेंकने में सैंचूरियन की अपेक्षा अधिक समय लगता है क्योंकि उसमें निशाना साधने की प्रक्रिया जटिल है और वह अधिक समय लेती है। उसकी सम्मति का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि पेटन का कवच बहुत काफी मोटा है किन्तु वह इतना मजबूत नहीं है कि 'सैंचूरियन' की अपेक्षाकृत हलकी तोप उसे न बेध सके। निश्चय ही अमरीकन सैनिक अधिकारी पेटन टैंक की अप्रत्याशित असफलता से चिन्तित होंगे और वे इसके कारणों का पता लगाने का सुव्यवस्थित प्रयत्न कर रहे होंगे। किन्तु जब तक इस विषय पर अमरीका में कोई सार्वजनिक वाद-विवाद नहीं छिड़ता तब तक न तो यह मालूम होगा कि वे इस असफलता का कारण क्या समझते हैं और न यह पता लगेगा कि उन्होंने उसके दोषों को दूर करने का क्या उपाय किया है। भारत ने पाकिस्तान से इतने पेटन टैंक छीन लिये हैं कि उनसे कई स्क्वाड्रन बन सकते हैं। देखना है कि हमारे सैनिक उनका कैसा उपयोग करते हैं।

ताशकन्द का भूत

गत वर्ष का भारत-पाकिस्तान युद्ध ताशकन्द समझौते से समाप्त हुआ। यह समझौता एक उच्च भावना पर आधारित था। अंग्रेजी में लोग इसे "ताशकन्द स्पिरिट" (Tashkand Spirit) कहने लगे। अंग्रेजी में 'स्पिरिट' शब्द के कई अर्थ हैं, जैसे, भावना, शराब और भूत। यह सही है कि कभी-कभी उत्कट भावना नशे (शराब) का काम करती है। भारत पर ताशकन्द 'स्पिरिट' का यही प्रभाव पड़ा। उसने पाकिस्तान के प्रति इकतर्फा उदारता दिखलानी आरम्भ कर दी। किन्तु पाकिस्तान ने ताशकन्द समझौता उसकी भावना से प्रेरित होकर नहीं, प्रत्युत भारतीय सेना द्वारा अपनी भूमि को खाली कराने के उद्देश्य से स्वीकार किया था। लाहौर, सियालकोट और हाजीपीर के क्षेत्रों से भारतीय सेना के हटते ही पाकिस्तान फिर अपने पुराने रवैये पर चलने लगा। उसने ताशकन्द समझौते की भावना दफ़ना दी। मृत भावना अब 'भूत' हो गयी है। शायद अपने यहाँ जो समझौता हुआ था उसकी अकाल मृत्यु देखकर ही ताशकन्द की भूमि दहल गयी है और इसीलिए वहाँ पिछले कई महीनों से बराबर भूकम्प आ रहे हैं।

खेद है कि इस बीच भारत ने पाकिस्तान से अच्छे सम्बन्ध बनाने के लिए जो भी प्रयत्न किये प्रायः उन सब को पाकिस्तान ने ठुकरा दिया। उक्त समझौते के अनुसार दोनों देशों के बीच के अनेक छोटे-बड़े झगड़ों को सुलझाने के लिए अधिकारियों और मन्त्रियों के संयुक्त सम्मेलन होने को थे। भारत ने उन्हें बुलाने के प्रस्ताव किये, किन्तु पाकिस्तान सहमत नहीं हुआ। अब वह स्पष्ट रूप से कहने लगा है कि जब

तक कश्मीर की समस्या नहीं सुलझायी जाती तब तक भारत-पाक वार्ता व्यर्थ है। अर्थात् वह कश्मीर की समस्या पर (जिसे सेना की शक्ति से हल करने में वह असफल रहा) अपनी शक्ति केन्द्रित कर रहा है। वह यह जानता है कि भारत कश्मीर को अपना अविभाज्य अंग मानता है, फिर भी वह गढ़े मुर्दे उखाड़ने पर उतारू है। ताशकन्द भावना का गला तो पाकिस्तान ने उसके पैदा होते ही मरोड़ दिया। किन्तु आश्चर्य है कि हमारे देश के कितने ही नेता तथा स्वप्नदर्शी तथाकथित विचारक अब भी 'ताशकन्द भावना' की माला जपते जा रहे हैं, और समय-असमय उसकी दुहाई दिया करते हैं। देश को चाहिए कि वह यह भली-भाँति समझ ले कि देश की रक्षा स्वप्नदर्शियों के पिलपिले दिमागों के भावुक एवं काल्पनिक आदर्शों और अभिलाषाओं से नहीं हो सकती। वह कठोर यथार्थ और कटु वास्तविकता को ठीक तरह से समझकर उसके अनुसार प्रबन्ध करने ही से हो सकती है। 'ताशकन्द भावना' की बकवास बन्द होनी चाहिए। वह भावना मर गयी। अब तो उसका 'प्रेत' या 'भूत' मात्र रह गया है। वह कुछ लोगों को 'लग' गया है। जनता ही ओझा बनकर उनके इस भूत को उतार सकती है।

पाकिस्तान की सैनिक तैयारियाँ—भारत-पाकिस्तान-युद्ध में पाकिस्तान के सैनिक सामान की काफी क्षति हुई थी। उसके सैनिक तो अपेक्षाकृत कम हताहत हुए किन्तु उसका टैंक-डिवीजन बुरी तरह से नष्ट-भ्रष्ट हो गया था और उसकी वायुसेना की काफी हानि हुई थी। इस युद्ध तक उसे सभी सैनिक सामान प्रचुर मात्रा में अमरीका से मुफ्त (सहायता के रूप में) मिला करता था। किन्तु युद्ध आरम्भ होते ही अमरीका ने लड़नेवाले देशों को सैनिक सामान देना बन्द कर दिया। बहुत से क्षतिग्रस्त टैंक और लड़ाकू विमानों की मरम्मत करने के लिए पुर्जों की आवश्यकता थी। अमरीका ने उन्हें भी देने से इंकार कर दिया। किन्तु पाकिस्तान की वैदेशिक नीति अधिक सफल रही। उसके गाढ़े समय में उसके मित्र चीन, सऊदी अरब, तुर्की और ईरान उसकी सहायता को आगे आये। सऊदी अरब अपना सैनिक सामान प्रायः अमरीका ही से खरीदता है किन्तु उसके पास वह प्रचुर मात्रा में नहीं है। उसने कई करोड़ डालरों की विदेशी मुद्रा पाकिस्तान को दी जिससे वह सैनिक सामान खरीद सके। तुर्की और ईरान को वर्षों से पाकिस्तान ही की तरह अमरीका से सैनिक सामान प्रचुर मात्रा में मुफ्त मिलता रहा है। अमरीकन टैंकों और विमानों से जो गोले, बम या प्रक्षेप (रॉकेट) फेंके जाते हैं, वे सब अमरीका के बने होते हैं। पाकिस्तान ने युद्ध में उनका अंधाधुंध उपयोग किया और उसके पास उनकी कमी हो गयी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पाकिस्तान को अपने मित्रों से ये गोला आदि तथा पुर्जे मिल गये हैं, और उसने अपने क्षतिग्रस्त टैंकों और विमानों की मरम्मत कर ली है।

पाकिस्तान ने उस युद्ध में देखा कि भारत से लड़ने के लिए उसके पास सेना कम है। युद्ध में उसके टैंकों की बड़ी क्षति हुई। उसकी वायुसेना दक्षता में भारतीय वायुसेना से उन्नीस निकली। अतएव अब पाकिस्तान अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने और उसे शक्तिशाली बनाने में जुट गया है। इसमें उसे चीन से विशेष सहायता मिल रही है। चीन ने उसे बहुत से मिग लड़ाकू वायुयान तथा कई सौ टैंक दिये हैं। तुर्की और ईरान से उसे जो सैनिक सामान मिला है उसका विवरण गुप्त होने के कारण नहीं मालूम हो सका। किन्तु ईरान से उसे ९० सेबर जेट लड़ाकू विमानों के मिलने की बात खुल गयी। इन समाचारों से भारत में चिन्ता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अतएव श्री कामथ ने यह प्रश्न संसद में उठाया। इसके उत्तर में सुरक्षामन्त्री श्री यशवन्तराय चव्हाण ने जो वक्तव्य दिया वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसमें उन्होंने बत-लाया कि :

(१) पाकिस्तान ने अपने उस सैनिक सामान की प्राय: क्षतिपूर्ति कर ली है जो पिछले युद्ध में नष्ट हो गया था।

(२) पाकिस्तान की सेना में पाँच डिवीजन थे। वह उनकी संख्या बढ़ाकर ग्यारह डिवीजन सेना तैयार कर रहा है। अर्थात् इस योजना की समाप्ति पर उसकी सेना का आकार दुगुना हो जायगा।

(३) पाकिस्तान को चीन से २०० से अधिक टैंक मिले हैं जिनसे उसकी टैंक सेना की शक्ति फिर बढ़ गयी है।

(४) पाक अधिकृत कश्मीर में उसने जो 'आजाद कश्मीर सेना' बना रखी है उसकी संख्या बढ़ा दी गयी है और उसमें तीस हजार से अधिक सैनिक कर दिये गये हैं।

(५) नये भर्ती किये गये सैनिकों को तेजी से प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

(६) नये डिवीजनों को शस्त्रों से सज्जित करने के लिए चीन से सामान मिल रहा है। चीन ने कम से कम दो नये डिवीजनों को अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित करने का वचन दिया है।

(७) चीन तथा कुछ अन्य देशों ने पाकिस्तान को प्रचुर विदेशी मुद्रा दी है। इससे पाकिस्तान ने विदेशों से प्रचुर मात्रा में अस्त्र-शस्त्र और गोला-बारूद खरीदा है।

(८) युद्ध में पाकिस्तानी वायुसेना के जो लड़ाकू विमान नष्ट हो गये थे, उनकी पूर्ति नये विमानों से कर ली गयी है। यही नहीं, उसने अपनी वायुसेना को बढ़ा भी लिया था। १९६५ में उसके पास लड़ाकू और बमवर्षक विमानों के जितने स्क्वाड्रन थे, उससे पाँच अधिक स्क्वाड्रन उसके पास हो गये हैं। इसमें उसे चीन से बहुत सहायता मिली है। चीन ने उसे मिग १९ और मिग १५ के बहुत से लड़ाकू विमान दिये हैं। इनके अतिरिक्त यह भी सुना गया है कि उसने पाकिस्तान को कुछ इल्यूशियन-२८ बमवर्षक विमान भी दिये हैं। उसे एफ ८६ (सेबर जेट) लड़ाकू विमान भी मिले हैं जो पश्चिमी जर्मनी में थे और पता लगा है कि वे ईरान होकर पाकिस्तान पहुँचे हैं।

(९) पाकिस्तान सुरक्षा के लिए जगह-जगह मजबूत पक्के मोर्चे तैयार कर रहा है तथा (सैनिक दृष्टि से) नये यातायात के मार्गों को बना रहा है।

(१०) पाकिस्तान कश्मीर में स्कर्दू (लद्दाख के पश्चिम में) में नई सड़कें और पुल आदि बना रहा है तथा उस क्षेत्र में उसने अपनी सेना का जमाव कर रखा है।

(११) पाकिस्तान ने अपनी जलसेना को बढ़ाने की भी योजना बनायी है, किन्तु उस योजना के पूरे होने में लम्बा समय लगेगा।

(१२) पाकिस्तानी सेना के पास अधिकांश अस्त्र-शस्त्र अमरीका के दिये हुए हैं। १९६५ के युद्ध के बाद अमरीका ने इनके पुर्जे और इनमें लगनेवाला गोला-बारूद देना बन्द कर दिया था। इसलिए पाकिस्तान उनका ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकता था। किन्तु पाकिस्तान ने ये पुर्जे और गोला-बारूद कुछ उन देशों से प्राप्त कर लिये हैं जिन्हें अमरीका यह सामान देता है और जो उसके मित्र और सहायक हैं।

यह सूचना देने के बाद सुरक्षा मंत्री ने कहा—"भारत को चीन से खतरा है, किन्तु पाकिस्तान को किसी से कोई खतरा नहीं है। हमने पाकिस्तान को बार-बार आश्वासन दिया है कि हम उससे नहीं लड़ेंगे। फिर भी पाकिस्तान बड़ी तेजी से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा है। इसमें चीन उसकी बहुत सहायता कर

रहा है। चीन उसके सैनिकों को प्रशिक्षण दे रहा है, उसकी सेना को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर रहा है और उसकी सड़कें और संचार के साधन बना रहा है। पाकिस्तान की इस कार्रवाई से हमारी सुरक्षा को बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया है।

"यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि ताशकन्द समझौते के बावजूद पाकिस्तान, चीन के बहकावे और सहायता से, युद्ध की यह तैयारियाँ कर रहा है। हमारे देश के लिए यह खतरा बहुत दिनों तक बना रहेगा। इसलिए हम अपनी सुरक्षा के प्रयत्नों में ढील नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है कि पाकिस्तान की इन तैयारियों से हम पर जो बोझ पड़ेगा, उसे उठाने में देश अपने कर्तव्य का पालन करेगा, और देश की सुरक्षा के लिए जो खतरा उत्पन्न हो रहा है उसका सामना धैर्यपूर्वक दृढ़ता से करेगा। खेद है कि पाकिस्तान इतने बड़े पैमाने पर सैनिक तैयारियाँ कर रहा है। इसमें उसकी आय का बहुत अधिक अंश लग जाता होगा। हम दोनों देशों के सामने अपने देशवासियों की आर्थिक स्थिति सुधारने की बहुत बड़ी समस्या है। इसीके लिए हमें बहुत-से धन की आवश्यकता है।·········पाकिस्तान की सीमाओं पर कोई शत्रु नहीं है उसकी सुरक्षा को कोई भय नहीं है। फिर भी वह अपनी सेना की इतनी वृद्धि कर रहा है। इससे हमारे सामने इसे छोड़कर और कोई विकल्प नहीं रह गया कि हम भी अपनी सुरक्षा के लिए उपयुक्त कार्रवाई करें। शायद चीन को यह सुविधाजनक मालूम हो कि वह भारत पर पाकिस्तानी सेना के द्वारा आक्रमण करे। मैं आशा करता हूँ कि पाकिस्तान की समझ में यह बात आ जायगी कि बल के द्वारा किसी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करना मूर्खता है, क्योंकि यदि हम पर बल प्रयोग किया गया तो हमें उसका उत्तर देना अनिवार्य हो जायगा।·········हम किसी से सैनिक शक्ति बढ़ाने की होड़ नहीं करना चाहते, किन्तु, उसके साथ ही हमें अपने देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्रवाई करनी पड़ेगी और हम उसे कर भी रहे हैं।"

श्री चह्वाण ने बड़े ही संयत और गंभीर शब्दों में स्थिति को स्पष्ट कर किया है। पाकिस्तान के इरादों को समझने के लिए बड़ी कल्पना की आवश्यकता नहीं। "जैसे में तैसा मिले" नीति के अनुसार उसका चीन के साथ गठबंधन उसके अभिप्राय, नीति और कार्यप्रणाली को पुकार-पुकार कर साफ बतला रहा है। चीन "युद्ध की अनिवार्यता" में विश्वास करता है। वह शान्ति, अंतर्राष्ट्रीय समझौतों और सद्भावना के रास्ते को निरर्थक समझता है। वह पाकिस्तान को इतनी भारी सैनिक सहायता न देता यदि उसे विश्वास न होता कि पाकिस्तान भी उसके "युद्ध की अनिवार्यता" के सिद्धान्त से सहमत है। अतएव भारत में जो लोग अब भी 'ताशकन्द समझौते' या 'ताशकन्द भावना' का राग अलापते हैं, वे चीन और पाकिस्तान के संयुक्त खतरे से बचने के प्रयत्नों में बाधक होंगे, क्योंकि वे जनता का ध्यान देश की सुरक्षा के लिए एकान्त प्रयत्न करने से हटाकर उसमें 'समझौते' की मिथ्या आशा उत्पन्न कर उन प्रयत्नों की आवश्यकता में संदेह उत्पन्न कर देंगे। इससे जनता के मनोबल की एकाग्रता नहीं रह पायेगी। देश को चाहिए कि सुरक्षा मंत्री के प्रयत्नों का वह एक स्वर से समर्थन करे, तथा धैर्य और दृढ़ता से देश को शक्तिशाली बनाने का पूरा प्रयत्न करे तथा उसके लिए त्याग और बलिदान करने और कष्ट सहन करने के लिए प्रसन्नतापूर्वक तैयार रहे।

पिछले युद्ध में इछोगिल नहर ने हमारी सेना के आगे बढ़ने में बड़ा अवरोध उत्पन्न किया था। ऐसे समाचार मिले हैं कि पाकिस्तान उसी प्रकार की और नहरें भी बना रहा है। इससे उसके इरादे और भी स्पष्ट हो जाते हैं।

दो संभावनाएँ हैं। एक तो यह कि चीन जिस प्रकार उत्तरी वियतनाम में स्वयं मैदान में न आकर वियतकांग और उत्तरी वियतनाम के लोगों को प्रचुर सैनिक सहायता देकर अमरीकनों से लड़ा रहा है, उसी प्रकार पाकिस्तान को भारत से लड़ा देने का प्रयत्न करे। दूसरी संभावना यह है कि वह पाकिस्तान के आक्रमण करने पर भारतीय सेना के एक बड़े भाग को फँसा रखने के लिए उत्तर में कहीं एक दो जगह (जैसे लद्दाख, सिक्किम, उत्तर-पूर्वी सीमान्त में) छोटे-मोटे आक्रमण कर दे। स्कर्दू में पाकिस्तानी सेना का जमाव महत्त्वपूर्ण लक्षण है, क्योंकि यह स्थान लद्दाख के पश्चिम में है। लद्दाख के काफी पूर्वी भाग को चीन दबाये हुए है। भारत को तंग करने के लिए पूर्व और पश्चिम से दोनों एक साथ लद्दाख पर आक्रमण कर सकते हैं। अन्य कई स्थानों पर भी ऐसी ही संभावना है। अतएव भारत को अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए, और हर प्रकार से अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए। श्री चह्वाण के कथन से स्पष्ट है कि सरकार इस खतरे को समझती है और उसके लिए तैयारी कर रही है। यह संतोष की बात है। उसके प्रयत्नों का हार्दिक समर्थन करना देशवासियों का सर्वोपरि कर्तव्य है।

पाकिस्तान की और हमारी विदेशी नीति

•

सारे संसार में विदेशी नीति का एक मानदण्ड है : उससे देश का अधिक से अधिक हित हो। सिद्धान्ततः हमारी किसी दल में सम्मिलित न होने की नीति ठीक है। शान्तिकाल में जब हमें अपना जीवन-स्तर उठाने के लिए प्रचुर विदेशी सहायता की आवश्यकता है तब यही नीति उचित है क्योंकि 'निर्दलीय राष्ट्र' को सभी दलों से सहायता मिल सकती है। यह सहायता मुख्यतः 'मानवता' की दृष्टि से दी जाती है और धनी देश उसे देने में अपनी प्रतिष्ठा और गौरव समझते हैं। उससे उन्हें सहायता पानेवाले देश ही की नहीं, प्रत्युत सभी देशों की सद्भावना और प्रशंसा मिलती है। मनुष्य में जो सहज मानवता की भावना होती है वह उत्तेजित होती है। हमारा अनुभव भी यही है क्योंकि हमें सभी दलों के धनी देशों ने सहायता दी है। किंतु सहायता मात्र देने से सहायक देश हमारे मित्र नहीं हो गये। सद्भावना एक वस्तु है, और मित्रता बिल्कुल दूसरी। हम भले ही अपने को अजातशत्रु और दूसरे देशों का मित्र समझते रहें, किंतु दूसरे देश हमारे मित्र नहीं हो जाते। मित्रता की कसौटी गोस्वामी तुलसीदासजी ने बतलायी है : "धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी। आपतिकाल परखिए चारी।" जब हम पर संकट आया, जब पाकिस्तान ने हम पर अकारण आक्रमण कर दिया तब इन तथाकथित मित्रों की

असलियत मालूम हुई। खुलकर वचनों से भी हमारा समर्थन करनेवाले राष्ट्र न मिले। केवल सिद्धान्त की मीठी-मीठी बातें करनेवाले कुछ देश अवश्य मिले किंतु 'निर्दल' देश को खुलकर व्यावहारिक सहायता देनेवाला कोई न मिला। सुरक्षा ही राष्ट्र का सबसे मुख्य हित है। यदि हमारे जवानों ने पाकिस्तान के भयंकर अस्त्र-शस्त्रों के विरुद्ध अभूतपूर्व वीरता न दिखायी होती तो हम कहीं के न रहते। 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे' और 'वीरभोग्या वसुंधरा' के प्राचीन वाक्य एक बार फिर सत्य प्रमाणित हुए।

इसके विपरीत पाकिस्तान को चीन, सऊदी अरब, तुर्की और ईरान से खुली सहायता मिली। पाकिस्तान की ज्यादती होने पर भी हमारे तथाकथित मित्रों ने उसके अकारण आक्रमण के लिए उसकी निन्दा तक नहीं की। मानना पड़ेगा कि पाकिस्तान की विदेशी नीति संकट के समय हमारी विदेशी नीति से अधिक सफल रही।

राष्ट्र की रक्षा का मुख्य और अंतिम भार देशवासियों पर ही है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि ईश्वर भी उसकी सहायता नहीं करता जो स्वयं अपनी सहायता नहीं करता। अतएव भारत के प्रत्येक नागरिक को देश की रक्षा में अपना कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक करना चाहिए। किन्तु आज के जटिल संसार में लड़ाई के अस्त्र-शस्त्र और सैनिक सहायता के बिना शायद एक-दो राष्ट्रों को छोड़ कोई भी देश लम्बी लड़ाई नहीं लड़ सकता। पिछले महायुद्ध में यदि इंगलैंड-को अमरीका की प्रचुर सैनिक सहायता न मिलती, और जब नाज़ियों ने रूस के उत्पादक केन्द्रों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था तब रूस को मुरमांस्क और ईरान होकर अमरीका और इगलैंड की प्रचुर सैनिक सहायता न मिलती तो इन शक्तिशाली राष्ट्रों को भी लेने के देने पड़ जाते। अवश्य ही उस सैनिक सहायता का उपयोग उन्होंने अपने अदम्य साहस, देशभक्ति, दृढ़ संकल्प और शत्रु को नष्ट करने तथा विजय प्राप्ति की दुर्दान्त भावना के कारण ठीक तरह से किया, किन्तु सैनिक सामान के अभाव में अकेले ये गुण उन्हें विजय न दिला सके। अतएव लम्बी लड़ाई में आज टैंकों, लड़ाकू विमानों, प्रक्ष्येपों, तोपों, गोला-बारूद; जीपों और ट्रकों के मामले में बहुत कम देश आत्मनिर्भर हो सकते हैं। और यह सामान तभी मिल सकता है जब हम विश्वसनीय मित्र पैदा करें। उसके लिए—उनके भरोसे की मित्रता प्राप्त करने के लिए अवश्य ही हमें कुछ मूल्य देना होगा। शायद अपनी कुछ आदर्शवादी नीतियों का बलिदान भी करना पड़े। किन्तु जैसा कि एक महान् राजनीतिज्ञ ने कहा है कि राजनीति में हमें दो दोषपूर्ण विकल्पों में से एक चुनना पड़ता है। बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ कम दोषपूर्ण विकल्प को चुनता है। जब देश पर संकट के बादल मँडरा रहे हैं तब हमें अपनी विदेशी नीति पर एक बार गंभीरता से पुनर्विचार करना चाहिए। हमारी आज तक की विदेशी नीति ने हमें संकट के समय एकाकी कर दिया। राष्ट्र के सर्वोच्च हित में यह स्थिति बहुत असंतोषजनक है। हमारे पास कोई आज-मूदा नुस्खा नहीं है। यह काम हमारे नेताओं का है। जनता उन्हें पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित भर कर सकती है क्योंकि संकट के समय स्पष्ट हो गया कि हमारी अब तक की विदेशी नीति संकट-काल के लिए राष्ट्र के लिए हितकर प्रमाणित नहीं हुई। हम उससे केवल अपना असन्तोष व्यक्त कर सकते हैं। राष्ट्र के लिए हितकर नयी विदेशी नीति को खोजना और उसका स्थिर करना हमारे प्रमुख नेताओं का काम है। जनता ऐसी नीति का केवल समर्थन कर सकती है।

●

पाकिस्तान की युद्ध की तैयारियाँ

•

भारत सरकार का रक्षामंत्रालय अपनी वार्षिक रिपोर्ट निकालता है। १९६६-६७ की रिपोर्ट हाल ही में हमारे सामने आयी। उसमें पाकिस्तान के सम्बन्ध में लिखा है :

"पाकिस्तान ताशकन्द समझौते के अनुसार इस बात के लिए मुख्य रूप से अधिक चिन्तित जान पड़ता था कि भारतीय फौज को पाकिस्तान में अपने मोर्चों से और पाकिस्तान की तरफ की युद्ध-विराम रेखा से वापस कराया जाय। अपने उद्देश्य के पूरे होने पर उसने समझौते की उन अन्य व्यवस्थाओं की ओर ध्यान देना बन्द कर दिया, जिनमें दोनों देशों के बीच सामान्य सम्बन्ध फिर से कायम करने की बात निहित थी। इसके विपरीत उसने अपनी सशस्त्र शक्ति को तेजी से बढ़ाना आरम्भ किया। वह विभिन्न देशों से, जिनमें चीन भी सम्मिलित हैं, सैनिक सामग्री उपलब्ध कर रहा है। सितम्बर १९६५ में पाकिस्तान की जो सैनिक क्षति हुई थी उसको काफी हद तक पूरा करने के लिए वह प्रयत्न कर रहा है और इसके अतिरिक्त वह अपनी सैनिक शक्ति को और अपनी वायुसेना की लड़ाकू—लड़ाकू बमवर्षक शक्ति को लगभग दुगनी कर रहा है तथा अपनी नौसेना को, और विशेषकर ३ पनडुब्बियों को प्राप्त कर, अधिक सुदृढ़ बनाने की योजनायें बना रहा है। पाक अधिकृत कश्मीर में भी सैनिक शक्ति को लगभग दुगना बढ़ाया गया है।

पाकिस्तान ने जो सैनिक सामग्री उपलब्ध की है उसमें टैंक, दो इनफैंट्री डिवीजनों के लिए उपस्कर, लगभग १२० मिग विमान और आई० एल० २८ बमवर्षकों के दो स्क्वाड्रन सम्मिलित हैं—ये सब चीन से लिये गये हैं। स्पष्ट है कि चीन से सामान की सप्लाई को सुप्रवाही रूप से बनाये रखने के लिए पाकिस्तान सीक्यांग के साथ यातायात व्यवस्था के लिए नई सड़क बना रहा है। पाकिस्तान ने अन्य जगहों से बड़ी संख्या में विमान-भेदी तोपें, गाड़ियाँ और काफी मात्रा में छोटे हथियार, तोपें, गोला-बारूद, जिसमें तोपों के लिए गोला-बारूद शामिल है, टैंक-भेद सुरंगें, टैंक और विमान के पेच-पुर्जे और बहुत किस्म की युद्ध-सामग्री एकत्र की है। उसने बड़ी तेजी से अपनी संचार-व्यवस्था को भी अच्छा बनाया तथा विभिन्न प्रकार की पक्की रक्षा-व्यवस्थायें की हैं। ऐसे संकेत मिले हैं कि पाकिस्तानी फौज का इस प्रकार का गठन जारी रहेगा।"

भारत सरकार पर अतिशयोक्ति का आरोप नहीं लगाया जा सकता। वह इतनी नाप-तोलकर बात कहती है कि कभी-कभी गंभीर स्थिति को भी वह गंभीर कहने में संकोच कर जाती है। इस रिपोर्ट में भी जो बातें कही गयी हैं, ध्रुव सत्य मालूम होती हैं। केवल चीन से ही जो सैनिक सामान उसे मिला है वही पाकिस्तानी स्थल सेना और वायुसेना को शक्तिशाली बनाने के लिए पर्याप्त है। ईरान के माध्यम से जो ७८ अमरीकी विमान उसे प्राप्त हो गये हैं, यदि उन्हें सम्मिलित कर लिया जाय तो १९६५ की अपेक्षा आज उसकी वायुसेना दुगनी हो गयी है। अमरीका ने अपनी नयी नीति के अनुसार उसे उन विमानों, टैंकों आदि की मरम्मत के लिए कल-पुर्जे देना स्वीकार कर लिया है जो उसे अमरीका से १९६५ के पहिले मिले थे। १९६५ के युद्ध में उनमें से बहुत से क्षतिग्रस्त होकर बेकार हो गये थे। इन नये कल-पुर्जों के मिल जाने से वे क्षतिग्रस्त अस्त्र-शस्त्र भी नये हो जायँगे और उनसे पाकिस्तानी सेना की शक्ति बढ़ेगी। इधर अमरीका की सिनेट सुरक्षा समिति में अस्त्र-शस्त्रों के एक अंतर्राष्ट्रीय व्यापारी ने शपथपूर्वक यह रहस्योद्घाटन किया कि वे बहुत से अमरीकी अस्त्र-शस्त्र जो जर्मनी ने खरीदे हैं, ईरान को बेचे जा रहे हैं और ईरान से वे पाकिस्तान पहुँच जायँगे। इनमें मुख्य रूप से अमरीका के बने हुए आधुनिक और शक्तिशाली टैंक हैं। अमरीका किसी देश को अस्त्र-शस्त्र देते या बेचते समय यह शर्त लगा देता है कि खरीदनेवाला देश बिना उसकी सहमति के उन्हें किसी दूसरे देश को हस्तांतरित न करेगा। अमरीका और जर्मनी —दोनों ही ने—अमरीकी सिनेट उपसमिति के सामने दिए गए साक्षी के इस कथन का खंडन किया है। किन्तु यह समझ में नहीं आता कि कोई व्यापारी जब शपथ लेकर बयान देगा तो झूठ क्यों बोलेगा। संभव है कि ईरान और पाकिस्तान ने व्यापारियों से मिलकर कोई ऐसा उपाय निकाला हो कि अमरीका और जर्मनी भी धोखे में आ गये हों। किन्तु इससे यह बात गलत नहीं होती कि पाकिस्तान को ये आधुनिक शक्तिशाली और भयंकर अस्त्र-शस्त्र मिल रहे हैं जिससे उसकी सैनिक शक्ति बड़ी तेजी से बढ़ रही है। पाकिस्तान को सऊदी अरब तथा अन्य देशों से भी करोड़ों की विदेशी मुद्रा सहायता के रूप में मिली है जिनसे वह योरप के अन्य देशों में युद्धसामग्री खरीदने का प्रयत्न कर रहा है। सारांश यह है कि पाकिस्तान ने यह बात भली-भाँति समझ ली है कि १९६५ में जो उसकी सैनिक शक्ति थी वह भारत से निबटने के लिए पर्याप्त नहीं थी, और वह उसे कई गुना बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। इसमें उसे बहुत कुछ सफलता भी मिली है। वह अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में कितना जागरूक है, यह इसी बात से स्पष्ट है कि चीन, सऊदी अरब आदि से अस्त्र-शस्त्र तथा उनके खरीदने के लिए करोड़ों रुपये प्राप्त करने के अतिरिक्त वह अपने बजट का आधे से अधिक धन सेना पर खर्च करता है। पाकिस्तान को किसी पड़ोसी देश से खतरा नहीं है। ईरान उसका परम मित्र है। चीन से उसकी साँठ-गाँठ जग-जाहिर है। अफगानिस्तान नगण्य है। रूस से

कभी कोई खतरा न था। अतएव उसकी यह असाधारण सैनिक तैयारी केवल भारत के विरुद्ध है। उसका एकमात्र सैनिक लक्ष्य भारत है। पाकिस्तानी जनता में भारत-विरोधी भावना फैलाने के लिए उसका प्रचार विभाग तथा रेडियो पूरी शक्ति से प्रयत्न कर रहे हैं।

और भारत इस खतरे का सामना करने के लिए क्या कर रहा है? संसद में इस सम्बन्ध में जो चर्चायें हुई हैं उससे मालूम होता है कि हमारे विधायक इस सम्बन्ध में जागरूक हैं, तथा सरकार भी खतरे को समझती है। किन्तु इसका सामना करने के लिए सरकार क्या कर रही है, यह अस्पष्ट है। वह कहती अवश्य है कि हम जागरूक हैं और पाकिस्तानी आक्रमण का सामना कर सकते हैं, किन्तु जनता यह नहीं जानती कि सरकार क्या कर रही है। यह सही है कि बहुत-सी सैनिक बातों का गुप्त रखना आवश्यक है, और हम भी इसी मत के हैं कि सेना की कुछ बातें गुप्त ही रखनी चाहिये। किन्तु शायद इस देश में 'गोपनीयता' का दायरा अन्य देशों की अपेक्षा बहुत बड़ा है। कितने ही विदेशों के गुप्तचर विभाग इस देश में काम करते हैं और उन्हें बहुत-सी जानकारी मिल जाती है। वे छल-बल या घूस देकर गुप्त बातें भी जान लेते हैं। हमारी सरकार में जो लोग हैं उनकी देशभक्ति में, या भारत को सुदृढ़ बनाने के उनके संकल्प में किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं है और न होना चाहिए; किन्तु जनता को आश्वस्त करने तथा उनका मनोबल ऊँचा रखने के लिए सेना सम्बन्धी गोपनीयता का वृत्त, बिना खतरा लिये, कम किया जा सकता है।

अब देखना चाहिये कि सेना को दृढ़ करने के हमारे प्रयत्न संतोषजनक हैं या नहीं। इसके लिए पहिले तो हमें अपने तात्कालिक विरोधी पाकिस्तान की स्थिति समझ लेनी चाहिये। पाकिस्तान अपना अधिक से अधिक बजट सेना पर खर्च करता है। दूसरे देशों से उसे करोड़ों रुपयों का सैनिक सामान मुफ्त मिल जाता है। उसके मित्र राष्ट्र बाहर से सैनिक सामान खरीदने के लिए उसे करोड़ों रुपयों की विदेशी मुद्रा 'उपहार' या कर्ज में देते हैं। ईरान से उसने अपने सम्बन्ध ऐसे बना लिए हैं कि वह उससे कब और कितने अस्त्र-शस्त्र पा जाय, कहना कठिन है। ईरान का वर्तमान रवैया देखते हुए मालूम यही होता है कि वह पाकिस्तान के संकट के समय उसे चुपचाप अस्त्र-शस्त्र दे देगा। अमरीका से सैनिक संधि के कारण उसे अपार और आधुनिक शस्त्र मिले हैं। भारत-पाकिस्तान युद्ध में इनकी क्षति भी हुई, किन्तु अब भी उसके पास अमरीकन अस्त्र-शस्त्रों की कमी नहीं है। युद्ध में जो टैंक, विमान आदि टुट-फूट गये थे उनकी मरम्मत के लिए उनके कल-पुर्जे मिलने का आश्वासन मिल गया है, और मरम्मत के बाद वे फिर काम देने लगेंगे।

इसके विपरीत, भारत को किसी देश से किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता नहीं मिलती क्योंकि अपनी तटस्थता की नीति के कारण हम किसी के साथ सैनिक संधि करने को तैयार नहीं हैं, हमारे पास विदेशी मुद्रा का भी अभाव है। हमारा कोई ऐसा मित्र भी नहीं कि अस्त्र-शस्त्र खरीदने के लिए करोड़ों की विदेशी मुद्रा हमें कहीं से 'उपहार' के रूप में मिल जाय। हम जो कुछ भी कर सकते हैं वह अपने ही बल पर, अपने ही साधनों से और अपने ही बजट से। चीन के आक्रमण के बाद अमरीका से हमें पर्वतीय युद्ध के लिए कुछ सामान मिलने का वचन मिला था। उसमें से कुछ सामान आ भी गया था, किन्तु जब पाकिस्तान ने हम पर आक्रमण किया तब अमरीका ने दोनों पक्षों को सैनिक सामान देना बन्द कर दिया, और अमरीका से अपेक्षाकृत जो कम सामान मिलनेवाला था वह भी पूरा न मिल सका। रूस ने हमें छः मिग विमान दिये, किन्तु उनके मिलने में भी कई वर्ष लग गये। रूस ने हमें मिग विमान बनाने का

कारखाना बनाने में सहायता देने का वचन दिया, किन्तु उसका काम इतनी मंथर गति से चल रहा है कि पाँच-छः वर्ष बीत जाने पर भी अभी कारखाना पूरी तरह से नहीं लग पाया। इसी रूस ने मिस्र के हार जाने पर कुछ ही दिनों में उसे एक-दो सप्ताह ही में अतुलित सैनिक सामान पहुँचा दिया है। किन्तु हमारी स्थिति भिन्न है। हमारी स्वतन्त्र विदेशनीति तथा सैनिक दलों से अलग रहने के संकल्प के कारण दूसरे शक्तिशाली देश हमें उदारतापूर्वक सैनिक सामान देने से कतराते हैं।

हमारी सरकार की एक और कठिनाई है। हम संसार की यथार्थ स्थिति को देखकर भी उसे अनदेखी करते रहे क्योंकि हमारे ऊपर आदर्शवाद का बड़ा गहरा रंग चढ़ा हुआ है। टागोर का 'मानवतावाद और विश्वबन्धुत्व' तथा महात्माजी की 'अहिंसा' के उच्च आदर्शों ने हमें इस अपूर्ण और नैतिक दृष्टि से अनुन्नत संसार की यथार्थता का सही मूल्यांकन नहीं करने दिया। 'शान्ति' हमारे रक्त में है। हम हजारों वर्षों से "द्यौः शान्तिः आपा शान्तिः ओषधयः शान्तिः" आदि का शान्तिपाठ करते-करते शान्ति में अन्धविश्वास करने लगे हैं। टालस्टाय ने अपने संसार-प्रसिद्ध उपन्यास 'वार एण्ड पीस' में एक पात्र से कहलाया है—Let the blood out of veins and fill them with water then there will be no wars. (नाड़ियों से खून निकालकर उनमें पानी भर दो और तब लड़ाइयाँ न होंगी।) एक दूसरी जगह एक दूसरे पात्र से कहलाया है—Peace is the dream of the wise, but war is the history of man. (बुद्धिमान् शान्ति का स्वप्न देखते हैं किन्तु मनुष्य का इतिहास युद्धों से बना है)। संसार के समझदार और बुद्धिमान् व्यक्ति इस स्वप्न को साकार करना चाहते हैं। लीग आफ नेशन्स, राष्ट्रसंघ उसी प्रयत्न की कड़ियाँ हैं। किन्तु अभी उस स्वप्न के साकार होने में बहुत देर है। जब हम चीन और पाकिस्तान के समान हिंसक पड़ोसियों से घिरे हों तब यथार्थ स्थिति से आँख मूँद लेने से हम केवल विपत्ति को आमंत्रित करेंगे। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद आदर्शवाद के उत्साह में हमने शुतुरमुर्ग की तरह सोचा कि यदि हम किसी को शत्रुभाव से नहीं देखते तो हमें भी कोई शत्रुभाव से न देखेगा। हमने अपनी सेना को उचित महत्त्व नहीं दिया। यह तथ्य गोपनीय नहीं है कि स्वतंत्रता पाने के बाद हमने अपनी सेना घटा दी थी। हमारे उन नेताओं ने, जो सतयुग के ऋषियों के आधुनिक संस्करण थे, देश को यह सलाह तक दे डाली कि हमें अपनी सेना भंग कर देनी चाहिए। और यह नहीं कहा जा सकता कि इन आधुनिक 'ऋषियों' का प्रभाव हमारे शासकों पर एकदम ही नहीं पड़ा। जो लोग केवल शक्ति की भाषा समझते हैं, हमारे आधुनिक बुद्ध उपदेश देकर समझा-बुझाकर और उदारता के बल पर उन अंगुलिमालों का हृदय-परिवर्तन करने का प्रयास कर रहे थे। चाहे पाकिस्तान हो, चाहे चीन हो, चाहे विद्रोही नागा हों, हमने उनसे 'भ्रातृत्व' सम्बन्ध जोड़ना चाहा। यहाँ तक कि चम्बल के डाकुओं का हृदय-परिवर्तन करने का भी प्रयास किया (जहाँ आज भी डाकुओं की समस्या कम नहीं हुई)। नेफा और पाकिस्तान के युद्धों के बाद हमारी सरकार कुछ चेत गयी है और वह सैनिक शक्ति का महत्त्व समझने लगी है। वह अपने सीमित साधनों का उपयोग सेना को सबल बनाने में कर रही है। किन्तु जनता सरकार के दीर्घकालीन आदर्शवाद और शान्ति-सम्बन्धी अंधविश्वास को नहीं भूली और उसके मन में यह शंका बनी रहती है कि सरकार के पुराने आदर्श उसे एकनिष्ठ होकर सेना को ठीक तरह से शक्तिशाली नहीं बनाने देते। वह आज भी बँदरिया की तरह ताशकन्द समझौते रूपी मृत बच्चे को छाती से चिपकाये हुए है।

बजट में हमारे देश का १९६७-६८ का वास्तविक राजस्व २९ अरब ३२ करोड़ २४ लाख रुपये है। इस वर्ष मूल बजट प्रस्तावों में ८३५ करोड़ ४९ लाख रुपये सुरक्षा व्यय के लिए रखे गये थे। जब

पाकिस्तान अपने बजट का ५० प्रतिशत से अधिक सुरक्षा पर व्यय करता है तब हम अपने बजट का प्रायः ३० प्रतिशत ही उस पर व्यय करते हैं। पाकिस्तान को बहुत-सी सैनिक सहायता बाहर से मिलती है। हमें वह नहीं मिलता। अतएव वास्तव में पाकिस्तान अपनी सेना पर बहुत अधिक खर्च करता है। हम अनुपात में उसकी अपेक्षा अपनी सेना पर बहुत कम व्यय करते हैं। तिस पर भी हमारे वित्तमंत्री ने 'किफायत' के नाम पर उस अपेक्षाकृत कम राशि में से छः करोड़ की कटौती कर दी। मजा यह है कि अवमूल्यन के कारण वैसे ही सैनिक सामान के मूल्य बढ़ गये हैं। "सुरक्षा हमारा सर्व प्रथम कर्तव्य है" की घोषणा करनेवाले कहते हैं कि हम उपलब्ध राशि का उपयोग होशियारी से करके कम रुपये से अधिक काम निकालेंगे। यदि वे ऐसा कर सकते हैं तो योजनाओं और प्रशासकीय विभागों में यह चमत्कार क्यों नहीं दिखलाते।

पाकिस्तान, जिसे किसी पड़ोसी से खतरा नहीं है, सिवाय भारत से लड़ने के और किसलिए अपनी सेना को इतना शक्तिशाली बना रहा है ? ताशकन्द समझौता मृत है। भारत ने पाकिस्तान से मित्रतापूर्ण संबंध बनाने के लिए कितने प्रयत्न किये ? किन्तु सब व्यर्थ हुए। वह मित्रता और प्रेम की भाषा समझता ही नहीं, या उसे समझना नहीं चाहता। चीन और पाकिस्तान से घिरे भारत को अपनी सैनिक-शक्ति बढ़ाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है क्योंकि ये देश केवल शक्ति की—तोप, बन्दूक और बमों की—भाषा समझते हैं।

किन्तु दुर्भाग्य यह है कि जब कुछ समझदार ये बातें करते हैं तब उन पर देश में युद्धज्वर (वार हिस्टीरिया) फैलाने का दोष लगाया जाता है। जनता को याद है कि हमें बराबर आश्वासन मिलता रहा कि हमारी सेना तैयार है, किन्तु उसकी वास्तविक त्रुटियाँ नेफा के युद्ध में खुल गयी। पाकिस्तान-युद्ध में हमसे बहुत छोटे पाकिस्तान ने हमें अपनी भूमि में कुछ मीलों से आगे न बढ़ने दिया। हमारे वीर और कुशल सेनापतियों तथा जवानों ने पाकिस्तानी सेना के दाँत कई जगह खट्टे किये, किन्तु वह तब भी इतनी शक्तिशाली थी कि हम उसे अपनी भूमि खेमकरन से न निकाल सके, और उसके लिए हम इतने शक्तिशाली थे कि पहिले हल्ले में हमने उसकी जितनी भूमि पर अधिकार कर लिया था उससे वह हमें पीछे न हटा सकी। किन्तु भारत की सेना को पाकिस्तानी सेना से आकार और शक्ति में कई गुना अधिक होना चाहिए क्योंकि एक तो भारत आकार और जनसंख्या में पाकिस्तान से कई गुना बड़ा है, दूसरे उसकी सीमाएँ विस्तृत और उन पर अमित्रतापूर्ण लोगों की निगाह है। किन्तु जब हम अपने सुरक्षा बजट को देखते हैं तब हमें असन्तोष होता है। उस असन्तोष को व्यक्त करना देश में युद्धज्वर फैलाना नहीं है, किन्तु देश की सुरक्षा की ओर से निश्चिन्त होकर बेखबर हो जाना और भी अधिक खराब है।

अभी तक सेना की तैयारी के संबंध में देश को केवल राजनीतिज्ञों का मत मालूम होता है। अधिकांश राजनीतिज्ञ सैनिक विषयों के विशेषज्ञ नहीं होते। सेना का वास्तविक स्वास्थ्य कैसा है—यह वे ठीक तरह से नहीं बतला सकते। अवश्य ही सेनापति और सेनाविशेषज्ञ खुले ढंग से अपना मत व्यक्त नहीं कर सकते और न उन्हें करना चाहिए; किन्तु जिस प्रकार अमरीका में सिनेट की समिति बन्द कमरे में उनसे प्रश्नोत्तर करके उनका मत जान लेती है, कुछ-कुछ उसी प्रकार की व्यवस्था भारत में होनी चाहिए। संसद के पाँच-छः वरिष्ठ और तपे सदस्य उसमें रहें। वे जनता के प्रतिनिधि हैं। उन्हें सेनापतियों और सैनिक विषयों के विशेषज्ञों का मत जानना चाहिए। तभी वे सैनिक समस्याओं पर विचार करके संतुलित

निर्णय पर पहुँच सकेंगे । अभी तो उन्हें केवल सरकारी प्रवक्ता के कथन और मत पर निर्भर रहकर निर्णय करना पड़ता है ।

देश की सुरक्षा सर्वोपरि है । इसके लिए सबसे प्रमुख साधन सेना है । अतएव प्रत्येक भारतवासी को सेना और सैनिक मामलों में रुचि लेनी चाहिए और इस बात की माँग करनी चाहिए कि हमारी सेना की आवश्यकताओं को सबसे बड़ी प्राथमिकता दी जाय। हमारी विदेश और गृहनीति भी ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारी सेना की शक्ति और कुशलता की वृद्धि हो ।

पूर्वी बंग देश में स्वाधीनता के लिए संग्राम

●

पाकिस्तान विकृत मानसिकता की उपज है और इसलिए उसका स्वरूप भी विकृत है। भारत के मुसलमानों ने धर्म (इसलाम) के नाम पर मुस्लिम-बहुल प्रान्तों को भारत से अलग करके पाकिस्तान बनाया। ये प्रान्त पश्चिम में बलूचिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमान्त, सिंध और पंजाब, तथा पूर्व में पूर्वी बंगाल थे। दोनों के बीच प्रायः एक हजार मील भारतीय क्षेत्र था। संसार में ऐसा एक ही और उदाहरण है—संयुक्त राष्ट्र अमरीका का अलास्का प्रान्त जिसके और राज्य संयुक्त राष्ट्र के बीच पश्चिमी कनाडा की सारी चौड़ाई आ गयी है। पर अलास्का की जनसंख्या विरल है और वहाँ के निवासी अमरीकन ही हैं। कनाडा और संयुक्त राष्ट्र अमरीका के सम्बन्ध इतने मधुर और घनिष्ठ हैं कि दोनों में केवल भिन्न राज्य होने के अतिरिक्त और कोई अंतर नहीं है। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान की स्थिति भिन्न है। बीच में हिन्दू-बहुल भारत है जिसे पाकिस्तान जन्म ही से अपना शत्रु समझता आ रहा है—यद्यपि भारत उससे मित्रता के लिए आवश्यकता से अधिक उत्सुक है।

धर्म एकता का बड़ा शक्तिशाली माध्यम है, किन्तु राष्ट्रीयता और आर्थिक स्वार्थ उससे भी बड़े माध्यम हैं। सारा योरोप ईसाई है, पर एक धर्म के होने के कारण उनके राष्ट्रीय और आर्थिक स्वार्थों के

टकरावों ने उन्हें न मालूम कितनी बार आपस में लड़ने को बाध्य किया है। कुछ लोग समझते हैं कि इस-लाम इस मामले में अनोखा है और वह राष्ट्रीयता और आर्थिक स्वार्थों को दबा सकता है। यह भ्रम अपने ही समय की स्थिति से दूर हो जाता है। मोरक्को, अलजीरिया, लीबिया, ट्रिपली, मिस्र, सूडान, यमन, कुवैत, इराक, सऊदी अरब, जार्डन, सीरिया और लेबनान सुन्नी मुसलमान देश ही नहीं, सब अरब वंश के हैं। इन सबकी संस्कृति ही एक ही नहीं, इनकी भाषा भी एक ही—अरबी—है। पर प्रत्येक में अलग राष्ट्रीयता की भावना है और उनके आर्थिक स्वार्थ भी भिन्न हैं। इसीलिए इनमें आपसी युद्ध होते हैं और इसराइल के आक्रमण के बाद भी वे एक नहीं हो सके। अतएव एक प्रजाति (रेस), एक भाषा और एक धर्म होने के बावजूद राष्ट्रीयता की भावना और भिन्न आर्थिक स्वार्थों के कारण नासिर ऐसा शक्तिशाली नेता भी इन्हें एक न कर सका। अतएव धर्म के नाम पर पाकिस्तान का निर्माण मध्ययुग की मानसिकता का द्योतक था (जब इसलाम की भावना प्रबल थी और) जब राष्ट्रीयता की भावना तथा भिन्न आर्थिक स्वार्थों का उदय नहीं हुआ था। बर्ट्रेण्ड रसल के शब्दों में राष्ट्रीयता आधुनिक युग का धर्म है। एक जगह उन्होंने लिखा है—Devotion to nation is perhaps the most widespread religion of the present age. Like ancient religions it demands its persecutions, its holocausts, its lurid heroic cruelities. Like them it is noble, primitive, brutal and mad. (शायद राष्ट्र के प्रति निष्ठा इस युग का सबसे अधिक प्रचलित धर्म है। प्राचीन धर्मों की तरह यह भी अत्याचार करता है, नर-संहार करता है, इसमें भी भयंकर किन्तु वीरतापूर्ण नृशंसताएँ होती हैं। उन्हीं की तरह यह भी उत्कृष्ट, असभ्य, पाशविक और पागल है) बर्ट्रेण्ड रसल अंतर्राष्ट्रीयता में विश्वास करते थे। वे राष्ट्रीयता के विरोधी थे। किन्तु उन्होंने राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में जो कहा है वह सत्य से बहुत दूर नहीं है। राष्ट्रीयता आज उन्हीं अर्थों में मनुष्य का धर्म हो गया है जिन अर्थों में सामान्य धर्म मध्यकालीन युग में मनुष्य की भावनाओं को प्रभावित और आन्दोलित करता था, तथा उनके सृजनात्मक और संहारात्मक कृत्यों का प्रेरक था। अतएव पाकिस्तान बनानेवालों ने आधुनिक राष्ट्रीय भावना पर जोर न देकर मध्ययुगीन धार्मिक भावना के आधार पर पाकिस्तान को खड़ा किया। यह धर्म की बालू की नींव पर रखा गया था। उस पर बना प्रासाद टिकाऊ नहीं हो सकता था। पूर्वी बंग देश में जो कुछ आज हो रहा है वह पाकिस्तान के आधारभूत सिद्धान्तों के खोखलेपन का परिणाम और प्रमाण है।

पाकिस्तान में कई प्रान्त हैं। भाषा, प्रजाति और संस्कृति की दृष्टि से वे भिन्न हैं। उनकी संस्कृति भी एक नहीं है। किन्तु यदि उनमें एक राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की जा सकती, और उनके आर्थिक हितों को न्यायपूर्ण ढंग से सुरक्षित रखा जा सकता तो कालान्तर में पाकिस्तान के एक राष्ट्र बन जाने की सम्भावना हो सकती थी। किन्तु कुछ कारणों से (जिनका विश्लेषण यहाँ आवश्यक नहीं है) सारी राज-नीतिक शक्ति पंजाब के मुसलमानों के हाथ में आ गयी। सेना में पंजाबी मुसलमान और उनके बाद पठानों का वर्चस्व था, और देश के प्रशासन में मुख्य रूप से पंजाबी मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था। इन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सेना और प्रशासन में अन्य प्रान्तों के लोगों को बहुत कम आने दिया। आज का राज्यतंत्र बड़ा शक्तिशाली है। वह उद्योग, व्यापार, कृषि सभी का नियंत्रण करता है। राज्यतंत्र के हाथ में आ जाने से पंजाबियों ने—इनमें भी कुछ विशिष्ट परिवारों ने—सारे पाकिस्तान का उद्योग और व्यापार हथिया लिया। जानकार लोगों का कहना है कि पाकिस्तान का ८० प्रतिशत व्यापार, उद्योग, बैंकिंग वहाँ के २२ परिवारों के हाथ में केंद्रित है। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति, शीत युद्ध और बड़े राष्ट्रों के घात-प्रति-घात और दाँवपेचों से लाभ उठाकर पाकिस्तान ने अरबों रुपये विदेशों से सहायता के रूप में प्राप्त किये।

इसके अधिकांश भाग का लाभ पंजाबियों के उच्च और मध्यवर्ग को हुआ। यही मध्यवर्ग सेना में भी सर्व शाक्तिवान था। प्रजातंत्र हो जाने से इन शोषकों को अपनी शक्ति से एकाधिपत्य (इजारे) के समाप्त हो जाने का खतरा था। अतएव एक न एक बहाना लेकर उन्होंने पाकिस्तान में सैनिक शासन वर्षों कायम रखा, और आज भी उसे हटाने को तैयार नहीं हैं। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और देश के सभी भागों में शोषित जनता के बढ़ते हुए असंतोष से घबड़ाकर उन्होंने चुनावों का नाटक किया और संविधान बनाने के लिए सभा भी बनाने की घोषणा कर दी, किन्तु यह शर्त लगा दी कि वह तभी मान्य होगा जब मुख्य मार्शल ला प्रशासक (अर्थात् सेना) उसे स्वीकार कर ले। इस शर्त के बावजूद चुनाव हुए और संविधान सभा के सदस्य भी चुन लिये गये।

चुनावों का परिणाम देखकर पाकिस्तान के सत्ताधारी शोषकवर्ग के होश उड़ गये। पाकिस्तान के पूर्वीभाग (पूर्वी बंग) की जनसंख्या पश्चिमी भाग की जनसंख्या से अधिक है। बालिग मताधिकार के कारण पूर्वी बंगाल से कुछ अधिक सदस्य चुने जाने को थे। देश में कई राजनीतिक दल थे, और सत्ताधारी वर्ग सोचता था कि संविधान सभा में किसी दल का बहुमत न होगा, और वे लोग इन दलों को आपस में लड़ा-कर मनमाना संविधान बनवा लेंगे। किन्तु पूर्वी बंगाल में शेख मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग को पूर्वी बंगाल से एक स्थान छोड़कर सब स्थान मिल गये और संविधान सभा में उसका बहुमत हो गया।

अवामी लीग को ऐसा अभूतपूर्व समर्थन क्यों मिला? इसका कारण यह था कि पूर्वी बंगाल का पश्चिमी पाकिस्तानियों (पंजाबी मुसलमानों और पठानों) ने इन २३ वर्षों में बुरी तरह शोषण किया था। वहाँ के शिक्षित लोगों को प्रशासन में बहुत कम स्थान मिलते थे, वहाँ के लोगों को उद्योग-धंधे खोलने का अवसर न देकर वहाँ जो भी उद्योग-धन्धे खुलते थे उन्हें खोलने की अनुमति पंजाबी पूंजीपतियों को दी जाती थी, वहाँके जूट (पटसन) और चाय के निर्यात से पाकिस्तान को बहुत अधिक विदेशी मुद्रा मिलती थी, उसका और अन्य विदेशी सहायता का ८० प्रतिशत पंजाब और पश्चिमी पाकिस्तान के विकास में खर्च होता था। जैसा नंगा शोषण पश्चिमी पाकिस्तानियों ने इन २३ वर्षों में पूर्वी बंगाल का किया वैसा किसी पश्चिमी साम्राज्य ने अपने किसी उपनिवेश का भी नहीं किया। इसके ऊपर पश्चिमी पाकिस्तानी सेना और पश्चिम पाकिस्तानी उच्च प्रशासक वर्ग अपनी अहमन्यता और हृदयहीनता से बंगालियों को पग-पग पर यह अनुभव कराते थे कि वे हीन और शासित वर्ग के हैं तथा पंजाबी शासक और श्रेष्ठ वर्ग के हैं। पूर्वी बंगाल दिनोंदिन दरिद्रता और अभाव के दलदल में धँसता जा रहा था और उसमें भीतर-भीतर पंजाबियों के प्रति असंतोष, रोष और घृणा के भाव बढ़ते जा रहे थे। अवामी लीग ने इस शोषण को समाप्त करने के लिए प्रान्तीय स्वराज्य की छःसूत्री माँग की। उसका कहना था कि सुरक्षा, विदेशी नीति संचालन तथा मुद्रा तो केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहे तथा शेष बातों में—यहाँ तक कि विदेशी व्यापार, उद्योग-धंधों की स्थापना के लाइसेंस देने आदि में उसे पूर्ण स्वतंत्रता हो। वास्तव में यह माँग आर्थिक स्वराज्य की थी जिसको मानने से पंजाबी मुसलमानों को पूर्वी बंगाल का शोषण करके मोटे होने का अवसर न रह जाता। वे भला इन माँगों को क्यों मानते? राष्ट्रपति याहिया खाँ उसी शोषक वर्ग के प्रतिनिधि ही नहीं उसके मुखिया हैं और उसी के बल पर अपनी आज की जगह पर पहुँचे हैं। अतएव वे ऊपर से तो मीठी-मीठी बातें करते रहे, और ढाका पहुँचकर उन्होंने शेख से समझौते की बातचीत करने का नाटक भी रचा, किन्तु भीतर-भीतर वे पूर्वी बंगाल को कुचलने के लिए सेना की तैयारी और व्यूह-रचना करते रहे। कहा जाता है कि पाकिस्तानी सैनिक अधिकारियों ने उनसे कहा था कि वे पूर्वी बंगाल के लोगों को ४८ घंटे से ७२ घंटों के भीतर कुचल देंगे और उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर देंगे। जब यह सब तैयारी पूरी हो

गयी तब यहिया खाँ धीरे से वहाँ से खिसक गये, और पाकिस्तानी सेना ने ऐसा नृशंस दमन आरंभ किया जिसका उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है। यह देखकर शेख ने बंग देश की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। पूर्वी बंग की स्वाधीनता का संग्राम आरंभ हो गया। एक ओर बंगाल की निहत्थी जनता थी, और दूसरी ओर रूस, अमरीका और चीन से प्राप्त आधुनिकतम हथियारों से लैस बर्बर और नृशंस युद्ध में दक्ष पाकिस्तानी सेना थी। वह जानती थी कि वह कैसे अमानवीय अत्याचार करने जा रही है। इसलिए उसने पूर्व बंगाल स्थित सभी विदेशी पत्रकारों को पकड़कर तुरन्त निकाल दिया और यह समझ कर कि उसकी बर्बरता का हाल संसार को न मालूम होगा, उसने निरीह जनता का कत्लेआम आरम्भ कर दिया। उसके मुख्य लक्ष्य पूर्व बंग के शिक्षित वर्ग थे क्योंकि वे ही देश का नेतृत्व कर सकते हैं। असंख्य प्रोफेसर, विद्यार्थी, बुद्धिजीवी मारे गये और इस कत्ले आम में उनकी स्त्रियों और बच्चों को भी नहीं बख्शा गया। किन्तु सारा पूर्वी बंगाल विद्रोह में उठ खड़ा हुआ, और पाकिस्तान के सब प्रबंध के बावजूद संसार के कोने-कोने में उसकी बर्बरता, नृशंसता और अत्याचारों का थोड़ा-बहुत हाल प्रचारित हो गया। बर्बरता और हत्या का यह नृशंस ताण्डव अब भी जारी है। संसार इन समाचारों को सुनकर स्तब्ध रह गया है। बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में उस जनता पर जिसे देश का नागरिक कहते हैं, उसने जो अत्याचार किये हैं उनकी इस युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

बंगबन्धु शेख मुजीबुर्रहमान

•

पूर्वी बंगाल के जन आंदोलन के नेता शेख मुजीबुर्रहमान हैं। इनका जन्म फरीदपुर ज़िले के एक मध्यम श्रेणी के परिवार में २२ मार्च १९२२ को हुआ था। प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा अपने जिले ही में लेने के बाद वे उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ते गये और वहाँ इस्लामिया कालिज में भर्ती हुए। विद्यार्थी जीवन ही से वे राजनीति में पड़ गये और वे तत्कालीन शिक्षित मध्यवर्गीय अन्य मुसलमानों के समान मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गये। पूर्व बंगाल में अधिकतर जमींदार हिन्दू थे और वहाँ के किसान प्रायः मुसलमान थे। उन दिनों सभी जगह जमींदारों के विरुद्ध आन्दोलन हो रहा था, किन्तु पूर्व बंगाल में औसत जमींदार के हिन्दू और औसत किसान के मुसलमान होने के कारण उस आन्दोलन ने वहाँ साम्प्रदायिक रूप ले लिया। श्री जिन्ना की मुसलमानों के लिए पाकिस्तान की माँग ने इस आन्दोलन के नेताओं को पाकिस्तान की माँग का प्रबल समर्थक बना दिया। तब तक शेख पूर्व बंगाल के प्रमुख मुस्लिम नेताओं में गिने जाने लगे थे। उन्होंने पाकिस्तान के लिए बड़ा आन्दोलन किया। जब सिलहट जिले में इस बात के लिए जनमत लिया जाने लगा कि वह जिला भारत में रहे या पाकिस्तान में, तब शेख ने वहाँ पाकिस्तान के पक्ष में मत संग्रह करने के लिए बड़ा प्रयत्न और आन्दोलन किया। पाकिस्तान बनने के बाद उन्होंने कानून का अध्ययन आरंभ किया, किन्तु कुछ ही दिनों में पाकिस्तान के शासकों की गतिविधि से वे चौकन्ने हो गये। सबसे पहिली जिस बात ने उन्हें धक्का पहुँचाया वह पश्चिमी पाकिस्तान

का उर्दू को पूर्वी बंगाल पर थोपने का प्रयत्न था। उर्दू को वहाँ की प्रथम भाषा बनाकर बँगला को निम्न स्थान देकर उसके महत्त्व को नष्ट करने की योजना बंगाली मुसलमानों के गले नहीं उतरी। बँगला को पूर्वी बंगाल की राजभाषा बनाये रखने के लिए आन्दोलन आरंभ हुआ और पश्चिमी पाकिस्तान के सत्ताधारियों ने दमन द्वारा उसे दबाना चाहा। शेख इस आन्दोलन के प्रमुख नेताओं में थे। वे कई बार पकड़े गये और उन्हें कई बार जेल हुई। इसी बीच बंगाली मुसलमान नेता सुहरावर्दी ने अवामी लीग की स्थापना की और शेख उसके मंत्री बनाये गये। तब से वे उसके प्रमुख नेताओं में हैं, और बाद में तो वे उसके अध्यक्ष हो गये। अन्त में बँगला के मामले में पाकिस्तान को दबना पड़ा, और बँगला को पाकिस्तान की सह राजभाषा मानना पड़ा। पूर्वी बंगाल में वह राजभाषा हुई। किन्तु उसी समय से क्षेत्रीय स्वायत्त शासन की माँग आरम्भ हो गयी। इस बीच शेख अवामी लीग के सर्वमान्य नेता हो गये और जब पाकिस्तान में सैनिक शासन हुआ तो वे डेढ़ वर्ष नजरबन्द रखे गये। बाद में उन पर कई मुकदमे चलाये गये। पर वे छूट गये। जब पाकिस्तान में जनरल अयूब और कुमारी जिन्ना में राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव-संघर्ष हुआ तो शेख और उनके दल ने कुमारी जिन्ना का समर्थन किया। इस बीच पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा पूर्वी बंगाल के भीषण शोषण का चित्र स्पष्ट रूप से सामने आ गया और शेख ने अपनी छः प्रसिद्ध माँगों को रखना आरंभ किया। शासक भला इसे कब सहन कर सकते थे? पहिले तो १९६६ में वे पाकिस्तान सुरक्षा-कानून के अनुसार बन्द कर दिये गये, और फिर उन पर वह मुकदमा चलाया गया, जो अगरतल्ला षड्यंत्र के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें उन पर यह आरोप था कि उन्होंने भारतीय लोगों की सहायता से पूर्वी बंगाल को पाकिस्तान से अलग कर उसे स्वतंत्र देश बनाने का षड्यंत्र किया है। यह बनाया हुआ मुकदमा था, और बहुत दिनों तक घसिटता रहा। अन्त में जब १९६७ में जनरल अयूब ने पाकिस्तान के संविधान की समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए एक गोलमेज कान्फरेंस बुलायी, तब विरोधी नेताओं के आग्रह से यह मुकदमा उठा लिया गया और वे छोड़ दिये गये। अन्त में जब गत वर्ष चुनाव हुए तब शेख के नेतृत्व में आवामी लीग ने शेख के छः सूत्री कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़े और उसे अभूतपूर्व विजय प्राप्त हुई। किन्तु पाकिस्तानी शासक प्रजातंत्र में विश्वास नहीं करते। वे संविधान सभा में बहुमत प्राप्त करनेवाले दल को राजनीतिक मैदान में परास्त न कर सके, किन्तु अब वे पशुबल से उसे प्राप्त करने और पूर्वी बंगाल की जनता को बर्बर दमन द्वारा कुचलने में लगे हैं। पाकिस्तानी सरकार ने दावा किया है कि उन्होंने शेख को पकड़ लिया है और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया जायगा। किन्तु पूर्वी बंगाल के आन्दोलनकारियों का कहना है कि वे भूमिगत हैं। जो भी हो, यह निश्चय है कि शेख इस समय पूर्वी बंगाल के एकमात्र नेता ही नहीं हैं, वे उसकी राजनीतिक अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के प्रतीक हो गये हैं। जेल में हों या स्वतंत्र, जीवित हों या मृत वे पूर्वी बंगाल की स्वाधीनता के अमर प्रेरक हैं और रहेंगे। अपने देशवासियों में लोग उनसे इतना स्नेह करते हैं कि उन्होंने उन्हें 'बंग-बन्धु' की उपाधि दी है और वे इसी स्नेहसिक्त उपाधि से याद किये जाते हैं। अन्य नेताओं की तरह न तो वे धनी हैं और न देशभक्त धनियों के दया-दाक्षिण्य पर जीवित रहते हैं। रोजी-रोटी कमाने के लिए वे एक बीमा कम्पनी में काम करते हैं और अपने पारिवारिक व्यय के लिए किसी पद के आश्रित नहीं हैं। उनका जीवन बहुत सादा और आवश्यकताएँ कम हैं। वे अपनी आय से अधिक जीवन स्तर के न तो आकांक्षी हैं और न उसकी चिन्ता करते हैं। अपने प्रिय 'सोनार बाँङ्ला देश' की सेवा ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

●

पूर्वी बंगाल और भारत

भारत को पूर्वी बंगाल से कम शिकायत नहीं हैं। नोआखाली कांड पूर्वी बंगाल के मुसलमानों का ही कृत्य था। विभाजन के बाद वहाँ दो-ढाई करोड़ हिन्दू रह गये थे। वहाँ के मुसलमानों ने उनका वहाँ रहना इतना नरक कर दिया कि प्रायः ८० लाख हिन्दू वहाँ से भारत भाग आये और जो शेष रह गये थे उनका जीवन भी वहाँ दयनीय था। असम को मुसलिम बहुसंख्यक बनाने के लिए योजनाबद्ध रूप से लाखों मुसलमान चोरी-छिपे असम में घुस आये हैं। कुछ दिन पूर्व पूर्वी बंगाल के एक नेता मौला भासानी ने कहा था कि बिना आसाम के पूर्वी पाकिस्तान अपूर्ण है। वहाँ के औसत मुसलमान का व्यवहार और दृष्टिकोण वहाँ के हिन्दुओं के प्रति ऐसा रहा है जिससे किसी प्रकार की सद्भावना—भारत या हिन्दुओं के प्रति—प्रकट नहीं होती। वहाँ के मुसलमानों ने 'दो-राष्ट्र' के सिद्धान्त का समर्थन किया था, और पाकिस्तान बनाने में उनका पूरा समर्थन और योगदान था। अब यदि उन्हें एक गलत सिद्धान्त को अपनाने के कारण उसके परिणाम भोगने पड रहे हैं, तो उसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं। सामान्यतः हमें पाकिस्तान के इस विवाद में किसी पक्ष के प्रति विशेष रुचि लेने की आवश्यकता नहीं है। 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करी सो तस फल चाखा।' किन्तु फिर भी पूर्वी बंगाल में जो रहा है उसे भौगोलिक और राजनीतिक बन्धनों से ऊपर उठकर देखने की आवश्यकता है, क्योंकि इसमें दो सिद्धान्त निहित हैं। पहिला तो मानवता का दृष्टिकोण है और दूसरा प्रजातन्त्र का। पश्चिमी पाकिस्तान जिस प्रकार वहाँ योजनाबद्ध नर-संहार और

वहाँ के लोगों के मकानों और रोजी-रोटी के साधनों को नष्ट कर रहा है, वह मानवता का प्रश्न है, और मानवता की कराह और दुर्दशा तथा उसका भयानक संहार देखकर कोई भी मनुष्य द्रवित हुए विना नहीं रह सकता। दूसरे यह प्रजातन्त्र का युग है। पूर्वी बंगाल ने पिछले चुनावों में प्रायः सर्वसम्मति से आवामी लीग की छःसूत्री माँगों का समर्थन किया और संविधान सभा में एक को छोड़कर शेष सब प्रतिनिधि उसी के चुने। सारे पाकिस्तान की संविधान सभा में और पूर्वी बंगाल की विधान सभा में उसका बहुमत था। जनता के इस निर्णय को ठुकरा कर पाकिस्तान के सैनिक सत्ताधारियों ने प्रजातन्त्र का निरादर किया है। ये दो प्रमुख कारण हैं जिनसे भारत ही नहीं संसार के सभी मानवता-प्रेमी और प्रजातन्त्र में विश्वास रखने वाले लोगों को पूर्वी बंगाल के वीर स्वतन्त्रता सैनिकों से और वहाँ की पीड़ित जनता से सहानुभूति है। भारत तो उनका निकटतम पड़ोसी है। वह वहाँ होनेवाली नृशंसता का साक्षी है। अतएव यह स्वाभाविक है कि भारतवासियों की सहानुभूति उनके प्रति हो। संसद ने सर्वसम्मति से उनको नैतिक समर्थन देने और उनके प्रति समवेदना व्यक्त करने का प्रस्ताव पारित किया है। वह सारे भारत की आवाज और मत है। इस समय हमें पूर्वी बंगाल के निवासियों के पिछले कृत्यों को भुलाकर मानवता और प्रजातन्त्र के नाम पर उसकी सहायता करनी चाहिए।

किन्तु उस सहायता का क्या रूप हो? पूर्वी बंगाल के चुने हुए प्रतिनिधियों ने स्वयं निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है तथा अपनी स्वतन्त्र सरकार बना ली है। वे चाहते हैं कि दूसरे देश उस सरकार को मान्यता दे दें। किन्तु किसी नये राष्ट्र को मान्यता देने का प्रश्न बड़ा जटिल है। केवल भारत के मान्यता देने से यह प्रश्न हल नहीं हो सकता। जब तक संसार के अधिकांश देश-विशेष कर अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस आदि उसे मान्यता नहीं देते तब तक केवल भारत के मान्यता देने से कुछ परिणाम नहीं निकल सकता। इससे केवल समस्या और उलझ जायगी। भारत का अधिकांश जनमत उसे मान्यता देने के पक्ष में है, किन्तु हमें जल्दी में कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे पूर्वी बंगाल का तो कोई विशेष हित न हो और हम अन्तर्राष्ट्रीय उलझन में पड़ जायें। हमारी सरकार संसार का ध्यान पाकिस्तानी सेना के अत्याचारों की ओर ध्यान दिलाकर उसके विरुद्ध संसार का जनमत तैयार करने का जो काम कर रही है, वह उसकी वास्तविक सेवा है। यह ऐसा मामला है जिसमें पहल उन बड़े राष्ट्रों को करनी चाहिए जिन्होंने पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देकर तथा आधुनिक भयंकर अस्त्रशस्त्र देकर उसे इन भीषण अत्याचारों को करने की सामर्थ्य और दुःसाहस प्रदान किया है। यदि संसार की अंतरात्मा इस नृशंसता और अत्याचार को चुपचाप देखती रहती और कोई प्रतिकार नहीं करती तो अकेला भारत का चना पाकिस्तानी नृशंसता का भाड़ नहीं फोड़ सकता।

●

वाक्शूरों के लिए पर्व

●

इस देश में पश्चिम के अनुकरण पर एक नया वर्ग पैदा हो गया है जो अपने को 'इण्टैलैक्-चुअल' (intellectual) कहता है। वैसे तो मनुष्य में सदैव से 'इण्टैलेक्ट' (बुद्धि) रही है—कुछ अत्यन्त मूर्खों को छोड़कर, और इसलिए सभी मनुष्यों में यह पायी जाती है किन्तु पश्चिम में यह शब्द रूढ़ हो गया है। वह बुद्धि के उन ठेकेदारों के लिए प्रयुक्त होता है जो 'बुद्धिजीवी' हैं—अर्थात् जिनका पेशा 'बुद्धि' पर निर्भर है जैसे लेखक, कवि, आलोचक, विचारक, पत्रकार, सम्पादक, कथाकार। बुद्धि के सहारे कुछ और लोग भी अपनी जीविका चलाते हैं पर न तो वे लिखते हैं, न भाषण देते हैं और न 'बुद्धिजीवी' होने का दावा ही करते हैं। उन्हें ये लोग—तथा समाज भी हेय दृष्टि से देखता है। जो भी हो, हम यहाँ स्वयं घोषित बुद्धिजीवियों की बात कर रहे हैं। इस वर्ग में तरह-तरह के लोग हैं। यदि दो बुद्धिजीवियों के विचार मिल जायें तो उनके बुद्धिजीवी होने में संदेह होने लगता है। उनका आदर्शवाक्य तो "मुरारेस्तृतीयोपन्था" है। इनमें उदारता, हृदय की विशालता, दलित और पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति, मानवता का अतिरेक, क्षमा, करुणा आदि सात्विक गुणों का बाहुल्य होता है। संसार में होनेवाली किसी ऐसी घटना या प्रकरण पर ये बड़ी उदारता से 'रायजनी' करने को तत्पर रहते हैं जिसमें मानवता या नागरिक अधिकारों का हनन हो रहा हो। इनमें अति आशावादी लोगों से लेकर घोर रूखे (सिनिक)

लोग तक मिलते हैं। यह एक ऐसा समुदाय है जो समाज को मार्गदर्शन देने का काम करता है। उनके बिना समाज का जीवन नीरस हो जायगा।

किन्तु ये लोग केवल 'मंत्र' पढ़ते हैं—'बाँबी में हाथ डालने' का काम करने को दूसरों से कहते हैं। इसलिए हमें यह जानकर साश्चर्य प्रसन्नता हुई कि गत मास बंबई में अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, उर्दू और हिन्दी के कुछ 'इण्टैलैक्चुअलों' ने एक सभा की, और गर्मागर्म शब्दों में पूर्वी बङ्ग देश में इस समय पाकिस्तान द्वारा जो बर्बर नृशंसता हो रही है, और वहाँके वीर स्वतन्त्रता प्रेमी जो युद्ध कर रहे हैं उसके प्रति बड़े गर्मागर्म शब्दों में सहानुभूति व्यक्त की और पश्चिमी पाकिस्तान की भर्त्सना की। 'इण्टैलैक्चुअलों' के पास शब्दों का अक्षय कोष है। अतएव उनके व्यय में कोई कृपणता नहीं की गयी। यहाँ तो सब काम रूढ़िवादी ढंग से हुआ। किन्तु एक गर्म खून के 'इण्टैलैक्चुअल' ने यह पटाका दाग दिया कि जब स्पेन में कम्यूनिस्टों और प्रतिक्रियावादियों के बीच गृह युद्ध हुआ था (मतदान में कम्यूनिस्ट जीत गये थे और प्रतिक्रियावादी हार गये थे पर उन्होंने कम्यूनिस्टों को सत्ता देना स्वीकार नहीं किया था) तब संसार के 'इण्टैलैक्चुअलों' ने उनके साथ मौखिक सहानुभूति ही नहीं दिखायी थी, प्रत्युत अपना एक 'इण्टर्नेशनल इण्टैलैक्चुअल ब्रिगेड' भी बनाकर कम्यूनिस्टों की सहायता को लड़ने के लिए भेजा था। उसी पूर्व दृष्टान्त के अनुसार बाँगला देश के स्वतन्त्रता संग्राम में हम भारत के 'इण्टैलैक्चुअलों' को भी ऐसा ही अपना एक 'ब्रिगेड' बनाकर स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाले पूर्वी बंग देश के वीरों के साथ कंधों से कंधे भिड़ाकर लड़ने के लिए भेजना चाहिए। नज़ीर और तर्क अकाट्य थे। प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हो गया।

भारत सरकार इस मामले में तटस्थ और मौन है—यद्यपि उसने संसद के सर्व सम्मत समर्थन से अपनी 'इण्टैलैक्चुअल' सहानुभूति बंग देश के त्रस्त वीरों के प्रति व्यक्त कर दी है। एक लड़ाकू ब्रिगेड बना कर सक्रिय सहायता का वचन देने की पहल करने का श्रेय हमारे इन शूर 'इण्टैलैक्चुअलों' को ही है। अतएव हम उन्हें इस अनहोनी सक्रियता के लिए हार्दिक बधाई देते हैं। हम उन्हें यह भी याद दिला दें कि यद्यपि प्राचीनकाल में भारत के विद्वान और कवि अपने को 'इण्टैलैक्चुअल' नहीं कहते थे तथापि वे उनके समानधर्मा पूर्वज थे, और वे केवल वाक्शूर नहीं थे। यदि हम पुराणकालीन परशुराम, विश्वामित्र, द्रोणाचार्य आदि को छोड़ भी दें (जिनके लिए एक कवि ने कहा था—"सेना नायक वीर सभी ऋषि मुनि थे वन के") तो हिन्दी ही में हमारे सामने चंदबरदायी और भूषण के उदाहरण हैं जो केवल कलम ही के सिपाही नहीं थे, तलवार के भी धनी थे। गालिब ने तो बड़े गर्व से कहा था "सौ पुश्त से पेशा रहा आया सिपहगरी," अतएव हमारे भारतीय 'इण्टैलैक्चुअल्स' के सामने तो अपने ही देश के उदाहरण उन्हें प्रेरित करने को मौजूद हैं। यदि वे इस युग में पश्चिम ही से प्रेरणा लेना चाहें तो उनके सामने बायरन और नवयुवक कवि ब्रुक्स के उदाहरण हैं। अतएव 'शुभस्य शीघ्रम्' ! हम आशा करते हैं कि कम-से-कम बम्बई विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर करने वाले 'इण्टैलेक्चुअल' तो समय नष्ट किये बिना तुरन्त ही 'बाँगला देश' में हर्बे-हथियार से लैस होकर तुरंत पहुँच जायँगे। वहाँ से लौट कर उन्हें यथार्थवादी और खून खौला देने वाली कृतियाँ लिखने का भी अवसर मिलेगा जो उन्हें लाभप्रद ही न होगा, प्रत्युत उनकी कीर्ति बढ़ाने में भी सहायता देगा। कुछ 'इण्टैलेक्चुअल' इतने सुकुमार हैं या गत-यौवन हैं, अशक्य हैं कि उन्हें राइफल उठाने, उसे ले चलने, निशाना साधने और भागने में अवश्य कठिनाई होगी। किन्तु 'ब्रिगेड' बनाने का निर्णय करते समय इन बुद्धिवादियों और 'बुद्धजीवियों' को यह सब मालूम ही होगा और प्रस्ताव पारित करते समय उन्होंने इन कठिनाइयों का सामना करने का दृढ़ संकल्प कर लिया होगा। फिर भी यदि वे वहाँ पहुँच कर अपने को इन कामों के लिए असमर्थ पावें तो काम तो कर ही सकते हैं : घायलों की मरहम-पट्टी और सुश्रूषा,

तथा प्रेरक एवं उत्तेजक साहित्यिक भाषण और काव्य के द्वारा बाँगलावाहिनी के सैनिकों का प्रोत्साहन। यह दूसरा काम भी युद्धस्थल में भारत के कवि अपने आश्रयदाताओं के साथ युद्धों में जाकर किया करते थे। हम बड़ी उत्सुकता से इस "भारतीय इण्टैलेक्चुअल ब्रिगेड" के प्रयाण और उसके यशस्वी कारनामों के समाचारों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ७८ वर्ष की अवस्था में हम उनका शरीर से तो साथ नहीं दे सकते किन्तु हृदय से उनके साथ रहेंगे, और क्या आश्चर्य कि उनकी वीरता की गाथाओं को पढ़ कर हम ऐसे नीरस और अकवि व्यक्ति में भी उनकी प्रशंसा में कविता फूट पड़े। भारतीय 'इंटैलैक्चुअल ब्रिगेड' जिन्दाबाद !

एक बात और उल्लेखनीय है जिसकी ओर बरबस ध्यान जाता है। भारत को पिछले दशक में दो विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। उन अवसरों पर बड़ी-बड़ी लच्छेदार और 'जोशीली' कविताएँ लिखी गयीं। शायद कुछ वक्तव्य भी हमारे बुद्धिजीवियों ने दिये। पर तब कभी भी 'इण्टैलैक्चुअल ब्रिगेड' बना कर देश की रक्षा की बात नहीं कही। हमारे बुद्धिजीवियों का 'मानवता प्रेम' प्रखर है और शायद उनका 'राष्ट्रप्रेम' इतना बुद्धिवादी नहीं है कि वह इन उदार लोगों को देश के लिए शस्त्र उठाने की प्रेरणा दे सके। उनके मानवता-प्रेम ने उनके राष्ट्र प्रेम को दबोच दिया है। मानवता की चीत्कार की सूक्ष्म तरंगें उनके कर्ण कुहरों में पहुँच जाती हैं किन्तु राष्ट्र के चीत्कार की दीर्घ तरंगें उन्हें आन्दोलित नहीं कर पातीं। यही हाल सोशलिस्ट पार्टियों का है। संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के मन्त्री श्री फर्नाण्डेज ने कलकत्ते में कहा है कि सोशलिस्ट पार्टियों ने मिल कर बँगला देश के स्वतन्त्रतासंग्राम के सैनिकों की सहायता में लड़ने के लिए एक सशस्त्र ब्रिगेड बनाने का निश्चय किया है। इस ब्रिगेड में पुराने सैनिक और शस्त्रास्त्रों का प्रयोग जानने वाले लोग भर्ती किये जायँगे और इन स्वयं सेवकों के प्रशिक्षण के लिए बिहार, असम और पश्चिमी बंगाल में प्रशिक्षण केन्द्र खोले जायँगे। चीन और पाकिस्तान के युद्धों में फर्नाण्डेज एण्ड कम्पनी को देश की रक्षा के लिए ऐसे ब्रिगेड को बनाने की बात नहीं सूझी थी किन्तु कुछ लोग घर में दिया न जला कर मसजिद में दिया जलाना आवश्यक समझते हैं, और ये हमारे देश के नेता हैं।

स्थायी शक्ति और युद्धबन्दी अथवा केवल युद्ध विराम

•

बंगलादेश में पाकिस्तानी सेना की पराजय और आत्मसमर्पण के बाद भारत सरकार का तात्कालिक और सीमित लक्ष्य—बँगला देश से पाकिस्तानी सेना को हटा कर वहाँ ऐसा वातावरण उत्पन्न करना जिससे उस पर पड़े हुए एक करोड़ शरणार्थियों का बोझ हट जाए, पूर्ण हो गया। वहाँ अब एक भी पाकिस्तानी सैनिक नहीं रह गया, वहाँ के निवासियों ने अपनी सरकार बना ली है जिसके घोषित सिद्धान्त धर्मनिरपेक्षता, समाजवादी संगठन और प्रजातन्त्र हैं, और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है कि शरणार्थी अपने घरों को लौटने लगे हैं। आशा है कि उनमें से अधिकांश शीघ्र ही लौट जायेंगे। पाकिस्तान ने ३ दिसम्बर को पश्चिमी भारत के सैनिक हवाई अड्डों पर अचानक आक्रमण कर दिया था और बाद में भारत के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर दी थी। पश्चिम में पाकिस्तान के किसी भाग को लेने या उस पर आक्रमण करने की हमारी कभी कोई इच्छा न थी। किन्तु पाकिस्तान ने पूर्वी बंगाल में अपनी आसन्न पराजय को देखकर कश्मीर, पंजाब और राजस्थान के कुछ भागों पर अधिकार करके बंगाल के हाथ से निकल जाने की क्षतिपूर्ति करने के लिए पश्चिम में यह आक्रमण किया। उसकी अधिकांश और अधिक प्रशिक्षित एवं रण-कुशल सेना इसी क्षेत्र में थी। दो मोर्चों पर लड़ने के कारण तथा चीन के उत्तर में संभावित आक्रमण को रोकने के लिए भारत की सेना तीन मोर्चों पर

बँट गयी थी। इस कारण भारत अपनी संपूर्ण या अधिकांश शक्ति पश्चिमी मोर्चे पर नहीं लगा सकता था। फिर भी यहाँ इतनी भारतीय सेना थी कि वह पाकिस्तान के आक्रमण को विफल कर दे। यहाँ जो युद्ध हुआ वह पूर्वी मोर्चे की अपेक्षा अधिक घमासान हुआ और अनेक असुविधाओं के बावजूद हमारी पश्चिमी सेना ने न केवल पाकिस्तानी सेना का आक्रमण विफल कर दिया, उसने पाकिस्तान में कई स्थानों पर घुस जाने, उसकी भूमि पर अधिकार करने और कश्मीर में पाकिस्तान को अनेक सैनिक महत्व की चौकियों के छीनने में सफलता प्राप्त कर ली। पूर्व में युद्ध समाप्त हो गया था और इसीलिए पूर्वी मोर्चे से भारत बहुत सी सेना हटाकर पश्चिम में ला सकता था और तब वह इस स्थिति में हो जाता कि वह पाकिस्तान में बहुत भीतर घुसकर उसके बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर ले। भारत ने पूर्व में पाकिस्तानी वायु सेना को एकदम नष्ट कर दिया था और पश्चिम में दो सप्ताहों में उसकी एक-तिहाई वायु सेना को समाप्त कर दिया था, और यदि लड़ाई कुछ दिनों और चलती तो पश्चिम में भी उसकी वायुसेना की वही दशा हो जाती जो पूर्व में हुई थी। किन्तु बंगाल में अपना लक्ष्य प्राप्त करते ही भारत सरकार ने एकतर्फा युद्ध-विराम की घोषणा कर दी, क्योंकि न तो भारत पाकिस्तान को नष्ट करना चाहता है और न उसके किसी भाग पर अधिकार करना चाहता है। इन चौदह दिनों में हमारी जल, स्थल और वायुसेना ने पश्चिम में पाकिस्तान को धन-जन की इतनी गहरी हानि पहुँचायी थी कि पाकिस्तान के भाग्यविधाताओं ने भारत के एकतर्फा युद्ध-विराम को स्वीकार कर लिया और पश्चिमी मोर्चे पर दोनों पक्षों की सेनाएँ युद्ध-विराम के समय (१६ दिसम्बर को रात के ८ बजे) जहाँ थीं, वहाँ रुक गयीं, और तोपों की गड़गड़ाहट बन्द हो गयी।

भारत ने उस समय जब उसे पूर्व में पूर्ण विजय प्राप्त हो चुकी थी और पश्चिम में उसकी सेना शत्रु के क्षेत्रों में जगह-जगह आगे बढ़ रही थी, एकतर्फा युद्ध-विराम करके अभूतपूर्व राजनीतिक सूझ-बूझ, अपनी शान्तिप्रियता तथा पाकिस्तान के प्रति सद्भावना का परिचय दिया। सैनिक दृष्टि से युद्ध में ऐसी अवस्था में ऐसा करना उचित है या नहीं, यह दूसरी बात है। इस पर हम फिर विचार करेंगे। किन्तु मानवता की दृष्टि से विजय के क्षण में यह कार्य अत्यन्त सराहनीय है। महर्षि जमदग्नि ने अपने क्रोधी और लड़ाकू पुत्र परशुराम से कहा था—**वयं हि ब्राह्मणा तात क्षमया अर्हताम् गताः**

हे तात! क्षमा करने ही से हमें पूज्यता (अर्हणता) प्राप्त हुई है। सात्विक वृत्ति के सभी लोग इसी प्रकृति के होते हैं—वे चाहे जिस वर्ण या जिस देश के हों। अन्तिम मुग़ल सम्राट् कवि जफ़र ने भी कहा था—

'जफ़र' आदमी उसको न जानिएगा
हो वो कैसा ही साहबे-वक्त ज़का
जिसे ऐश में यादे-खुदा न रही,
जिसे तैश में खौफ़े-खुदा न रहा।

अंग्रेजी में भी किसी ने कहा है कि It requires greater virtue and fortitude to suffer good fortune than evil अर्थात् सौभाग्य को सहन करने के लिए दुर्भाग्य सहन करने की अपेक्षा अधिक महत्ता और साहस की आवश्यकता है। अतएव पूर्व में विजयश्री प्राप्त करने और पश्चिम में शत्रु की आक्रमण करने की स्थिति पश्चिम में उसे अपने बचाव करने की स्थिति में रख देने के बाद भारत ने जिस विशालहृदयता का परिचय दिया उसके उदाहरण इतिहास में इक्के-दुक्के ही मिलेंगे।

भारत सरकार को आशा थी कि पाकिस्तान इस कार्य के पीछे उसके प्रति भारत की जो सद्भावना है, उसे समझेगा और वह भी वास्तविकता को देख शुद्ध हृदय से पुरानी बातें भूलकर भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों को सामान्य और मैत्रीपूर्ण बनाने के लिए कदम उठाएगा। किन्तु पाकिस्तान के नये राष्ट्रपति श्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने अपना नया पद सम्हालने पर जो भाषण दिया है उससे भारत की यह आशा क्षीण हो गयी है। इसीलिए यह प्रश्न उठता है कि वास्तव में यह युद्ध समाप्त हो गया है, अथवा यह केवल अल्पकालीन युद्ध-विराम है जो कभी भी भंग हो सकता है?

पाकिस्तान के नेताओं की मनोदशा

•

बंगाल में पराजय और पश्चिम में अपनी आक्रामक कार्रवाइयों में असफल होने से पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहों का सिंहासन हिल ही नहीं गया, वह उलट भी गया। सैनिक तानाशाह राष्ट्रपति जनरल आग़ा मुहम्मद यहिया खाँ ने सारे देश में 'मार्शला ला' (सैनिक कानून) लगा रखा था और सूचना तथा प्रचार के सारे साधनों (समाचार-पत्र, आकाशवाणी आदि) पर इतना कड़ा नियंत्रण कर रखा था कि पाकिस्तान की जनता को बंगाल-स्थित पाकिस्तानी सेना की दुर्दशा का पता ही नहीं लगने दिया। उसे काल्पनिक विजयों के समाचार दे-देकर भ्रमित और वास्तविकता से अपरिचित रखा गया। वह समझ रही थी कि उसकी सेनाएँ विजय पर विजय प्राप्त कर रही हैं। किन्तु सारे बंगाल की पाकिस्तानी सेना की पराजय छिपाना तानाशाहों के लिए भी सम्भव नहीं था। और जब जनरल यहिया खाँ ने जनता को यह कटु समाचार दिया तब वहाँकी जनता पहिले तो अवाक् और स्तब्ध रह गयी, और फिर उसके रोष का ऐसा विस्फोट हुआ कि जनरल यहिया खाँ ने इसीमें अपनी कुशल समझी कि वे जल्दी से जल्दी राष्ट्रपति पद छोड़कर कहीं चले जायँ। जनता का रोष इतना तीव्र था कि उसने उनकी नयी कोठी, जो उन्होंने अपने निवासस्थान पेशावर में बनायी थी, जला दी, और सारे पाकिस्तान में उन पर मुकदमा चलाने की माँग होने लगी। कुछ लोग तो इतने उग्र हो गये कि उन्हें फाँसी पर चढ़ाने की माँग करने लगे। किन्तु चक्र-व्यूह में घुसना तो सहल है, उसमें से निकलना बहुत कठिन है। उसके सामने प्रश्न था कि सत्ता किसे सौंपें?

१३ वर्षों से पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही थी। मुट्ठी भर शक्तिशाली जनरल सारी शक्ति हथियाये हुए थे और इस पराजय के बाद जनता किसी भाव पर किसी जनरल को राष्ट्रपति के पद पर बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थी। पिछले चुनावों में बंगाल की अवामी लीग बहुमत में आयी थी, पर उसके नेता शेख मुजीबुर्रहमान विद्रोही घोषित करके कैदखाने में बन्द कर दिये गये थे और उनकी अवामी लीग गैर-कानूनी घोषित कर दी गयी थी। केन्द्रीय संसद या संविधान सभा में अधिकांश सदस्य पूर्वी बंगाल के थे जिनमें श्री अमीन को छोड़कर शेष सभी अवामी लीग के थे। बंगाल को प्रसन्न करने के लिए एक बार श्री अमीन को प्रधान मन्त्री बना कर सत्ता सौंपने की बात सोची भी गयी, किन्तु इस समय बंगाल में उनका कोई प्रभाव नहीं है। अतएव जनरल यहिया खाँ ने पीपुल्स पार्टी के नेता श्री भुट्टो को राष्ट्रपति और मार्शल ला के प्रधान संचालक के पद पर प्रतिष्ठित करके अपनी जान छुड़ाई।

फ्रांस की प्रसिद्ध क्रान्ति के पहिले वहाँ जिस वंश का शासन था वह बोर्बन वंश कहलाता था। उसमें कई प्रतिभाशाली नरेश हुए थे और चौदहवें लुई के समय में फ्रांस का वैभव बहुत बढ़ गया था। किन्तु उसके बाद फ्रांस की दशा बिगड़ती गयी, और उसके बाद के राजाओं ने उधर ध्यान नहीं दिया। जनता की आकांक्षाओं और उसके दुख-दर्द को वे अनदेखा करते रहे। परिणाम यह हुआ कि वहाँ भयंकर क्रान्ति हुई जिसने बोर्बन वंश के तत्कालीन राजा और रानी के सिर काट दिये। उस महान् क्रान्ति का प्रभाव सारे योरप पर हुआ। नैपोलियन का उदय उसी क्रान्ति के बाद हुआ। उसके पतन के बाद योरप की तत्कालीन शक्तियों ने एक बार फिर बोर्बन वंश के एक व्यक्ति को वहाँ का राजा बनाया। पर वह अपनी अयोग्यता से निकाल दिया गया। इस पर एक इतिहासज्ञ ने कहा था कि बोर्बन लोग न तो कोई बात सीखते हैं और न कोई पुरानी बात भूलते हैं। अर्थात् वे न तो समय के अनुसार चल सकते हैं और न अनुभव से कुछ सीख सकते हैं। पाकिस्तान के नेताओं का भी यही हाल है। वे भी बोर्बनों की तरह अतीत मुस्लिम साम्राज्य और प्रभुत्व के सपने देखा करते हैं। समय की गति को नहीं पहिचानते और उसके अनुसार अपनी नीतियों को बदल नहीं सकते। चौबीस वर्षों में तीन बार भारत पर आक्रमण करके मुँह की खाने पर भी, अपने को कभी अमरीका, कभी चीन, कभी रूस का पिछलग्गू बनाने पर भी, अपने वार्षिक राजस्व का प्रायः ५५ प्रतिशत अनावश्यक सेना रखने पर खर्च करते रहने पर भी जिसके कारण जनता के हित और कल्याण के लिए धन बचने ही नहीं पाता, और अब अन्त में बँगला देश गँवा देने पर भी उन्होंने न तो कुछ सीखा और न अपना भारत के प्रति दुर्भाव बदला। यह इस उपमहाद्वीप का दुर्भाग्य है कि उसमें एक ऐसा देश है जिसके नेता प्रायः २५ वर्ष से 'युद्ध' की रट लगाये हुए हैं और इस प्रकार अपनी और दूसरों की अपार हानि कर रहे हैं। इसका परिणाम भी स्पष्ट है। पाकिस्तान में न तो कोई स्थायी जनतांत्रिक शासन स्थापित हो सका, न वह कोई स्थायी संविधान बना पाया, न अपने देश की जनता को आर्थिक स्थिति ही सुधार पाया और न उन विघटनकारी समस्याओं को ही हल कर पाया। बँगला देश को उसने इतना त्रस्त किया और उसका इतना शोषण किया कि वह अन्त में उससे अलग ही हो गया। पख्तून, बलोचियों और सिंधी मुसलमानों में भी विघटन के तत्त्व सन्तुष्ट नहीं किये जा सके और यदि यही दशा रही तो वे भी बँगला देश का अनुसरण कर सकते हैं। माओ की उक्ति को कि शक्ति का उद्गम बन्दूक की नली है, उसने अपना आदर्श वाक्य बना रखा है, और उसका परिणाम भी उसने बँगला देश में देख लिया। वह यह नहीं समझ पाया कि पाशविक बल से जनता को कुछ दिनों दबाये रखने की अपेक्षा राजनीतिक सूझ-बूझ और दूरदर्शिता से जनता के हित के कार्य करने से उनके हृदयों को जीता जा सकता है। उसने जनता

को 'जिहाद' और 'धर्म' की अफीम खिला-खिलाकर उसकी राजनीतिक चेतना को सुप्त करके उसे अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति के उपायों पर विचार करने से विमुख कर दिया, और विदेशी सैनिक भीख के बल पर उसने अपने पड़ोसी पर चार बार आक्रमण किये। हर बार मुँह की खाने पर भी उसने कुछ नहीं सीखा। यदि अब भी वह कुछ नहीं सीखता और अपनी आत्मघाती नीति नहीं बदलता तो यही कहना पड़ेगा कि 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।'

चौदह दिन का निर्णयात्मक और गौरवशाली युद्ध

•

पाकिस्तान के अचानक भारत पर आक्रमण करने के बाद भारतीय सेना ने चौदह दिनों में जिस कुशलता से और जिस तेजी से युद्ध किया वह भारत के इतिहास का स्वर्णिम अध्याय समझा जायगा। पूर्व में हमारी सेनाओं ने शत्रु को हथियार डाल देने को विवश कर दिया और अपने जनरलों और अन्य उच्च अधिकारियों के साथ बँगला देश में घुसी हुई प्रायः एक लाख पाकिस्तानी सेना को आत्मसमर्पण करना पड़ा, पश्चिम में हमारी सेनाओं ने उसे भारत में बढ़ने से रोक ही नहीं दिया, प्रत्युत उसके अनेक क्षेत्रों पर अधिकार भी कर लिया और उस मोर्चे पर उन्होंने दिखला दिया कि उनमें पाकिस्तान के अवरोध को नष्ट कर दूर तक पाकिस्तान में घुस जाने और उसके बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लेने की क्षमता है। किन्तु चूँकि हम उसके किसी भाग को हड़प नहीं करना चाहते, हमने अपने बल और क्षमता का प्रमाण देकर वहाँ भी एकतर्फा युद्ध बन्द कर दिया। इस युद्ध में हमारी जल-सेना ने पहली बार कार्रवाई की, और उसने दिखा दिया कि वह कितनी कुशल है। उसने शेर की माँद अर्थात् कराची के बन्दरगाह की तोपों की मार के क्षेत्र में घुसकर उसके दो सैनिक पोतों को डूबो दिया और कराची के पाकिस्तानी नौ अड्डे पर भीषण गोलाबारी करके उसे अपार क्षति पहुँचायी। इतना ही नहीं, उसने अरब सागर के बलूचिस्तान किनारे पर स्थित पाकिस्तान के तीन सैनिक बन्दरगाहों पर भी गोलाबारी करके यह दिखा दिया कि पाकिस्तान का कोई बन्दरगाह उसकी मार से नहीं बच सकता। बंगाल की खाड़ी में उसने पाकिस्तान की सबसे बड़ी पनडुब्बी को नष्ट कर दिया और उस समुद्र में अपना ऐसा एकाधिकार कर लिया कि कोई

पाकिस्तानी जहाज बंगाल के किसी बन्दरगाह में नहीं जा सकता था। यही नहीं, उसने अन्य राष्ट्रों के जहाजों को भी बँगला देश में किसी प्रकार का सैनिक सामान नहीं ले जाने दिया। उसने बँगला देश के शत्रु द्वारा अधिकृत सबसे बड़े सैनिक बन्दरगाह चटगाँव को अपनी गोलाबारी से बेकार कर दिया। युद्ध में उसका यह प्रथम पदार्पण था और इसमें उसने अपनी शक्ति तथा रण-कुशलता का जो परिचय दिया उसका सारे देश को गर्व है, और अब देश को उसके महत्त्व का बोध हो गया है। हमारी वायु-सेना ने पिछले भारत-पाकिस्तान युद्ध में अपनी जो साख जमा ली थी, उसे इस युद्ध में उसने बनाये ही नहीं रखा, प्रत्युत उसको और भी बढ़ाया। बँगला देश में उसने शत्रु के सैनिक विमानों को एकदम नष्ट करके उस क्षेत्र के आकाश में एकाधिकार प्राप्त कर लिया और उसके बाद उसने शत्रु के सैनिक ठिकानों को भीषण क्षति पहुँचाने के अतिरिक्त स्थल सेना की भी महत्त्वपूर्ण सहायता की। पश्चिम में उसने शत्रु के भयानक हवाई आक्रमणों को विफल करके अपने अड्डों की क्षति न होने दी, और उनके आक्रमण के चालीस मिनिटों के भीतर ही उसने शत्रु के पश्चिमी मोर्चे के सैनिक ठिकानों पर बम-वर्षा आरम्भ कर दी जिनमें इस्लामाबाद का हवाई अड्डा भी था। चौदह दिनों में उसने पाकिस्तान के पश्चिमी क्षेत्र के एक तिहाई सैनिक विमानों को नष्ट कर दिया, और जब कि पाकिस्तानी विमान केवल रात्रि के अंधकार में ही भारतीय नगरों और हवाई अड्डों पर आक्रमण करने का साहस करते थे, तब हमारी वायु सेना को आक्रमण में इतना प्रभुत्व प्राप्त हो गया था कि वह दिन के उजाले में बराबर पाकिस्तान के दूर-दूर के विभिन्न ठिकानों पर आक्रमण करके उन्हें हानि पहुँचाती रही। इसके अतिरिक्त उसने इस क्षेत्र में स्थलयुद्धों में भी हमारी सेना की बड़ी सहायता की—विशेषकर छम्ब और लोंगवाना के युद्धों में जहाँ उसने शत्रु के कितने ही टैंकों और तोपों को नष्ट कर दिया। इस प्रकार भारतीय सेना ने जो भूमिका निबाही और जो शौर्य, साहस और पराक्रम के काम किये उनसे उनका गौरव और बढ़ गया।

हमारी स्थल सेना ने पूर्व में जो रणकौशल दिखाया और जो व्यूह रचना की उससे हमारे सेनापतियों की प्रौढ़ता, साहस और योग्यता का प्रमाण मिलता है। बारह दिनों में बँगला देश ऐसी रणस्थली में जहाँ पग-पग पर नदी-नाले और दल-दल मिलते हैं, जहाँ सामान्य समय में भी यातायात कठिन है, जहाँ शत्रु ने उसकी गति रोकने के लिए सैकड़ों छोटे-बड़े पुल नष्ट कर दिये थे, उसने शत्रु को आत्मसमर्पण करने को विवश कर दिया। इस युद्ध में पहिली बार सेना ने अपने छतरी-दस्तों का प्रयोग किया और उन्हें शत्रु के निकट सुभीते के स्थानों में कुशलता और सफलतापूर्वक उतार कर कमाल कर दिखाया। इस युद्ध में उसने पहिली बार बड़े पैमाने पर विशाल नदियों को पार करने के लिए हेलिकाप्टरों का भी सफल उपयोग किया। अधिकारियों और जवानों ने समान रूप से साहस, शौर्य और रण-कौशल दिखाया। पश्चिम में छम्ब ने अपने कई डिवीजन और कई सौ टैंक झोंक दिये थे। उसने सीमा पर अपने क्षेत्र में बहुत सी बड़ी-बड़ी स्थायी तोपें लगा रखी थीं जो बीस मील तक मार करती थीं। यहाँ अचानक आक्रमण करके वह पहिले हल्ले में हमारी पाँच-छः मील भूमि में घुस आया, पर हमारी सेना ने उसे मुनव्वर-टवी नदी के पार न होने दिया। शत्रु ने कई बार भीषण आक्रमण किये पर हमारी सेनाएँ नदी के इस पार अंगद के पाँव की तरह अचल रहीं और शत्रु को अखनूर की सड़क के पास भी नहीं फटकने दिया जो उसका लक्ष्य था। यहाँ शत्रु सेना की कमान जनरल टिक्का खाँ के हाथ में थी जो पाकिस्तान के सर्वोत्तम जनरलों में में गिने जाते हैं, किन्तु हमारे जनरल सिरताजसिंह ने उनके सब प्रयासों को विफल करके उनके दाँत खट्टे कर दिये। पश्चिम में दूसरा महत्वपूर्ण और भीषण युद्ध शक्करगढ़ (सियालकोट—जम्बू क्षेत्र) में हुआ। शक्करगढ़ शत्रु के क्षेत्र में है। हमारी सेना वहाँ तक पहुँच गयी। यहाँ पाकिस्तान के ४२ टैंक नष्ट कर

दिये गये। पश्चिम में शत्रु ने अपनी सर्वोत्तम सेनाएँ रख छोड़ी थीं और वे बड़े साहस से लड़े, किन्तु हमारी सेनाओं के सामने उनकी एक न चली। पश्चिम में इतने भीषण युद्ध हुए कि यहाँ दोनों ओर बहुत अधिक सैनिक हताहत हुए। किन्तु यह स्पष्ट था कि हमारी सेनाएँ कड़े विरोध के बावजूद बढ़ ही रही हैं। और यदि भारत युद्ध-विराम न कर देता तो वे पाकिस्तान का बहुत सा क्षेत्र और कई महत्वपूर्ण नगर अपने अधिकार में ले लेतीं। सेना के शौर्य और शानदार कार्य के लिए देश को उस पर गर्व है।

राजनीतिक और मानवता की दृष्टि से युद्ध-विराम करना भारत सरकार के लिए बड़े गौरव का कार्य है और हम स्वयं उसके समर्थक हैं। किन्तु सैनिक दृष्टि से यह कितना उचित और उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें बहुतों को संदेह है। जब युद्ध होता है तो सेना का एकमात्र और चरम उद्देश्य यह होता है कि शत्रु के लड़ने की शक्ति तोड़ दी जाय और उसके मनोबल को इतना गिरा दिया जाय कि वह फिर लड़ने का साहस न करे। हम इसके पूर्व भी कई बार पाकिस्तान के आक्रमण के शिकार हो चुके थे, और प्रत्येक बार हमारा पल्ला युद्ध में भारी होने पर भी हमने राजनीतिक और मानवीयता के कारण युद्ध के निर्णयात्मक होने के पहिले ही युद्ध विराम कर लिया। पाकिस्तान के शासकों की जो मनोवृत्ति है और उनके हृदयों में भारत के प्रति जो विद्वेष है वह उन्हें तब तक भारत से छेड़छाड़ करते रहने की प्रेरणा देता रहेगा जब तक एक बार उसे युद्ध में पूर्णतया परास्त न कर दिया जाय। हमारा उद्देश्य न तो उसका अस्तित्व नष्ट करना है और न उसकी भूमि के किसी भाग को लेने का है। हम तो यह सदा बनी रहनेवाली युद्ध की धमकी को समाप्त करना चाहते हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारत यदि इस दृष्टि से सैनिक तैयारी करे और चाहे तो यह कर सकता है। अवश्य ही राजनीतिज्ञों के सामने बहुत-सी और बातें होती हैं, अन्तर्राष्ट्रीय दबाव होते हैं, युद्ध के अपार व्यय की समस्या होती है, और इनके कारण वे ऐसा करना उचित नहीं समझते। हमें उनके विवेक में विश्वास है और हम उनको इसके लिए दोष भी नहीं देते। किन्तु वर्तमान युग में अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी में उन्हीं देशों की पूछ है जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं। अमरीका, रूस, चीन, फ्रांस और ब्रिटेन इसके उदाहरण हैं। इन सबने अपनी जल, स्थल और वायु-सेना ही नहीं बढ़ायी, आणविक शास्त्र भी तैयार किये। वे सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय समाज में इनकी भयमिश्रित प्रतिष्ठा है। भारत संसार का सबसे बड़ा गणतंत्रात्मक देश है। उसकी नीति शान्ति और सहअस्तित्व की है। फिर भी वह अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उतना प्रभावशाली नहीं है जितने सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्र हैं। क्रान्ति के पूर्व रूस और चीन भी बहुत पिछड़े हुए और कमजोर देश समझे जाते थे। किन्तु क्रान्ति के बाद इन देशों ने सैनिक शक्ति प्राप्त करने पर बल दिया। उसे प्राथमिकता दी। और उसका परिणाम हमारे सामने है। हम वैदिक काल से शान्ति-पाठ करते आ रहे हैं। हमने कभी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया। हम बड़े सात्विक हैं। किन्तु इस तामसिक संसार में सात्विकता की कोई वास्तविक कद्र नहीं। तामसी व्यक्ति केवल शक्ति की भाषा समझते हैं, और हम अपने देश को भविष्य में आक्रमणों से बचाना चाहते और शान्ति तथा निश्चिंतता से रहना चाहते हैं तो बीमा उसका केवल सैनिक बल बढ़ाने से ही हो सकता है। यदि बारह करोड़ जनसंख्या के पाकिस्तान के पास साढ़े चार लाख सेना है तो ५६ करोड़ आबादी के भारत के पास कम से कम उसी अनुपात में सेना होनी चाहिए। भारत ऐसे शान्तिप्रिय देश में यह बात कहना बहुत लोगों को शायद अच्छा न लगेगा, और इस बात का खतरा है कि वे हमारे समान शान्तिप्रिय और अहिंसक व्यक्ति को गलत समझ लें, इतिहास और संसार की वर्तमान स्थिति पर विचार करके हम इस कटु निर्णय पर पहुँचने को विवश हुए हैं, और अपने पाठकों के विचारार्थ बड़ी विनम्रता से हम अपना यह निष्कर्ष रख रहे हैं। ●

युद्ध के बाद की स्थिति और विदेशी सम्बन्धों पर पुनर्विचार की आवश्यकता

•

युद्ध-विराम तो हो गया पर युद्ध की स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक लड़नेवाले देशों में स्थायी संधि नहीं हो जाती और उनकी सेनाएँ अपने-अपने देशों में नहीं लौट आतीं। किन्तु यह तभी हो सकता है जब पाकिस्तान 'जिहाद', 'भारत से बदला लेने' और बंगला देश में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के हवाई घोड़ों से उतरकर वास्तविकता को स्वीकार कर व्यावहारिक उपायों पर विचार करने को तैयार हो। इस युद्ध का पाकिस्तान के लिए यह एक बहुत अच्छा परिणाम हुआ कि यह १३ वर्षों के सैनिक तानाशाहों से मुक्त हो गया और एक असैनिक राजनीतिक नेता उसके राष्ट्रपति हो गये। पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी के नेता श्री जुल्फ़िकार अली भुट्टो इस पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं। अभी भी वहाँ 'मार्शल ला' बना हुआ है और कोई संविधान नहीं है। इसलिए उनके पास स्याह या सफेद करने की अपार और अबाध शक्ति है। दुर्भाग्य से वे कट्टर भारत-विरोधी हैं और पाकिस्तान का चीन से गठबंधन कराने का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने पद सम्हालने के बाद जो भाषण दिया वह बहुत आशाजनक नहीं था। किन्तु उत्तरदायित्व आने पर संभव है कि वे व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाकर भारत से संधि कर लें जिससे उन्हें पाकिस्तान की जटिल आर्थिक,

राजनीतिक और सामाजिक कल्याण की समस्याएं सुलझाने और वहाँकी जनता की दयनीय अवस्था सुधारने का अवसर मिले। किन्तु भारत और पाकिस्तान के विवाद में संसार की दो महान् शक्तियाँ—अमरीका और चीन—पाकिस्तान का पक्ष लेती रही हैं और अब भी वे उसका जा-बेजा समर्थन कर रही हैं। ये दोनों ही शक्तियाँ भारत को कमजोर और निष्प्रभाव करना चाहती हैं। अमरीका की जनता की सहानुभूति भारत से है किन्तु वहाँके राष्ट्रपति श्री निक्सन घोर भारत-विरोधी हैं। इस समय विशेषकर वे चीन को प्रसन्न करने में लगे हैं और चीन का भारत-विरोध जग-जाहिर है। इसलिए यह कहना कठिन है कि ऊँट किस करवट बैठेगा।

जो राष्ट्रसंघ नौ महीने से बँगला देश में नर-संहार को देखता रहा (जिसमें अनुमान है कि दस लाख बंगाली मौत के घाट उतार दिये गये) और जो एक करोड़ शरणार्थियों के भारत में आ जाने से भारत की आर्थिक और सुरक्षा के खतरे की ओर से उदासीन रहा, वह युद्ध में पाकिस्तान के मार खाने से सहसा सक्रिय हो उठा। 'शान्ति स्थापना' के नाम पर उसकी सुरक्षा परिषद् में ऐसा प्रस्ताव रखा गया जिसमें तत्काल युद्ध बंद करके सेनाओं की वापसी की माँग की गयी। किन्तु समस्या के मूल कारण—बँगला देश में पाकिस्तानी अत्याचार और नर-संहार तथा उसकी राजनीतिक आकांक्षाओं—का कोई उपाय नहीं किया गया। इस अव्यावहारिक और पक्षपातपूर्ण प्रस्ताव को रूस ने अपनी 'वीटो' से रद्द कर दिया। तब यह मामला राष्ट्रसंघ की बड़ी सभा (ऐसेम्बली) में उठाया गया और वहाँ भी दूसरे शब्दों में इसी आशय का प्रस्ताव रखा गया जो पाकिस्तान के प्रति पक्षपात का और घोर भारत-विरोधी था। इस समय राष्ट्र-संघ में १३१ सदस्य हैं। उनमें से १०४ ने इस भारत-विरोधी प्रस्ताव का समर्थन किया, केवल ११ देशों ने इसका विरोध किया, दस देशों ने ज्ञापित किया कि वे उदासीन रहेंगे और शेष ६ ने मतदान में भाग नहीं लिया। किंतु महासभा का प्रस्ताव केवल 'सिफारिश' माना जाता है, उसे मानने को कोई देश वाध्य नहीं है। भारत ने इसे अस्वीकार कर दिया। तब फिर सुरक्षा परिषद् में यह मामला लाया गया और इस बार वहाँ एक अधिक संतुलित प्रस्ताव रखा गया जिसमें युद्ध-विराम को स्थायी करने, और जितना शीघ्र व्यावहारिक हो उतने शीघ्र सेनाओं की वापसी, शरणार्थियों की सुरक्षा और प्रतिष्ठा के साथ अपने घरों को लौटने और बँगला देश का राजनीतिक समाधान निकालने की बातें कही गयी थीं। यद्यपि यह प्रस्ताव भी बहुत संतोषजनक नहीं है क्योंकि इसमें सुरक्षा-परिषद् ने बँगला देश की वास्तविकता की ओर से आँख फेर ली है, फिर भी यह बहुत आपत्तिजनक नहीं है। सुरक्षा-परिषद् की मर्यादा रखने के लिए भारत ने इसे स्वीकार कर लिया। किन्तु जब तक पाकिस्तान भारत से संधि नहीं करता तब तक सेनाओं की वापसी व्यावहारिक नहीं है। अतएव यद्यपि युद्ध बंद हो गया है, तथापि देश में युद्ध की स्थिति वनी हुई है, और इस समय देश और उसकी सरकार को बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। महान् शक्तियों के अपने स्वार्थों और इस क्षेत्र में अपने प्रभाव के विस्तार की राजनीति के जाल में यह मामला पड़ गया है। अत-एव यह कहना कठिन है कि इसका कब, कैसे और क्या समाधान होगा।

किन्तु राष्ट्रसंघ की महासभा में इतना बहुमत आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि एक तो अमरीका और चीन के प्रभाव में संसार के बहुत से देश हैं। वे उनके आदेशों और इच्छा का पालन करने को बाध्य हैं। दूसरे, शान्ति और कहीं भी हो रहे युद्ध को बन्द करने का नारा इतना आकर्षक है कि बहुत से देश प्रस्तुत प्रकरण के न्याय पक्ष को न देख कर युद्ध वन्द कराना आवश्यक समझते हैं। तीसरे, अनेक देशों में (जैसे यूगोस्लाविया और इराक आदि में) कुछ भाग ऐसे हैं जो स्वायत्त शासन चाहते हैं और अलग राष्ट्र बनना चाहते हैं। ये देश पाकिस्तान से बंगला देश के अलग हो जाने का समर्थन इसलिए नहीं करते कि

यदि वे राष्ट्रसंघ में उसका समर्थन करें तो अपने देश में विघटन को प्रोत्साहन मिलेगा। फिर भी फ्रान्स और इंग्लैण्ड ऐसे महान् देशों ने मतदान में उदासीनता दिखाकर और किसी ओर मत न देकर, इस भारत विरोधी प्रस्ताव का समर्थन ही किया। किन्तु इस मतदान से प्रत्यक्ष हो गया कि रूस और उसके अनुयायी देशों को छोड़ कर हमें केवल भूटान और मंगोलिया का समर्थन मिला। सबसे अधिक निराशा की बात तो यह है कि भारत को एशियायी देशों से भी समर्थन नहीं मिला। श्रीलंका, इंडोनेशिया, नेपाल, मारिशस, मलेशिया, अफगानिस्तान आदि ने भी हमारा साथ नहीं दिया। या तो वे तटस्थ हो गये या उन्होंने खुलकर हमारे विरुद्ध मत दिया। हमने लगातार आरम्भ से मिस्र और अरब देशों का इसराइल के विरुद्ध खुला समर्थन किया है। दल निरपेक्ष (नॉन ऐलाइन्ड) राष्ट्रों के तीन चौधरी थे—भारत, मिस्र और यूगोस्लाविया। इन दल निरपेक्ष देशों ने हमारे विरुद्ध मत दिया। अफ्रीका-एशिया संगठन के भी देशों ने हमारा साथ नहीं दिया। हमें सबसे अधिक निराशा मिस्र और अरब देशों से हुई। काहिरा में विदेश सचिव श्री कौल ने एक मिस्री उच्च अधिकारी को भारत की यह निराशा स्पष्ट शब्दों में व्यक्त भी कर दी। पिछले नौ महीनों में हमारे सरकारी और गैर सरकारी प्रतिनिधियों ने संसार के अनेक देशों का भ्रमण करके उन्हें स्थिति की वास्तविकता का परिचय कराया। किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। वास्तव में इस प्रकार के तत्कालीन प्रचारों और प्रयासों का परिणाम बहुत कम होता है। प्रत्येक देश अपने हित की दृष्टि से अपना मत और नीति बनाता है। राष्ट्रसंघ के इस मतदान से स्पष्ट हो गया कि सिवाय रूस और उसके अनुयायियों के हमारा कोई वास्तविक मित्र नहीं है। इसकी जड़ में हमारी विदेशी नीति और राजनयिक क्रिया-कलाप की प्रभावहीनता या निष्फलता है। अतएव हमें इस घटना से शिक्षा लेकर अपनी विदेश नीति पर पुनर्विचार करना और अपने राजनयिक तन्त्र को अधिक प्रभावशाली बनाना होगा। हम केवल रूस पर निर्भर रहकर सफल नहीं हो सकते। किन्तु हमारी विदेश-नीति में क्या परिवर्तन होने चाहिए, और हमारे राजनयिक तन्त्र का कैसे पुनर्गठन या सुधार किया जाय, यह विषय इतना जटिल और गम्भीर है कि इस पर सरकार को बड़ी सावधानी और गम्भीरता से तुरन्त विचार करना चाहिए। वही इस पर विचार कर सकती है।

●

पश्चिमी एशिया में सैनिक-शक्ति संचय और उससे खतरा

•

किसी समय रोम (इटली) का साम्राज्य योरोप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह समय रोम का स्वर्णिम युग था। रोम के सम्राट् सीज़र (क़ैसर) कहलाते थे और उनकी बड़ी धाक थी। कालान्तर में वह साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और इटली पराधीन हो गया। बाद में गेरीबाल्डी और मेजिनी के प्रयत्नों से इटली योरोप का एक सामान्य राज्य बन गया। किन्तु वहाँ कुछ दिनों बाद मुसोलिनी का उदय हुआ जो इटली को फिर रोमन साम्राज्य के समान शक्तिशाली और गौरव-पूर्ण बनाना चाहता था। उसने अपनी सैनिक शक्ति बेतरह बढ़ाई। इथोपिया, लीबिया आदि को विजय किया और भूमध्य सागर पर, जो रोमन साम्राज्य के समय 'रोमन झील' कहलाता था, अपना एकाधिकार करना चाहा। उसका जो रक्तरंजित परिणाम हुआ वह सर्वविदित है।

ईरान का साम्राज्य रोमन साम्राज्य से भी पुराना था और एक समय भूमध्य सागर से सिन्ध तक फैला हुआ था। उसकी भी बड़ी शानदार परम्परा थी और सैकड़ों वर्ष वह महान् शक्ति रहा। बाद में सिकन्दर और फिर अरबों ने उसे ध्वस्त कर दिया। वह एशिया के पिछड़े हुए राज्यों में समझा जाता था। रूस और अंग्रेज दोनों ही उसे अपने-अपने प्रभाव में लेना चाहते थे, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने ऐसा

मोड़ लिया कि उस पर कोई शक्ति अधिकार न कर सकी। इस बीच वहाँ मिट्टी के तेल के अनेक अपार भंडार मिले और उनसे उसकी आय बेतहाशा बढ़ गयी। वहाँ का पुराना राजवंश पतनोन्मुख और अप्रगतिशील था। कुछ दिनों पहले वहाँ के एक सुयोग्य सैनिक अधिकारी ने उसे हटाकर अपना नया राजवंश चलाया। ईरान में 'पहलवी' वंश बड़ा विख्यात था। वह सैनिक भी उसी वंश का था। उसका नाम पड़ा शाहंशाह रज़ाशाह पहलवी। वर्तमान ईरान के सम्राट् उसी के पुत्र हैं। इन्हें ईरान के अतीत के गौरव का स्वाभाविक अभिमान है, और ऐसा मालूम पड़ता है कि मुसोलिनी की तरह ही ये भी प्राचीन ईरान के गौरवशाली युग को पुनर्जीवित करने का स्वप्न देख रहे हैं।

ईरान को अरब लोगों ने जीत लिया था, किन्तु ईरानी सभ्यता और संस्कृति इतनी उन्नत थी कि अरबों द्वारा जीते हुए और मुसलमान बनाये गये बहुत से देश भी उससे प्रभावित हुए। उसकी भाषा 'फारसी' अनेक मुस्लिम देशों में राजकाज और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की भाषा हो गयी।

अरबों ने उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के अनेक देश जीते और वे उनमें बस गये। आज मोरक्को, अलजीरिया, लीबिया, मिस्र, लेबनान, जार्डन, सऊदी अरब, यमन, कुवैत, बहरीन, इराक़ में वे (अरब लोग) ही बसे हैं और उनकी भाषा अरबी है। किन्तु तुर्की में तुर्क और ईरान तथा अफ़गानिस्तान में आर्यवंश के मुसलमान हैं। सारे अरब देश में सुन्नी मुसलमान हैं, किन्तु ईरान शिया है। ईरान की पश्चिमी सीमा इराक़ और तुर्की से मिली हुई है। इराक़ के अरबों और ईरान के लोगों में आपस में वैमनस्य है। ईरान को आर्य होने का गर्व है और इसीलिए ईरान के शाहंशाह का एक बिरुद 'आर्यमिहिर' है। संस्कृत और फारसी आर्य भाषाएँ हैं। दोनों मौसेरी बहिनें हैं। संस्कृत के 'अश्व' और फारसी के 'अस्प', संस्कृत के 'सप्त' और फारसी के 'हफ्त' में बड़ा साम्य है। 'मिहिर' के अर्थ संस्कृत और फारसी में 'सूर्य' हैं। ईरान का यह नया सूर्य उदय हुआ है और यह अपना तेज, प्राचीन ईरान की तरह, बढ़ाना चाहता है। ईरान के शाहंशाह ने हाल में एक वक्तव्य में कहा है कि मैं ईरान को स्वेज के पूर्व और जापान के इस ओर सबसे बड़ी सैनिक शक्ति बनाने को कृत संकल्प हूँ। यह कोरी डींग नहीं है। इसे कार्यान्वित करने के लिए उसने ठोस कदम उठाये हैं।

ईरान की सैनिक योजनाओं का वर्णन करने के पूर्व पश्चिम-दक्षिण एशिया के वर्तमान राजनीतिक नक्शे पर एक सरसरी दृष्टि डाल देनी चाहिए। इस समय इन देशों में सीरिया, यमन और इराक़ रूस के प्रभाव में हैं। मिस्र पहले एकदम रूसी प्रभाव में था, किन्तु अब दोनों के सम्बन्धों में कुछ शिथिलता आ गयी है। फिर भी सैनिक सहायता के लिए वह मुख्य रूप से रूस पर निर्भर है और इसलिए उस पर रूस का परोक्ष प्रभाव है। जार्डन पर अमरीका और ब्रिटेन का प्रभाव है। लीबिया घोर कम्यूनिस्ट विरोधी है। वह अमरीका के भी विरुद्ध है। लीबिया और मिस्र एकीकरण चाहते हैं, किन्तु मिस्र राजनीतिक और सैनिक विवशता के कारण अपनी नीति को उतना रूस-विरोधी नहीं बना सकता जितना लीबिया चाहता है। लेबनान भी अरब देश है पर उसमें ४५ प्रतिशत ईसाई भी हैं। इसलिए वह रूस और अमरीका दोनों से अपने सम्बन्ध सामान्य बनाये रखने का प्रयत्न करता है। यमन और सऊदी अरब तथा इराक़ और ईरान में आपस में वैमनस्य है। यमन और इराक़ को रूसी सैनिक सहायता मिलती है, इसलिए सऊदी अरब और ईरान सैनिक सहायता के लिए अधिकाधिक अमरीका पर निर्भर होते जा रहे हैं। इस प्रकार अरब देशों में आपस में फूट है। कुवैत का इराक़ से युद्ध हो चुका है और अब भी दोनों में तनाव है। यमन और सऊदी अरब में झगड़ा है। सीरिया से ज़ार्डन और लेबनान की नहीं पटती। ये सब अरब देश हैं। उधर, ईरान ने तुर्की और पाकिस्तान से मित्रता कर ली है। इस प्रकार 'मध्य-पूर्व' के देशों में एका नहीं है। अफ़गानि-

स्तान की नीति सब बड़े राष्ट्रों से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने की है। वह एक ओर चीन से, तो दूसरी ओर उसके विरोधी रूस से भी सहायता लेता है। अमरीका और ब्रिटेन से भी उसके सम्बन्ध अच्छे हैं। इधर तुर्की, ईरान और पाकिस्तान से प्रगाढ़ मैत्री हो गयी है। अतएव वास्फोरस से भारत की सीमा तक तीन राष्ट्रों का एक गुट बन गया है। पाकिस्तान के कारण इस गुट का रुख भारत की ओर मैत्री का नहीं है।

मध्यपूर्व का क्षेत्र इस समय अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके दो कारण हैं : एक तो उसकी भौगोलिक स्थिति। स्वेज नहर इसी क्षेत्र में है और एक अरब राष्ट्र की सम्पत्ति है। योरोप से एशिया का यही समुद्री मार्ग है। वायुयानों को भी योरोप से एशियाई देशों में जाने के लिए इसी क्षेत्र पर से होकर और उन देशों की अनुमति लेकर ही उड़ानें करनी पड़ती हैं। अतएव यह क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय यातायात और संचार साधनों के लिए परम आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। दूसरा कारण इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज मिट्टी के तेल और उससे बनाये हुए डीजल और पेट्रोल की आवश्यकता संसार के सभी औद्योगिक देशों को है। जापान, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी—यहाँ तक कि अमरीका भी मिट्टी के तेल, पेट्रोल और डीजल के लिए बहुत कुछ लीबिया, सऊदी अरब, इराक़, कुवैत, बहरीन और ईरान के तेल के भंडारों पर निर्भर है क्योंकि इन देशों में संसार के सबसे बड़े तेल भंडार हैं। संसार में १९७०-७१में २४,६४,७२०, ००० टन तेल का उत्पादन हुआ था। इसमें ८१,८२,२०,००० टन 'मध्यपूर्व' के देशों (तुर्की, इराक़, ईरान, सऊदी अरब, कुवैत, बहरीन, क़तार, अबूधाबी, दुबाई, ओमान, सीरिया, मिस्र और इसराइल) में निकाला गया। सबसे अधिक उत्पादन ईरान (२,२२,०००,००० टन), इराक़ (२,२७,०००,००० टन) और सऊदी अरब (१,४५,०००,००० टन) में था। कम्यूनिस्ट देशों और पश्चिम के देशों में जो तेल उत्पन्न होता है वह प्रायः वहीं काम में आता है क्योंकि वे औद्योगिक देश हैं। 'मध्यपूर्व' के देशों में औद्योगिक प्रगति नहीं हुई और वे अपने तेल बेचते हैं। ईरान के राजस्व को १९७०–७१ में तेल से १५,७६२, ००,०० लाख रियाल (ईरानी मुद्रा) प्राप्त हुई थी। अन्य स्रोतों से राज्य की आय केवल ४,८२,५५०लाख रियाल थी। १९६९–७० में इराक़ का सारा राजस्व २,५०,५९१,००० इराक़ी दीनार था। इसमें लगभग आधा धन तेल की रायल्टी और बिक्री से प्राप्त हुआ। सऊदी अरब का १९७०–७१ का बजट ६३,८०० लाख सऊदी अरब रियाल का था। इसमें ८० प्रतिशत आय तेल से थी। कुवैत की तेल से आय १९७१–७२ में ३३,२९० लाख कुवैती दीनार थी। ईरान की तेल से आय का एक अंश ही राजस्व को दिया जाता है। उसका बहुत बड़ा अंश विकास योजना और सेना पर व्यय होता है, जो राजस्व से अलग है।

(ईरानी रियाल ७५·७५ = १ अमरीकी डालर; सऊदी अरब रियाल ४.५ = १ अमरीकी डालर; इराक़ी दीनार १ = १·१७ ब्रिटिश पाउंड; कुवैती दीनार १ = १·१७ ब्रिटिश पाउंड)।

इन आँकड़ों से मालुम हो सकता है कि इन देशों को तेल से कितनी अनाप-शनाप आमदनी है। जनसंख्या की दृष्टि से ये देश बहुत छोटे हैं। इनकी जनसंख्या अंतिम गणना के अनुसार इस प्रकार थी :

	(क्षेत्रफल वर्ग कि० मी०)
ईरान—२,५७,८१,०९०	१६,२१,८६०
इराक़—८०,९७,२३०	४,३८,४४६
सऊदी अरब—अनुमान से ५० और ६० लाख के बीच	२४,००,०००
कुवैत—७,३३,०००	२४,२८०

कुवैत में असली कुवैती केवल चार लाख के लगभग हैं। शेष तीन लाख से कुछ अधिक विदेशी हैं। इन देशों की जनसंख्या और सामान्य राज्य प्रशासन की आवश्यकतायें देखते हुए, इनकी आमदनी बहुत

अधिक है और वह तेल के कारण है। इसलिए इन तैल उत्पादक देशों के पास बहुत अधिक फालतू धन है।

अपने पड़ोसियों से आशंकित रहने के कारण अब इन देशों का ध्यान अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने की ओर गया है। इस समय अमरीका में वियतनाम युद्ध की समाप्ति से वहाँ के सैनिक सामान बनाने वाले कारखानों को अपने माल की बिक्री के लिए नये बाज़ार चाहिये। वैसे भी अमरीका राजनीतिक कारणों से दूसरे देशों को अपार सैनिक सामान मुफ्त या नाममात्र मूल्य पर देता रहा है। इसराइल, तुर्की, पाकिस्तान थाईलैण्ड आदि अनेक देश उससे अपार आधुनिक सैनिक अस्त्र-शस्त्र पा चुके हैं। फ्रांस खुले रूप से आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों को जिस किसी को भी नकद मूल्य लेकर बेचता रहा है और इससे उसके व्यापार को बड़ा लाभ होता है। इसी प्रकार बेलजियम और स्वीडन भी आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार बड़े पैमाने पर करते हैं। जर्मनी भी इस क्षेत्र में आ गया है। इंग्लैण्ड भी उन देशों को, जो उसके मित्र हैं या जिन्हें वह प्रसन्न करना चाहता है, आधुनिक अस्त्र-शस्त्र बेचता है। कम्यूनिस्ट देश (रूस, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी) भी राजनीतिक कारणों से अपने प्रभाव के देशों को बड़े परिमाण में आधुनिक अस्त्र-शस्त्र देते हैं। इराक़, यमन, मिस्र, सीरिया इसके उदाहरण हैं। अतएव 'मध्यपूर्व' के ये तेल से धनी देश अपने फालतू धन से जो अस्त्र-शस्त्र खरीदना चाहते हैं उनमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं है। वास्तव में इन शस्त्र व्यापारी देशों में आजकल इन देशों के हाथ अपने अस्त्र-शस्त्रों को बेचने के लिए होड़ लगी है। कुवैत ५,०००लाख डालर के अस्त्र-शस्त्र खरीद रहा है। (१ डालर = ७.५ रुपये), सऊदी अरब ने १०,००० डालर के आधुनिक अस्त्र-शस्त्र खरीदने का निश्चय किया है। किन्तु ईरान ने इन सबको पीछे छोड़ दिया है। उसने अमरीका से २०,००० लाख डालर के आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र खरीदने का करार कर लिया है।

ये देश आधुनिकतम और अद्यतन उन्नत लड़ाकू विमान, टैंक, प्रक्षेप अस्त्र (मिसाइल्स), पनडुब्बी, होवर क्राफ्ट, आधुनिकतम हैलिकाप्टर, रडार, लड़ाकू जहाज खरीद रहे हैं। ईरान के पास आज भी संसार का सबसे बड़ा होवर क्राफ्ट का समुद्री बेड़ा है। वह इसे और बढ़ा रहा है। (होवर क्राफ्ट वह यान है जो समुद्र के जल से, या पृथ्वी से एक-दो फुट ऊपर रहकर चलता है। चलते समय वह जल या पृथ्वी को नहीं छूता। इसलिए वह सब प्रकार के ऊबड़-खाबड़ स्थानों और समुद्र पर आसानी से चल सकता है।) ईरान को दो वर्षों में यह सब सैनिक सामान मिल जायगा। विशेषज्ञों का कहना है कि इतने आधुनिक अस्त्रशस्त्र अमरीकनों ने केवल वियतनाम में एकत्र किये थे। शायद मिस्र को भी रूसियों ने इतने आधुनिक अस्त्र-शस्त्र नहीं दिये। इनमें संसार के सबसे शक्तिशाली लड़ाकू फैण्टम विमान, धरती से वायु में, वायु से धरती पर और वायु से वायु में फेंके जानेवाली मिसाइल (प्रक्षेप) भी बड़ी संख्या में हैं। ईरान अपनी नौसेना पर विशेष ध्यान दे रहा है। उसने कुछ दिनों पूर्व इटली से सात पनडुब्बियाँ खरीदी थीं। अब वह और भी पनडुब्बियाँ तथा छोटे-बड़े लड़ाकू जहाज खरीदकर दक्षिण एशिया में सबसे शक्तिशाली नाविक शक्ति होने की योजना बना रहा है।

ईरान यह सब क्यों कर रहा है? क्यों इतनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा है? उसके दाहिने-बाएँ दो-दो पड़ोसी हैं। पश्चिम में इराक और तुर्की, पूर्व में अफगानिस्तान और पाकिस्तान है। पाकिस्तान और तुर्की से उसकी प्रगाढ़ मैत्री है। अफगानिस्तान इतना छोटा और सैनिक दृष्टि से कमजोर राष्ट्र है कि उससे उसे कोई खतरा नहीं है। उससे उसके सम्बन्ध भी खराब नहीं हैं। केवल इराक से उसका झगड़ा है, किन्तु आकार, जनसंख्या और सैनिक शक्ति में वह ईरान से बहुत छोटा और कमजोर है। फिर, उसका झगड़ा कुवैत, जार्डन आदि से भी है और उसे कुर्दों के आंतरिक विद्रोह का भी सामना करना पड़ता है। अतएव

उसे दबाने के लिए ईरान को इतनी सैनिक शक्ति वढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। तब यह अभूतपूर्व सैनिक शक्ति संचय क्यों ?

इसका उत्तर पाने के लिए हमें पहले फारस की खाड़ी पर एक निगाह डालनी होगी। उसी में होकर ईरान, इराक, कुवैत का तेल जहाजों द्वारा दूसरे देशों को जाता है। वह खाड़ी इस व्यापार के लिए केवल तेल-उत्पादक देशों ही के लिए नहीं, किन्तु इस तेल का उपयोग करनेवालों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। यह खाड़ी हिन्द महासागर के उत्तर पश्चिमी भाग में है। जब तक ब्रिटिश साम्राज्य था तब तक इस महासागर पर ब्रिटेन का वर्चस्व था। अब उसकी समाप्ति पर ब्रिटिश नौसेना यहाँ से हट गयी है और इस समय अमरीका और रूस में इस महासागर में प्रवेश करने की मौन होड़ चल रही है। अमरीका इन देशों के तेल का बहुत बड़ा ग्राहक है। उसके लिए यह बहुत आवश्यक है कि कोई विरोधी शक्ति यहाँ इतनी शक्तिशाली न हो जाय कि वह तेलवाहक जहाजों का आवागमन रोक सके। उधर रूस, यमन, इराक को अपने प्रभाव में ले आया है जो उसकी संसार में प्रभाव विस्तार की योजना का अंग है। अतएव रूस और अमरीका दोनों ही हिन्द महासागर में प्रवेश कर गये हैं। अमरीका ने मारिशस से डीगो-गार्शिया नामक एक जेबी द्वीप पट्टे पर लेकर वहाँ अपना एक अड्डा बना लिया है जिसमें विमानों के लिए उतरने की ८,००० फुट लम्बी एक हवाई पट्टी भी तैयार कर ली है। उस द्वीप में संचार के आधुनिकतम साधन लैस कर दिये गये हैं तथा अभी एक छोटा नाविक अड्डा भी बना लिया गया है। शायद कालान्तर में उसका विस्तार किया जायगा। अमरीका का प्रसिद्ध सातवाँ बेड़ा अभी तक प्रशान्त महासागर में गश्त लगाता था, पर अब उसका कार्य-क्षेत्र हिन्द महासागर भी बना दिया गया है। बहरीन में अमरीकनों ने ब्रिटिश नौसेना द्वारा छोड़ी हुई विशाल नाविक गोदी का बहुत सा भाग किराये पर लेकर वहाँ अड्डा बना लिया है और उसके दो-तीन छोटे सैनिक जहाज वहाँ स्थायी रूप से नियुक्त हैं। इस प्रकार अमरीका ने हिन्द महासागर में अपने पैर जमा लिये हैं। इराक और यमन रूसी प्रभाव में हैं। वहाँ आगे चलकर शायद रूस को अपने सैनिक जहाजों के लिए कुछ सुविधाएँ मिल जायँ। किन्तु वे आज भी उनके मित्र और अमरीका-विरोधी हैं। इसलिए रूसियों के प्रति उनकी सद्भावना है। कुछ रूसी जहाज हिन्द महासागर में बराबर गश्त लगाते रहते हैं। अभी उनकी संख्या दस से अधिक नहीं है, पर यह कभी भी बढ़ सकती है। लाल सागर के मुहाने पर यमन का सकोत्रा नामक एक द्वीप है। कुछ लोगों ने यह खबर उड़ा दी थी कि वहाँ रूस को सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति मिल गयी है, पर इसकी पुष्टि नहीं हुई।

इसी पृष्ठभूमि में ईरान के हाथ दो अरब डालर के आधुनिकतम भयंकर सैनिक अस्त्र-शस्त्रों की बिक्री की घटना देखनी चाहिए। दक्षिण एशिया में दोनों महाशक्तियाँ अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहती हैं और वहाँ के राष्ट्रों के आपसी झगड़े या महत्त्वाकांक्षाएँ उन्हें अपनी योजना सफल करने में सहायता दे रही हैं। अमरीका ईरान में अपने कई हजार सैनिक विशेषज्ञ भेज रहा है जो ईरानी सैनिकों को आधुनिकतम अस्त्रों के उपयोग का प्रशिक्षण देंगे। ईरान अरब सागर पर, बलूचिस्तान से कुछ हट कर एक बड़ा नाविक अड्डा बना रहा है। वह एशिया में सबसे बड़ा और आधुनिकतम जहाजी अड्डा होगा।

ईरान ने पिछले पाक-भारत युद्ध में पाकिस्तान की सहायता की थी और इस समय वह खुलकर उसका समर्थन कर रहा है। बलूचिस्तान का कुछ भाग ईरान में भी है और यदि वह सारे बलूचिस्तान को अपने साम्राज्य में मिलाना चाहता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। आजकल राष्ट्रपति भुट्टो बलूचिस्तान में कोई काम ईरान के शाह की सहमति के बिना नहीं करते। पाकिस्तान इतना कमजोर हो गया है कि उसे ईरान

की सहायता की आवश्यकता है। यदि ईरान अपने अतीत के साइरस द्वारा आदि सम्राटों के साम्राज्य का स्मरण कर अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए इस भयंकर सैनिक शक्ति का उपयोग करे तो आश्चर्य नहीं। सिवाय इसके उसे इतनी सैनिक शक्ति बढ़ाने की क्या आवश्यकता हो सकती है? इसका भारत पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा। अब भारत को पाकिस्तान-ईरान की धुरी का सामना करने का संकट आ सकता है, और इस धुरी के पीछे अमरीका और तुर्की का परोक्ष समर्थन होगा। हमारे शांतिप्रिय और अहिंसक होने से इस यथार्थता पर पर्दा नहीं पड़ सकता। अतएव हमें दूरदर्शिता से काम लेकर इस संभाव्य संकट का सामना करने के लिए अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने और आधुनिकतम बनाने का निश्चय करना चाहिए तथा अपने देश में 'वादों' के झगड़े समाप्त कर देश में वास्तविक भावनात्मक एकता स्थापित कर जनता को देश-प्रेम के रंग में भली भाँति रँग देना चाहिए।

इसराइल की विजय के बाद

•

तीन दिन के युद्ध में इसराइल ने मिस्र से सारा सिनाई क्षेत्र और गाजा की पट्टी छीन ली। वह दक्षिण में लालसागर तक, और पश्चिम में स्वेज नहर तक पहुँच गया। इसी बीच युद्ध-विराम हो गया। यह कहना बड़ा कठिन है कि यदि युद्ध-विराम न होता तो वह स्वेज से आगे बढ़ता या नहीं। लोगों का अनुमान है कि उसकी योजना स्वेज के पार जाने की नहीं थी। उधर पूर्व में उसने जार्डन से जार्डन नदी के पश्चिम का उसका सारा क्षेत्र छीन लिया जिसमें जेरुसलम नगर का वह आधा (पुराना) भाग भी है जो जार्डन के अधिकार में था। जेरुसलम के पुराने भाग में ईसाइयों, मुसलमानों और यहूदियों के कई तीर्थ-स्थान हैं। तीन धर्मों का तीर्थस्थान होने के कारण सारे संसार से यहाँ बारहों महीने इन धर्मों के तीर्थ-यात्री आते रहते हैं और इनसे जार्डन राज्य को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से करोड़ों की विदेशी मुद्रा मिलती थी। जार्डन नदी के जिस पश्चिमी भाग पर इसराइलियों ने अधिकार कर लिया है वह जार्डन राज्य का सबसे सघन बसा हुआ, उपजाऊ और समृद्ध भाग है। सीरिया का भी कुछ भाग इसराइल के अधिकार में आ गया है जिसमें सीमा पर की कुछ पहाड़ियाँ भी हैं जिन पर तोपें चढ़ाकर और सैनिक चौकियाँ बनाकर सीरिया की ओर से इसराइल के निचले भू-भागों में जब-तब गोलाबारी कर दी जाती थी जिससे वहाँ इस-राइलियों को खेती तथा अन्य काम करने में बड़ी कठिनाई होती थी। इसराइल ने मिस्र और जार्डन को परास्त करने के बाद सीरिया की ओर ध्यान दिया क्योंकि वह इन दोनों की सेनाओं को अपने लिए अधिक

खतरनाक समझता था। यदि युद्ध-विराम एक-दो दिन बाद होता तो बहुत सम्भव था कि इसराइली सेनाएँ सीरिया की राजधानी दमिश्क तक पहुँच जातीं और उसके बहुत बड़े क्षेत्र पर उनका अधिकार हो जाता। स्थिति यह है कि इसराइल की एक बीता जमीन भी अरबों के अधिकार में नहीं है, और इसराइल इन तीन अरब राज्यों के क्षेत्रों में घुसकर बैठ गया है। इन अधिकृत क्षेत्रों का क्षेत्रफल इसराइल के क्षेत्रफल से कई गुना बड़ा है। यह स्वाभाविक है कि मिस्र, जार्डन और सीरिया अपने खोये हुए क्षेत्रों को वापस पाने के लिए आतुर हैं। बढ़ती हुई इसराइली सेनाओं से बचने के लिए लाखों-अरबों ने भागकर मिस्र, जार्डन, सीरिया और लेबनान में शरण ली है। इन शरणार्थियों को भोजन-वस्त्र और काम देने की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। स्वेज नहर के बन्द हो जाने से मिस्र को लाखों पाउण्ड प्रतिमास की हानि हो रही है। तीर्थयात्रियों से होनेवाली जार्डन की सारी आमदनी मारी गयी है। देश के सबसे उपजाऊ और समृद्ध भाग पर इसराइल का अधिकार हो जाने से जार्डन की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी है। स्पष्ट है कि अरब राज्य मिला कर भी सैनिक शक्ति से इसराइल को इन अधिकृत क्षेत्रों से खदेड़ नहीं सकते। वे इसे जानते हैं। यह भी स्पष्ट है कि रूस तथा अन्य राष्ट्रों की अरबों के साथ चाहे जितनी सहानुभूति क्यों न हो, वे उनके खोये हुए क्षेत्रों को वापस दिलाने के लिए इसराइल से नहीं लड़ेंगे। अतएव यह युद्ध रणक्षेत्र से हटकर कूटनीति के क्षेत्र में आ गया है। अरब देश जो काम शस्त्रबल से नहीं कर सके उसे वे राजनीति की चालों, जोर और दबाव से करना चाहते हैं।

यह कूटनीतिक युद्ध राष्ट्रसंघ में लड़ा गया और वहाँ भी अरबों के हाथ पराजय ही लगी। पाठक जानते हैं कि सामान्यतः युद्ध और शान्ति सम्बन्धी समस्याएँ राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् में तय की जाती हैं। किन्तु इसमें रूस, अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन को निषेधाधिकार (वीटो) प्राप्त है, अर्थात् यदि सुरक्षा-परिषद् बहुमत से कोई बात तय करे तो भी इनमें से कोई भी राष्ट्र अपने निषेधाधिकार से उसको रद्द कर सकता है। अतएव जब तक किसी बात में बहुमत न हो और ये पाँचों राष्ट्र सहमत न हों तब तक सुरक्षा-परिषद् में कोई निर्णय नहीं हो सकता। यह भी स्पष्ट है कि रूस अरब देशों का और अमरीका इसराइल का समर्थक है। राष्ट्रसंघ की महासभा (जनरल एसेम्बली) में किसी को निषेधाधिकार नहीं है, किन्तु उसमें इस प्रकार के विषयों को तभी स्वीकार किया जाता है जब दो-तिहाई सदस्य (राष्ट्र) उसके पक्ष में मत दें। रूस ने समझा था कि सुरक्षा-परिषद् में वह अपने मन का निर्णय नहीं करा सकता, किन्तु राष्ट्र-संघ की महासभा में इसराइल के विरुद्ध पर्याप्त मत पाने की संभावना है। अतएव उसने आग्रह करके राष्ट्रसंघ की महासभा का एक विशेष अधिवेशन बुलवाया। पहिले तो उसने चाहा कि प्रस्ताव में सर्वप्रथम यह बात कही जाय कि इसराइल आक्रमण करने का अपराधी है, तथा उसे बिना किसी शर्त के अरब-राज्यों के अधिकृत क्षेत्रों को खाली करके १९४८ की इसराइल की सीमा के पार अपनी सेनाएँ हटा लेनी चाहिए। किन्तु महासभा का अधिवेशन आरम्भ होते ही रूस ने समझ लिया कि अधिकांश देश इसराइल को 'आक्रमण' का अपराधी घोषित करने के पक्ष में नहीं हैं। अतएव उसने जो प्रस्ताव रखा उसमें से यह अंश निकाल दिया। उधर इसराइल का कहना था कि वह तब तक जीते हुए अरब क्षेत्र खाली न करेगा जब तक अरब राष्ट्र उसको मान्यता नहीं देते तथा युद्ध समाप्त करने की घोषणा नहीं करते, तथा स्वेज नहर और अकब के समुद्री मुहाने में से उसके जहाजों को उसी प्रकार आने-जाने नहीं देते जिस प्रकार दूसरे देशों के जहाज आते-जाते हैं। इसके बाद भी वह छीने हुए सभी स्थान वापस करने को तैयार नहीं है। उसने जेरु-सलम नगर का पुराना भाग एक कानून बनाकर अपने अधिकृत नये भाग में मिला लिया है और घोषित कर दिया है कि वह उसे कदापि न छोड़ेगा। संभव है कि वह गाज़ा की पट्टी, सीरिया की सीमावर्ती ऊँची

पहाड़ी और जार्डन नदी के पश्चिमी किनारे का कुछ भाग भी न छोड़े। किन्तु इस सम्बन्ध में वह चुप है। अधिकांश राष्ट्रों ने इस प्रस्ताव का सकर्थन नहीं किया कि इसराइल बिना किसी शर्त के युद्ध आरम्भ होने से पहिले की सीमा पर चला जाय। संसार के राष्ट्रों का बहुमत यही मालूम होता था कि अरब देश इसराइल को मान्यता देकर उससे युद्ध-स्थिति को समाप्त कर दें तथा अकब की खाड़ी में प्रवेश का और स्वेज नहर के उपयोग का उसे अधिकार रहे। रूस का अनुमान कि राष्ट्रसंघ की महासभा में एशिया, अफ्रीका, पूर्वी योरप के कम्युनिस्ट देश तथा दक्षिण अमरीका के तटस्थ राष्ट्र मिलकर उसके प्रस्ताव का समर्थन करेंगे, ठीक नहीं निकला। वास्तव में दक्षिण अमरीका के राष्ट्रों के सहमत न होने से रूस का प्रस्ताव स्वीकार न हो सका। जब रूस ने देखा कि उसके प्रयत्न विफल जा रहे हैं तब उसने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए एक 'लीपापोती' का प्रस्ताव रखना चाहा। इसमें उसे अमरीका से भी सहायता मिली क्योंकि अमरीका भी इस समय लीपापोती ही चाहता था। किन्तु उसमें इस बात का संकेत था कि अरब राज्य युद्धकारिता (belligerency) समाप्त कर देंगे और इसराइल अधिकृत क्षेत्र से हट जायगा। किन्तु अरब प्रतिनिधि, जो राष्ट्रसंघ की महासभा से बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रहे थे, सारे काण्ड से इतने क्षुब्ध हो गये कि उन्होंने इस अपेक्षाकृत निर्दोष प्रस्ताव को भी अस्वीकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि महासभा ने उचित कार्रवाई करने के लिए इस विषय को सुरक्षा-परिषद् में भेजकर अपने सिर की बला टाली।

युद्ध-क्षेत्र में अरब देशों की पराजय हुई और कूटनीति-क्षेत्र में अरब देशों के साथ रूस की भी। सुरक्षा-परिषद में यह विषय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तनावों और दबावों में पड़कर कश्मीर समस्या की तरह अनिश्चित काल तक अनिर्णीत पड़ा रहेगा और इसराइली सेना छीने हुए अरब क्षेत्रों में पड़ी रहेगी। यही नहीं, स्वेज नहर भी अनिश्चित काल तक बन्द रहेगी, क्योंकि उसका पूर्वी किनारा इसराइली सेना के अधिकार में है।

स्वेज नहर के बंद हो जाने से मिस्र की प्रत्यक्ष और परोक्ष बड़ी हानि हो रही है। स्वेज नहर से निकलनेवाले जहाजों से उसे जो आय होती थी वह तो बंद हो ही गयी है, मिस्र में जो लाखों पर्यटक आकर करोड़ों डालर वहाँ खर्च कर जाते थे, उनका आना भी युद्ध-स्थिति के कारण प्रायः बंद हो गया है। मिस्र के व्यापार को भी बहुत धक्का लगा है। जितने अधिक दिन नहर बंद रहती है उतने ही अधिक दिन उसे ठीक करने में लगेंगे। पिछले स्वेज युद्ध में वह केवल कुछ सप्ताह बंद रही, किन्तु उसके ठीक होने में तीन महीने लग गये। इस बार अनुमान यह है कि उसे ठीक करने में एक वर्ष लग जायगा। नहर के दोनों ओर मरुभूमि है। यहाँ बहुधा तेज हवाएँ चला करती हैं जिनके कारण उड़-उड़कर बहुत-सा रेत नहर में बैठ जाता है। उसे बड़े-बड़े ड्रेजरों से बराबर निकाला जाता है। किनारे के बाँध बालू के हैं। नहर के जल के कारण वे कहीं-न-कहीं बराबर धसकते रहते हैं। उनकी मरम्मत बारहों महीने होती रहती है। इस बार युद्ध में नहर पर इसराइलियों ने बम भी गिराये। उनसे भी नहर को काफी क्षति पहुँची है। बमवर्षा से नहर के कितने ही संयंत्र टूट-फूट या नष्ट हो गये हैं। इन सब कारणों से यदि आज ही सन्धि हो जाय तो भी नहर को सुधारने में एक वर्ष लग जायगा। इससे दूसरे देशों को भी बड़ी हानि हो रही है। रूस उत्तरी वियतनाम को जो सैनिक सहायता भेजता है, वह काले सागर से जहाज द्वारा स्वेज नहर होकर भेजी जाती थी। कहते हैं कि औसत से एक जहाज प्रतिदिन भेजा जाता था। अब उसे सारे अफ्रीका का चक्कर लगाकर भेजना पड़ता है और उत्तरी वियतनाम पहुँचने में दुगने से भी अधिक समय लगता है। विलम्ब के अतिरिक्त रूस को यह सैनिक सामान नित्य भेजने के लिए अधिक जहाजों की आवश्यकता होती है, और इतने अधिक फालतू जहाजों का एकत्र करना बड़ा कठिन है। भारत को अमरीका से अन्न और योरप से

सामान मँगाने में स्वेज नहर के रास्ते का ही उपयोग किया जाता था। अब यह सामान और अन्न अफ्रीका होकर आता है। इस कारण उसे योरप के सामान पर साढ़े सत्रह प्रतिशत और अमरीका के सामान पर प्राय: पचीस प्रतिशत अधिक किराया देना पड़ता है। इस प्रकार भारत पर अकारण प्रतिवर्ष २५ से ४० करोड़ रुपया जुर्माना हो रहा है—और यह विदेशी मुद्रा में देना पड़ता है जिसकी हमारे यहाँ बड़ी कमी है। योरप और एशिया के दूसरे देशों को भी इसी प्रकार की हानि हो रही है। और यह सब इसलिए कि अरब और इसराइली आपस में लड़ रहे हैं, तथा अपनी हठधर्मी के कारण समझौता नहीं करते। इस अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग (स्वेज नहर) के एक देश के अधिकार में होने का यह परिणाम है।

इस स्थिति को सुधारने के लिए उपाय करना बहुत कठिन हो रहा है। स्पष्ट है कि अरब देश सैनिक बल से इसराइल को नहीं हटा सकते। ऐसी तीसरी शक्ति ही बीच-बिचाव कर सकती है जिसको दोनों पक्ष तटस्थ और अपना शुभचिंतक समझें और जिसका दोनों पर प्रभाव हो। अमरीका और इंग्लैण्ड को अरब अपना शत्रु समझते हैं। रूस ने अरब का इतना खुलकर साथ दिया है कि इसराइल उस पर विश्वास नहीं करता। भारत और यूगोस्लाविया दो तटस्थ देश ऐसे थे जिन पर दोनों ही पक्ष भरोसा कर सकते थे, किन्तु भारत ने इतना खुलकर अरबों का समर्थन किया कि इसराइल पर उसका कोई प्रभाव नहीं रह गया। गाज़ा में इसराइल-मिस्र सीमा पर, युद्धबंदी रेखा पर, अभी तक राष्ट्रसंघ ने जो अन्तर्राष्ट्रीय सेना रख छोड़ी थी, (जो मिस्र के आग्रह से हटा ली गयी) उसमें भारतीय सैनिक भी थे। किन्तु अब स्वेज की युद्धविराम रेखा पर राष्ट्रसंघ ने जो पर्यवेक्षक नियुक्त किये हैं उनमें भारतीय सैनिक अधिकारी नहीं हैं क्योंकि इसराइल को उनके निष्पक्ष होने का भरोसा नहीं है। अब बच रहा यूगोस्लाविया। उसने भी अरबों का समर्थन किया था, किन्तु शायद इतना खुलकर नहीं जितना भारत ने। युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो का अरब देशों पर प्रभाव है, किन्तु यह संदिग्ध है कि इसराइल पर भी उनका प्रभाव है। फिर भी इस गतिरोध को समाप्त करने का वे प्रयत्न कर रहे हैं।

अरब देशों की अवस्था विचित्र है। पिछले बीस वर्षों के धुआँधार और असंयत इसराइल-विरोधी प्रचार के कारण सभी अरबभाषी देशों की जनता में इसराइल के प्रति घृणा और शत्रुता की भावना बहुत गहरी पैठ गयी है। अरबी नेताओं ने यह भावना उत्पन्न की और वे अब नरम नीति नहीं चला सकते। उन्होंने इसराइल का अस्तित्व मिटा देने के लिए ग्यारह वर्षों से बड़ी तैयारी की और गरीब अरब जनता का धन व्यय किया। किन्तु इसराइल ने तीन दिन ही में अरबों के ताशों का महल ढहा दिया। अरब नेता अपनी सैनिक अदक्षता छिपाने के लिए अमरीका और इंग्लैण्ड पर यह आरोप लगाने लगे कि उन्होंने युद्ध में इसराइल की सैनिक सहायता की। उन्होंने अरब जनता की भावनाओं को इतना उत्तेजित कर रखा था और उनकी आशाएँ इतनी ऊँची उठा दी थीं कि अब वे यथार्थ स्थिति के अनुसार अपनी नीति बदलने का साहस नहीं कर सकते। वे अपने ही जाल में फँस गये हैं। इसके अतिरिक्त, अरब नेताओं में भी मतैक्य नहीं है। उनके आपसी स्वार्थ टकराते हैं। मिस्र, सीरिया, अलजीरिया, सूडान 'प्रगतिशील' देश समझे जाते हैं क्योंकि इनमें जनतंत्र है। मोरक्को, जार्डन, सऊदी अरब आदि 'प्रतिक्रियावादी' समझे जाते हैं क्योंकि इनमें राजतंत्र है। मिस्र और सीरिया ने इसराइल युद्ध के पहिले जार्डन के शाह की सदैव भर्त्सना की। यमन को लेकर मिस्र और सऊंदी अरब में गहरा मनोमालिन्य है। अलजीरिया और सूडान के जनतंत्री नेता अरबों के नेतृत्व में मिस्र के राष्ट्रपति नासिर का स्थान लेना चाहते हैं। मिट्टी का तेल उत्पन्न करने-वाले अरब राष्ट्रों की आय तेल पर निर्भर है, किन्तु उन पर जोर डाला जा रहा है कि वे उसे अमरीका, इंग्लैण्ड और जर्मनी को न बेचें। इससे उनकी आय बहुत कम हो जायगी। जनतंत्रीय अरब देशों के नेता

कुछ दिन पहिले काहिरा में मिले थे, किन्तु अरब एकता बनाये रखने के लिए सूडान के आग्रह पर इस मास के अन्त में सब अरब देशों के नेताओं का एक शिखर सम्मेलन सूडान की राजधानी खार्टूम में बुलाया जा रहा है। देखना है कि वहाँ वास्तविक एकता स्थापित होती है या स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

उधर इसराइल अपनी बात पर दृढ़ है। वह जानता है कि रूस या अन्य कोई राष्ट्र खुलकर अरबों की ओर से लड़ने को मैदान में नहीं उतरेगा, और जहाँ तक अरब राष्ट्रों की बात है, वह युद्ध में उन्हें फिर हरा देगा। इसलिए वह अरब आक्रमण की आशंका भी नहीं करता। वह कहता है कि अरब राष्ट्र हमसे सीधे युद्धबंदी की बातचीत करें। किसी अन्य राष्ट्र के बीच में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। वह कहता है कि अरब राष्ट्र इसराइल राज्य को मान्यता दें, युद्ध-स्थिति को समाप्त करें, अकब की खाड़ी में प्रवेश और स्वेज नहर के उपयोग का उसे, अन्य राष्ट्रों के समान, अधिकार हो। तब वह उन क्षेत्रों से हट जायगा जिन पर उसने इस युद्ध में अधिकार कर लिया है। फिर भी वह जेरुसलम नगर के पुराने भाग को नहीं छोड़ेगा।

राष्ट्रपति टीटो समझते हैं कि इसराइल की स्थिति इतनी मजबूत है कि बिना उसकी कुछ बातें माने, उसे सिनाई और पश्चिमी जार्डन से नहीं हटाया जा सकता। किन्तु इसराइल को मान्यता देने या उसकी दूसरी कोई बात मानने से अरबों की प्रतिष्ठा भंग हो जायगी। इसलिए अरब देश झुकने को तैयार नहीं हैं। इस स्थिति को सुधारने और अरबों को यथार्थ स्थिति का बोध कराकर उन्हें अपना अव्यावहारिक रुख बदलने की आवश्यकता समझाने के लिए उनके पुराने मित्र राष्ट्रपति टीटो ने काहिरा, दमिश्क और बगदाद की यात्रा की। किन्तु उस यात्रा का कोई ठोस परिणाम नहीं हुआ। केवल इतनी ही बात हाथ लगी कि अरब लड़ाई की बात करना छोड़कर राष्ट्रसंघ में इसराइल पर राजनीतिक दबाव डालें और निर्दलीय राष्ट्रों की सहायता से उसे बिना शर्त हटने को बाध्य करें। किन्तु बदले में वे इसराइल को क्या देने को हैं—यह स्पष्ट नहीं। अभी तो अरब-इसराइल विवाद शीघ्र सुलझने या स्वेज नहर के शीघ्र खुलने के लक्षण नहीं दिखायी पड़ते।

●

हिन्द महासागर — अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के जाल में

•

हमारी पृथ्वी का अधिकांश जल में डूबा हुआ है। पृथ्वी के इस बड़े भाग को आच्छादित करने वाली जलराशि के भिन्न-भिन्न भागों को उनकी भौगोलिक स्थिति के कारण भिन्न नाम दिये गये हैं। बहुत बड़े भाग महासागर और छोटे भाग समुद्र कहलाते हैं। संसार में चार महासागर और बारह प्रमुख समुद्र हैं। महासागर के नाम, उनके क्षेत्रफल और अधिकतम गहराई इस प्रकार है—

नाम	क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	अधिकतम गहराई (फुटों में)
प्रशान्त (पैसिफिक)	६,४०,००,०००	३७,७८२
अटलांटिक	३,१८,१५,०००	३०,२४६
हिन्द	२,५३,००,०००	२४,४६०
उत्तरी ध्रुव	५४,४०,२००	१८,४५६

प्रशान्त महासागर पूर्व में चीन, जापान, फिलिपाइन्स, आस्ट्रेलिया से लेकर पश्चिम में उत्तर और दक्षिणी अमरीका तक फैला हुआ है। इसमें असंख्य छोटे-बड़े द्वीप हैं। इसमें अमरीका अपना पैसिफिक फ्लीट नामक जहाजी बेड़ा रखता है और इस पर व्यावहारिक दृष्टि से अमरीका का वर्चस्व है। अटलांटिक

महासागर दोनों अमरीकाओं और अफ्रीका तथा यूरोप के पश्चिमी तट तक है। इस पर भी अमरीका और उसके पोषित नाटो (उत्तरी अटलाण्टिक संघ) का वर्चस्व है। हिन्द महासागर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक ब्रिटेन का वर्चस्व था। ब्रिटिश साम्राज्य एशिया (अदन, भारत, श्रीलंका, वर्मा, सिंगापुर, मलाया, हांगकांग आदि) और अफ्रीका के कई हिन्द महासागर-तटीय (जैसे केनिया, रोडेशिया आदि) देशों में फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका भी इस महासागर को छूते हैं और ये देश ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित अंग थे। ब्रिटेन से इन देशों को पहुँचने के लिए सबसे छोटा रास्ता इसी महासागर से होकर है। अतएव ब्रिटेन ने अदन, कोचीन, त्रिकोमाली, सिंगापुर, हांगकांग आदि में नौ-सैनिक अड्डे बनाकर इसमें पर्याप्त संख्या में अपने लड़ाकू जहाज रख छोड़े थे। एशिया और अफ्रीका के स्वतन्त्र देशों के पास नौसेना थी ही नहीं, और दूसरे यूरोपीय और अमरीकी राष्ट्रों का इस क्षेत्र में कोई विशेष स्वार्थ नहीं था। उन्हें इस बात का विश्वास था कि ब्रिटिश नौसेना उनके व्यापारी जहाजों को संरक्षण देती रहेगी। अतएव हिन्द महासागर पर ब्रिटेन का एकछत्र आधिपत्य था।

किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन ने अपने अधीनस्थ देशों को स्वतन्त्र करना आरम्भ किया और अब एक दो छोटे-मोटे द्वीपों को छोड़ कर इस क्षेत्र में उसके अधीन कोई देश नहीं है। कोचीन, त्रिकोमाली, अदन, बहरीन और सिंगापुर से उसे अपने नौसैनिक अड्डे हटाने पड़े। उसके लिए इस महासागर में अपनी नौसेना रखने का कोई कारण नहीं रह गया। ब्रिटिश नौसेना के जाने बाद इस महासागर में किसी बड़ी शक्ति का वर्चस्व नहीं रह गया।

अफ्रीका में हिन्द महासागर के तट पर ऐसा कोई देश नहीं है जो बड़ी नौसेना रख सके। इस तट पर जो एशिया के देश हैं उनमें कई ऐसे हैं जो छोटी-बड़ी नौसेना रख सकते हैं। इनमें सऊदी अरब, इराक, ईरान, पाकिस्तान, भारत, बांगला देश और इंडोनेशिया प्रमुख हैं। ईरान की खाड़ी के तट पर ओमन कुवैत, बहरीन आदि कई छोटे-छोटे शेखों के राज्य हैं। उन्हें मिट्टी के तेल से बेतहाशा आय होती है और उनमें नौसेना का व्यय उठाने की शक्ति है। किन्तु उनकी जनसंख्या इतनी कम है कि वे स्थल सेना और नौसेना के लिए पर्याप्त नागरिक नहीं प्राप्त कर सकते। उदाहरण के लिए, कुवैत इस समय संसार के सबसे अधिक समृद्ध राज्यों में है क्योंकि वहाँ मिट्टी का तेल बड़ी मात्रा में निकलता है और उसकी बिक्री से उसे अरबों रुपयों की आय होती है। तेल के मूल्य की अनाप-शनाप वृद्धि से वह और बढ़ गयी है। कुछ पड़ोसियों से उसका सौमनस्य नहीं है। इसलिए वह अपनी सेना को शक्तिशाली बनाना चाहता है। वह अमरीका से आधुनिकतम लड़ाकू विमान आदि खरीद रहा है। एक-एक विमान का मूल्य कई करोड़ डालर होता है। उसकी वर्तमान जनसंख्या केवल आठ लाख के लगभग है जिनमें प्रायः आधे विदेशी हैं। असली कुवैती केवल चार लाख हैं जिनमें स्त्री, बच्चे और वृद्ध भी सम्मिलित हैं। सैनिकों की संख्या की कमी को वह आधुनिकतम शस्त्रों से पूरी कर रहा है। किन्तु नौसेना में ऐसा नहीं किया जा सकता। नौसेना का एक-एक जहाज करोड़ों रुपयों का आता है। बड़ी और संतुलित नौसेना के लिए तरह-तरह के लड़ाकू जहाज—जैसे विमानवाहक, क्रूजर, विध्वंसक, फ्रिगेट, पनडुब्बियाँ, पनडुब्बी शोधक और मारक, तेलवाहक आदि अनेक प्रकार के जहाज चाहिए। इसके लिए बहुत सैनिक चाहिए जिनकी संख्या कम नहीं की जा सकती। एक और कठिनाई यह है कि स्थल-सेना या वायुसेना के लिए सैनिकों को एक वर्ष का प्रशिक्षण देकर तैयार किया जा सकता है, किन्तु नौसैनिक को पूरी तरह से प्रशिक्षित करने में कई वर्ष लग जाते हैं। स्थल युद्ध में भाग लेनेवालों की हताहतों की संख्या सामान्यतः अपेक्षाकृत कम होती है, पर जब एक सैनिक जहाज डुबो दिया जाता है तब उसके बहुत कम नाविक सैनिक बच पाते हैं। इनके स्थान की पूर्ति अपेक्षाकृत कठिन होती है।

अतएव कम जनसंख्या वाले और कम साधनोंवाले देश प्रभावी नौसेना रखने में प्रायः असमर्थ होते हैं। इसीलिए अफ्रीका और दक्षिण एशिया के नव स्वतन्त्रता-प्राप्त विकासशील देश (मध्यपूर्व के तेल उत्पादन करनेवाले देशों को छोड़कर) बड़ी नौसेना रखने की स्थिति में नहीं हैं। इस क्षेत्र में केवल पाँच ऐसे देश हैं जो सामान्य नौसेना रख सकते है। वे हैं—इण्डोनेशिया, भारत, पाकिस्तान, ईरान और सऊदी अरब। इन देशों में नौसेना और नाविक व्यापार की पुरानी परम्परा भी है जो नौसेना के लिए बहुत आवश्यक है। इसी कारण इन देशों को समुद्रप्रेमी अच्छे नाविक मिल सकते हैं जिनके बिना अच्छी नौसेना बनाना कठिन है।

इस समय इंडोनेशिया की नौसेना आकार में काफी बड़ी है। १९७१ में उसकी नौसेना में ६ पनडुब्बियाँ, १ क्रूजर, ८ विध्वंसक, १२ फ्रिगेट, १२ प्रक्षेप अस्त्रों से लैस सैनिक नावें, ६ सुरंग नष्ट करनेवाले पोत, २१ टारपीडो से मार करनेवाले पोत, १८ तटीय रक्षा की सैनिक नावें, १८ गश्ती पोत, १४ तट से सुरंग हटानेवाले पोत, ६२ छोटी गश्ती सैनिक नावें, ८ तट पर टैंक आदि उतारने के पोत, १० इसी प्रकार की नावें, १ प्रशिक्षण देनेवाला पोत, २ सर्वेक्षण पोत, १० तेलवाहक, ४ सेना ले जाने के पोत, ३ रसद, गोला-बारूद ले जानेवाले पोत, ५ क्षत जहाजों को खींचकर बन्दरगाह में ले जानेवाले पोत (टग) तथा ८ अन्य सहायक पोत। नौसेना में अफसरों और नाविक सैनिकों की कुल संख्या १५,००० के लगभग है।

१९७१ में भारत की नौसेना इस प्रकार थी—१ विमान वाहक (विक्रान्त), २ क्रूजर, ४ पनडुब्बियाँ, ३ विध्वंसक, १ भारत में बना सामान्य फ्रिगेट, २ पनडुब्बी नाशक फ्रिगेट, ३ छोटे पनडुब्बीनाशक फ्रिगेट, ३ विमाननाशक फ्रिगेट, ६ विदेशों से खरीदे फ्रिगेट, ५ रूस में बने पोतों के रक्षक जहाज, १ समुद्र में बिछी सुरंगों को नष्ट करनेवाला पोत, ४ तटीय सुरंगनाशक छोटे पोत, ६ टारपीडो बोट, ९ गश्ती पोत, ११ समुद्र में रक्षा करनेवाली नावें, ५ तट पर टैंक आदि उतारने वाले पोत, ३ तट पर सैनिकों और सैनिक सामान के उतारने वाले पोत, ४ सर्वेक्षण पोत, १ मरम्मत करने वाला पोत, ४ तेलवाहक और १ समुद्र से क्षत जहाजों को खींचकर तट पर लानेवाला पोत (टग)। नौसेना के अफसरों और नाविक सैनिकों की संख्या बीस हजार थी।

उसी वर्ष पाकिस्तान की नौसेना में ९९०० अफसर और सैनिक नाविक थे। उसमें ४ पनडुब्बियाँ, १ क्रूजर, ५ विध्वंसक, २ पनडुब्बीनाशक तेज रफ्तार के फ्रिगेट, ८ तटीय सुरंगनाशक पोत, ४ गश्ती पोत, २ समुद्र में रक्षा करनेवाली नावें, २ तेल वाहक, १ मीठा जल पहुँचाने वाला पोत, ४ क्षत जहाजों को खींचकर लानेवाले पोत (टग) थे।

१९७१ में ईरान की नौसेना बहुत छोटी थी; किन्तु उस समय उसने उसका बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। उस समय उसने १२ होवर क्राफ्ट पोत खरीद लिये थे। होवर क्राफ्ट वह यान है जो समुद्र या पृथ्वी तल से कुछ ऊपर उड़ता हुआ चलता है और स्थल और जल पर समान रूप से चल सकता है। लहरों या स्थल के ऊबड़-खाबड़ तल से उसकी गति में कोई रुकावट या कमी नहीं होती। तब से ईरान ने कई पनडुब्बियाँ तथा अन्य युद्धपोत ले लिये हैं। वह तेजी से अपनी नौसेना बढ़ा रहा है। उसके पास तेल की अपार आय है और वह फारस की खाड़ी और दजला-फरात के मुहाने पर अपना पूर्ण वर्चस्व बनाने को कृत संकल्प है। ईरान के शाह ने कहा भी है कि अपनी सैनिक शक्ति को एशिया की सबसे बड़ी शक्ति बनाने का उनका ध्येय है। ईरान के पास इसके लिए काफी आर्थिक साधन हैं।

इस वर्णन से पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि अफ्रीका और एशिया के देश संसार की महान् शक्तियों की नौसेनाओं की तुलना में कितने कमजोर हैं और वे यदि मिलकर भी उनमें से किसी बड़ी शक्ति

का अवरोध करना चाहें तो नाविक दृष्टि से अभी बहुत दिनों इसमें असमर्थ रहेंगे। इंडोनेशिया और भारत के तट बहुत लम्बे हैं और इन दो देशों को अपनी सामुद्रिक सुरक्षा के लिए बहुत बड़ी नौसेनाओं की आवश्यकता है, किन्तु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, यह काम इतना खर्चीला है और समय-साध्य है कि यह बहुत वर्षों तक पूरा नहीं हो सकता।

किन्तु इस बीच संसार की दो महान् शक्तियाँ जो अपनी सैनिक शक्ति अपनी विश्वव्यापी योजनाओं के अनुसार बहुत अधिक बढ़ाये हुए हैं, हिन्दमहासागर के नवोदित कमजोर राष्ट्रों को अपने आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव में लाकर उन पर अपना वर्चस्व स्थापित करने को उत्सुक हैं। ब्रिटेन के सामने अब अपने साम्राज्य की रक्षा का प्रश्न नहीं है, किन्तु अपने पुराने साम्राज्य के देशों से उसका अभी गहरा व्यापारिक सम्बन्ध है, तथा वह आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका के अपने यातायात के मार्ग को सुरक्षित रखना चाहता है। इसलिए उसने जब मारीशस को स्वतन्त्र किया तब उससे कुछ दूर के एक छोटे, प्रायः निर्जन द्वीप को उसने मारीशस से संचार और याता-यात विमानों और जहाजों के ठहरने और कोयला, तेल, पानी लेने का अड्डा बनाने को ले लिया और वहाँ एक हवाई पट्टी भी बना ली। किन्तु संसार की दो महान् शक्तियाँ—रूस और अमरीका—इस क्षेत्र के नवोदित राष्ट्रों पर डोरे डालने को तैयार बैठे थे। हिन्द महासागर में ब्रिटेन का स्थान लेने को दोनों उत्सुक थे। अरबों से मित्रता के कारण रूस को लालसागर के मुहाने पर स्थित सकोत्रा द्वीप के बन्दरगाह तथा अदन आदि में मित्र देशों के बन्दरगाहों का उपयोग सुलभ था। अमरीका को इस क्षेत्र में पैर जमाने की कोई गुंजाइश नहीं थी। उसने पाकिस्तान से यह आशा की थी, पर उसे निराश होना पड़ा। बहरीन में उसे पट्टे पर एक छोटा सा अड्डा मिल भी गया था, पर बहरीन एक अरब राज्य है, और १९७१ के अरब-इसराइल युद्ध में अमरीका ने इसराइल की सहायता की थी, इसलिए बहरीन ने यह पट्टा रद्द कर दिया।

दोनों ही महाशक्तियों—रूस और अमरीका—हिन्द महासागर के तटीय नवोदित विकासशील देशों पर अपनी विश्व-योजनाओं के अनुसार अपना सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं। इनमें इसके लिए होड़ लगी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वे हिन्द महासागर में अपनी नौसेना को अच्छी और प्रभावशाली संख्या में रख सकें, जिससे ये देश एक ओर उनसे आतंकित रहें, और दूसरी ओर जो देश उनसे मित्रता करते हैं उन्हें उनसे तत्काल सहायता प्राप्त करने का भरोसा रहे। इनमें से किसी महाशक्ति के अधिकार में इस क्षेत्र का कोई भाग नहीं है। नौसेना को इस विशाल महासागर में रखने के लिए उन्हें सैनिक अड्डों (नेवल बेस) की बड़ी आवश्यकता है।

हम बता चुके हैं कि ब्रिटेन ने मारिशस से एक छोटा द्वीप हिन्द महासागर में संचार-अड्डा बनाने के लिए ले लिया था। अमरीका और ब्रिटेन में मित्रता है। अतएव अमरीका ने ब्रिटेन को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह उसे वहाँ एक नौसेना का अड्डा बनाने की अनुमति दे दे जो दोनों देशों की नौसेना के उपयोग में आये। इस द्वीप का नाम डिएगो गार्शिया है। यह फ्रेंच भाषा का शब्द है और उन दिनों इसका नामकरण किया गया था जब यहाँ फ्रांस का प्रभुत्व था। वह एक छोटा सा—दो तीन मील लम्बा और उससे भी कम चौड़ा, निर्जन द्वीप है। किन्तु यह हिन्द महासागर में बड़े मौके पर स्थित है। भारत से वह प्रायः एक हजार मील दक्षिण में और अफ्रीका से कुछ ही सौ मील दूर है। मैडागास्कर का द्वीप-राज्य उसके बहुत निकट है। योरप या अफ्रीका के अधिकांश देशों से आस्ट्रेलिया जाने के मार्ग में वह पड़ता है। उस द्वीप से आजकल के द्रुतगामी विमानों द्वारा अधिकांश हिन्द महासागर पर निगाह रखी जा सकती है। आजकल मिसाइलें पाँच हजार मील तक मार कर सकती हैं। इन मिसाइलों से आणविक गोले

भी फेंके जा सकते हैं। इस अड्डे में आणविक मिसाइलों को चलानेवाली पनडुब्बियाँ और सैनिक जहाज भी रखे जा सकते हैं। इस अमरीकी नाविक अड्डे से हिन्द महासागर के तट के प्रायः सभी देश अमरीकी मिसाइलों (प्रक्षेपों) की मार में आ जायँगे। अतएव यह स्वाभाविक है कि इन देशों को इस अमरीकी अड्डे का बनना अपने लिए खतरनाक मालूम हो।

एक दूसरी बात यह भी है कि अमरीका और रूस के हिन्द महासागर में भारी मात्रा में नौसेना रखने से (जिनमें आणविक अस्त्र भी हैं) यदि कभी दोनों में युद्ध हो तो यह महासागर रणस्थल बन जाय। इससे तटीय देशों के व्यापार, यातायात आदि को क्षति तो पहुँचेगी ही, साथ ही यदि कहीं आणविक अस्त्रों का प्रयोग हुआ तो उससे विषाक्त हवा और आणविक विषाक्त कण इन देशों में गिरकर लोगों के जीवन को खतरा सिद्ध हो सकते हैं। अतएव इन देशों की माँग है कि हिन्द महासागर में ये महाशक्तियाँ अपनी नौसेनाओं का प्रवेश न करें और न यहाँ कोई सैनिक अड्डा बनावें। डिएगो गार्शिया में अमरीकी नौसेना के अड्डे का विरोध भारत, श्रीलंका, इंडोनेशिया, अरब देश, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा कितने ही अफ्रीकी देश कर रहे हैं। राष्ट्रसंघ की महासभा की एक तदर्थ समिति ने भी इसे शान्ति क्षेत्र बनाये रखने का प्रस्ताव किया है।

किन्तु महाशक्तियाँ इन प्रस्तावों और माँगों पर विशेष ध्यान नहीं देतीं। हिन्द महासागर में रूसी और अमरीकी युद्धपोत बराबर गश्त लगाते रहते हैं। अमरीकनों का कहना है कि इस महासागर में रूसी युद्धपोत अधिक गश्त लगाते हैं। इसके समर्थन में उन्होंने अपने और रूसी पोतों की गश्त के आँकड़े भी बतलाये हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार खुले समुद्र में किसी भी देश के कोई भी जहाज बिना रोक-टोक आ-जा सकते हैं। उन्हें उनमें गश्त लगाने की पूरी स्वतन्त्रता है। ये दोनों महाशक्तियाँ इसी कानून का लाभ उठा रही हैं।

डिएगो गार्शिया में अमरीकी नाविक अड्डा बनाने से उसके सैनिक जहाजों को वह सुविधा प्राप्त होगी जो अभी तक उसे नहीं है, और जो रूस को अपने अरब मित्र देशों के बन्दरगाहों में प्राप्त है।

अमरीका वहाँ नाविक अड्डा बनाने को कृतसंकल्प है। अमरीकी राजदूत ने इसे एक वक्तव्य में स्पष्ट कर दिया है। वे तो 'हिन्द महासागर' नाम को भी गलत बतलाते हैं। उनकी सम्मति में उसका नाम 'मेडागास्कर महासागर' होना चाहिए। 'हिन्द महासागर' नाम पर पाकिस्तान भी एक बार पहिले आपत्ति कर चुका है। किन्तु इन आपत्तियों से इस महासागर का पुराना नाम नहीं बदला जा सकता।

अंतर्राष्ट्रीय दलबन्दी के परिणामस्वरूप डिएगो गार्शिया में अमरीकी नाविक अड्डे का समर्थन भी एशिया के कुछ राष्ट्रों ने किया है जिनमें चीन, ईरान और पाकिस्तान उल्लेखनीय हैं। अतएव इससे स्पष्ट है कि एशिया के प्रमुख राष्ट्र ही इस मामले में एकमत नहीं हैं। इस मतभेद से अमरीका को अपनी योजना को कार्यान्वित करने में बल मिला है। भारत ने इसका कड़ा विरोध किया है और बराबर कर रहा है। इससे भारत और अमरीका के सम्बन्ध और अधिक विगड़ जाने की सम्भावना है।

एक बात और है जिसके कारण अमरीका और ब्रिटेन डिएगो गार्शिया अड्डे को बिना बनाये न रहेंगे। अरब देशों से जो मिट्टी का तेल अमरीका, जापान आदि को जाता है उसका ४० प्रतिशत इस महासागर में होकर जाता है, और यह सभी जानते हैं कि तेल कम्पनियों में अमरीका सबसे आगे है। यदि कोई विरोधी शक्ति इस महासागर में शक्तिशाली हो जाय तो वह तेल का व्यापार अमरीका आदि के लिए

ठप्प कर सकती है। अतएव इस महासागर में उसका महत्त्वपूर्ण स्वार्थ है। ब्रिटेन का आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड जानेवाला यह मार्ग भी विरोधी शक्ति रोक सकती है। इसके अतिरिक्त इस महासागर के तटीय देशों से ब्रिटेन का अधिकांश व्यापार ही नहीं होता और उनसे उनके उद्योगों के लिए कच्चा माल ही नहीं मिलता, प्रत्युत इन देशों के उद्योग-धंधों में ब्रिटेन की विदेशों में लगी हुई पूँजी की ६० प्रतिशत राशि लगी है जो अरबों पाउण्ड है। अतएव ब्रिटेन भी इस महासागर पर किसी ऐसे राष्ट्र का वर्चस्व सहन नहीं कर सकता जो उसका विश्वसनीय मित्र न हो। अतएव इस बात की आशा बहुत कम है कि कुछ एशियायी और अफ्रीकी देशों के विरोध के कारण ये दोनों देश डिएगो गार्शिया में अपनी नौसेना के अड्डे के बनाने की योजना छोड़ देंगे। इनकी देखादेखी फ्रांस भी (जिसमें पर्याप्त महत्त्वाकांक्षा है) हिन्द महासागर में अपने सैनिक पोत भेजने लगा, और उसके तट के अरब राज्यों से मेल बढ़ाने लगा है। चीन अभी इस स्थिति में नहीं है कि वह उसमें अपने रणपोत भेजे। पर कालान्तर में उसका हिन्द महासागर की प्रतिस्पर्द्धा में शामिल होना अनिवार्य है।

आज नहीं, किन्तु भविष्य में हिन्द महासागर सोने की खान बनाया जा सकता है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि इसके तल के नीचे मिट्टी के तेल का अनन्त भंडार है। उनका अनुमान है कि यहाँ ७५ करोड़ पीपे (बैरल) मिट्टी का तेल दबा पड़ा है। इसमें सभी प्रकार की धातुओं के विशाल भंडार हैं और संसार के अधिकांश देशों की खाद्य समस्या हल करने के लिए इसमें १,००,००० करोड़ टन मछलियाँ मौजूद हैं। ऐसे सम्पन्न क्षेत्र पर कौन सी महाशक्ति अपना वर्चस्व न बनाये रखना चाहेगी!

भारत, श्रीलंका, इंडोनेशिया, अनेक अफ्रीकी देश आदि राष्ट्रसंघ में यह प्रश्न उठा चुके हैं और आगे भी इसका पूरा प्रयत्न करते रहेंगे कि हिन्द महासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा न हो और वह शान्ति-क्षेत्र बना रहे। किन्तु एक तो चीन, ईरान और पाकिस्तान के अमरीका की इस योजना के समर्थन से एशिया के प्रमुख देशों में वैमत्य हो गया है जिसके कारण इस माँग में कमजोरी आ गयी है। दूसरे, जहाँ उसके राष्ट्रीय हित की बात होती है (वह दूसरे देशों को कितनी ही आपत्तिजनक क्यों न हो) वहाँ अमरीका रियायत करना या दबना नहीं जानता। भारत तथा अन्य देशों के पक्ष में नैतिक और विश्वशान्ति की भावना का बल है, किन्तु आज के पाशविक बल के युग में इनका व्यावहारिक महत्त्व कितना है—यह हम नित्य देखते हैं। अवश्य ही हिन्द महासागर में दोनों महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा इस क्षेत्र के देशों के लिए बड़ी महँगी प्रमाणित होगी।

●

वियतनाम में युद्ध का उत्कर्ष

•

वियतनाम उन तीन देशों में से एक है जिनके द्वितीय महायुद्ध के बाद दो टुकड़े हो गये हैं। जर्मनी, कोरिया और वियतनाम के एक-एक टुकड़े कम्यूनिस्टों के अधिकार में हैं, और दूसरे टुकड़े कम्यूनिस्ट-विरोधियों के। तीनों ही देशों का अन्तिम ध्येय दोनों टुकड़ों को मिला कर एक राज्य बनाना है, किन्तु यह अभी तक संभव नहीं हुआ क्योंकि कम्यूनिस्ट दूसरे टुकड़े को भी कम्यूनिस्ट बनाना चाहते हैं और कम्यूनिस्ट-विरोधी कम्यूनिज्म को समाप्त कर देना चाहते हैं। जर्मनी में पूर्वी जर्मनी कम्यूनिस्ट हैं। वह पश्चिमी जर्मनी से कमजोर है, पर उसे रूस का संरक्षण प्राप्त है। कोरिया में कम्यूनिस्ट उत्तरी कोरिया ने रूस और चीन की सहायता से अमरीकनों को आगे नहीं वढ़ने दिया। किन्तु वियतनाम की स्थिति भिन्न है।

वियतनाम हिन्द चीन के उन तीन देशों में से एक है जिन पर प्रायः एक शती तक फ्रांसीसियों का शासन था। द्वितीय महायुद्ध में जापानियों ने फ्रांसीसियों को हरा कर इन पर अधिकार कर लिया था। उनके विरुद्ध यहाँके लोगों ने छापामार युद्ध आरंभ किया था। इन छापामारों में चीन में प्रशिक्षित कुछ वियतनामी कम्यूनिस्ट भी थे। वे सुसंगठित थे और उन्हें चीन के कम्यूनिस्टों से सहायता भी मिलती थी। जब जापान हार गया और फ्रांसीसियों ने इन देशों पर फिर अधिकार करना चाहा तब ये छापामार योद्धा उनके विरुद्ध लड़ने लगे। फ्रांस ने कई वर्ष इन्हें दबाने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। अन्त में उसे यह प्रदेश छोड़ना पड़ा। किन्तु छोड़ने के पहिले उसने लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम नामक तीनों देशों की

स्वतंत्र सत्ता मान ली। वियतनाम में कम्यूनिस्ट छापामारों ने सारे वियतनाम पर अधिकार कर लेना चाहा। उन्होंने सारे उत्तरी वियतनाम पर अधिकार कर भी लिया था, किन्तु दक्षिण के वियतनामियों ने उनका विरोध किया और वहाँ गृहयुद्ध होने लगा। इस गृहयुद्ध की समाप्ति तब हुई जब कई तटस्थ देशों ने बीच-बिचाव किया। जिनेवा में एक कान्फरेंस हुई और १७वीं (लेटिच्यूड) के उत्तर का भाग कम्यूनिस्टों को दे दिया गया और उसके दक्षिण का गैर कम्यूनिस्टों को। एक आयोग बनाया गया जिसका उद्देश्य दोनों भागों के झगड़ों को रोकना तथा इस बात का प्रयत्न करना था कि अन्त में दोनों भाग मिलकर वियतनाम का एक राज्य बन जाय।

वियतनाम जापानी युद्ध, फ्रांसीसी युद्ध और अंत में गृहयुद्ध के कारण बहुत कुछ बर्बाद हो चुका था। उत्तर में कम्यूनिष्टों को रूस और चीन की सहायता प्राप्त थी। दक्षिणी वियतनाम ने अमरीका से सहायता लेनी आरंभ की और वह धीरे-धीरे आर्थिक उन्नति करने लगा।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि चीन के लिए वियतनाम का क्या महत्त्व है। चीन का उद्देश्य सारे दक्षिण और पूर्वी एशिया पर प्रभुत्व स्थापित करना है। लाखों चीनी व्यापार, व्यवसाय या मजदूरी करने के लिए इंडोनेशिया, हिन्दचीन और मलाया में फैल गये हैं। ये चीनी देशप्रेम के कारण चीन सरकार के प्रति वफादार रहते हैं। अतएव ये चीनी प्रवासी चीन सरकार के सफरमैना का काम करते हैं। मलाया में इनका अनुपात प्रायः ३५ या ४० प्रतिशत है। इंडोनेशिया में भी इनकी संख्या कई लाख है। यदि हिंद चीन पर चीन का अधिकार हो जाय तो बर्मा, थाइलैण्ड और मलेशिया पके फल की तरह अपने आप चीन के थैले में गिर पड़ेंगे क्योंकि ये देश बहुत छोटे हैं और किसी भी प्रकार चीन का सामना नहीं कर सकते। इन पर अधिकार या नियंत्रण करने से चीन बंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर में अनायास पहुँच जायगा। भारत दो ओर से उससे घिर जायगा। चीन का विश्वास है कि तब भारत में अपनी कठ-पुतली सरकार स्थापित करके उसे अपने प्रभाव में लाना सरल होगा। एक बार भारत, बर्मा, मलेशिया, थाईलैण्ड, लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम को अपने अधीन करने के बाद चीन संसार की अजेय शक्ति हो जायगा और सारे संसार पर अपना प्रभाव डाल सकेगा।

किन्तु दक्षिण में बढ़ने में चीन को पहिला देश वियतनाम मिलता है। उसके उत्तरी भाग पर उसके चेलों का राज्य है। ये चेले चीन के बल पर कूदते हैं क्योंकि इन्हें चीन से पूरी-पूरी सहायता मिलती है। अतएव यदि दक्षिण वियतनाम पर इनका अधिकार हो जाता है तो वह वास्तव में चीन का ही अधिकार है। वियतनाम ही कम्यूनिस्टों को दक्षिण में हिन्दमहासागर, कम्बोडिया, थाईलैंड, मलेशिया और बंगाल की खाड़ी में बढ़ने से रोक रहा है। यदि वियतनाम पर कम्यूनिस्टों (अर्थात् वास्तविक चीन) का अधिकार हो जाय तो उनका आगे रोकना प्रायः असंभव हो जायगा।

दक्षिण वियतनाम की सरकार ने इस खतरे को समझा। कम्यूनिस्टों ने उत्तरी वियतनामियों के छापामार दस्ते धीरे-धीरे दक्षिणी वियतनाम में भेजने आरंभ किये और वहाँ उन्होंने तोड़-फोड़ की कार्र-वाइयाँ आरंभ की। दक्षिणी वियतनाम की सरकार ने अमरीका से सैनिक सहायता माँगी और उसकी सहायता से वे उनका सामना करने लगे। किन्तु उत्तर वियतनामी कम्यूनिस्ट छापामार (जिन्हें 'वियतकांग' के नाम से पुकारा जाता है) इतनी अधिक संख्या में भेजे गये, और अस्त्र-शस्त्रों में इतनी अच्छी तरह सुसज्जित किया गया कि वियतनाम के जंगलों, दलदलों और पहाड़ों में उनको खोज निकालना कठिन था। धीरे-धीरे उनकी गतिविधि बढ़ती गयी और दक्षिणी वियतनाम के प्रायः एक तिहाई भाग में वे फैल गये। वहाँ की जनता प्रायः तीस वर्षों के सतत युद्ध से ऊब गयी है। उधर वियतकांगी छापामार कभी आतंक

के द्वारा, कभी उन्हें समझा-बुझा और मिलाकर उनकी सहायता या कम से कम चुप्पी प्राप्त कर लेते हैं। वियतकांग को उत्तरी वियतनाम सरकार से पूरी सहायता मिलती है। उनमें कितने ही उत्तर वियतनाम की सेना के सैनिक भी हैं। छापामार अधिकतर उत्तर के कम्यूनिस्ट हैं जिन्हें छापामार युद्ध का प्रशिक्षण दिया जाता है तथा उन्हें लड़ाई का सामान भी बराबर दिया जाता है। उत्तरी वियतनाम से ये लोग लाओस होकर पश्चिमी सीमा से दक्षिणी वियतनाम में प्रवेश करते हैं, अथवा रात में उत्तरी वियतनाम के सीमा के निकट के बन्दरगाहों से तेज नावों में सवार होकर दक्षिणी वियतनाम के पूर्वी समुद्रतट के जंगलों में उतर जाते हैं। इस प्रकार दक्षिणी वियतनाम में वियतकांग छापामारों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी, और उन्होंने देश में आतंक फैला दिया। दक्षिण वियतनामी सेना उनका सामना करने में असमर्थ है। इसलिए अमरीकनों ने 'सलाहकार' का भ्रामक नाम देकर वहाँ कुछ अपनी सेना भेजी। किन्तु वह इतनी कम है, और वियतनाम के जंगल, दलदल और पहाड़ों में छापामारों को इतनी सुविधाएँ मिल जाती हैं कि उस सेना के लिए उनका हराना संभव नहीं है। वियतकांगों को इतनी सफलता मिली कि अन्त में उन्होंने अमरीकन सैनिक अड्डों और सुरक्षित नगरों पर भी आक्रमण आरंभ कर दिये। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि शीघ्र ही सारे दक्षिणी वियतनाम पर वियतकांगों का अधिकार हो जायगा और अमरीकनों को दक्षिणी वियतनाम से हटना पड़ेगा।

अमरीकन सैनिक अधिकारियों ने यह देखा कि वियतकांग को हथियार और सामान उत्तरी वियतनाम से मिलता है। वे अधिकतर उत्तरी वियतनाम के हैं। वहीं उनका प्रशिक्षण होता है। अतएव जब तक उत्तरी वियतनाम में स्थित उनके प्रशिक्षण केन्द्र, उनके रसद और सामान भेंजने के मार्ग तथा उनके तैयारी के अड्डे समाप्त नहीं किये जाते तब तक वियतकांगों पर काबू नहीं पाया जा सकता। और उन पर काबू पाना आवश्यक था, क्योंकि यदि दक्षिणी वियतनाम पर कम्यूनिस्टों का अधिकार हो गया तो फिर दक्षिणी एशिया में कम्यूनिस्ट बाढ़ को रोकना असंभव हो जायगा। इसके अतिरिक्त दक्षिणी वियतनाम में हार मान लेने से अमरीका की साख गिर जाती और प्रतिष्ठा की भी हानि होती। किन्तु उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण करने में इस बात का खतरा भी है कि कहीं चीन और रूस उत्तरी वियतनाम की कम्यूनिस्ट सरकार की सहायता के लिए मैदान में न आ जायँ। और यदि वे युद्ध में कूद पड़े तो तीसरा संसारव्यापी युद्ध आरंभ हो जायगा। उसमें किसी न किसी समय परमाणु बमों और अणु अस्त्रों के उपयोग का भी पूरा-पूरा खतरा है। इसलिए अमरीकन नेता उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण करने में आगा-पीछा करते रहे।

किन्तु इधर अपनी सफलताओं से प्रोत्साहित होकर वियतकांग और उत्तरी वियतनाम ने कई ऐसे काम किये जिनका उत्तर न देने से अमरीका की बड़ी हेठी होती और अंतर्राष्ट्रीय जगत् में उसकी स्थिति बिगड़ जाती। वियतनाम के पूर्व के समुद्र में टांकिंग की खाड़ी है। उसमें अमरीका के सातवें बेड़े के कुछ लड़ाकू जहाज गश्त लगा रहे थे। दो बार उत्तर वियतनाम की टारपीडो नौकाओं ने उन पर टारपीडो चलाये जिनसे वे बच गये। इसके अतिरिक्त वियतकांग छापामारों ने एक अमरीकन हवाई अड्डे तथा एक होटल को बमों से उड़ा दिया जिनमें अमरीकन सैनिक रह रहे थे। जब अमरीकन सैनिक वियतकांग छापामारों से युद्ध कर रहे थे तब उनके ऊपर आक्रमण करना युद्ध की दृष्टि से कोई बड़ा अनुचित काम न था। हाँ, टांकिंग की खाड़ी में उत्तर वियतनामी टारपीडो नौकाओं द्वारा अमरीकन लड़ाकू जहाजों पर आक्रमण करना अवश्य ही गंभीर छेड़छाड़ थी। अतएव अमरीका को उत्तर वियतनाम पर हवाई आक्रमण करने का बहाना मिल गया। तब से अमरीकन—और दक्षिणी वियतनाम के बमवर्षक उत्तरी वियतनाम में घुस कर उसके सैनिक अड्डों, संचार और यातायात के मार्गों, सैनिक

सामान के गोदामों, लड़ाकू जहाजों के अड्डों पर बराबर बमों की वर्षा कर रहे हैं। इन आक्रमणों के वेग में कोई कमी नहीं मालूम हो रही। दिनोंदिन अमरीकन बमवर्षक उत्तरी वियतनाम में अधिक भीतर घुसते जा रहे हैं। ठीक तरह से इस बात का पता नहीं लगता कि उत्तरी वियतनाम की कितनी हानि हो रही है, किन्तु जब सौ-पचास बमवर्षक कई घंटे एक स्थान पर भयंकर विनाशकारी बम फेंके तो उत्तरी वियतनाम की धन-जन की अवश्य ही काफी क्षति होती होगी।

अमरीका का लक्ष्य है—कम्यूनिस्टों को दक्षिणी एशिया में आगे बढ़ने से रोकना। उसके लिए यह आवश्यक है कि लाओस और दक्षिणी वियतनाम पर कम्यूनिस्टों का अधिकार न होने पावे। यह स्पष्ट है कि यदि उन पर कम्यूनिस्ट अधिकार हो गया, विशेषकर दक्षिणी वियतनाम पर, तो थाइलैण्ड, कम्बोडिया और मलेशिया पर भी उनका अधिकार हो जायगा, और भारत भी चीन से घिर जायगा। किन्तु कोरिया के अनुभव के बाद अमरीका वियतनाम में उस प्रकार का स्थल युद्ध नहीं करना चाहता। वह चाहता है कि उत्तरी वियतनाम उसके आक्रमणों से कमजोर होकर समझौता कर ले, और दक्षिणी वियतनाम से अपने छापामारों को हटा ले तथा उसे गैर कम्यूनिस्ट राज्य रहने दे। उत्तरी वियतनाम के भेजे हुए छापामारों को इतनी सफलता मिली है कि अभी वह समझौता करने की आवश्यकता नहीं समझता। किन्तु अमरीकनों का विश्वास है कि उनकी बमवर्षा के कारण छापामारों को सामान मिलना बहुत कुछ बन्द हो जायगा और उत्तरी वियतनाम की इतनी क्षति होगी कि वह समझौता करने को बाध्य होगा। किन्तु यह भी संभावना है कि वह जब यह देखे कि वह अकेला अमरीकनों के सामने नहीं ठहर सकता तब चीन और रूस से सहायता माँगे। उत्तरी वियतनामी नेता कम्यूनिस्ट अवश्य हैं, किन्तु चीन के पड़ोसी होने और प्रायः एक हजार वर्ष तक चीनियों के अधीन रहने के कारण वे चीनियों को भलीभाँति जानते हैं। वे भरसक अपने देश में चीनी सेनाओं को न आने देना चाहेंगे। फिर, चीन का युद्ध में कूदना इस बात पर निर्भर है कि वह अभी अमरीका से लड़ने और आणविक अस्त्रों का सामना करने को तैयार है या नहीं। रहा रूस, वह उत्तरी वियतनाम से इतनी दूर है कि वह उसकी प्रभावशाली सैनिक सहायता नहीं कर सकता। फिर, रूस और चीन में अब काफी मतभेद हो गये हैं। उत्तरी वियतनाम पर चीन का प्रभाव और आतंक है। उसकी विजय से चीन और अधिक शक्तिशाली हो जायगा। रूसी इसे पसन्द न करेंगे।

जो भी हो, वियतनाम के इस युद्ध ने ऐसा मोड़ लिया है कि उसके फैलने और संसारव्यापी हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। संसार के अन्य देश इस विभीषिका को रोकना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि अमरीका, दक्षिणी और उत्तरी वियतनाम के आपसी समझौते से इस युद्ध की समाप्ति कर दी जाय। इसके लिए कई तटस्थ देशों ने दोनों दलों से अनुरोध किया है कि वे समझौता कर लें। विश्व का कल्याण इसी में है, किन्तु वियतनाम में राजनीतिक दाँव इतने ऊँचे, महत्त्वपूर्ण और व्यापक हैं, तथा वहाँ दोनों दलों की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न इतना उलझ गया है कि जब तक एक पक्ष बहुत कमजोर नहीं हो जाता तब तक समझौते की आशा बहुत कम है। यह भी संभव है कि चीन इस समय अमरीका के विरुद्ध खुलकर मैदान में आना न पसन्द करे और विश्वयुद्ध न हो। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह उत्तरी वियतनाम को इतनी सहायता बराबर करता रहेगा कि वह अमरीका से वर्षों लोहा लेता रहे, और वियतनाम का यह युद्ध रिसते हुए नासूर की तरह एशिया को बहुत दिनों दुःख देता रहे।

●

खण्ड ५

मधु संचय

मधु संचय

काव्य संकलन

१. घनश्याम देखे
२. व्यास टीला
३. क्षमा का अधिदेवता
४. टाइटनिक का समाधिगान
५. हिन्दी
६. मैं तुझ से न प्रेम करता हूँ
७. जिनेवा की सुन्दरी
८. अजेय मानव
९. मुख छवि
१०. तब और अब
११. संसार की रीति
१२. वियना की सड़क

गद्य संकलन

१. टाल्स्टाय के अंतिम दिन और महाप्रयाण
२. अठारहवीं शताब्दी के अंत में हिन्दी का प्रचार
३. उत्तरभारत के न्यायालयों में हिन्दी की माध्यम समस्या
४. हिन्दी में शीघ्रलिपि
५. बुख़ारा का कालीन
६. साहित्य विटप
७. तुलसीदास की छीछालेदर
८. राष्ट्रकवि की यमलोक यात्रा
९. निराला की अंतिम कविताएँ
१०. श्री मैथिलीशरण गुप्त का व्यक्तित्व
११. राजर्षि
१२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१३. गंगाजी और हिन्दू मानस

●

घनश्याम देखे

मुझे मिले एक महानुभाव,
बोले—" अजी श्रीवर ! तो बताओ,
क्या स्वर्ग में या यमुना निकुंज में—
कहीं किसी ने घनश्याम देखे ?

क्या वे बसे मन्दिर में नृपों के,
या दृष्टि आते कवि-कल्पना में,
या योगियों की गहरी समाधि में-
कभी किसी ने घनश्याम देखे ?"

मैंने कहा- "आज निकुंज शून्य हैं,
सूनी पड़ी हैं ब्रज-बीथिकाएँ।
न कूल में श्री यमुना-निकुंज में
कहीं किसी ने घनश्याम देखे।

न तो बसे क्षीर-समुद्र ही में,
न द्वारका के कनकाभिराम में,
न मन्दिरों के गृह-गर्भ ही में,
न स्वर्ग ही में घनश्याम देखे।

न योगियों की गहरी समाधि में,
न ज्ञान के 'तत्वमसि' प्रमाण में,
न ध्यान में औ' कवि की न तान में,
न गान ही में घनश्याम देखे।

अवश्य ही वे बसते वहाँ हैं
जहाँ दया की सरिता अशेष है।
है नित्य आनन्द विराजता जहाँ
मैंने वहीं श्रीघनश्याम देखे।

छाया जहाँ नित्य पवित्र प्रेम है,
जहाँ यही एक अनन्त नेम है,
निष्काम राधा सम प्रेम है जहाँ
प्यारे वहीं श्रीघनश्याम देखे।

दरिद्र के जीर्ण जरा कुटीर में,
किसान के श्यामल-शस्य खेत में,
विश्वास में निष्ठ-प्रतिज्ञ भक्त के–
प्रसन्न होते घनश्याम देखे।

दुखी जनों की गहरी उसाँस में,
औ' पीड़ितों की करुणार्द्र आह में,
सहायतापेक्ष्य सनीर नैन से
हैं झाँकते श्रीघनश्याम देखे।''

—'रत्नदीप' से

व्यास टीला

[१]

पाथती जहाँ हो देवि ! गोबर के कंडे आज
व्यास ने वहाँ ही तो पुराणों को बनाया था,
वेद पाँचवाँ था रचा यहीं श्रीगणेश जी को–
धाराप्रवाह दिव्य वाणी से लिखाया था।
यहीं जाति मानव को तारने उबारने को
ज्ञान, भक्ति, कर्म का सुमर्म समझाया था।
चूड़ियाँ पछेलियाँ तुम्हारी जहाँ बजती हैं
वहाँ ही उन्होंने ज्ञान गीता का सुनाया था।

[२]

कंडा पाथने में भग्न एक, एक पागुर में,
दोनों ही अजान, यहाँ कैसी कब बीती है।
व्यास के तपोवन ये केवल बबूल आज !
यज्ञ की न वेदी है, न कुटी है, न बीथी है !
शूकर, शृगाल, भैंस, बकरी का अशिव नाद,
इन्हें छोड़ सारी दिशा-मेदिनी भी रीती है।
पाथे जायँ कण्डे, सरकण्डे वहाँ गाँजे जायँ,
और ये सुना है 'अभी हिन्दू जाति जीती है !'

[३]

जीवित जो होती जाति हिन्दू, तो आज धाम–
व्यास का पुनीत, कुछ दृश्य दिखलाता और।
आगम वसंत में न रहता श्मशान-तुल्य,
भक्तों की भीड़ से भरी ही यह होती ठौर।
गीता के ज्ञान का प्रचार यहाँ होता नित्य,
योग यज्ञ सीखने को आते यहाँ कृष्ण गौर।
और जो न होता कुछ, झाड़ू तो लगती यहाँ,
'श्रीवर' ही आके जरा मस्तक झुकाता और।

(कालपी से एक मील पश्चिम यमुना-किनारे व्यास-टीला है जिसे लोग व्यास जी का स्थान बतलाते हैं। वहाँ एक छोटा सा चबूतरा बना था जिसे व्यास-गद्दी कहते हैं। जिस समय हम दर्शनार्थ गये, उस समय एक ग्रामीण युवती उसकी दीवालों पर कंडे पाथ रही थी। पास ही एक बबूल का पेड़ था और सरकंडों तथा करवी के बोझ पास में उसके सहारे रखे थे तथा कुछ बकरियाँ वहीं चर रही थीं, एक भैंस भी गद्दी के पास बँधी थी।)

—'रत्नदीप' से

क्षमा का अधिदेवता

(महात्मा जी के महानिर्वाण पर)

आज गिरि का श्रृंग टूटा,
आज भारत भाग्य फूटा,
विश्व के आकाश का
सबसे बड़ा नक्षत्र टूटा।

सिहर उट्ठी है शिराएँ
रुक गई है रक्त की गति
नयन दृष्टिविहीन से हैं
क्षुब्ध मानस की हुई मति।

बुद्ध था, करुणा द्रवित स्वर
कह रहा था अरे मानव!
क्रोध को अक्रोध से तू—
जीत, मत बन भीत दानव।

कृष्ण के स्वर गूँजते थे
कर्मकर निष्काम रे नर
दुःख सुख का ध्यान मत कर
व्याध ने छोड़ा प्रखर शर

क्षमा के अधिदेवता ने
वधिक के भी हाथ जोड़े
प्रसस्थित वैष्णव परम ने
राम कहकर प्राण छोड़े

शोक आकुल उरों का वह
एक ही विश्राम थल था,
दलित पीड़ित मानवों का
एक ही आधार बल था

राष्ट्र ही अपना नहीं यह
किन्तु मानव जाति सारी
मुक्ति पाएगी, वरे यदि
भक्ति चरणों की तुम्हारी।

टाइटनिक का समाधिगान

चाहे हो वह क्रॉस कष्टकर
हो जिससे मेरा उत्थान।
किन्तु सदा तब भी निकलेगा
मुख से मेरे यह ही गान—
निकट, निकटतर और सन्निकट आते हम स्वामी ! तेरे।

जब सन्ध्या के समय राह से
थका बटोही आता है।
अँधियारे में सोने को वह
केवल पत्थर पाता है।
कुछ ऐसी हो दशा, किन्तु सपने में भी हे प्रभु ! मेरे।
निकट, निकटतर और सन्निकट होऊँगा स्वामी ! तेरे।

वहाँ उस समय हे प्रभु होवे
प्रकट स्वर्ग का सुन्दर द्वार।
जो कुछ भी तू दे, वह होवे
तेरी करुणा का उपहार।
देवदूत संकेत करेंगे आने को अन्दर मेरे।
निकट, निकटतर और सन्निकट, आऊँगा स्वामी ! तेरे।

तेरे कीर्ति-गान से होकर
उज्ज्वल जो हों भाव निदान
प्रकट करूँगा दुःखों से मैं
'बैथल' का अपने उत्थान।
दारुण दुःख और कष्टादिक हैं जितने स्वामी ! मेरे।
निकट, निकटतर और सन्निकट, लावेंगे मुझको ! तेरे।

या सहर्ष जब हुआ दौड़ता
स्वर्गभूमि को आऊँगा।
सूर्य, चन्द्रमा, तारे पीछे—
छोड़—शून्य में धाऊँगा।
तब भी उस आनन्द-दशा में निकलेगा मुख से मेरे।
निकट, निकटतर और सन्निकट, आता हूँ स्वामी ! तेरे।

('टाइटनिक' नामक उस समय का सबसे बड़ा जहाज अटलांटिक महासागर में एक तैरते हिम पर्वत से टकरा कर डूब गया। जो थोड़ी सी नावें थीं उनमें स्त्रियों और बच्चों को बैठाकर कप्तान सहित कई सौ यात्री जहाज के साथ डूब गये। जब जहाज धीरे-धीरे डूब रहा था तब जहाज के बैंड ने प्रसिद्ध मसीही गीत बजाया जिसे यात्री डूबने तक समवेत स्वर से गाते रहे। महात्माजी को यह भजन बहुत प्रिय था)।

—'रत्नदीप' से

हिन्दी

हैं चन्द्रिका चन्द चढ़ा चुके जिसे
कवित्व की है तुलसी चढ़ी हुई
विभूषिता भूषण से हुई जो
हिन्दी, उसी का गुण गान गाइए।

भाषा हमारी यह तो वही है,
पवित्र रामायण है कि जिसमें
औ' सूर ने गा जिसमें चरित्र को
श्री कृष्ण के, ज्योति अनन्त पाई।

अवश्य लज्जास्पद है प्रथा ये
भाषा विदेशी उपयोग हम करें
जहाँ हमारे सब छात्र-वृन्द
करें सदा शारद की उपासना।

पढ़ें हमीं कीर्ति कला प्रताप की,
कथा पढ़ें कृष्णऽरु रामचन्द्र की,
करें हमी तर्क कि ब्रह्म कौन है
परन्तु भाषा बरतें विदेशी।

दीना नहीं है, मलिना नहीं है,
साहित्य से हीन कदापि है नहीं।
भरा हुआ है सर राम गान का
जिसमें, कभी सो न मलीन होगी।

भाषा यही है जिसमें सुना के
स्वतन्त्रता का वह मन्त्र था दिया
पाके जिसे वीर हुए शिवाजी
दे के हुए भूषण हैं कवीन्द्र भी।

भविष्य में हिन्द सुराष्ट्र होगा
क्या राष्ट्र-भाषा तब हो विदेशी
नहीं, नहीं, उक्त भविष्य राष्ट्र की
हिन्दी बनेगी शुभ राष्ट्रभाषा।

औ आज भी दूर भविष्यवर्ती
मुझे अभी है यह स्वप्न दीखता
सुस्पष्ट छाया यह है भविष्य की
कि हिन्द में राष्ट्र महान होगा।

भविष्य के उक्त महान राष्ट्र की
हिन्दी बनेगी शुभ राष्ट्र भाषा।
गली-गली में, अरु गाँव-गाँव में
चर्चा रहेगी इस नागरी की।

लक्ष्मी बनेगी तब हिन्द देवी,
हिन्दी बनेगी तब श्री सरस्वती।
परन्तु दोनों मिल के रहेंगी
ये भक्ति होगी, वह शक्ति होगी।

असंख्य विद्यालय भी खुलेंगे
शिक्षा उन्हीं में तब छात्र पायँगे
परन्तु उनकी जननी रहेगी
यही हमारी शुभ पीठ आज की।

आशा भरोसा सब है तुम्हारा
हिन्दी तुम्हारा मुख है निहारती।
अवश्य सेवा उसकी करोगे
विश्वास ऐसा दृढ़ है हमारा।

—'रत्नदीप' से

●

मैं तुझसे न प्रेम करता हूँ

मैं तुझसे न प्रेम करता हूँ—नहीं प्रेम मैं करता हूँ
फिर भी जब तू पास न होता—दुख की साँसें भरता हूँ।
ईर्ष्या होती मुझे गगन से जो नीलम आभा सम्पन्न
जिसके शांत सितारे तुझको देख-देख कर रहें प्रसन्न।

मैं तुझसे न प्रेम करता हूँ—फिर भी मुझे न कारण ज्ञात
क्यों मुझको अच्छी जँचती है एक-एक सब तेरी बात।
और अकेले में मैं बहुधा रह रहकर पछताता हूँ
क्योंकि प्रेम मैं जिनसे करता उन्हें न तुझ सा पाता हूँ।

मैं तुझसे न प्रेम करता हूँ—किन्तु चला तू जाता है
तब फिर मुझे न सुहृदजनों का कोई शब्द सुहाता है।
क्योंकि सरस तेरे बैनों की गूँज जो कि रह जाती है।
कानों में, वह बोली उनकी मानों उसे मिटाती है।

मैं तुझसे न प्रेम करता हूँ—फिर भी तेरे द्योतक नैन
निज गम्भीर नील आभा से मुझे न लेने देते चैन।
अर्द्धरात्रि के सुप्त गगन में रह-रहकर दिखलाते हैं
इतनी बार न नैन दूसरे मुझे दृष्टि में आते हैं।

मैं तुझसे न प्रेम करता हूँ—मुझे विदित है भली प्रकार
किन्तु हाय। विश्वास करेंगे नहीं अन्य जन किसी प्रकार।
औ बहुधा मैं यही देखता वे मुझ पर मुसक्याते हैं
तेरी तरफ देखते मुझको क्योंकि मुझे वे पाते हैं।

—'रत्नदीप' से

जिनेवा की सुन्दरी

लेमा की नीलिमा से रंजित तुम्हारे नैन
चन्द्र-ज्योत्स्ना से भी हैं सुखद तुम्हारे दृग।
आल्प की सुशांति ने निवास के लिए हैं चुने
मंद मुसकान के सजीव ये अनूठे नग।

इन्हें न उठाओ, नैन नीचे ही रखो देवि !
बिना ही उठे तो ये रहे हैं चित लाखों ठग।
इनके प्रकाश से मुझे है यह शंका घोर।
सो रही है कविता जो हृदय में सो उठेगी जग।

कविता उठेगी जग प्रेरित हो तुम्हारे नैन
विधि की वह बनिता तुव प्रतिछवि उपजावेगी।
तुम ही सी दूसरी लुभावनी हृदयहारी
तोखे नैनवारी एक मोहिनी बनावेगी।

होवेगी अमर वह युगों और कल्पों को
सुरसिक जनों के लिए बला हो जावेगी।
एक ही अकेली तो किये हो तुम शांति भंग,
दूसरी जो होगी विश्व-क्रान्ति मच जावेगी !

(जिनेवा एक विशाल झील पर बसा है जिसका नाम लेमो है। उसका जल अत्यन्त पारदर्शी और नीला है। नगर के पास ही आल्प्स पर्वत है और वहाँ से उसका सबसे ऊँचा शृंग (मौण्ट ब्रैंक) दिखायी पड़ता है। यह तरुणी दुकान में आँखें नीचे करके किसी वस्तु को देखने लगी और जब तक हम लोग दुकान में रहे, उसने आँखें नहीं उठायीं।

—'रत्नदीप' से

अजेय मानव

कोमल कुसुमों को ले कर में स्मर ने संधाने पंच बान।
नर-हृदय अरे कितना भोला ! बिंध गया समझ उनको कृपान।
यह केवल उसकी दुर्बलता, है नहीं कुसुम को तनिक श्रेय,
वह अपने से ही गिरता है, वैसे तो मानव है अजेय।

●

मुख छवि

(रामायण, अयोध्या काण्ड के एक मंगलाचरण का अनुवाद)

जो अभिषेक की बात सुनी
तो प्रसन्नता नेकु परी न दिखाई
औ बनवास की आयसु पै—
नहिं रेख कछू दुख की तहँ आई
जो दुख में न मलीन भई,
सुख में नहिं जो कछुहू हरषाई
सो मुख-श्री रघुनन्दन की शुभ
होइ सबै नित मंगलदायी।

—'रत्नदीप' से

तब और अब

(एक परिचित युवती के विधवा होने पर)

तब

उस दिन मैंने देखा था तब विविध रंग-रंजित सारी
शोभा पाती थी, शरीर पर लगती बड़ी मनोहारी।

कुन्दन और गुलाब मिलाकर जो आभा आ सकती है
ऐसा भासा वह भी उसकी द्युति को पा नहिं सकती है।

सुघराई और रूप निकाई तथा लुनाई छाई थी,
उस पर रोली की बिन्दी ने छवि सौगुनी बढ़ाई थी।

उसे देख सब कहते थे—जिस प्रभु ने चम्पा उपजाई
उसने ही सर्वोच्च कला की कृति अपनी यह दिखालाई।

और अब

किन्तु आज यह स्वेत बसन औ स्वेत म्लान मुख सहसा देख
प्रश्न यही उठता "क्या विधि का नष्ट हो गया सभी विवेक ?"

मूर्तिमती सुन्दरता की क्या वही मूर्ति मैं रहा निहार ?
नहीं-नहीं,—यह मालुम पड़ता करुणा देवी का अवतार।

यौवन होकर नहीं,—रंग वह नहीं, न वह लवणाई है।
मन्दस्मित मुसक्यान हर्ष की पड़ती नहीं दिखाई है।

तम में मिली शुभ्र रजनी में जो अपूर्व सुन्दरताई
दुख की नीरवता से मिश्रित, वही आज उसने पाई।

जीवन चंद्र छोड़कर जिसको होकर गया स्वलोक पयान
तिमिरमयी जीवन रजनी में उसके कौन सिवा भगवान ?

—'रत्नदीप' से

संसार की रीति

हँसो,—और सब जग को सँग में हँसते ही तुम पाओगे
रोओ,—और अकेले ही में रोते तुम रह जाओगे।

क्योंकि वृद्ध पृथ्वी तो अपने स्वयं दुःख की मारी है
वह आनन्द तुम्हारे सुख की भूकी बहुत बिचारी है।

गाओ,—और पहाड़ी मिलकर प्रतिध्वनि तुरत सुनावेंगी
जरा कराहो, आह हवा में निष्फल हो मिल जावेंगी।

क्योंकि तुम्हारे सुख का पूरा इच्छुक है यह सब संसार
किन्तु तुम्हारे दुःख दर्द का कोई न होगा साझीदार।

दावत दो,—औ देखो आँगन कैसा भरा तुम्हारा है
लंघन करो,—न कोई भूल कर कभी झाँकता द्वारा है।

यदि हो सफल दान तुम दोगे, तो तुम रहने पाओगे
किन्तु कहीं यदि असफल होगे, बिन पूछे मर जाओगे।

(अंग्रेजी की 'लाफ ऐंड द वर्ल्ड लाफ्स विद यू' नामक कविता का छायानुवाद)—'रत्नदीप' से

वियना की सड़क

वियना की सड़क !
वियना की सड़क !

पर्वत पर चक्कर खाती हुई
घाटी की सैर कराती हुई
बादल से सिर टकराती हुई
पाताल की थाह लगाती हुई
जंगल की हवा खिलाती हुई
खेतों में भी लहराती हुई
उद्यानों में मुसक्याती हुई
झरनों को नाच नचाती हुई
चिड़ियों की तान सुनाती हुई
फूलों की गंध सुँघाती हुई

बादल-सी गर्द उड़ाती हुई
बीसों पुल पीछे छुड़ाती हुई
झीलों को छटा दिखाती हुई
गलियों-कूचों में फिराती हुई
भोले लोगों से मिलाती हुई
अनुराग की आग जलाती हुई
रुलाती हुई औ हँसाती हुई
दरसाती हुई बिछुड़ाती हुई
बलखाती हुई अठलाती हुई
नागिन की चाल से जाती हुई

ऊँची—नीची
पत्थर से बिछी
अचरज से भरी
वियना की सड़क।

[१]

जब हम श्यामा के साथ चले
वियना की सड़क ! वियना की सड़क !
अपने मन में कहने ये लगे
वियना की सड़क ! वियना की सड़क !

[२]

हे राम ! मिले बस ऐसी सड़क
हो जिस पर गर्द गुबार नहीं।
कंकड़ ही कुटा हो अच्छी तरह
हो बिछा न जो अस्फाल्ट कहीं।
गच-सी पक्की हो, हो जिस पर
मोटर का अत्याचार नहीं।
हो ऐसी सड़क
वियना की सड़क।

[३]

होवे न कहीं भी धूप कड़ी
पानी की लगे न जरा भी झड़ी।
कुछ हर्ज न हो जो घटा खड़ी
बिजली की तड़प, बादल की भड़क।
हाँ, हो ऐसी
वियना की सड़क !

[४]

जो कुछ भी न हो तो राम हरे।
उल्टे मेरे आँधी न चले।
स्वीकार मुझे सूरज की तड़प
ऊँची-नीची कंकड़ की सड़क
न हो उल्टी हवा
वियना की सड़क !

[५]

फिर जब 'श्यामा' के साथ चले
आकाश से 'वाटर फाल' मिले
पाताल से गहरे ताल मिले
मीलों तक नीचे ढाल मिले
नभ-चुम्बी ताल तमाल मिले
अचरज से भरी
वियना की सड़क !

[६]

लहराते हरे वह खेत मिले
जंगल फल-फूल समेत मिले।
पर्वत हिम से सब सेत मिले
मीलों तक ऊसर रेत मिले।
ऐसी विचित्र
वियना को सड़क !

[७]

चिड़ियों का मीठा राग सुना
बच्चों का मधुर अलाप सुना
नदियों का कलरव गान सुना
हिम-नद का घोर निनाद सुना।
सप्तम पूरित
वियना की सड़क !

[८]
हँसते लड़के-लड़कीं देखीं
युवकों की रंग-रलियाँ देखीं।
साँचे में ढली सूरत देखी
सूरत क्या बस परियाँ देखीं।
सुंदरतामय
वियना की सड़क !

[९]
आँधी से लड़ना पड़ा हमें
पानी से भिड़ना पड़ा हमें।
पर्वत पर चढ़ना पड़ा हमें
तिल-तिल कर बढ़ना पड़ा हमें।
कुछ सहल न थी
वियना की सड़क !

[१०]
आँधी और गर्द-गुबार मिले
मोटर, गड्ढे औ गार मिले।
दर्रों के भी सरदार मिले
लफ्टण्ट सुशील कुमार मिले।
थी ऐसी खरी
वियना की सड़क !

[११]
कंकड़ भी मिले,
पत्थर भी मिले
जंगल, झाड़ी, झंखाड़ मिले
औ छाती-फाड़ पहाड़ मिले
उफ ऐसी कड़ी
वियना की सड़क !

[१२]
हिम कण की सरदी मिली कहीं
औ नरक अग्नि-सी धूप कहीं
भागे सब होश हवास कहीं
बस छूटे केवल प्रान नहीं।
थी पूरी बला
वियना की सड़क !

[१३]

सिर पर-सूरज की धूप कड़ी,
नीचे-पत्थर, कंकड़, बजड़ी।
दीवार-सी सन्मुख सड़क खड़ी
औ तीर-सी उल्टी हवा बढ़ी
मानों कहती थी वह यूँ अड़ :–
बस रुक, "पीछे हट, अब मत बढ़।
हलुआ है नहीं
वियना की सड़क !"

[१४]

मैंने ये कहा "कह, क्या तूने
चकबस्त के हैं यह शब्द सुने ?
"आगाज़ में कब आजादों ने
बेकार गमे अंजाम किया ?
हो ज़ोरो जफ़ा या ज़ुल्मो-सितम
पीछे को नहीं पड़ने को कदम
जिसने ये कहा रुक जायेंगे हम !
वल्लाह ! ख़्याले-ख़ाम किया।"
मत मुझसे अकड़,
वियना की सड़क !

[१५]

फिर तो हुज्जत भरपूर हुई,
मेहनत भी बहुत जरूर हुई।
मेरी तो रग-रग चूर हुई
पर उसकी अकड़ भी दूर हुई।
तै कर डाली
वियना की सड़क !

[१६]

आई वियना,–आराम करें
डैन्यूब में तैरें, स्नान करें।
तुझको 'ग्रिस्कोत' सलाम करें
हिन्दू ढँग से 'जैराम' करें
तुम प्यारी सड़क
वियना की सड़क !

—'रत्नदीप' से

टाल्स्टाय के अन्तिम दिन और महाप्रयाण

•

अब हम महात्मा टाल्स्टाय के अन्तिम दिवसों का वर्णन करने के लिये उपस्थित हुए हैं। ख्याति के साथ ही उनका कार्य भी बढ़ गया था। उनके पास नित्य ही अनेक विद्वान और दर्शनों के लिए उत्सुक व्यक्ति मिलने के लिये आया करते थे। उनका पत्र व्यवहार बहुत अधिक था। वृद्धावस्था की दुर्बलता उन-पर अपना प्रभाव डाल चुकी थी। किन्तु उनमें वह आध्यात्मिक जागृति, जो बहुत पहिले हो चुकी थी और जिसने ठीक स्वरूप सत्तर वर्ष की अवस्था में लिया था, उनके ऊपर अपना प्रभाव जमाने लगी। उस समय उन्होंने केवल एक ग्रन्थ लिखा। उसका नाम है 'ए साइकिल इन रीडिंग'। उनका स्वभाव अपनी पुस्तकों की प्रशंसा करने का नहीं था, किन्तु इस पुस्तक के बारे में वे लिखते हैं कि लोग मेरी सब बकवाद भूल जायेंगे, किन्तु यह ग्रन्थ मेरे बाद भी जीवित रहेगा।

इस वाक्य से उस पुस्तक के महत्त्व का परिचय मिल जायगा। इस पुस्तक में उन्होंने एक धर्म का बीज आरोपण किया है, जो भविष्य में चलकर बहुत सम्भव है कि मनुष्य जाति का धर्म हो जाय। किन्तु इस पुस्तक के सिवाय अपने अन्तिम दिनों में उन्होंने कोई विशेष साहित्य सेवा नहीं की। उनका मन अपने सिद्धान्तों के ऊपर विचार करने में लगा रहता था। वे अपने जीवन के रहने के ढंग को अपने सिद्धान्तों

के विपरीत समझते थे और उन्होंने कई बार घर छोड़कर कहीं एकान्त में चले जाने का विचार किया। किन्तु फिर उन्होंने सोचा कि यह कार्य बड़ा स्वार्थमय है क्योंकि इससे उनके घर वालों को बड़ी मानसिक वेदना होगी। अतएव उन्होंने यह निश्चय किया कि जब तक उनके साथ रहना बिलकुल ही असम्भव न हो जाय, तब तक वे घर न छोड़ेंगे।

सन् १८९७ ई० में उन्होंने अपनी स्त्री के नाम एक पत्र लिखा किन्तु वह श्रीमती के पास भेजा नहीं गया। उसके ऊपर लिखा था "मेरी मृत्यु के बाद दिया जाय।" उस पत्र का अनुवाद नीचे दिया जाता है।

प्रिय सोनया,

मेरे धार्मिक सिद्धान्तों और मेरे जीवन में जो परस्पर विपरीतता है उसके कारण मुझे बहुत दिनों से मानसिक वेदना हो रही है। मैं तुम्हें जीवन के इस ढंग को छोड़ने के लिये बाध्य नहीं कर सकता क्योंकि मैंने ही तुम्हें इस ढंग में ढाला है। और मैं तुम्हें अब तक इस कारण से नहीं छोड़ सका कि लड़के अभी तक छोटे थे, और उन पर मेरे प्रभाव की आवश्यकता थी। फिर मुझे यह भी भय था कि मेरे इस कार्य से तुम्हें दुःख होगा। किन्तु जिस प्रकार, मैं सोलह वर्ष से तुम से लड़ते झगड़ते तुम्हें नाराज करते, इन सुखों से, जिनमें मैं घिरा हूँ और जिनका मैं आदी हो गया हूँ, मोह करते हुए जीवन व्यतीत कर रहा हूँ उस प्रकार मैं अब और अधिक दिनों तक नहीं रह सकता। और अब मैं वह कार्य सम्पन्न करना चाहता हूँ जिसको करने की मेरी बड़ी इच्छा है—अर्थात मैं तुम लोगों से विदा होकर अन्यत्र जाना चाहता हूँ। इसके कई कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि ज्यों-ज्यों मेरी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मेरा जीवन मुझे अधिक कष्टकर मालूम होता है और मुझ में एकान्त सेवन की इच्छा प्रबल होती जाती है। दूसरा कारण यह है कि लड़के अब सयाने हो गए हैं, मेरा प्रभाव अब घर पर आवश्यक नहीं है और तुम लोगों के ध्यान आकर्षित करने के लिए बहुत सी बातें पैदा हो गई हैं। इन्हीं कारणों से तुम्हें मेरा न रहना कुछ मालूम न पड़ेगा। किन्तु विशेषकर हिन्दुओं की तरह, जो साठ वर्ष की अवस्था में जंगल को चले जाते हैं, प्रत्येक वृद्ध मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम दिन ईश्वर के भजन में लगाना चाहता है। वह उन दिनों को गप्पों, मजाक, खेल, टेनिस में व्यतीत नहीं करना चाहता। अतएव मैं सत्तर वर्ष की अवस्था प्राप्त कर, विश्राम और एकान्त की उत्कट इच्छा करता हूँ। और यदि मैं अपने जीवन को अपने सिद्धान्तों के अनुसार न भी चला सकूँ तो यह भी नहीं चाहता कि जीवन व्यतीत करने के ढंग और मेरे धार्मिक विश्वासों तथा विवेक बुद्धि में बहुत अधिक भेद हो। यदि मैं अपने इस विचार को प्रगट रूप से कार्य में परिणत करने की चेष्टा करूँ तो लोग मुझसे विनय करेंगे, प्रार्थना करेंगे, शिकायत करेंगे ओर सम्भव है कि वे मुझे अपने इस विचार से डिगा दें।

अतएव यदि मेरे इस कार्य से तुम लोगों को कष्ट हो, तो तुम सब लोग, किन्तु विशेष कर सोनया तुम, मुझे क्षमा करना। तुम लोग प्रसन्नतापूर्वक मुझे जाने को अनुमति दे दो, मेरी खोज मत करो, मेरे विरुद्ध शिकायत मत करो और मुझे दोष मत दो।

यदि मैं तुम्हें छोड़ता हूँ तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि मैं तुमसे असंतुष्ट हूँ। मैं इसे भलीभाँति जानता हूँ कि जिस प्रकार मैं बातों को देखता और समझता हूँ उस प्रकार तुम कदापि उन्हें न तो देख सकती हो और न समझ सकती हो और इसी कारण से तुम अपने जीवन के ढंग को बदल भी नहीं सकती और न उसके लिये कुछ बलि दे सकती हो। उसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकती। अतएव मैं तुम्हें दोष नहीं देता, बल्कि मैं उन पैंतीस वर्षों को बड़ी कृतज्ञता और प्रेमपूर्वक याद करता हूँ जो मैंने तुम्हारे साथ

बिताए हैं और विशेष कर इस जीवन के प्रथम भाग को, जब तुमने अपना कार्य बड़ी दृढ़ता के साथ किया था। तुमने मुझे और संसार को वह सब दिया जो तुम दे सकती थीं। तुमने मातृस्नेह दिया और इसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। किन्तु जीवन के अन्तिम भाग (पन्द्रह वर्ष) में हम दोनों आपस में खिच गये। मैं अपने को गलत नहीं कह सकता क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अपने लिये या दूसरों के लिये नहीं बदला। किन्तु मैं अपने स्वभाव के परिवर्तन रोक नहीं सकता, और साथ ही मैं तुम्हें भी इस लिये दोष नहीं दे सकता कि तुम मेरे साथ नहीं बदलीं। बल्कि इसके विपरीत मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ और तुम्हें सप्रेम याद करता हूँ और उसको सप्रेम याद रखूँगा जो तुमने मुझे दिया है।

अन्तिम नमस्कार, प्रिय सोनया,

तुम्हारा स्नेही

८–२० जुलाई १८९७ लिओ टाल्स्टाय

इसी प्रकार का एक पत्र उन्होंने अपनी स्त्री को १९१० के जुलाई मास में लिखा था। अपना घर छोड़ने से एक सप्ताह पहिले उन्होंने अपना विचार अपने किसान मित्र माइकेल नोवीकोफ से कहा। छठवीं नवम्बर को उन्होंने नोवीकोफ को एक पत्र भेजा। उसमें यह लिखा था :—

"जो कुछ मैंने तुमसे उस दिन कहा था उसके बारे में मुझे तुमसे एक निवेदन करना है। यदि मैं सचमुच तुम्हारे पास आऊँ तो क्या तुम मेरे लिये एक अलग गर्म झोपड़ी का प्रबन्ध कर सकोगे। यह झोपड़ी चाहे जितनी छोटी हो, कुछ परवाह नहीं। एक बात और—यदि तुम्हें तार भेजने की आवश्यकता होगी तो मैं अपना नाम न लिख कर टी० निकोलीफ़ के नाम से हस्ताक्षर करूँगा। इसका ध्यान रहे कि यह बात हमारे तुम्हारे ही बीच में रहे।"

दसवीं नवम्बर को उन्होंने अपना विचार दृढ़ किया। उस दिन वे बड़े तड़के उठे। उन्होंने यात्रा का जल्दी-जल्द प्रबन्ध किया और सबसे पहिले अपनी स्त्री को एक पत्र लिखा।

सवेरे ४ बजे, नवम्बर १९१०

मेरे विदा होने से तुम्हें कष्ट होता है। इसका मुझे शोक है। किन्तु मैं क्या करूँ, मैं इसके विरुद्ध कार्य करने, विचार करने और विश्वास करने में असमर्थ हूँ। घर पर मेरी अवस्था असहनीय हो गई है। इसके अतिरिक्त मैं उस विलासपूर्ण जीवन में नहीं रह सकता जिसमें मैं रहता आया हूँ, और अब मैं वही करता हूँ जो मेरी अवस्था के वृद्ध साधारणतया किया करते हैं अर्थात् मैं सांसारिक जीवन से अलग हुआ जाता हूँ और अपने शेष दिनों को शान्ति से व्यतीत करने की चेष्टा करता हूँ।

मेरा अभिप्राय कृपया ठीक-ठीक समझ लो और यदि तुम्हें मेरा स्थान मालूम भी हो जाय तो भी तुम मेरे पास न आना। यदि तुम यह करोगी तो मेरा तुम्हारा सम्बन्ध अधिक विगड़ आयगा और मैं अपने विचार से कदापि न डिगूँगा।

मैं तुम्हें अड़तालीस वर्ष के मेरे साथ उचित जीवन व्यतीत करने के लिये धन्यवाद देता हूँ और मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम मेरी भूलों को क्षमा करना। मैं भी हृदय से तुम्हारी उन सब बातों को, जिन्हें मैं दोष समझता हूँ, क्षमा किये देता हूँ। मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि मेरे चले जाने से जिस अवस्था में तुम पड़ जाओ, उस पर सन्तोष करो। यदि तुम मुझसे पत्र व्यवहार करना चाहो तो सेशा से कहना। वह जानती है कि मैं कहाँ हूँ। किन्तु वह तुम्हें मेरा स्थान नहीं बतलावेगी।

पुनश्च—सेशा से मैंने अपनी हस्तलिपियों और अन्य वस्तुओं को संग्रह कर मेरे पास भेजने के लिये कह दिया है।

इसके बाद उन्होंने अपनी कन्या सेशा और अपने मित्र डाक्टर मेकोविट्स्की को जगाया और उनकी सहायता से असबाव बाँधा। इसके बाद वे एक गाड़ी पर डाक्टर के साथ सवार हो कर शैकीनो स्टेशन को चले। वे रास्ते भर पीछा किये जाने के भय से काँप रहे थे। अन्त में वे गाड़ी में सवार हो गये और गाड़ी चल दी। अब उनका चित्त स्थिर हो गया। अपने विचार के औचित्य के बारे में उन्हें कुछ भी सन्देह नहीं था, किन्तु अपनी स्त्री के लिये उन्हें कुछ दया हो आई। सन्ध्या को वे आष्टिन मठ में पहुँचे जहाँ उनकी संन्यासिनी बहिन मेरी थीं। वहाँ उनका खूब स्वागत किया गया।

किन्तु महात्मा का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। यात्रा के आरम्भ ही से उनको कष्ट हो रहा था। पहिले तो केवल कमजोरी और सुस्ती ही मालूम पड़ती थी किन्तु पीछे से उन्हें सर्दी लग गई और इसी कारण उनको ज्वर आ गया। जब उनका शरीर ठीक न रहा तब उन्होंने ठण्डे देश को छोड़ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया, किन्तु रास्ते में उनकी तबियत इतनी बिगड़ी कि उनके साथी डाक्टर मास्कोवी और सेशा ने सलाह करके उनको रास्ते के एक छोटे स्टेशन पर उतार लिया। इसका नाम अस्टापोवो है और यह अरल-रायज़ाँ रेलवे का एक छोटा सा स्टेशन है। जब इस स्टेशन के स्टेशन मास्टर श्रीयुत आइवन ओसोलेन को मालूम हुआ कि यह बीमार व्यक्ति कौन है तब उन्होंने तत्काल अपने उदार हृदय का परिचय दे अपने कमरों को उनके लिये खाली कर दिया।

१२ नवम्बर के समाचार पत्रों ने सारे संसार में यह खबर पहुँचा दी कि टाल्स्टाय ने सदा के लिए अपने गृह का परित्याग करके वैराग्य ले लिया है। उन्होंने अपने घर ही का परित्याग नहीं कर दिया किन्तु उन्होंने अपने को संसार से अलग कर लिया है। तभी से सारा विचारशील संसार इस महात्मा सम्बन्धी समाचारों को जानने के लिए उत्सुक हो उठा। जो लोग महात्मा को एक सनकी व्यक्ति कहकर उनका मजाक उड़ाया करते थे, वे भी उस वृद्धावस्था में अपने विचारों को व्यवहार में परिणत करने के लिए उनकी प्रशंसा करने लगे।

किन्तु उनके शारीरिक जीवन का दीपनिर्वाण बहुत समीप था। सर्दी और कमजोरी के कारण उनके फेफड़े सूज आए और वे स्वयं समझ गये कि उनका अन्त समय आ गया। प्रायः अन्त तक उनको संज्ञा रही। वे बराबर बातचीत करते रहे। वे पत्रों को बड़े ध्यानपूर्वक सुनते, बातें करते और मजाक भी कर उठते थे। किन्तु जब कभी उनको उस समय की गम्भीरता की भी याद आ जाती थी और वे उस समय बड़े गम्भीरता-पूर्ण शब्द बोल उठते थे। मरने से चार दिन पहिले तक वे अपनी डायरी बराबर लिखते रहे। उस डायरी के अन्तिम शब्द ये हैं :—

"जो कुछ है वह सब अच्छे ही के लिये है, इसी में मेरी भलाई है और सभों की भी भलाई है।"

उनकी मृत्यु बड़ी शान्त हुई। पहिले तो उन्हें कुछ देर गहरी साँस आती रही; फिर वह बहुत धीमी हो गई। मृत्यु से कुछ मिनट पहिले यह धीमी साँस भी बन्द हो गई। कुछ देर के लिए बिल्कुल सन्नाटा छाया रहा। अन्त में दो बहुत ही हल्की साँसें आईं! और उन्हीं दो साँसों के साथ ही संसार के सर्वश्रेष्ठ आधुनिक महात्मा के प्राणपखेरू उड़ गये।

× × × ×

२२ नवम्बर को उनका शरीर अस्टापोवो से सासेका स्टेशन पर पहुँचाया गया। वहाँ उनके कुछ सम्बन्धी, मित्र, असंख्य, विद्यार्थी, किसान, मास्को की सभाओं के प्रतिनिधि इत्यादि उनके मृत शरीर के

प्रति आदर दिखलाने के लिये उपस्थित थे। वहाँ से उनका कफन यासनाया पालियाना प चाया गया। कुछ किसान उसे अपने कन्धों पर उठाए हुए थे। उस साधारण लकड़ी के कफ़न के साथ हजारों मनुष्यों के गले मिलकर मृत्यु समय के गाने गा रहे थे। इस सादे दृश्य ने लोगों के हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। सबसे आगे दो किसान थे जो लकड़ियों के सहारे एक झण्डे को लिये जा रहे थे। उस पर लिखा था—

तुम्हारे अच्छे कामों की स्मृति हमारे बीच में कभी न मरेगी।
''तुम्हारे बिना यासनाया पालियाना के अनाथ किसान।''

कफ़न यासनाया पालियाना में पहुँचाया और घर के एक कमरे में रख दिया गया। उसका ढक्कन खोल दिया गया। वहाँ जाकर हजारों मनुष्य अपने प्यारे गुरु के अन्तिम दर्शन करने लगे। भक्ति और शोक से विह्वल दर्शकों का ताँता बँध गया।

अन्त में यह कृत्य भी समाप्त हुआ। लोग मृत्यु काल के समय पढ़े जाने योग्य गीत गाने लगे। महात्मा के पुत्र उनका मृत शरीर उठाकर ले चले। जितने लोग वहाँ उपस्थित थे वे सब इस महात्मा के बचे हुए नश्वर शरीर के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए घुटनों के बल बैठ गए। उनकी रथी आगे बढ़ी। यासनाया पालियाना की गलियों में होकर वह चली। उद्यानों और पास के जंगल में होकर वह गुजरी और अन्त में वह उस स्थान पर पहुँची जहाँ सड़क के किनारे जंगल से लगकर, उनके शरीर के लिए समाधि खोदी गई थी। यह वही स्थान था जहाँ प्रायः सत्तर वर्ष पहिले उनके बड़े भाई ने वह काल्पनिक हरी छड़ी गाड़ी थी जिसमें वह भेद लिखा था जिसके जानने से मनुष्य मात्र सुखी हो सकते थे। उसी स्थान पर उस महात्मा का शरीर जगज्जननी वसुन्धरा की गोद में सौंपा गया, जिसका जीवन मनुष्य जाति को सुखी करने, शान्ति का प्रचार करने, दीन, दुखी और दुर्बलोंको सुखी करने में व्यतीत हुआ था, जिसने आत्मबल, प्रेम, और विचार के मन्दिर में अपना जीवन न्योछावर कर दिया था।

इसी स्थानपर महात्मा ने अपने भाई की स्मृति में गाड़े जाने की इच्छा की थी। वहीं उनकी समाधि तैयार की गई। समाधि खोदते समय एक ऐसी घटना हो गई जिससे मालूम पड़ सकता है कि लोगों के हृदय में उन्होंने कितना स्थान पाया था। जब समाधि खोदी जाने लगी तब गाँव के सभी लोगों ने उसे खोदने की इच्छा प्रकट की। अतएव सब लोगों ने मिलकर—एक एक फाँवड़ा चला कर—वह समाधि तैयार की। यह समाधि तो उनके शरीर के लिये थी, किन्तु उनकी आत्मा के लिये प्रेममय समाधि—नहीं, नहीं, प्रेम-मय मन्दिर—उन सबके हृदय में वर्तमान था।

कफ़न समाधि में लटकाया गया। असंख्य लोगों ने जो वहाँ उपस्थित थे—घुटनों के बल बैठकर और सिर झुकाकर महात्मा की आत्मा के लिए—जिसने सदा उनकी आत्मा के लिये प्रार्थना की थी—प्रार्थना की। उस कफ़न पर 'मट्टी में मट्टी' और 'धूल में धूल' पढ़ते हुये मट्टी डाली जाने लगी। थोड़ी देर में उनका पार्थिव शरीर, सदा के लिये लोगों की दृष्टि से लुप्त हो गया। जो जिसका था वह उसमें जा मिला। मट्टी-मट्टी में मिल गयी। आत्मा भी परमात्मा में मिल जाय!

टाल्स्टाय की मृत्यु का समाचार उसी दिन जातियों के मुख रूपी पत्रों द्वारा सारे संसार में फैल गया। प्रायः एक मास के लिये आधुनिक संसार के इन व्यग्रता प्रेमियों को व्यग्र रहने के लिये अच्छा मसाला मिल गया। एक महीने तक उनके बारे में चित्रों और लेखों से वे अपने कलेवर रँगते रहे। धीरे-धीरे टाल्स्टाय के बारे में लेखादि कम होने लगे और दो ही महीने के भीतर इन व्यक्तियों के लिये टाल्स्टाय भूतकाल की वस्तु हो गये—और पत्रों ने उनका जिक्र करना छोड़ दिया।

किन्तु यह प्रश्न उठता है कि क्या टाल्स्टाय को संसार इतनी शीघ्रता के साथ भुला देगा ? क्या उनके शरीर के साथ ही उनका कुल प्रभाव चला गया ? क्या उन्होंने हमको इतने मूल्य की कोई वस्तु नहीं दी कि हम उनकी मृत्यु के बाद दो महीने भी उनको न याद रख सकें और क्या वें संसार से चले गये ?

जिन लोगों को महात्मा के साथ साक्षात करने का सौभाग्य प्राप्त था और जो लोग उनके भाव तथा विचार ही नहीं किन्तु उनकी आत्मा से भी परिचित थे, उनका कथन है कि महात्मा का प्रभाव इतना क्षणिक नहीं है। उनका प्रभाव हमारी संतान की संतान अनुभव करेगी और भविष्य के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक प्रश्नों को हल करते समय लोग उनके विचारों से काम लेंगे।

महात्मा को अमर और विश्व की वस्तु बनाने के लिये उनमें कई एक गुण वर्तमान थे। पहिला गुण तो यह था कि वे भारतीय नेताओं की तरह केवल पढ़े लिखे लोगों ही के विचारों को प्रगट न करते थे और न उनकी तरह पढ़े लिखे लोगों ही को सम्बोधन करते थे। वे मनुष्य जाति के सच्चे नेता थे—वे मनुष्य मात्र को सम्बोधन करते थे। उनके शब्दों से अपढ़ किसान, स्कूल और कालेज के विद्यार्थी, विश्व-विद्यालयों के अध्यापक, दार्शनिक और वैज्ञानिक, सिद्धान्तहीन राजनीतिज्ञ, कुली और मजदूर, कारीगर और धनी सभी को सन्तोष प्राप्त होता है। लेखक के लिये यह गुण थोड़ा नहीं है। उनकी लेखन शैली की सादगी अवर्णनीय है। उनकी उन्हीं कहानियों को तो किसान भी बड़े चाव से मनोरंजन के लिये पढ़ते हैं, और उन्हीं कहानियों को बड़े-बड़े विचारशील पढ़कर उनसे अपनी ज्ञान पिपासा मिटाने की चेष्टा करते हैं। उनमें इतनी प्रतिभा थी कि वे लोग भी, जो कि उनको एक झक्की और स्वप्न देखनेवाला कहा करते थे, उनके कथन को बड़े ध्यान से सुनते थे।

लोगों का विश्वास है कि सर्वप्रिय होने के लिए मीठी बातों का उपयोग करना अत्यन्तावश्यक है। किन्तु यह सत्य नहीं है। यदि यह सत्य होता तो टाल्स्टाय, जो बड़े समालोचक थे, कभी सर्वप्रिय न हुए होते। सर्वप्रिय होने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, अर्थात् शुद्ध हृदय और निष्कपट प्रेम, वे दोनों ही उनमें वर्तमान थे। इन्हीं गुणों के कारण वे सर्वप्रिय थे। उनकी जाहिरा कड़ुई बात भी उनके हृदय की पवित्रता और अमिश्रित प्रेम में मिली हुई होती थी। उनकी समालोचना व्यक्तिगत मनोविकारों के कारण नहीं होती थी। इन्हीं कारणों से उनको यह सर्वप्रियता और 'अजातशत्रुता' प्राप्त करने का सौभाग्य लब्ध हुआ था।

उनकी सर्वप्रियता का दूसरा कारण यह है कि उनका उद्देश्य और साधन दोनों ही (Constructive) बनानेवाले होते थे। नैपोलियन की सर्वप्रियता दूसरों को नष्ट करने के कारण हुई थी और जब दूसरों ने नैपोलियन को नष्ट कर दिया तब वह भी नष्ट हो गई। किन्तु टाल्स्टाय की सर्वप्रियता जीवन लेने के लिए नहीं, जीवन देने के कारण हुई—वह इस लिए कि उन्होंने जीवन के सार का ज्ञान अपने समय के जड़वादियों को दिया। अतएव वह कदापि नष्ट नहीं हो सकती। उन्होंने जीवन के जिस ज्ञान का उपदेश दिया वह मनुष्य को सब कुछ छोड़ कर बाबाजी बन जंगल भाग जाने के लिए नहीं कहता, किन्तु वह कहता है कि जीवन को अधिक पूर्ण करो, जीवन को अधिक स्वतन्त्र बनाओ, उसको अधिक सुखी करो और अधिक मनुष्यत्व प्राप्त करने की चेष्टा करो।

तीसरी बात जो टाल्स्टाय की विशेषता थी वह यह थी कि उनको भविष्य में भरोसा था। वे ऐसे देश में उत्पन्न हुए थे जो सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक कुरीतियों और बुराइयों के लिए बदनाम है। उन्हें अहर्निश उन्हीं बुराइयों के बीच रहना पड़ता था। उन्हें इन बुराइयों की अतुलशक्ति का अन्दाजा था,

किन्तु उन्होंने कभी यह विचार नहीं किया कि भविष्य इन बुराइयों को दूर न कर सकेगा। हम फिर दुहराते हैं कि उन्हें भविष्य में विश्वास था और यह भविष्य का विश्वास मनुष्य के लिए एक अपूर्व वर है। उसके लिए यह एक अप्रतिम शक्ति है। जिस मनुष्य ने भविष्य में विश्वास नहीं किया वह उस नाविक के समान है जो लहरों की दया पर और तूफान की कृपा पर अपनी नाव छोड़ कर भाग्य ठोक कर एक कोने में बैठ जाता है।

टाल्स्टाय का चौथा गुण उनकी अकृत्रिम सादगी और मिलनसारी थी। उनके घर के बाहर ही (यासनाया पालियाना में) एक बड़ा पेड़ था। इस पेड़ को लोग 'गरीबों का पेड़' कहा करते थे। इस पेड़ के नीचे महात्मा बहुधा बैठा करते थे। वहाँ दरिद्र किसान उनसे मिलने के लिए दूर-दूर से आकर बैठते थे। इसी स्थान पर महात्मा उनसे मिलते थे और उनसे बातचीत करते तथा उनको मित्रभाव से सलाह दिया करते थे। कोई भी और विशेषकर दीन दरिद्री, उनसे प्रत्येक समय मिल सकता था। संसार के बड़े-से-बड़े विद्वान उनसे मिलने जाते और वे उनसे उसी बेतकल्लुफ़ी और खुले दिल से मिलते जिससे वे दीन दरिद्रों से मिलते थे। किसानों से मिलते समय वे उनके योग्य बातें करते, उनके योग्य कहानी कहते और उन्हीं के योग्य विषय उठाते। किन्तु जब वे किसी विद्वान से मिलते तब उसी सादगी से बड़े-बड़े विषयों को भी उठा लेते थे।

वे सम्पन्न थे, सुखी थे। मनुष्य को सुख के लिए जिन बातों की आवश्यकता है वे सब उनके लिए उपस्थित थीं। किन्तु तब भी वे बहुधा दुखी रहा करते थे। उनका यह दुःख अपने लिए नहीं था। वे पर-दुःख से दुखी होनेवाले थे : अपने आस-पास के दीन-दुखियों को देखकर उनको दुःख हो आता था। उनकी आत्मा में निःस्वार्थ सहानुभूति अनुभव करने की शक्ति थी। यह अलौकिक शक्ति ही उनको सर्वप्रिय बनाने के लिए यथेष्ट थी।

हैगल ने एक स्थान पर कहा है कि A great man condemns the World to understand him. अर्थात् महापुरुषों का समझना संसार के लिए एक कठिन समस्या है। सो, टाल्स्टाय को लोगों ने धीरे-धीरे समझा है। आरम्भ में टाल्स्टाय 'बकवादी', 'झक्की' आदि समझे जाते थे। लोग उनकी पुस्तकों के ठीक-ठीक तात्पर्य को नहीं समझते थे। उनके बड़े-बड़े उपन्यास और लेख—जो हमारे समय के कल्पना के विकास के सर्वोच्च दृष्टान्त हैं—लोग बीस वर्ष पहिले नहीं समझ सकते थे और उनके अनुवाद भी इतने तोड़-मरोड़कर किये जाते थे कि अनुवादक अनुवाद में महात्मा के परमप्रिय भावों का खून कर डालते थे। उनके ग्रन्थों का निकलना कठिन होता था। कारण क्या था? संसार उनको समझने में असमर्थ था।

किन्तु उनके जीवन के अन्तिम दिनों में इस विषय में बड़ा परिवर्तन हो गया था, और यह परिवर्तन किसी आन्दोलन के कारण नहीं हुआ था। संसार मानों धीरे-धीरे जग उठा। वह उस महर्षि की गम्भीर वाणी की सरलता और मधुरता को धीरे-धीरे समझने लगा। इस जागृति के साथ ही उनके ग्रंथों के अविकल अनुवाद निकलने लगे। उनकी पुस्तकों के अनुवादों के संस्करण लाखों की संख्या में होने लगे। उनके मुँह का निकला एक-एक शब्द संसार ध्यानपूर्वक सुनने लगा। दिनोंदिन अधिकाधिक लोग उनकी निष्कपट बातों को पसन्द करने लगे। उन्होंने उच्च समाज के दरिद्रियों से दूर रहने के सारे नियमों को तोड़ डाला था। किन्तु इसके साथ ही उन्होंने मनुष्य जाति को भी हृदय से लगाया था। अतएव विचारशील मनुष्यों के हृदय में उनके प्रति कृतज्ञता के भाव उत्पन्न होने लगे।

आधुनिक समय 'वैज्ञानिकों का काल' है। इसमें वैज्ञानिक आविष्कारों की भरमार है। काण्ट, हैगल, स्पेन्सर आदि का समय बीता हुआ समय है। और ये भी शुष्क दार्शनिक थे। अतएव यूरोप में ऐसे महर्षियों की, जो केवल दार्शनिक ही न हों किन्तु जिनका जीवन भी ऋषियों के समान हो, बहुत कमी है। जिनमें एक बात भी, उनमें दूसरी नहीं थी, जिनमें दूसरी थी, उनमें पहिली नहीं थी। दासों के त्राता विलबर-फोर्स और हावर्ड, काण्ट और हैगल नहीं थे तथा काण्ट और हैगल में विलबरफोर्स और हावर्ड के मुख्य गुण ने विकास नहीं पाया था। किन्तु इस महर्षि में यूरोप के इतिहास में कदाचित् पहिले-पहिल—इन दोनों समुदायों के गुणों ने उचित स्थान पाया था और यूरोप केवल एक ही ऐसे महर्षि के लिए गौरव कर सका है जो हमारे महर्षियों की श्रेणी में गणना करने योग्य हो—और वह महर्षि महात्मा टाल्स्टाय थे।

ऋषियों के भारत प्रेम-सम्बन्धी इसी पंक्ति पर मेरे कुछ मित्रों ने एक बार आपत्ति की थी 'समदर्शी ऋषि मुनियों को भी भूमि बहुत जो प्यारी थी।' उनका कहना था कि जो समदर्शी है, जो विश्व-प्रेमी है, वह एक देश या भूमि विशेष से कैसे अधिक प्रेम कर सकता है? किन्तु महात्मा टाल्स्टाय समदर्शी और विश्वप्रेमी होने पर भी आदर्श रूसी थे, उन्होंने रूसी रहन-सहन को कभी नहीं छोड़ा। वे अपने पिछले दिनों में रूस को छोड़ कहीं गये भी नहीं, तथापि उनका शरीर तो रूस में रहता था। किन्तु उनकी प्रखर आँखें सारे संसार और मनुष्यमात्र के हित के निरीक्षण में लगी रहती थीं। उनकी सहानुभूति सार्वदेशिक थी। उनकी सेवाएँ पूर्व और पश्चिम, काले और गोरे दोनों ही के लिए समान रूप से थी। और यह सब भगवान श्रीकृष्ण के वचनानुसार 'निष्कर्म' थी – उनका केवल एक उद्देश्य मनुष्य जाति क्या, प्राणीमात्र का हित साधन था।

उनके लिये कोई भी विषय तुच्छ या बहुत बड़ा न था। इतिहास, दर्शन, सम्पत्ति शास्त्र—सभी में वे दखल रखते थे। और उनकी विवेचना कुछ हास्यास्पद या तीसरे दर्जे की नहीं होती थी। उनका व्यक्तिगत प्रभाव इतना अधिक था कि उन्होंने शैक्सपियर का मजाक उड़ा डाला, सर्वप्रिय आधुनिक फैशन की उच्च कलाओं की व्यर्थ की दिखावट की कलई खोल दी, किन्तु ऐसा करने में भी किसी ने उनके इन प्रयत्नों का मजाक उड़ाने का साहस नहीं किया। रूस के निरंकुश जार को भी उनको चुप करने का साहस नहीं हुआ, जब रूस में उदार दल वालों को दण्ड मिल रहा था, दण्ड ही नहीं, उनके प्राण अपहरण किये जा रहे थे, उस समय उन्होंने रूस सरकार से कहा था कि यदि साहस हो तो मेरे इस बुड्ढे और दुर्बल गले में रस्सी डाल इसको फाँसी दे दो। उनके इन वचनों से सारा यूरोप स्तम्भित रहा गया। किन्तु रूस सरकार का साहस उस महात्मा का बाल भी बाँका करने का नहीं हुआ।

वे भविष्य में पहिले तो केवल अपनी साहित्य सेवा के लिए जीवित रहेंगे। उनके उपन्यासों में मनुष्य स्वभाव के अनुपम चित्र हैं। उनके नाटक, गल्प, सामाजिक और धार्मिक निबन्धों में मनुष्य को अपनी ओर खींच लेने की शक्ति है। उनसे उनकी सहृदयता टपकी पड़ती है। ये ही उनको संसार में अमर रखने के लिये यथेष्ठ हैं। किन्तु इसके साथ ही जब हम यह देखते हैं कि उनका जीवन ही एक अपूर्व नाटक था, और उनका व्यक्तिगत प्रभाव इतना अधिक था, तभी हमें विश्वास हो जाता है कि वे संसार में अवश्य ही अमर रहेंगे।

और हमारा यह विश्वास केवल कल्पना ही कल्पना नहीं है। संसार का विचार इस समय तीन ओर टाल्स्टाय की बतलाई राहों पर चल रहा है। पहिले तो यह कि नाना देशों में लोग सादी तौर से जीवन व्यतीत करने का सन्तोष और सुख समझने लगे हैं। वे समझने लगे हैं कि पृथ्वी की उपज से ही मनुष्य की मुख्य आवश्यकताएँ भली भाँति पूरी हो सकती हैं। वे यह देखने लग गये हैं कि मस्तिष्क के श्रम

के साथ शारीरिक परिश्रम भी आवश्यक है और खुली हवा में रहना तथा सादा निरामिष भोजन ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। टाल्स्टाय की दूसरी बात जिस पर मनुष्य का विचार चल रहा है—आज कल यूरोप के विचारशील लोगों को व्यग्र कर रही है। उनका कथन है कि युद्ध सभ्यता का लक्षण नहीं है, और यद्यपि आज यूरोप युद्ध में मग्न है पर यह युद्ध भी चिरन्तन शाक्ति की भूमिका है। यूरोप आज इस प्रश्न को हल करने में पूर्णतया लगा है। टाल्स्टाय की तीसरी बात, जिसने संसार में प्रभाव किया है, वह रूस का अत्याचार है। उसके विषय में हमें अधिक कुछ कहना नहीं है। एक समय था जब टाल्स्टाय के बारे में समालोचक कहा करते थे कि 'उनके विचार कितने सुन्दर, किन्तु कितने असम्भव हैं।' पर वे समालोचक आज नहीं रहे। आज भविष्य में विश्वास रखने वाले समालोचकों का समय है जो कहते हैं कि नैपोलियन ने उस काल का आरम्भ किया जिसका सिद्धान्त रक्तपात और दासत्व था, किन्तु टाल्स्टाय ने उस युग का आरम्भ किया है जिसका सिद्धान्त वाक्य सहकारिता और विचार की स्वाधीनता है।

टाल्स्टाय को अमर रखने के लिये शहीद होने की आवश्यकता नहीं थी। उनका सारा जीवन ही मनुष्य के हितरूपी बलि स्थान पर बलि हो चुका था। भविष्य सन्तान उनको एक ऐतिहासिक पुरुष कहकर याद करेगी, और इसलिए याद करेगी कि उन्होंने जड़ विचारग्रस्त यूरोप में आध्यात्मिक विचारों का आविर्भाव किया। भविष्य सन्तान उन्हें इसलिए स्मरण करेगी कि उन्होंने असंख्य दीन दुखियों का पक्ष लिया था, और वह उनकी स्मृति इसलिए चिरस्थायी रखेगी कि उन्होंने पुराने विचारों में नवीन आत्मा का आविर्भाव किया। उन्होंने पाप के लिए दया और पवित्रता की पिपासा लोगों में उत्पन्न की। संसार उन्हें इसलिये कृतज्ञतापूर्वक याद रखेगा कि वे मनुष्य हृदय की दुर्बलता को और उसके बल को भली भाँति समझते थे—और वह उनके विचार, शान्ति, परिश्रम, आत्मबल और पवित्रता के सन्देसे को अपने हृदय में सर्वोच्च स्थान देगा।

'His body lies mouldering in the grave,
But his soul marches on'.

उनका शरीर तो धूलधूसरित हो समाधि में पड़ा है, किन्तु उनकी आत्मा उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही है। वे संसार में अपनी आत्मा और विचारों के स्वरूप में वर्तमान हैं और अनन्त काल तक रहेंगे।

—'महात्मा टाल्स्टाय' से

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी का प्रचार

•

मेजर टामस ब्रूटन ने सन् १८१४ में एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसके मुख पृष्ठ पर यह लिखा था:—

SELECTIONS FROM THE POPULAR
POETRY OF THE HINDOOS
Arranged and Translated by
THOMAS DUER BROUGHTON ESQ.
LONDON
John Martin, Holles Street
Cavendish Square
1814

'हिन्दुओं की लोकप्रिय कविता का संकलन, संग्रहकर्ता और अनुवादक श्री टामस डूयअर ब्रूटन, लंदन, जान मार्टिन' हालिस स्ट्रीट, कैवेंडिश स्क्वायर, लंदन, १८१४'

ब्रूटन साहब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना में अफसर थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी सेना में भारतीयों की भर्ती करने की प्रथा सर्वप्रथम मद्रास में आरम्भ की थी और उसमें तेलगू लोगों की अधिकता

के कारण उत्तर भारत में कम्पनी की देशी सेना के सिपाहियों को तिलंगा (तेलंग) कहा जाता था। किन्तु बाद में उसकी कलकत्तेवाली शाखा उत्तर भारत के लोगों को अपनी सेना में भर्ती करने लगी थी और पलासी युद्ध के बाद तो यह प्रथा और भी बढ़ गयी। ज्यों-ज्यों कम्पनी के राज्य का विस्तार होता गया त्यों-त्यों उसकी सेना में उत्तर भारतीयों की भर्ती भी बढ़ती गयी। मराठा, नेपाल, सिख आदि युद्धों में उत्तर भारत के सिपाहियों की सेना ने ही कम्पनी के राज्य को दृढ़ बनाया और उसका विस्तार किया। मेजर ब्रूटन उत्तर भारत की सेना में अफसर थे और उसमें के सिपाही उत्तरी क्षेत्र के ही थे। मेजर ब्रूटन कोरे सैनिक ही न थे। वे सुशिक्षित भी थे। उन्हें अपने सिपाहियों के कविता ज्ञान और कविता के व्यावहारिक उपयोग को देखकर हिन्दी कविता के सम्बन्ध में कुतूहल उत्पन्न हुआ और उसके संग्रह करने की इच्छा हुई। वे स्वयं कहते हैं:—

There is perhaps no set of men in India better qualified to afford the kind of information I sought for than the Sipahees of our own army. They include every class of Hindoos, though by far the greater proportion belongs to the two higher orders of Brahmans and Rajputs. They are commonly the sons of respectable farmers, from every province of Hindoostan and often have received tolerably good education before they quit their home. The Brahmans specially are generally well-versed in the common principles and ceremonies of their religion and the ciples and ceremonies of their religion and the historical legends connected with it; and not seldom have attained to the drgree of Pandit when they enlist as soldiers in the company's army. They soon lose many of their early prejudices, become inquistive respecting the manners and customs of the country of their officers, and are always willing to repay any information on such subjects by communicating in return all that they know of their own. It was psecisely from such a man that I obtained the greater part of the poems contained in this volume. I had remarked that talking upon any subject; he frequently quoted the verses of some favourite poet; and one day when he had done so with peculiar emphasis, and had afterwerds expatiated with evident delight upon their merit, I desired him to write them down and explain them to me. They were the Dohras Nos. 1 and 2 and I thought I preceived so much simplicity and delicacy in the ideas, and such neatness in the points they contained, that I expressed a wish for further information respecting the dialect in wich they were written, and that he would make a collection for me of similar compositions. My new studies soon became known and many individuals of the same rank in life contributed to increase my store by voluntary offers of all the information they possessed upon the subject.

"जो जानकारी मैं चाहता था उसे शायद भारत का कोई वर्ग इतनी अच्छी तरह से नहीं दे सकता था जितना कि हमारी सेना के सिपाहियों ने दी। उनमें हिन्दुओं के हर वर्ग के लोग हैं, यद्यपि अधिक संख्या ब्राह्मणों और राजपूतों, दो उच्च वर्गों की है। वे हिन्दुस्तान के प्रत्येक क्षेत्र के सम्भ्रांत किसानों की सन्तान होते हैं। और बहुधा घर छोड़ने के पहले उन्हें साधारणतः अच्छी शिक्षा मिली होती है। विशेषकर ब्राह्मण लोग तो सामान्यरूप से अपने धर्म के साधारण सिद्धांतों, कर्मकांड और कथाओं से भलीभाँति परिचित होते हैं, और बहुधा सेना में भर्ती होने के पूर्व वे पंडित की पदवी प्राप्त कर लेते हैं। शीघ्र ही उनकी बहुत

सी पुरानी बद्धमूल धारणायें नष्ट हो जाती हैं। और उनमें अपने अफसरों के देश के रीति-रिवाजों को जानने की उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है। वे अपनी जिज्ञासा की तृप्ति के बदले में अपने देश के रीति-रिवाजों को बतलाने के लिए तैयार रहते हैं। इस पुस्तक में संग्रहीत अधिकांश कवितायें मैंने ठीक इसी प्रकार के एक व्यक्ति से प्राप्त कीं। मेरा ध्यान इस बात पर गया कि वह जब किसी विषय पर बात करता था तब बहुधा अपने किसी प्रिय कवि की कविता को उद्धृत कर देता था। और एक दिन जब उसने जोर देकर कुछ कविताओं का उद्धरण कर दिया और प्रसन्न होकर उनकी सुंदरता की व्याख्या करने लगा तो मैंने उससे कहा, तुम इन्हें लिख दो और इनके अर्थ समझाओ। वे नम्बर १ और २ के दोहरा थे। मुझे उनके भावों में इतनी सरलता और सुकुमारता मालूम पड़ी और मुझे वे इतने परिष्कृत लगे कि मैंने उस भाषा के सम्बन्ध में (जिसमें लिखे गये थे) अधिक जानकारी प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और उससे मैंने कहा, तुम मेरे लिए उसी प्रकार की कविताओं का संग्रह कर दो। मेरे नये अध्ययन की बात शीघ्र ही फैल गई और उसी वर्ग के अन्य बहुत से लोग, अपने आप आकर इस सन्बन्ध में जो कुछ जानते थे, वह सब मुझे बतलाने लगे।"

ब्रूटन कम्पनी की सेवा में अठारवीं शती के अंत में था और उन्नीसवीं शती के आरम्भ में स्वदेश लौट-कर उसने यह पुस्तक प्रकाशित की थी। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय हिन्दी भाषी क्षेत्रों के जो लोग कम्पनी की सेना में भर्ती होते थे वे निरक्षर या अशिक्षित नहीं होते थे। सेना में भर्ती होनेकी अवस्था अठारह बीस वर्ष थी। उसके पहले गाँवों में रहते हुए भी उन दिनों जब देश में घोर अव्यवस्था और अराजकता थी—उन्हें शिक्षा देने का प्रबन्ध था। और वह शिक्षा कोरा अक्षर ज्ञान नहीं होता था। मेजर ब्रूटन ने लिखा है कि वे अपने धर्म के सिद्धान्तों, कर्मकाण्ड और कथाओं से परिचित होते थे और ब्राह्मण सैनिक सेवा में भर्ती होने के पूर्व बहुधा 'पंडित' की पदवी भी प्राप्त कर लेते थे। वास्तव में हमारे देश के गाँवों का जो संगठन था वह आत्म निर्भर था। हर एक गाँव में सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध था। गाँव का कुम्हार होता था जो मिट्टी के बर्तन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। उसी प्रकार गाँव का बढ़ई, नाई, धोबी, चर्मकार, भंगी, जुलाहा, छीपा, लुहार आदि गाँव में रहकर उसकी सेवा और अवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। लुहार, जुलाहे आदि किसी केन्द्रीय गाँव में रहकर आस पास से कई गाँवों का काम करते थे। इस सब की वृत्ति बँधी हुई थी। किसान अपनी उपज का कुछ अंश उन्हें देता था तथा तिथि त्यौहारों एवं व्याह शादियों आदि अवसरों पर उनको नेग भी दिया जाता था। गाँवों की आत्मनिर्भर व्यवस्था में इसी प्रकार अध्यापक का भी स्थान था जो गाँव ही में रहता था और बच्चों को पढ़ाता था। भोजन के लिए उसे बारी-बारी से भिन्न-भिन्न परिवारों से सीधा मिला करता था। गुरु पूर्णिमा के दिन उसे दक्षिणा के रूप में नकदी भी मिल जाया करती थी। गाँव के संभ्रान्त व्यक्ति या पुराने शिष्य जाड़ों में उसे जड़ावर भी देते थे। शिष्य के विवाह के समय भी उसे कुछ रुपया दिया जाता था। इस प्रकार, देश में अव्यवस्था और अराजकता होने पर भी, हमारे गाँवों में ऐसा पक्का स्थानीय स्वराज्य था और उसका संगठन इतना दृढ़ और आत्मनिर्भर था कि केन्द्रीय शासन के परिवर्तनों से उसके एकरस और शांत जीवन में बहुत कम व्यवधान पड़ता था। विशेषकर यदि वह राजमार्ग से दूर, और युद्ध के वृत्त से बाहर हुआ तो उसके शांत जीवन में बहुत कम बाधा पड़ती थी। और यदि कभी कोई आक्रमण आदि हुए भी तो उनमें इतनी जीवनी शक्ति थी कि उसके कारण जो व्यवस्था छिन्न हो जाती, वह शीघ्र ही ठीक कर दी जाती, और उनका जीवन अबाधगति से, उसी प्रकार, फिर चलने लगता।

बहुधा लोग समझते हैं कि अंगरेजों के पहले हमारे देश में—विशेष कर गाँवों में बड़ी अविद्या थी। यह धारणा भ्रामक है। उपर्युक्त उद्धरण इस धारणा को सहज ही दूर कर देता है। किन्तु आश्चर्य यह नहीं है कि उन दिनों भी गाँवों में शिक्षा दी जाती थी। आश्चर्य की बात यह है कि इस संग्रह में, जो कम्पनी के सिपाहियों के कंठस्थ छन्दों से तैयार किया गया था, उच्चकोटि के साहित्यिक छन्द हैं, और इससे यह स्पष्ट है कि गाँवों में साहित्यिक स्तर का काव्य प्रचलित था।

इसमें अधिकांश छन्द केशवदास, देव और बिहारी के हैं। इनके सिवाय कुछ अन्य अज्ञात लोगों के भी छन्द हैं। किन्तु वे सभी सुन्दर और उच्च कोटि के हैं। अतएव उन दिनों अठारवीं शती के अन्त और उन्नीसवीं शती के आरम्भ में हमारे गाँवों में देव, बिहारी, केशव आदि की उच्च कोटि की कविताएँ भली भाँति फैली हुई थी। यही नहीं, सिपाही भी (जो मुख्यतः साहित्यिक न होकर सैनिक थे) उन कविताओं में इतनी रुचि लेते थे कि उन्हें कण्ठ कर लेते थे, उनके अर्थ को समझते थे और उपयुक्त अवसरों पर उनका सटीक उपयोग भी करते थे। साहित्यिक अभिरुचि की इतनी व्यापकता और उच्च साहित्य का प्रचार क्या आज हमारे सिपाहियों या उनकी समान श्रेणीवाले वर्गों में है ?

मेजर ब्रूटन ने अपनी पुस्तक में छन्द रोमन लिपि में दिये हैं और उनके नीचे उनके अनुवाद दिये हैं। मेजर ब्रूटन का हिन्दी ज्ञान साधारण था। उन्होंने संग्रहीत छन्दों का अर्थ और भाव इन्हीं सिपाहियों से जाना था। उनके अनुवादों से यह स्पष्ट है कि छन्दों के अर्थ सिपाहियों ने ठीक-ठीक बतलाए थे तथा उनके भाव और उनका सौन्दर्य भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया था। इस संग्रह में केशव का एक छन्द है :—

भौहें सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर
भूषण जड़ाए जोति तड़ित उर लाई है।
दूर करी मुख सुख सुषमा ससी की
नैन अमल कँबल दल दलित निकाई है।
केशौदास प्रबल करनी को गुमानहर
मुख सों हंसक शब्द सुखदायी है
अंबर बलित मति मोहे नीलकंठ जू की
कालिका बरषा हरष हिए आई है।

यह द्विअर्थक है। यह पावस पर भी घटता है और कालिका पर भी। सिपाहियों ने दोनों ही अर्थ ब्रूटन को बतलाए होंगे, क्योंकि इसका अनुवाद पहिले उन्होंने कालिका के अर्थ में और फिर पावस के अर्थ में किया है। अंगरेजी रूपान्तर को द्विर्थक बनाना असंभव है। इससे स्पष्ट है कि सिपाहियों ने इन छन्दों को केवल कंठ ही नहीं कर लिया था, प्रत्युत वे उनकी बारीकियों को भी समझते थे।

उस समय के गाँवों के लोगों की सुरुचि और काव्यमर्मज्ञता का अनुमान लगाने के लिए हम इस संग्रह के कुछ छन्दों को यहाँ दे रहे हैं। मेजर ब्रूटन ने बहुत से प्राप्त छन्दों में से अनुवाद के लिए केवल उन्हीं को चुना होगा जो उन्हें रुचिकर लगे होंगे, अथवा जिनका वे अनुवाद कर सके होंगे। उनके अनुवादों की उत्कृष्टता दिखाने के लिए हम उनके किए हुए कुछ अनुवाद भी दे रहे हैं।

श्री कृष्ण ने गोपी से चले जाने को कहा। किन्तु अँधेरी रात में वह फिर अकेली लौट आई। कृष्ण पहिले तो कुछ खीजे। दोनों में संवाद होने लगा। यह छन्द केशव का है :—

कृष्ण—लीन्यो हमें मोल ?

गोपी— अनबोली आई जानो मोहि ?

मोहि घनश्याम घनमाला ये बुलाई है ।

कृष्ण—भयो ह्वैहै दुख जहाँ नैकु न दिखाई देत,

देखी कैसे बाट ?

गोपी—सहज गयंदगति अति सुखदायी है ।

कृष्ण—भारी भयकारी निसि, निपट अकेली तुम

गोपी—नाहीं, प्रान नाथ-साथ-प्रेम जो सहाई है ।

देखिए मेजर ब्रूटन ने इसका अनुवाद कितनी सहृदयता और कितने ठीक ढंग से किया है ।

Kanhaiya—"Again my fair one host thou purchased me ?"
Gopee—"Thinkest thou uncalled I boldly come ?
Ah see, the gathering clouds dear youth, invite to love."
Kanhaiya—"How could a frame so soft such dangers prove?
While even thy prettyself was lost in night, How to see the way ?"
Gopee—"The lighthigh gleamed so bright."
Kanhaiya—"Over broken rads, through mire and tangling thorn
Thy tender limbs must ache, thy feet be torn."
Gopee—"Steps light and firm will weariest way o'er come."
Kanhaiya—"Yet dark's the night, and thou were all alone."
Gopee—"No, my soul's Lord for love was with me still,
Pointed my path and warded every ill."

अनुपात शब्दों का नहीं, भावों का होता है । ब्रूटन ने गयंदगति का अनुवाद करते समय उसके भाव को स्पष्ट किया है क्योंकि इंग्लैंड का साधारण पाठक गयंदगति के रूढ़िगत भाव से अपरिचित है ।

अब कुछ बिहारी के दोहों का अनुवाद देखिए ।

अति अगाध अति ऊथरो, नदी, कूप, सर बाय ।
सो ताकौं सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ।

ब्रूटन का अनुवादः—

Deep or shallow let it be
River, streamlet, lake or pool;
That to him is still a sea
Who there his parching thirst can cool.

हा हा बदन उघारि दृग, सफल करैं सब कोय ।
रोज सरोजन को परैं, हँसी ससी की होय ।

Disclose thy lovely face, sweet maid,
and glad the eyes of all around
No for the lily's bloom will fade,
And taunts the vanquished moon confound.

कन दैबो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि,
रूप रहचटे लखि लग्यो, माँगन सब जग आनि।

The frugal father's sage commands
Dealt; by his daughter's smaller hands
His daily pittance to the poor.
Bad thrift-her beauty to behold
In beggars guise both young and old
Come thronging round the crowded door.

बिहारी के एक दोहे का अनुवाद और देखिए—

रहि न सकी सब जगत में, सिसिर सीत के त्रास,
गरम भाजि गढ़वै भई, तिय कुच अचल मवास।

Yes, genial warmth has fled the earth
And yields to chilling winters wrath;
But vanished, finds a place of rest
Impregnable, in woman's breast.

ब्रूटन के संग्रह में जो देव के छन्द हैं उनका साहित्यिक स्तर दिखलाने के लिए दो छन्द उद्धृत किए जाते हैं—

बाजत मृदंग, तार ढफ घहरात, जो तौ
पीतम बिछोह की ज्वालन जरी मरौं;
गाती कई गीत अनुराग भरे बैन—
पापी काम के सरन सों अपार पीर सों भरौं
कहत कवि देव कोकिला को सोर परो
छतिया छबूक होत, धीर कैसे धरौं ?
ह्वै हैं जब कंत, तब लैंहौं री बसंत, आजु
कंत बिनु मालिनि बसंत लै कहा करौं ?

दूसरा छन्द ब्रूटन ने तोड़ कर इस प्रकार लिखा है—

संग न सहेली
खेल करत अकेली
एक कोमल नवेली
बर बेली मनों हेम की
लालच भरी सी
लखि लाल ललचाई
सोच लोचन लजाई
रही रस कुल नेम की
देव मुरझाई
उर माल उरझाई

कह्यो–"दीजौ सुरझाई"
बात पूछे चली छेम की ।
भायक सुहाई,
बोले श्याम ढिग आई,
गाँठ हिए की छुड़ाई,
गाँठ परि गई प्रेम की ।

देव, केशव, बिहारी ऐसे प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त इस संग्रह में कई अज्ञात कवियों के भी छन्द हैं । उनके भी दो उदाहरण दिए जाते हैं । पहिला किसी रामप्रसाद कवि का है :—

बारों कोटि रतिनाथ श्याम तुव अंग पै
बारों कोटि चंद चारु मुख भान पै
बारों कोटि रवि प्रभा सतोगुनन पै
कोटिन सरोज बारों नैन नील कमल पै
राम परशाद नित बसे मेरे जन पै
चारों बेदों खट शास्त्र, अष्टदश पुरान बारों
बारों तीनों लोक, बनमाली तेरे ध्यान पै ।

लेख का क्लेवर बहुत बढ़ जाने के भय से उपर्युक्त तीन छन्दों के अनुवाद नहीं दिए जा रहे हैं । दूसरे अज्ञात कवि की कविता का उदाहरण एक मनोरंजक संवाद है । उन दिनों यात्रा बड़ी कठिन थी । कोई निश्चयपूर्वक यह भी नहीं जानता था कि यात्रा से मैं सकुशल लौट आऊँगा । उन्हीं दिनों एक व्यक्ति कमाई करने के लिए परदेश गया । जाने के पहिले उसने अपने आँगन में केवड़ा का एक झाड़ लगा दिया और पत्नी को समझा दिया कि जब तक यह हरा बना रहे तब तक समझना कि मैं सकुशल हूँ । लौटने में उसे कई वर्ष लग गये । अंत में लम्बे प्रवास के बाद जब वह लौटा तो उसे यह जानने का कुतूहल हुआ कि मेरी पत्नी मेरी अनुपस्थिति में किस प्रकार रहती है । अतएव उसने जोगी का वेष बनाया और अपने घर के द्वार पर जाकर खड़ा हो गया । वहाँ से आँगन दिखलाई पड़ता था । उसने देखा कि उसकी श्रृंगार विहीना पत्नी मलिन वेष किए केवड़े को सींच रही है । तब उसने कहा—

चन्द्र बदन मृगलोचनी, पवन झकोरत केस
तेरे आँगन है केवड़ा, तू क्यों मैले भेस ?

पति को न पहचान कर और खीझकर उसने उत्तर दिया—

जरै बरै यह केवड़ा, जरै बरै यह देस,
जिन हाथन कें केवड़ा, सो छाय रहे परदेस ।

तब उसने अपने को प्रकट किया—

काहे को जरै यह कवड़ा, काहे को बरै यह देस,
जिन हाथन के केवड़ा, सो ठाड़े जोगी भेस ।

इस पर उसने उपालम्भ दिया—

कनक मोल कागज भयो, मसि भई मानिक तोल ?
कलम भई कै लाख की, कि लिखि न पठए द्वै बोल ?

पति देवता ने अपनी मलूकदासी वृत्ति को छिपाने के लिए बहाना करते हुए खुशामद की—

थर थर कंपौं लिखि न सकौं, अँग अँग उखाली आय,
सुधि आवत छाती फटै, पातो लिखो न जाय।

इसका अनुवाद ब्रूटन ने बहुत उत्कृष्ट किया है। आशा है कि उससे अंग्रेजी जानने वाले पाठकों का मनोरंजन होगा। इसलिए उसे यहाँ दे रहे हैं—

"Say, lovely moon, say deer-eyed maid,
Whose locks like lilies wave in air,
While this green keora scorns to fade,
say, why neglect a form so fair ?"
"O, would the keora leaves be sere,
And would the village in ashes lay,
For he, whose false hands placed it here
From love and me stays far away."
"And why should the keora leaves be sere ?
Or, tell me why the village burned ?
For he, whose true hands placed it here,
Behold in beggar's garb returned."
"Was paper there more dear than gold ?
Or ink more scarce than rubies bright ?
Were slender reeds for thousands sold,
One line of love you could not write ?"
"I strove—but only strove to sigh
When memory placed thee in my sight
My fingers failed, my heart beat high,
My fingers failed, my heat beat high,

सहृदय पाठक इस संग्रह के छन्दों की सुन्दरता का स्वयं अनुभव करेंगे। वे ब्रूटन की काव्य मर्मज्ञता और उसके अनुवाद की भी प्रशंसा करेंगे। किन्तु ब्रूटन के इस संग्रह से एक बात स्पष्ट है कि हमारे मध्य-कालीन कवियों का साहित्य केवल राजदरबारों, सामंतों और उच्च वर्गों तक ही सीमित न था। वह सुदूर-वर्ती गाँवों में और साधारण जनता में प्रवेश पा गया था। वह जनता के हृदय में घर कर गया था। वह उनके कण्ठों में उतर गया था। तब न रेल थी, न डाकखाने थे, न समाचार-पत्र थे, न पत्रिकाएँ थीं, न रेडियो था, न शिक्षा विभाग था, न पुस्तकालय थे, न बड़े-बड़े डिग्री धारियों के सम्पादित संकलन ही पढ़ाए जाते थे, न कवि सम्मेलन होते थे और न प्रचार के अन्य साधन ही थे। उस अशान्त, अव्यवस्थित और अराजकतापूर्ण युग में उन कवियों ने कैसे देश के कोने-कोने में अपना सिक्का जमा लिया था ? क्यों उनकी कविता किसानों और सिपाहियों तक के कण्ठों में उतर गई थी ? क्या प्रचार के सब आधुनिक साधनों के रहते हुए भी आज के कवि जनता पर उस प्रकार छा पाए हैं ? इन प्रश्नों पर तटस्थ रूप से विचार करना हिन्दी साहित्य और जनता के लिए अवश्य हितकर होगा।

●

उत्तर भारत के न्यायालयों में हिन्दी की माध्यम समस्या

●

(१९७४ में वाराणसी के ठलुआ क्लब द्वारा इलाहाबाद हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री कुँवरबहादुर अस्थाना के सम्मान समारोह का अध्यक्षीय भाषण)

माननीय मुख्य न्यायाधीशजी, न्यायमूर्ति श्री पारीख और मित्रो,

न्यायमूर्ति श्री पारीख के भाषण और अभिनन्दन पत्र में कही गई बातों के बाद मेरे लिए कहने को प्रायः कुछ नहीं रह गया है। यदि माननीय मुख्य न्यायाधीशजी के सम्बन्ध में मैं कुछ कहूँ तो केवल पिष्ट-पेषण मात्र होगा, और शायद मैं उसे उतनी सुन्दरता से कह भी न सकूँ, जितनी सुन्दरता से भाषण और अभिनन्दन पत्र में ये बातें कही गयी हैं। फिर भी इतना तो अवश्य कहना चाहूँगा कि माननीय मुख्य न्यायाधीश अस्थाना का उद्दाम हिन्दी प्रेम इतना उत्कृष्ट और उच्च न्यायालय में हिन्दी प्रवेश कराने के सम्बन्ध में उनके कार्य इतने अग्रगामी और पथ-प्रदर्शक हैं कि उनका वास्तविक मूल्यांकन करना इस समय सरल नहीं है। बीहड़ स्थानों में जहाँ सड़क नहीं है, वहाँ यदि सफरमैना मार्ग न बनावे तो सेना के लिये आगे बढ़ना संभव नहीं होता। सफरमैना का कार्य अत्यन्त कठिन और महत्वपूर्ण होता है। उच्च न्यायालय में हिन्दी के लिए मार्ग बनाने का वही सफरमैना का महत्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया है। एक बार सड़क बन

जाने पर सामान्य लोग भी उससे आसानी से आ जा सकते हैं । उच्च न्यायालय में हिन्दी के निर्णय, पद की शपथ का हिन्दी में ग्रहण और उस समय हिन्दी में भाषण वास्तव में उच्च न्यायालय में हिन्दी के प्रवेश के लिये मार्ग बनाने के अभिनव महत्वपूर्ण कार्य थे । यही नहीं, इस संसार में सबसे बड़े उच्च न्यायालय में बड़े अक्षरों में आदर्शवाक्य हिन्दीमें लगाना भी एक शुभ क्रांतिकारी कार्य है । मुख्य न्यायाधीश द्वारा हिन्दी के प्रयोग ने उच्च न्यायालय में हिन्दी का प्रवेश ही नहीं कराया, उसको वहाँ सम्मानित और प्रतिष्ठित भी किया । वहाँ हिन्दी के शुभारम्भ के लिए उनकी सेवाएँ हिन्दी की प्रगति के इतिहास में मील के पत्थर की भाँति अंकित होंगी और सदैव कृतज्ञतापूर्वक याद की जायेंगी । चाहिए तो यह था कि हिन्दी संसार एक बृहद् समारोह करके उनका अभिनन्दन करता, और शायद उसे करने की बात चल भी रही है । किन्तु ठलुआ क्लब ने अपनी जागरूकता के कारण इस कार्य की पहल करने का गौरव प्राप्त किया है । मैं इसके लिए उसे बधाई देता हूँ । किन्तु इसे मैं उस बृहद् अभिनन्दन समारोह का पूर्वरंग ही समझता हूँ जिसे हिन्दी संसार के वरिष्ठ नेता करने का विचार कर रहे हैं ।

वास्तव में न्यायालयों की भाषा बदलना बड़ा ही कठिन काम है । हम हिन्दीवाले अपने उत्साह के कारण उसमें विलम्ब होते देखकर अधीर हो जाते हैं, किन्तु इस परिवर्तन की कठिनाइयों और मनुष्य स्वभाव पर विचार नहीं करते । मेरे गुरु सर पर्सी नन ने बतलाया था कि मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ होती हैं । एक हार्मिक (Hormic) और दूसरी नीमिक (mnemic) है । Hormic सर्जनात्मक प्रवृत्ति के कारण कुम्हार मूर्ति बनाता और दूसरी रक्षणात्मक या नीमिक प्रवृत्ति के कारण वह उसकी रक्षा करता है—उसे तोड़ नहीं देता । रूस में लोगों की सर्जनात्मक या हार्मिक प्रवृत्ति के कारण प्रायः ६० साल पूर्व क्रांति हुई, किन्तु अपनी नीमिक प्रवृत्ति (जिसे अंग्रेजी में conservation की प्रवृत्ति कहेंगे) के कारण तब से वे उसकी रक्षा में लगे हैं । ५०-६० साल पहले लेनिन जो कर गये थे वे उसे सुरक्षित रखने या conserve करने में लगे हैं । Conserve करनेवालों को Conservative कहते हैं । रूसी आज इस दृष्टि से बड़े conservative हैं । यदि मनुष्य में पुरानी बातों के संरक्षण या conservation की प्रवृत्ति न हो तो समाज में कभी स्थिरता न रहे । अतएव जो चीजें समाज में चल जाती हैं उनका बदलना मनुष्य की संरक्षक या conservative प्रवृत्ति के कारण बड़ा कठिन हो जाता है । यह सिद्धान्त सारे संसार पर लागू है । न्यायालयों की भाषा बदलने में यही प्रवृत्ति सबसे बड़ी बाधक है । किन्तु यह भारत की ही विशेषता नहीं है । इस सम्बन्ध में इंग्लैंड का उदाहरण बड़ा रोचक और शिक्षाप्रद है ।

इंग्लैंड में योरोप की तरह ईसा का सन् चलने के पहिले ही और उसकी प्रथम शती से, जब रोमन लोगों ने इंग्लैंड के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया था, आभिजात्य और पढ़े-लिखे वर्ग की भाषा लैटिन हो गई थी । रोमन इस समय अंग्रेजों से कहीं अधिक सभ्य थे । अंग्रेज कबीले उनसे बराबर लड़ा करते थे । प्रसिद्ध लैटिन लेखक टेसिटस ने एग्रिकोला नामक रोमन सेनापति पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें बतलाया गया है कि ईसा की प्रथम शती में उसने किस प्रकार अंग्रेजों को वश में किया और रोमनों की भाषा अर्थात् लैटिन की उस कार्य में क्या भूमिका थी तथा किस प्रकार चतुर जेता पराधीन जाति को गुड़ में विष मिलाकर उनमें अपनी भाषा और संस्कृति फैलाकर उन्हें अपना अनुवर्ती बना लेते हैं । टेसिटस ने लिखा है—

The following winter passed without disturbance and was employed in salutary measures, for, to accustom to rest and repose through the charm of luxury, a population scattered and barbarous and therfore inclined to war, Agricola gave

private encouragement and public aid to the building of temples, courts of justic and dwelling houses. Honourable rivalry took the place of compulsion. He likewise provided a liberal education for the sons of the chiefs and showed such a preference for the natural powers of the Britons that those who lately disdained the tongue of Rome now covetedits eloquence. Hence, too, a liking sprang up for our style of dress and 'toga' became fashionable. Step by step they were led to things which dispose to vice, the lounge, the bath, the elegant banquet. All this in their ignorance they called civilization when it was but a part of their servitude.

टेसिटस का यह उद्धरण जो मूल लैटिन का अधिकृत अनुवाद है, हमारी आँखें खोल देता है। ऐग्रिकोला ने ब्रिटेन के लोगों को अपनी सभ्यता, परिधान, भोजनों का तरीका और भाषा सिखाकर उनमें मानसिक दासता उत्पन्न कर दी। इन बातों पर टीका करने का यह अवसर नहीं है। मुझे तो यहाँ केवल इतना ही बतलाना है कि इंग्लैंड में किस प्रकार लैटिन भाषा का प्रचार हुआ। प्रायः सारे योरप पर कई शतियों तक रोमनों का आधिपत्य रहा और वहाँ भी उन्होंने इसी तरह लैटिन भाषा का प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि सारे योरोप में शिक्षित वर्ग की भाषा लैटिन हो गई। उनके साम्राज्य के समाप्त होने के बाद भी कई शतियों तक लैटिन सारे योरप के ज्ञान का माध्यम बनी रही। सभी देशों के विद्वान अपनी पुस्तकें लैटिन में लिखते थे, यहाँ तक कि सर आइज़क न्यूटन ऐसे महान अंग्रेज गणितज्ञ, विचारक और वैज्ञानिक ने अपनी पुस्तकें लैटिन में लिखी थीं जिनमें सबसे प्रसिद्ध पुस्तक Philosophia Naturalis principia Mathematica है जिसे संक्षेप में principia कहते हैं। उसकी मृत्यु सन् १७२७ में हुई थी। उस शती तक योरप के विद्या के क्षेत्र में लैटिन ही का बोलबाला था।

इंग्लैंड को सन् १०८८ में फ्रांस के नार्मन लोगों ने जीत लिया और नार्मन राजा उस पर राज करने लगे। वे अँग्रेजी नहीं जानते थे। वे और उनके सम्बन्धी सरदार आदि फ्रेंच भाषा ही बोलते थे और स्वभावतः फ्रेंच भाषा ही में सरकारी आदेश निकलते, और जो लोग राजा या सरदारों तक अपनी फरियाद पहुँचाना चाहते थे उन्हें अपने आवेदन फ्रेंच ही में लिखवाने पड़ते थे। धीरे-धीरे अँग्रेजी राज कर्मचारी भी फ्रेंच सीखने लगे और सारा राजकाज फ्रेंच भाषा ही में होने लगा। न्यायालयों की भाषा नार्मन काल में कुछ दिनों लैटिन रही क्योंकि फ्रांस में भी वह प्रचलित थी, किन्तु धीरे-धीरे छोटे-बड़े न्यायालयों में फ्रेंच ही चलने लगी। १३वीं शती के अन्त में फ्रेंच भाषा पूरी तरह से न्यायालयों की भाषा हो गयी। विधि या कानून के मामलों में फ्रेंच भाषा में अच्छी पुस्तकें भी बन गयी थीं और विधि के क्षेत्र में फ्रेंच का उपयोग आवश्यक समझा जाने लगा था। किन्तु जनता फ्रेंच नहीं जानती थी और वह न्यायालयों का कार्य अंग्रेजी में करने की माँग करने लगी। प्रायः ६०-७० वर्षों के बाद जनता की यह माँग सिद्धांत रूप में मान ली गयी और १३६२ ई० में एक अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार न्यायालयों में प्लीडिंग या वकीलों का आवेदन और जिरह आदि अँग्रेजी में करने का आदेश था। किन्तु वकीलों का विधि का प्रशिक्षण फ्रेंच में हुआ था। वे उसमें प्लीडिंग करने के अभ्यस्त थे और वे विधि की शिक्षा भी फ्रेंच में ही देते थे। इसीलिए इस अधिनियम का कि न्यायालयों में वकील अंग्रेजी में प्लीडिंग करें, कोई असर नहीं हुआ। वे अंग्रेजी भाषा को विधि के लिए उपयुक्त नहीं समझते थे। उस समय अंग्रेजी में विधि सम्बन्धी पुस्तकें भी नहीं थीं। १३६८ के अधिनियम के बावजूद इंग्लैंड के न्यायालयों में कई शतियों तक अंग्रेजी नहीं चली, फ्रेंच भाषा ही चलती रही। किन्तु इस बीच जनता में अँग्रेजी को न्यायालयों की भाषा बनाने की माँग इतनी उग्र हो गई कि सरकार ने सन् १७३१ में न्यायालयों में अँग्रेजी भाषा का प्रयोग अनिवार्य; और लैटिन और फ्रेंच भाषाओं का उपयोग

वर्जित कर दिया। इसको लागू करने के लिए इस आदेश का उल्लंघन करनेवालों पर ५० पौंड के जुर्माने का विधान पार्लियामेंट ने बनाया। तब कहीं जाकर प्रायः तीन-चार सौ वर्षों के बाद इंग्लैंड के न्यायालयों में अंग्रेजी को उसका उचित स्थान मिला।

उस समय अर्थात् १७३१ में अंग्रेजी में विधि या कानून सम्बन्धी पुस्तकों का बड़ा अभाव था। अंग्रेजी भाषा तब विकसित भी नहीं हुई थी। १६९३ में ड्राइडन Dryden ने लिखा था कि 'We have yet no prosodia, not so much as a tolerable dictionary, or a grammar, so that in a manner our language is barbarous.

अंग्रेजी का पहला मान्य कोष डा० सैमुअल जानसन ने सन् १७५५ में प्रकाशित किया। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था—When I took the first survey of my undertaking, I found our speech copious without order, and energetic withot rules. Wherever I turued my view there was perplexity to be disentangled and confusion to be regulated.

इसके पूर्व रोजर नार्थ नाम के एक विधिवेत्ता विद्वान ने कहा था कि इंग्लैंड के कानून के नियम ठीक तरह से अंग्रेजी में व्यक्त नहीं किये जा सकते और लैटिन तथा फ्रेंच का विधि साहित्य पढ़े बिना कोई व्यक्ति पैरोकार भले ही बन जाये, किन्तु वकील नहीं बन सकता।

किन्तु अंग्रेजी भाषा की इन सब त्रुटियों और अँग्रेजी में विधि साहित्य के अभाव के बावजूद अंग्रेज जनता के देशप्रेम और अपनी भाषा के प्रति निष्ठा ने न्यायालयों में अंग्रेजी चला ही दी। परिणाम क्या हुआ ? न्यायालयों के कार्य में कोई अव्यवस्था नहीं हुई, कोई बाधा नहीं पड़ी। शीघ्र ही अंग्रेजी में विधि सम्बन्धी साहित्य बनने लगा और अब तो अंग्रेजी में विधि सम्बन्धी अत्यन्त उच्च कोटि का साहित्य उपलब्ध है जो संसार के किसी भी भाषा के ऐसे साहित्य से टक्कर ले सकता है।

इंग्लैंड में विधि के लिए लैटिन और फ्रेंच को हटाकर देशभाषा अँग्रेजी को स्थापित करने का यह अति संक्षिप्त वर्णन हमारे लिए बड़ा शिक्षाप्रद है। पहली बात तो यह है कि उस समय के इङ्गलैंड के वकीलों की तरह, जो तत्कालीन अदालती भाषा विदेशीफ्रेंच से अभ्यासवश चिपके रहना चाहते थे, हमारे आज के वकील भी यदि उससे चिपके हुए हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दूसरी बात यह है कि उनके इस जनता-विरोधी अभ्यास को दूर करने और अदालतों में अपनी भाषा का उपयोग करने को तभी बाध्य किया जा सका जब पार्लियामेंट ने जनता के दबाव के कारण उन्हे अपनी भाषा अंग्रेजी का उपयोग न करके विदेशी भाषाओं के उपयोग करने पर ५० पौंड का जुर्माना करना आरंभ किया। १८ वीं शती के अन्त में आज के मूल्य को देखते हुए पाउण्ड का मूल्य कितना अधिक था, और यह जुर्माना कितना भारी था, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तीसरी बात जो याद रखने की है वह यह कि जिस समय इंग्लैंड में अंग्रेजी अदालतों में अनिवार्य की गई उस समय न तो अंग्रेजी भाषा विकसित थी और न उसमें विधि या कानून सम्बन्धी साहित्य ही था। फिर भी वह चलने लगी और कालान्तर में अंग्रेजी में ऐसा उच्चकोटि का साहित्य निर्मित हुआ जिसकी धाक सारा संसार मानता है।

हमारे देश में न्यायालयों में हिन्दी के उपयोग करने के विरोधी वे ही तर्क देते हैं जो उस समय के अंग्रेज वकील अंग्रेजी के उपयोग के विरुद्ध देते थे। किन्तु उस समय की अंग्रेजी और आजकी हिन्दी के स्तरों में बड़ा अन्तर है। हिन्दी आज अच्छी तरह विकसित भाषा है और उसमें अभिव्यक्ति की शक्ति है। अवश्य ही हमारे पारिभाषिक शब्द संस्कृत से लिये जायेंगे जिसमें ऋग्वेद से लेकर १८ वों शती तक विधि और व्यवहार संबंधी सूत्रों, स्मृतियों तथा उन पर टीकाओं की असंख्य उच्च कोटि की पुस्तकें हैं। कुछ लोग

हिन्दी में संस्कृत शब्दों को देखकर बिदक जाते हैं। यदि इनके सामने "वादार्थ संरक्षक" शब्द कहा जाए तो वे नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं, किन्तु यदि arlitens guardian कहा जाये तो वह उन्हें ग्राह्य है। इसी प्रकार Res judicata mandamus आदि लैटिन शब्द तो उनके गले उतर जाते हैं, किन्तु इनके संस्कृत पर्याय उन्हें "सकील" या गरिष्ठ मालूम होते हैं। हिन्दी का संस्कृत भाषा से संबंध वैसा ही है या उससे भी अधिक है जैसा कि योरोपियन भाषाओं का लैटिन से है। भारत की व्यवहार या विधि प्रणाली और उसका साहित्य अत्यन्त विशाल और पूर्ण है। जिन्हें इसमें संदेह हो वे लक्ष्मण शास्त्री जोशी द्वारा संपादित धर्म-कोष का प्रथम खंड "व्यवहार मातृका" देखें जिसमें ऋग्वेद से लेकर १८ वीं शती तक के विधि संबंध प्रमुख ११३ ग्रन्थों की सूची भी दी है। भारतरत्न महामहोपाध्याय डा० काणे के "धर्मशास्त्र के इतिहास" के द्वितीय खण्ड में भारतीय व्यवहार या विधि शास्त्र का विवेचनापूर्ण वर्णन है। इन दो ही पुस्तकों को पढ़ने से पाठक को मालूम हो जाता है कि संस्कृत के विधि वेत्ताओं की विधि या कानून में कितनी पैठ थी। उनमें विधि सम्बन्धी जो शब्द आये हैं वे हमारे लिये अजनबी नहीं हैं। वे हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल हैं। उदाहरण के लिये न्यायालय के लिये शंख ने "धर्मासन", नारद ने "धर्मस्थान", कात्यायन ने "धर्माधि-करण", कौटिल्य ने "धर्मस्थीय" कहा है। न्यायाधीश के लिये गौतम, नारद और बृहस्पति ने "प्राड्विवाक" राजनीति रत्नाकर ने "धर्माध्यक्ष", मनु ने "धर्म प्रवक्ता", मानक्षीतृयास ने "धर्माधिकारी" कहा है। आपस्तंब धर्मसूत्र में न्यायाधीश के गुण बतलाते हुए कहा है कि वह विद्वान, कुलीन वंश का, बड़ी उम्र का, चतुर और धर्म के प्रति सावधान होना चाहिये। नारद ने लिखा है कि उसे अठारहों संपत्ति सम्बन्धी कानूनों, उनके ८००० उपभेदों, आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क शास्त्र, वेद और स्मृतियों में पारंगत होना चाहिए। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार कुशल चिकित्सक शल्य क्रिया से शरीर में घुसे लोहे के टुकड़े भी निकाल लेता है उसी प्रकार कुशल न्यायाधीश को पेचीदा मामलों में से धोखे की अर्थात् झूठ बातों को अलग कर देना चाहिये। सिविल विवाद, अर्थ विवाद और फौजदारी "कण्टकशोधन" कहलाते थे। "कण्टक" हानिकारक व्यक्ति को कहते थे। यह मनु का प्रयुक्त शब्द है। अर्थ विवाद वादी उपस्थित करते थे, किन्तु कंटकशोधन के मामले राजा स्वयं उठा सकता था। इस प्रकार कण्टकशोधन के मामले आजकल की भाषा में coagnis-able और criminal मामले कहे जायेंगे। साक्ष्य या evidence के स्पष्ट नियम थे। प्रक्रिया या proce-dure का सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है। अतएव संस्कृत के विधि सम्बन्धी बहुत से शब्द यदि हम चाहें तो ग्रहण कर सकते हैं। वे हमारी विरासत हैं।

किन्तु प्राय: १ हजार वर्ष फारसी और अंग्रेजी का अध्ययन और उच्चारण करते-करते हमारा उच्चारण ही बिगड़ गया है। कुछ दिनों पूर्व तक यहाँ के सामान्य लोग "प्रसाद" ऐसे सामान्य शब्द का भी ठीक से उच्चारण न कर सकने के कारण उसे "परसाद" कहते थे। इससे हमारी उच्चारण शैली voice culture भ्रष्ट हो गई थी। संस्कृत न पढ़ने के कारण हम अपनी संस्कृति की विरासत से वंचित हो गये और हम अपनी ही सांस्कृतिक भाषा संस्कृत को हीन दृष्टि से देखने लगे। हिन्दी को संस्कृत का अनन्त शब्द भंडार उपलब्ध है, किन्तु हम उसका उपयोग नहीं कर पा रहे। हमारे उच्चारण को भारतीय बनाने के लिए संस्कृत के शुद्ध उच्चारण पर बल देना और अपनी संस्कृति का केवल परिचय ही प्राप्त करने के लिए संस्कृत का कम से कम आरंभिक ज्ञान कराना आवश्यक है, जिससे हमें अपने ही संस्कृत शब्द अजनवी न मालूम पड़ें।

अंग्रेजी से चिपके हुए लोग न्यायालयों में हिन्दी के उपयोग के विरोध में वे ही घिसेपिटे तर्क देते हैं जो उस समय इंग्लैंड में न्यायालयों में फ्रेंच हटाकर अंग्रेजी के प्रयोग के विरोधी देते थे। किन्तु आज हिन्दी

की वह स्थिति नहीं है जो उस समय अंग्रेजी की थी। हिन्दी आज विधि या कानून के साहित्य के निर्माण के लिए सर्वथा समर्थ है। प्रायः २० वर्षों तक मैं उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी पुस्तक पुरस्कार समिति का सदस्य रहा। प्रतिवर्ष थोड़ी-बहुत विधि सम्बन्धी पुस्तकें विचार के लिए आती थीं। कानून मेरा विषय नहीं है। अतएव कभी मैं अपने किसी अवकाश प्राप्त न्यायाधीश मित्र और कभी अन्य परिचित विधिवेत्ता से उनके गुण दोष के बारे में परामर्श करता था। उपयोगी होने पर भी अधिकांश हिन्दी की विधि सम्बन्धी पुस्तकें उच्च स्तर की नहीं होती थीं, और वे होतीं भी कैसे ? महान विद्वान ही महान पुस्तकें लिख सकते हैं। किन्तु इस ओर हमारे मूर्धन्य विधिवेत्ताओं का ध्यान ही नहीं गया। हिन्दी भाषी क्षेत्रों के माननीय न्यायाधीशों तथा प्रमुख विधिवेत्ताओं से मेरा साग्रह निवेदन है कि वे विधि या कानून के किसी अंग पर, जिसमें उनकी रुचि हो, कम-से-कम एक मौलिक पुस्तक हिन्दी में लिखने की कृपा करें। इससे हिन्दी में उच्चकोटि के आधुनिक विधि साहित्य के निर्माण का शुभारम्भ हो जायेगा और वे देश, जनता और हिन्दी की ठोस सेवा कर सकेंगे।

हिन्दीप्रेमियों और कार्यकर्ताओं से मेरा निवेदन है कि उन्हें इंग्लैंड के न्यायालयों में वहाँ की भाषा अंग्रेजी चलाने के संघर्ष के इतिहास से शिक्षा और प्रेरणा लेनी चाहिए। अपनी नीमिक अर्थात् संरक्षक या कंजरवेटिव प्रवृत्ति के कारण वकीलों को अपने-आप अंग्रेजी को छोड़कर हिन्दी का प्रयोग करना कठिन है। इंग्लैंड में ५० पाउण्ड के जुर्माने ने ही उन्हें फ्रेंच छोड़कर अंग्रेजी के उपयोग को बाध्य किया। लोग सामान्यतः अच्छे आदेशों का भी पालन नहीं करते जब तक उनके पीछे दण्ड का भय न हो। १८ वीं शती के ५० पाउण्ड आज भारतीय मुद्रा के ५० हजार रुपयों के बराबर होंगे। शायद ऐसे बाध्य करने वाले नियमों की आवश्यकता इस देश में न पड़े और न पड़नी ही चाहिए। किन्तु यह तभी सम्भव है जब यहाँ के लोगों में अपनी भाषा के प्रति वैसा ही उद्दाम प्रेम हो जैसा कि उस समय के अंग्रेजों और पार्लियामेंट के विधायकों में था। ऐसे ही लोगों के दबाव से सरकार, जो ऐसे मामलों में शायद सबसे अधिक conservative है, कुछ प्रभावी कार्यवाही कर सकती है। किन्तु देश में भाषा-चेतना को उत्पन्न करना, और जनमत जाग्रत कर सरकार पर इस काम के लिए दबाव डालना सभी वर्ग के हिन्दी प्रेमियों, नेताओं, हिन्दी-प्रेमी विधिवेत्ताओं, साहित्यिकों, पत्रकारों और कार्यकर्ताओं का कर्तव्य है।

मैं आपसे इस लम्बे भाषण के लिए क्षमायाचना करता हूँ। जिन महामहिम सज्जन का हम अभिनन्दन करने को एकत्र हुए हैं उन्हें हिन्दी के प्रति कितना वास्तविक प्रेम है यह उन्होंने कोरी बातों से नहीं, प्रत्युत अपने कार्य से व्यक्त किया। इसी से प्रोत्साहित होकर मैंने अनधिकारी होते हुए भी इस विषय में इतना कहने का साहस किया। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, विधि मेरा विषय नहीं है और उस पर कुछ कहना मैं जानता हूँ कि मेरी अनधिकार चेष्टा है। मेरे ऐसे सामान्य व्यक्ति की आवाज क्षीण है, किन्तु उसमें हार्दिकता की कमी नहीं है, और मैं पूर्ण हार्दिकता तथा अपनी क्षीण वाणी से माननीय मुख्य न्यायाधीश के प्रति उनके हिन्दीप्रेम और हिन्दी की ऐतिहासिक अमूल्य सेवा के लिए विनम्र कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

आपने मुझे निमंत्रित कर अपनी भावना व्यक्त करने का अवसर देने की जो कृपा की है और मेरे प्रति जो सहृदयता दिखाई है, उसके लिए मैं आपका और विशेषकर क्लब के अधिकारियों का हृदय से आभारी हूँ।

●

हिन्दी में शीघ्रलिपि

●

हिन्दी में शीघ्रलिपि की आवश्यकता का अनुभव बहुत दिनों से किया जा रहा है। वास्तव में मुड़िया—जिसमें बिना शिरोरेखा के संक्षिप्त अक्षर लिखे जाते हैं और मात्राएँ नहीं दी जातीं—देवनागरी की एक प्रकार की शीघ्रलिपि ही है। हिन्दी शीघ्रलेखन प्रणाली का सबसे पुराना वर्णन १८९५ का मिलता है। १० सितम्बर १८९५ के 'पीयूष प्रवाह' में "शीघ्रलेख प्रणाली" शीर्षक से एक समाचार छपा था। उसके आवश्यक अंश हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

"लेख (लिखना) बोलने के साथ नहीं होता है। कुछ देर में होता है। अतएव जो बात पाँच मिनट में कही जाती है उसे लिखते समय एक घंटा लगता है। और इस कारण जिस पुरुष के हृदय में किसी विषय का ग्रन्थ बनकर तैयार होता है उसे उसी ग्रन्थ के घटक ज्ञानों के प्रवाह को शब्द द्वारा प्रकट करने में और देर लगती है तथा उसे लेख से प्रगट कर स्थिर रूप से ग्रन्थाकार प्रगट करने में तो शतगुणित अधिक विलम्ब होता है। इसी कारण जो पुरुष जीवन में अपने हृदय में १००० ग्रन्थ बना सकता है, वाणी द्वारा केवल २५० ग्रंथ रचना कर सकता है और लेख द्वारा तो वह भी केवल ४० ही बना सकता है। अर्थात् ज्ञान-धारा डाक है तो वाग्धारा मालगाड़ी है और लेख तो छकड़ा ही रहा है, यद्यपि ज्ञान के साथ ही लेख का प्रस्तुत होना तो अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि सायंकाल में आकाश की ओर देखते ही धुमैले लाल गुलाबी चितकबरे आदि नाना प्रकार के मेघजाल से शोभित गगन का अनुभव हो जाता है। परन्तु उसके कहने में

बड़ी देर लगती है। तथापि वाणी के साथ भी कोई लेख की रीति हो तो एक कहता जाय और दूसरा लिखता जाय। बस इतने ही में ग्रंथ रचित हो और कहनेवाला स्वयं भी लिखना चाहे तो उसे उतनी ही देर लगे, जितनी देर में वह कह सके। इस विद्या से मुकद्दमे के इज़हार और कमेटियों की स्पीचों के लिखने में कितना सुभीता हो सकता है जिसका कुछ ठिकाना नहीं। योरप् वालों ने कुछ दिन से यह विद्या निकाली है और अंग्रेजी की शीघ्रलेख प्रणाली बराबर काम में लायी जाती है।

भारतवर्ष में इस विद्या के आचार्य गणेश जी हैं, क्योंकि यह प्रसिद्ध कथानक है कि जब वेदव्यास जी ने महाभारत बनाना चाहा और यह प्रसिद्ध किया कि मेरे श्लोक बनाने के साथ कोई लिखता चले तो इस विद्यावाले कोई न ठहरे, केवल गणेश जी ही में यह सामर्थ्य था। अन्ततः वेदव्यास जी ने धारा की धारा श्लोकों की बौछार छोड़ते महाभारत बनाया और गणेश जी ने लिखा। उस गणेश विद्या का भारत वर्ष में आज तक प्रचार न हुआ कि हिन्दी, संस्कृत, उर्दू चटपट लिखी जाय और शीघ्र ग्रन्थ बनें।

परन्तु हम लोगों को यह सुन के बड़ा ही आनन्द हुआ कि भारत रत्न पंडित अम्बिकादत्त व्यास साहित्याचार्य ने हिन्दी लेख के लिए इस विद्या को पुनर्जन्म दिया है। छपरा ज़िला स्कूल में हेडमास्टर की सम्मति के अनुसार गत १.९.९५ रविवार को प्रातः काल ज़िला स्कूल के सेण्ट्रल हाल में इसी विद्या के सीखने के लिए सैकड़ों लड़के इकट्ठे थे और बाबू राजेन्द्रलाल, मिस्टर जे० ब्राउन प्रभृति अनेक मास्टर भी उपस्थित थे। ठीक साढ़े छः बजे से साढ़े सात बजे तक एक घण्टे में शीघ्रलेख के सब संकेत समझा दिये, जिस प्रणाली से सब अति प्रसन्न हुए और समझने लगे कि कुछ-कुछ शीघ्रलेख का समर्थ्य अभी हाल में आ गया। व्यास जी की इच्छा है कि यथावसर और भी स्कूल और कालिजों में इस विषय का प्रचार करें।

यद्यपि यह पता लगता है कि इसके बाद भी कई स्कूलों में व्यास जी ने अपनी शीघ्रलिपि प्रणाली सिखलायी, तथापि अब उसके सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं मिलता। अतएव उनके संकेतों के स्वरूप और आधार के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके कुछ दिनों बाद पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी हिन्दी की शीघ्रलिपि की आवश्यकता पर एक लेख अपने 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा था। उन दिनों हिन्दी का प्रचार इतना कम था कि उसकी वास्तविक आवश्यकता अनुभव न होती थी। यह हिन्दी की उन्नति चाहनेवाले लोगों और हिन्दी कार्यकर्ताओं के उत्साह की अभिव्यक्ति मात्र थी कि हिन्दी में भी शीघ्रलिपि बननी चाहिए।

किंतु इसकी आवश्यकता बंग-भंग के बाद जो स्वदेशी आंदोलन हुआ उसमें सरकार को अनुभव हुई। सार्वजनिक नेता और राजनीतिक कार्यकर्ता सारे देश में आंदोलन कर रहे थे और वे बड़ी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान देते थे। वे व्याख्यान काफी गरम होते थे और उनसे देश में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध भावना फैल रही थी। सरकार प्रमुख वक्ताओं के ऊपर अपने भाषणों से राजद्रोह फैलाने के अपराध पर मुकद्दमा चलाना चाहती थी, और खुफिया विभाग के कर्मचारी उन भाषणों की रिपार्ट ले कर सरकार को भेजा करते थे। किन्तु शीघ्रलिपि के अभाव में उनके भाषणों की रिपोर्टें अधूरी रहती थीं और उनमें वक्ताओं द्वारा प्रयुक्त शब्दावली न होकर उनका सारांश ही होता था। अदालतों में सफल मुकद्दमा चलाने के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त यथार्थ शब्दावली का पेश करना आवश्यक था। उत्तर भारत में अधिकांश सभाओं में वक्ता हिन्दी में बोलते थे। इसलिए सरकार को खुफिया विभाग के लिए शीघ्रलिपि की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उन दिनों खुफिया विभाग के अधिकांश कार्यकर्ता उर्दूदाँ होते थे, किन्तु बोलनेवाली भाषा में हिन्दी-उर्दू का बहुत भेद नहीं होता। उत्तर प्रदेश सरकार ने उन लोगों को हिन्दुस्तानी शीघ्रलिपि

सिखाने की योजना बनायी, और अंत में लखनऊ के क्रिश्चियन कालिज में हिन्दुस्तानी शीघ्रलेखन की नियमित शिक्षा दी जाने लगी। किन्तु इसमें अधिकतर पुलिस ही के लोग भर्ती होते थे।

धीरे-धीरे जब विधान सभाएँ बनीं और उनमें हिन्दी में भाषण होने लगे तब हिन्दी शीघ्रलिपि की आवश्यकता और उभर कर सामने आयी। पुरानी हिन्दुस्तानी आशुलिपि में संस्कृत के—विशेषकर संयुक्त वर्णों के—शब्दों का लिखना यदि असम्भव नहीं, तो बड़ा कठिन था। अतएव हिन्दी के शब्दों को शीघ्रलिपि में लिखने के लिए उपाय किये जाने लगे। परिणामस्वरूप हिन्दुस्तानी (जो कभी-कभी हिन्दी भी कही जाती थी) शीघ्रलिपि पर कई पुस्तकें निकलीं। इनमें से एक 'इल्मुल इत्तिसाल जुदनवीसी' हमारे देखने में आयी थी। बाद में इसे हिन्दी के अनुरूप करके 'ब्रह्माक्षर प्रकाश' के नाम से हिन्दी में प्रकाशित किया गया। यह राधेलाल त्रिवेदी ने लिखी थी जो पुलिस रिपोर्ट और शार्टहैंड इन्स्पेक्टर थे।

किन्तु हिन्दीवाले इससे सन्तुष्ट नहीं थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में स्वर्गीय श्री निष्कामेश्वर मिश्र ने हिन्दी शीघ्रलिपि को विकसित करने का प्रयास किया और उन्होंने बड़े वैज्ञानिक ढंग से उस पर काम किया। बाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ने विधान सभाओं आदि में हिन्दी शीघ्रलिपि लेखकों की बढ़ती हुई माँग देखकर हिन्दी शीघ्रलिपि सिखाने के लिए एक वर्ग खोला। इसके अध्यक्ष श्री ऋषिलाल अग्रवाल थे। इन्होंने संकेतों की प्रणाली अपने ढंग से बनायी और उसे 'ऋषि प्रणाली' का नाम दिया। यह वर्ग कई वर्ष चला और इसमें बीसियों शीघ्रलिपि लेखक तैयार हुए। श्री अग्रवाल ने इस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी जिसका नाम 'हिन्दी संकेत-लिपि' (ऋषि प्रणाली) था। इसके बाद जब विधान सभाओं और सरकारी कार्यालयों की भाषा हिन्दी हो गयी तब शीघ्रलिपि लेखकों की माँग बढ़ गयी और आज काफी नवयुवक हिन्दी शीघ्रलिपि सीख रहे हैं।

अंग्रेजी में शीघ्रलिपि अपेक्षाकृत पुरानी है, किन्तु उसमें भी चार प्रणालियाँ हैं—पिटमैन, स्लोन डुप्लायन, ग्रेग और डटन। पिटमैन आदि-शीघ्रलिपि-निर्माता हैं और इनकी प्रणाली ही अंग्रेजी में सबसे अधिक चलती है। पिटमैन ने अपनी प्रणाली बनाने में देवनागरी वर्णमाला की ध्वनियों और मात्राओं से काफी प्रेरणा प्राप्त की थी। यह उसने अपनी एक पुस्तक में स्वीकार किया है।

जिस प्रकार भिन्न-भिन्न हिन्दी टाइपराइटरों के कुन्जी-पटलों (की-बोर्डों) में भिन्नता के कारण टंककों को विभिन्न मशीनों पर काम करने में असुविधा होती है, उसी प्रकार एक प्रणाली में शीघ्रलिपि लिखने वाले को दूसरी प्रणाली में लिखी शीघ्रलिपि पढ़ने में कठिनाई होती है। टाइपराइटरों के कुन्जी-पटलों की अराजकता को दूर करने के लिए अनेक वर्ष प्रयत्न किये जाते रहे, और अंत में भारत सरकार ने विशेषज्ञों की एक समिति बनाकर हिन्दी टाइपराइटरों का एक मानक कुञ्जी-पटल निश्चित कर दिया है। अब सभी हिन्दी टाइपराइटर उसी कुञ्जी-पटल का प्रयोग करेंगे। इस प्रकार इनके कुन्जी-पटलों की अराजकता समाप्त हो रही है, यद्यपि जानकार लोगों का मत है कि नये कुन्जी-पटल इतने जटिल हैं कि टंकन में गति लाना कठिन हो गया है।

किन्तु हिन्दी शीघ्रलिपि में अब भी अनेक प्रणालियाँ चल रही हैं। शीघ्र लिपि ऐसी नवीन वस्तु के विकास के लिए—जिसकी कोई पुरानी परम्परा नहीं है—ऐसा होना अनिवार्य है। शीघ्रलिपि के सभी आविष्कर्ताओं का उद्देश्य उसे अधिक सुगम, अधिक स्पष्ट तथा अधिक गतिशील बनाना रहता है। जहाँ तक हमें मालूम है, अधिकांश हिन्दी शीघ्रलिपियों का प्रेरणास्रोत पिटमैन प्रणाली है। यह आश्चर्यजनक भी नहीं, क्योंकि वह प्रणाली स्वयं देवनागरी वर्णमाला और ध्वनियों से प्रेरित होने के कारण हिन्दी शीघ्रलिपि के लिए अधिक उपयोगी आधार थी। वे लोग जिन्होंने हिन्दी शीघ्रलिपि को उन्नत करके उसे अधिक

सुगम बनाने के प्रयास किये हैं, और आज भी कर रहे हैं, वे हिन्दी की ठोस सेवा कर रहे हैं और वे हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

प्रश्न किया जाता है कि टाइपराइटर के कुंजीपटलों की तरह हिन्दी शीघ्रलिपि को मानक रूप क्यों नहीं दिया सकता ? इसका उत्तर लोग यह देते हैं कि अब इतने दिनों से शीघ्रलिपि की अभ्यस्त अंग्रेजी में ही आज की चार प्रणालियाँ चल रही हैं तब हिन्दी शीघ्रलिपि के विकासशील युग में किसी एक प्रणाली को मानक मान लेना उचित न होगा। अभी इस क्षेत्र में हिन्दी में प्रयोगों की बहुत गुंजाइश है। किन्तु हमारी सम्मति है कि शीघ्रलिपि करामाती विद्या है। इसके कारण हिन्दी की वह प्रणाली सुग्राह्य होगी जो आशुलिपिकों को सीखने में सुगम हो, जिसके रूपान्तरण करने में कम से कम असुविधा हो और जो अधिक से अधिक त्वरित गति से बोले हुए शब्दों को अधिक से अधिक शुद्ध रूप से लिख सके। अंत में ऐसी ही प्रणाली सर्वप्रिय होकर 'मानक' हो जायगी। उसे मानक रूप देने के लिए सरकार या अन्य संस्थाओं को प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। अंततोगत्वा उसे मानक रूप देने का काम स्वयं आशु-लिपिक—जो उसकी कठिनाइयों से नित्य जूझते हैं—कर लेंगे, और वे ही यदि, और जब उसे मानक रूप देना आवश्यक समझेंगे तो बिना किसी 'विद्वानों या अधिकारियों की समिति' की सहायता से यह काम अपने हित में कर लेंगे।

बुख़ारा का कालीन

नियति कभी-कभी बड़ी भूल कर बैठती है। एक बार उसने भूल से मुझे एक राज्य में एक विभाग का अध्यक्ष बना दिया। वहाँ रहने के लिए मुझे (किराए पर) एक विशाल और सुसज्जित (फर्निश्ड) बँगला दिया गया। नियति जब भूल करती है तब करती ही चली जाती है। उस बँगले के बैठकखाने (ड्राइंग-रूम) में बिछाने के लिए एक कालीन भी दिया गया। एक सामान्य विभाग के अध्यक्ष के बँगले के लिए एक सामान्य कालीन दिया जाना चाहिए था। किन्तु लाल फीताशाही के पुर्जों की भूल से एक बढ़िया कालीन भेज दिया गया। बाद में पता चला कि वह लंबा-चौड़ा कालीन बुखारा का बना हुआ है और ईरान के प्रसिद्ध कालीनों से टक्कर लेता है। रेशम के समान मुलायम, चमकीली और महीन ऊन, उस पर चटक लाल, गहरे नीले, तथा अन्य नयनाभिराम रंगों के मनोरम बेल-बूटे। मुझे कालीनों की परख नहीं है। न तो वह बहुत मोटा या गुदगुदा था, और न नया ही। मैंने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। दो-चार वर्ष की 'रिएंप्लॉयमेंट' की सरकारी नौकरी तो बहुचर्चित 'अनित्य संसार' से भी अधिक अनित्य होती है। इसलिए इन छोटी-मोटी बातों पर ध्यान जाता भी न था। 'सरकार' से जो सामान आ गया, उसे मैंने अपने 'रैन बसेरे' के लिए पर्याप्त समझा और मैं कालीन की बात भूल गया।

प्रायः दो वर्ष तक वह कालीन मुझसे मिलने आनेवाले सज्जनों और 'सज्जनियों' के बूट और चप्पलों के प्रहारों को जड़भरत की तरह सहन करता रहा। दो वर्ष बाद एक दिन एक सज्जन ने (जो उस राज्य

के एक बहुत पुराने और ऊँचे अफसर थे) मुझे अपने दर्शनों से कृतार्थ किया। वह कोरे अफसर न थे। पुराने रजवाड़ों में उच्च पदों पर रह चुके थे। उन्हें राज भवनों और उनकी साज-सज्जा का भी अच्छा ज्ञान था। बात करते-करते सहसा उनका ध्यान उस कालीन की ओर गया। वह सोफ़े से उठे। उन्होंने कालीन का एक किनारा उठाकर उसकी जाँच की। फिर उसकी ऊन का बारीकी से निरीक्षण किया। उस पर बड़े स्नेह से हाथ फेरा, रंगों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया। उस पर बने बेल-बूटों का बड़े ध्यान से अध्ययन किया। उसके निचले भाग को उठाकर गिना कि एक इंच में ऊन की कितनी गाँठें हैं। इस सब में वह इतने तल्लीन थे कि उन्हें याद नहीं रहा कि उन्होंने अपना और मेरा आध घंटे से अधिक समय ले लिया है। अपना अध्ययन और निरीक्षण समाप्त करके वह एक लंबी साँस लेकर पुनः सोफे पर आ बैठे, और बोले, "मैं आपको इस कालीन के लिए बधाई देता हूँ। यह 'असली बुख़ारा' का है, और बुख़ारा की कालीन कला का उत्कृष्ट और बड़ा सुंदर नमूना है। भारत में ईरानी कालीनों का बड़ा नाम है। भारत के रईस अधिकतर उन्हें ही मँगाते हैं। वे होते भी बहुत उत्कृष्ट हैं, पर बुख़ारा के कालीनों का भी अपना विशिष्ट स्थान है। बुख़ारा से कालीन मँगवाना अपेक्षाकृत कठिन भी है। इसलिए इस देश में वे बहुत कम आते हैं और यहाँ बड़ी मुश्किल से यदाकदा ही देखने को मिलते हैं। वे ईरानी कालीनों से टक्कर लेते हैं। अपना यही कालीन देखिए।" और फिर उन्होंने ईरानी और बुख़ारा के कालीनों की तुलना, उनका इतिहास, उनका संसार में प्रसार, मुगल दरबारों में उनकी कद्र और माँग, रजवाड़ों में उनकी चाह, आज के समृद्ध देशों में उनकी खपत, मुगल कालीन भारत में—विशेषकर दिल्ली और जयपुर में—ईरानी कारीगरों को बुलाकर भारत में ईरानी कालीन बनवाने का प्रयास, मेरे कमरे में बिछे कालीन की खूबियों आदि पर प्रायः डेढ़ घंटे का एक धाराप्रवाह भाषण दे डाला। मैं उनके कालीन संबंधी ज्ञान की गहराई और विस्तार देखकर उचित रूप से प्रभावित हुआ। अफसर साहब अपना भाषण देकर चले गए। मुझे यह तो अनुभव हुआ कि मेरी बैठक में एक दुष्प्राप्य कालीन बिछा हुआ है, किन्तु चूँकि ऐसी चीजों से मुझे कोई खास लगाव नहीं है (क्योंकि ये अमीरों के चोचले हैं और अपने राम फ़ाकेमस्त हैं), मैं शीघ्र ही उस बात को भूल गया और उनके व्याख्यान के कारण जो दो-ढाई घंटे नष्ट हुए थे, उनकी पूर्ति करने के लिए 'फाइलों' के अंबार को कम करने में जुट गया। बुख़ारा का कालीन पूर्ववत् मेरी बैठक में पड़ा रहा।

किन्तु इस घटना के कुछ महीनों बाद उस विभाग का एक पत्र मुझे मिला जो सरकारी अधिकारियों के बँगलों को सुसज्जित किया करता है। उस पत्र में लिखा था कि आपके बैठकखाने के लिए भूल से एक कालीन भेज दिया गया है। वह कालीन अमुक (एक बहुत बड़े) अधिकारी के यहाँ भेजा जाने को है। अतएव आप उसे शीघ्र लौटा दें। यह समझने में देर न लगी कि हमारे कृपालु और कालीन-विशेषज्ञ अतिथि ने उस बुख़ारा की कलाकृति का विज्ञापन उच्च अधिकारीवर्ग में दूर-दूर तक कर दिया था। मुझ से वरिष्ठ अनेक अधिकारियों के बैठकखानों में मिर्जापुर, भदोही, आगरा आदि के 'देसी' चटक रंगोंवाले या 'आधुनिक' डिज़ाइन के मोटे ऊन के मोटे-मोटे कालीन बिछे थे जो कालीनों की वंश परम्परा में बहुत कम हैसियत के समझे जाते हैं। एक सामान्य विभाग के सामान्य अध्यक्ष के कमरे में बुख़ारा का कालीन! यह तो उसकी हैसियत से बाहर की चीज है। 'अपावन ठौर' में पड़े होने के कारण 'हीरा अपनी खान को बार-बार पछताय'—यह भीषण अन्याय तुरंत दूर होना चाहिए! एक अत्यन्त उच्च अधिकारी ने नौकरशाही के सर्वमान्य श्रेणीकरण की पवित्रता और रक्षा हेतु उस उच्चवंशीय कालीन का दुर्गति और अपमान से उद्धार करने का निश्चय कर लिया। परिणामस्वरूप 'एस्टेट डिपार्टमेंट' को वह पत्र मुझे लिखना पड़ा।

बुंदेलखण्डी फागबाज ईसुरी ने एक फाग में कहा है—"बखरी बसियत है भारे के लानी।" (शरीर

रूपी घर—बखरी में किराएदार की तरह बस जाता है।) मकान सरकारी—और किराए पर। कालीन भी अपना नहीं—और वह भी किराए पर! दोनों में से किसी का मोह नहीं। यदि मालिक किराए पर दी हुई वस्तु वापस चाहता है तो उसे लौटा देना ही ठीक है। यह बुद्धिसंगत है और तर्कसंगत भी। समझदारी भी यही कहती है कि क्षुद्र वस्तुओं के लिए रगड़ा-झगड़ा करना मूर्खता है। उसमें शक्ति का दुरुपयोग होता है और चित्त को अशान्ति ही हाथ लगती है। मुझे वह कालीन एस्टेट विभाग का पत्र मिलते ही लौटा देना चाहिए था। किन्तु यह एक मौलिक प्रश्न है कि मनुष्य बुद्धि से परिचालित होता है या (अंधी अथवा विमूढ़) भावना से। कम से कम इतना तो सत्य है ही कि बहुधा हमारी बुद्धि को भावना दबोच लेती है, और हम बुद्धि की युक्तियुक्त वाणी अनसुनी कर भावना के वेगवान प्रवाह में बह जाते हैं। मेरे मन में उस पत्र ने एक झुँझलाहट पैदा कर दी। मैं उसे लौटाने से इनकार तो कर नहीं सकता था, अतएव मैंने लाल फीता-शाही की शरण ली। काम टालने की विधि को हमारे प्रशासकों और उनके बाबुओं ने ललित कला ही नहीं, एक जटिल शास्त्र भी बना दिया है। दो-चार स्मारक पी जाना, मूल पत्र की प्रतिलिपि नहीं मिल रही, कह कर प्रतिलिपि की माँग करना, अनावश्यक पत्र-व्यवहार करना, प्रत्येक पत्र में सही या गलत कोई क्षुद्र आपत्ति निकाल देना, तरह-तरह के प्रासंगिक या अप्रासंगिक नियमों, पूर्व दृष्टान्तों का हवाला देकर मूल प्रश्न को गोल कर जाना, आदि-आदि नौकरशाही शास्त्रसम्मत जो भी विधियाँ देखीं, सुनीं, सीखीं या भुगती थीं, उनका कुशल और सफल प्रयोग करते हुए मैंने प्रायः दो वर्ष निकाल दिए, और तब कार्यकाल समाप्त होने पर अन्य सरकारी सामान के साथ ही, कबीर के शब्दों में किंचित् परिवर्तन करते हुए—"ज्यों की त्यों धरि दीनी कलिनियाँ।"

वह कालीन केवल कालीन नहीं रह गया था, वह हैसियत का प्रतीक या चिन्ह बन गया था। अपने में उसका कोई विशेष महत्त्व न था। जो अधिकारीगण उसे चाहते थे, वे उसकी कला के पारखी या कला-प्रेमी नहीं थे। उन साहित्य-संगीत-कला विहीन 'सोंठ से सूखे और नीरस' (सन-ड्राइड) नौकरशाहों का सौंदर्यबोध भी उल्लेखनीय नहीं था। उनकी उत्सुकता केवल इतनी ही थी कि जिस बुखारा के कालीन की इतनी प्रशंसा हो रही है, वह उनके कमरे में उनकी प्रतिष्ठा की वृद्धि करेगा और केवल मिर्जापुरी कालीन रखनेवालों से उनकी हैसियत ऊँची समझी जाएगी।

और इसके लिए उन्हें दोष भी क्यों दिया जाए? आज के मनुष्यों में से अधिकांश या तो 'हीन-भावना' से बुरी तरह ग्रस्त हैं, या 'अहं' की अतिरिक्त मात्रा से उतनी ही बुरी तरह पीड़ित हैं। एक को अपनी हीन भावना से दबे हुए व्यक्तित्व को संसार में खड़े रखने के लिए हैसियत के चिन्हों की वैसाखी चाहिए और दूसरे को अपने 'अहं' रूपी हुताशन को प्रज्ज्वलित रखने के लिए इनकी समिधा। जिन्हें विश्वास है कि हमारे व्यक्तित्व में कुछ दम है, और वह बिना हैसियत के प्रतीक की खपच्चियों को लगाए स्वयं खड़े रह सकते हैं, उन्हें इन कृत्रिम सहारों की आवश्यकता नहीं। यदि लोग आपसे—आपके व्यक्तित्व से—मिलने (आपके पद से मिलने नहीं) आते हैं तो आप चाहे आधुनिकतम ढंग से सज्जित वातानुकूलित कमरे में उनसे मिलें या सादे लकड़ी के तख्त या चटाई पर बैठकर दालान में उनका स्वागत करें, वे सभी स्थितियों में आपसे मिलेंगे। आपके व्यक्तित्व के सामने उनका ध्यान कमरे की सजावट या सादगी की ओर जाएगा ही नहीं। किन्तु यदि वे आपसे आकर्षित न होकर आपके पद या कमरे की सजावट की गरिमा के कारण आपके यहाँ आते हैं या ऐसे हैसियत के प्रतीकों और चिन्हों के कारण आपको महान् समझते हैं तो बेहतर यह होगा कि उन्हें ऐसे साज-सामान और कीमती हैसियत के चिन्हों की कुछ बड़ी दुकानों और 'एम्पोरियमों' के पते बताकर उनसे पिंड छुड़ा लिया जाए।

तीन-चार वर्ष पूर्व मुझे बहुत दिनों बाद उस राज्य की राजधानी में एक कार्यवश जाना पड़ा। वहाँ मैंने देखा कि बुख़ारा का कालीन एक माननीय मंत्री के एक कक्ष की शोभा बढ़ा रहा है। अंततोगत्वा उसे अपनी हैसियत के अनुरूप स्थान मिल गया है। इसे देखकर मुझे प्रसन्नता हुई और मन ही मन मैंने अपने उस चार वर्ष के चरण चंचरीक को बधाई दी। जैसे उसके दिन 'बहुरे' वैसे सब गुणी लोगों के दिन फिरें। प्राचीन परंपरा का यह भरत वाक्य सहसा मेरे मुँह से उसे देखकर स्वगत निकल गया।

—'आजकल' मार्च १९७१ अंक से
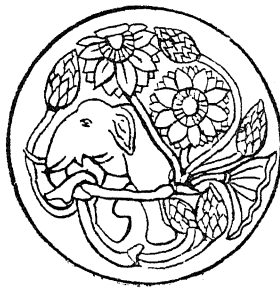
साहित्य-विटप

•

वैष्णव होने के कारण मुझमें साहित्य के मन्दिर में स्थित शालिग्राम की सभी छोटी-बड़ी बटियों में समान भक्ति है। उनके सम्बन्ध में भेद बुद्धि रखना धर्म का अपमान होगा। भक्तों में भेद बुद्धि पाप है, किन्तु देवताओं में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े की भावना भी स्वाभाविक है। देवताओं और मनुष्यों के बीच संबंध स्थापित करनेवाली और उनके प्रति हमारे घोर मानवी हृदय में सहानुभूति और संवेदना उत्पन्न करनेवाली उनकी यही दुर्बलता है। हमारे साहित्यिक देवता भी इस देव-सुलभ गुण से वंचित नहीं हैं।

मैंने देखा है कि साहित्याकाश के ये सूर्य और चन्द्रमा, ये अरुन्धती, सप्तर्षि और ध्रुव, ये बुध, मंगल, शुक्र, वृहस्पति और शनि, उन लघु, लघुतर और लघुतम टिमटिमाते हुए तारों को, उन असंख्य नक्षत्रों को, जिनके बिना रजनी निष्प्रभ हो जायेगी और जिनके बिना चन्द्रमा विधुर हो जायेंगे, हीन दृष्टि से देखते हैं। वे उन्हें निम्नकोटि का जीव समझते हैं जो स्वप्निल साहित्य स्वर्ग के स्वर्णिम द्वार के पास फटकने के योग्य नहीं। इनमें कोई-कोई तो अपनी सम्मति कवि सुलभ लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, उपमा, कूट या कटाक्ष द्वारा प्रगट करते हैं और कोई विशुद्ध अभिधा में उसे व्यक्त कर देते हैं।

उनसे मेरा निवेदन है : हम इस साहित्य रूपी विटप के अज्ञात, असम्मानित, अनभिनंदित पल्लव और आप कमनीय, प्रस्फुटित, मदिरगंध, नयनाभिराम कुसुम हैं। किन्तु हम वह हैं जिनके बिना यह साहित्य विटप ठूँठ रह जायेगा। पतझर में पत्रहीन ठूँठ केवल विकृत मस्तिष्क को ही आकर्षित करता है। पल्लवों

के बिना वृक्ष मानो वसनहीन हो जाने के कारण लज्जा से स्तब्ध होकर सुसुप्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। पल्लवहीन प्रकृति—'बिधु बदनी सब भाँति सँवारी, सोह न यथा बसन बिनु नारी' की तरह मालूम पड़ती है।

जब नवजात शिशु के समान हमारा रक्तिम कलेवर संसार के सामने आता है, जब रक्ताभ और ताम्रवर्ण किसलयों से ठूँठ ढँक जाता है, तब प्रकृति मानो नया परिधान धारण कर स-वसना गृहकामिनी की भाँति शोभित होकर निखर उठती है। साहित्य विटप के हम नगण्य और असंख्य पल्लव हैं। पल्लव (श्रीनारायण चतुर्वेदी सरीखे लेखक, श्रीवर तथा श्री विनोद सरीखे कवि) इस साहित्य-विटप को समाज-रूपी वातावरण और वायुमंडल से जीवनदायिनी वायु खींच कर उसे साँस लेने में सहायता देते हैं, जिससे वह समाज की प्राणदायिनी शक्ति पाकर जीवित रह सके, और आप ऐसे रमणीय कुसुमों को उत्पन्न कर सके। हम, पल्लव, उसकी शोभा ही नहीं बढ़ाते, उसे प्राण ही नहीं देते, हम उसे संसार में अभिनन्दनीय और वन्दनीय बनाते हैं। क्या पल्लवहीन ठूँठ 'दीरघ दाघ निदाघ' में किसी थके बटोही को शीतलता और विश्राम दे सका है? क्या हमारे बिना विटप में सुखमय छाया देने की शक्ति आ सकती है? क्या पुष्प-मंडित, किन्तु पल्लवहीन करील ने किसी त्रस्त बटोही को सिवाय उसके अंग क्षत-विक्षत करने और उसके वस्त्रों को नोचने के कभी आश्रय भी दिया है? यही नहीं, यदि हम विटप को आच्छादित न करें तो क्या सहस्रों सुंदर-सुंदर शुक, पिक, कपोत, सारिका आकर उसमें अपना नीड़ बना सकेंगे? सम्भव है कि उसमें काक, गृद्ध और चील भी रहते हों। किन्तु वे भी तो आखिर जीव ही हैं। उनको हम आश्रय से कैसे वंचित करें? हम तो समान रूप से भलों-बुरों को आश्रय देते हैं। पर ठूँठ अपने कोटरों में केवल श्रृगालों और सर्पों को ही आश्रय देता है, और हाँ, रात्रि में ठूँठ पर बैठकर उलूक पक्षी सुकुमार और कोमल-हृदया कामिनियों तथा प्रकृति-भीरु बालकों को अपनी हृदय-विदारक चीत्कार से त्रस्त अवश्य कर सकता है।

हम पल्लव हैं। किन्तु न हम हीन हैं, न दीन और न दयनीय। बिना हमारे बंदनवार असम्भव है; और जब तक हम पंच-पल्लवों के रूप में न जा विराजें, कोई भी मांगलिक कृत्य सम्भव नहीं। हम अवश्य ही वसन्त की श्री हैं, किन्तु हमें वसंत की श्री वृद्धि करने का अभिमान नहीं है। हम इतने से ही संतुष्ट हैं कि आश्रयहीन दीन जनों की पर्णकुटी छाकर हम उनको प्रकृति के कोप से बचाते हैं। यदि हमने पुण्य अर्जन किया है तो यही कि हम भगवान राम की पर्णकुटी बना सके, और यदि भविष्य में पुण्य प्राप्त होना है तो हम कितने ही वशिष्ट और भरद्वाज की पर्णशाला बना सकेंगे। सेवा का अवसर तो हमें मिलता ही रहता है। हम चाहे हरे हों चाहें सूख जायँ—दीन व्यक्ति और गृहस्थ तथा धनिक भी हमारे ही दोने और पत्तल बनाकर आगत अतिथियों का सत्कार कर पाते हैं। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर हम अपने को पशुओं तक को समर्पित करके उनके प्राणों की रक्षा करते हैं। हम भाड़ में अपनी आहुति देकर देश के दरिद्रतम लोगों को चने-मुरमुरे सुलभ कर उनकी क्षुधा शान्त करते हैं। इतने से ही हमारा जीवन धन्य है। और अपनी इसी नम्रता, विनय और सेवा के फल से तुलसीदल के रूप में हम 'पवित्राणाम् पवित्रं यो मंग-लानां च मंगलम्' माने जाकर आसन्नमृत्यु प्राणियों के मुख में गंगाजल के साथ छोड़े जाते हैं और उनकी मुक्ति में सहायक होते हैं।

हम—पल्लव—उपयोगिता, सेवा और नम्रता की मूर्ति हैं। कभी-कभी नम्रता का 'फिट' आने पर आप में से भी कोई-कोई अपने को पल्लव अथवा पल्लविनी घोषित करते हैं। किन्तु कुसुमों में नम्रता ठहर ही कैसे सकती है? उन्हें तो पत्तियों के ऊपर ऐंठ कर खड़े होने और वहाँ से—ऊपरी खण्ड से, अपनी रूप-राशि प्रकाशित और विज्ञापित करने में ही आनन्द आता है। हाँ कभी-कभी हम पल्लवों का गवाक्ष बनाकर

आप संसार को झाँक लेते और झाँकी दिखला दिया करते हैं। कभी-कभी समालोचक रूपी निठुर माली की निगाह और उसके क्रूरकर्मा हाथों से बचने के लिए हमारी ओट में छिप भी जाते हैं। किन्तु हम आपकी महानता मानते हैं। पारिजात, कमल, चम्पा, माधवी, मोंगरा, गुलाब के रूप में ही नहीं, आप प्रत्येक रूप में देवताओं तक को प्रिय हैं। चाहे धतूरे ही क्यों न हों, कुसुम होते ही आपको देवता के सिर पर चढ़ने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। दूसरों के सिर चढ़ना आपको इतना प्रिय है कि आप विवेकशून्य होकर देवता से लेकर चौराहे के पीर तक पर—कहाँ तक कहें—शव पर भी चढ़ने को सदैव तैयार रहते हैं। आप इसका गर्व न करें। विल्वपत्र और तुलसीदल के रूप में हम भी भूतभावन विश्वेश्वर विश्वनाथ की और आनन्द कन्द ब्रजचन्द की पूजा में चढ़ाये जाते हैं। किन्तु हम केवल सत्पात्र को ही यह अधिकार देते हैं। हमारे बबूल और नीम के पत्ते आपके धतूरे के फूल की तरह औरों पर चढ़ने का हास्यास्पद दुःसाहस नहीं करते।

हम मानते हैं कि कामिनियों के श्रृंगार के आप अन्यतम साधन हैं। विलासप्रिय लोगों के आप आधार हैं। आपका कलेवर कमनीय है, आप का स्वरूप मनोरम और नयनाभिराम है। आप प्रकृति वधूटी के श्रृंगार हैं। आप कामिनियों की वेणी में फणि-मणि का भ्रम उत्पन्न करते हैं, उनकी कोमल कलाइयों को दबाते और उनके सुर-दुर्लभ गले में घेरा डालकर उनका आलिंगन करते हैं। यही देखकर समझदार लोगों ने कहा था कि जहाँ रवि की भी पहुँच नहीं होती वहाँ आप पहुँच जाते हैं। पुष्प-शैया आपसे ही सार्थक होती है। सन्ध्या के समय चौक में घूमते और यौवन-मद से मतवाले युवक आपको गले में डालकर ही जवानी के जीवन को सफल समझते हैं। और पाश्चात्य सभ्यता से दंशित लोग, यद्यपि इन लोगों की तरह आपसे निकट शारीरिक सम्पर्क रखना समयोचित नहीं समझते, फिर भी अपने गोल कमरों में और खाने की मेजों पर शोभा और अलंकरण के लिए आपको मूल्यवान और सुन्दर पात्रों में दूर रखकर मानो इस बात की घोषणा करते हैं कि सभ्य समाज के जीवन में आपका क्या स्थान और क्या उपयोग है। संसार-त्यागी संन्यासी आपका उपयोग करते नहीं देखे गए। हाँ, भक्त लोग देवताओं के श्रृंगार में आपका उपयोग कर लेते हैं, और फिर आपको भगवान् का निर्माल्य समझ श्रद्धा से सिर पर चढ़ा, यत्नपूर्वक एक ओर रख देते हैं, और समय मिलने पर गंगा जी में प्रवाहित कर देते हैं।

जब—

प्रभाते स्नातीनां नृपति-रमणीनां कुचतटी।
गतो यावन्मार्तमिलति तव तोयैर्मृगमदः॥
मृगास्तावद् वैमानिक शतसहस्त्रैः परिवृता।
विशन्ति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दन-वनम्॥

तब आप तो सशरीर गंगाजी में प्रवाहित किये जाते हैं। अवश्य ही आपकी सद्गति होती होगी। किन्तु यह याद रखिए कि सद्गति का यह सौभाग्य आपको तभी प्राप्त होता है जब आप पहले अपने-आपको देवता को समर्पित कर दें, और उनके निर्माल्य हो जायँ। नहीं तो सुबह होते ही रमणियों के विलास-भवन से मेहतर आपको बुहार कर घूर पर फेंक देता है, जहाँ से म्युनिसिपैलिटी की गाड़ी में अन्तिम यात्रा कर आप किसी गड्ढे में दफना दिये जाते हैं और वहाँ से सड़ाँध का विस्तार किया करते हैं।

आप अपने रूप से लोगों को लुभाते और अपनी गन्ध से उनमें मादकता लाते हैं। गुलाबी गर्मी की शीतल चाँदनी रात में, जब दक्षिण मलय हल्के झोंकों से चल रहा हो, उस समय आप चाहे बेला या जूही

के रूप में हों, और चाहे रजनीगंधा के रूप में, आपकी मधुर गंध लोगों के हृदयों में कौन-सा भाव उदय करती हैं ? 'ललित-लवंग-लता परिशीलन कोमल मलय समीरे' की पंक्ति आपकी इस मादक कर देने की शक्ति की महिमा ही में तो लिखी गई थी। और उस समय 'जूही की कली' की क्या दशा होती है ? विलासिता के राजस भाव उत्पन्न करने में आप इस सृष्टि के सबसे सफल साधक और सबसे बड़े कारण हैं। और आपके वर्ण ? उनसे किसी को प्रेयसी के चम्पक रंग का, किसी को नीलोत्पल या रक्ताभ कमल-सी आँखों का—और न मालूम कितने प्रकार से प्रेयसी का स्मरण हो आता है। सारांश यह है कि आप शृंगार-रस के उद्दीपन हैं, उसके आधार हैं। कामदेव ने अपने शरों को आपसे निर्माण कर आपकी शक्ति और सार्थकता को प्रमाणित करके तार्किकों को हतबुद्धि और निरुत्तर कर दिया है।

आप-आप ही हैं, और हम-हम ही। "हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा, कहहु कि कहाँ चरन कहँ माथा ?" नियति ने हमारा कर्तव्य कुछ और निर्धारित किया है, और आपका कुछ और। हजरत ईसा मसीह ने कहा था, "मनुष्य का पुत्र संसार में दूसरों की सेवा करने के लिए आया है—दूसरों से सेवा कराने के लिए नहीं।" हम सेवा करने के लिए, और आप सेवा लेने के लिए हैं। माली आपको सींचते हैं, मालिनें आपको गूँथतीं हैं, कुल-कामिनियाँ आपको अपने सुकुमार करों से बड़ी कोमलता से स्पर्श करती हैं। आप धूप और तुषार से बचाये जाते हैं। और हम ? जब उंचासों पवन क्रुद्ध होकर भूमण्डल को झकझोरने लगते हैं, जब प्रलयान्तक मेघ मूसलाधार बारिधारा से वसुन्धरा को डुबा देने को प्रयत्नशील हो जाते हैं, जब इन्द्र उपल बरसाते हैं, जब मेष के सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से पृथ्वी के हृदय का सार तक खींचने का प्रयत्न करते हैं—तब, उस समय भी, हम यों ही, भगवान् के सहारे, नृत्य और गान करते हुए, अथवा "जाही बिधि राखे राम, ताही बिधि रहिए' सोचकर, चुपचाप, ज्यों-के-त्यों खड़े रहते हैं। अपनी बकरियों के लिए हमें बिल्लेसुर बकरिहा दिन दहाड़े हँसिया-लगी लग्गी से झटका देकर निर्दयतापूर्वक तोड़ लेते हैं, किन्तु आप :

हौले झरें शिथिल कबरी में,
गूँथें हर शृंगार कामिनी।

—'राजभवन की सिगरेटदानी' से

तुलसीदास की छीछालेदर

(तुलसीदास पर शोध करने वाले एक छात्र की रपट)

●

यह कृति श्री विनोद शर्मा ने १९३५-३६ में तैयार की थी जिसमें समय-समय पर परिवर्द्धन होता रहा है। संक्षेप में कथा यह है कि १९३५-३६ के लगभग बाबा तुलसीदास चित्रकूट से काशी जाते हुए रास्ते में राजापुर रुके। वहाँ पं० रामबहोरी शुक्ल, बाबू केदारनाथ गुप्त आदि राजापुरियों ने उन्हें घेर लिया और उनके पीछे पड़ गये कि आप अपनी रामायण छपवा दें क्योंकि वैसे तो वह जनता में प्रचारित है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियों की कमी के कारण वह उसे सुलभ नहीं है। पहिले तो बाबा ने यह कह कर कि हमने तो इसे "स्वान्तः सुखाय" लिखा है; हम इसे छपाने के पचड़े में नहीं पड़ेंगे; उन्होंने उसे छपाने से इनकार कर दिया, किन्तु ये राजापुरिये इस बुरी तरह उनके पीछे पड़े कि अन्त में वे उसे छपाने को राजी हो गये। अब प्रश्न यह उठा कि वह कहाँ छपाई जाये। तब राजापुरियों ने कहा कि इस समय एक ही साहित्यिक प्रकाशक हैं, पं० दुलारेलाल भार्गव; जो लखनऊ में रहते हैं और अपनी स्वर्गीया पत्नी के नाम पर गंगा पुस्तक माला नाम की प्रकाशन संस्था चलाते हैं। स्वयं बड़े कवि और यशस्वी संपादक हैं, तथा साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित करते हैं। उन्होंने बाबा को ठेल-ठाल कर लखनऊ भेजा, किन्तु वहाँ पुस्तक नहीं छपी। फिर वे इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस में गये। वे काशी के ज्ञानमंडल भी गये। कई और प्रकाशकों के दरवाजे उन्होंने खटखटाये, पर सभी जगह निराश होना पड़ा। अन्त में संयोग से उनकी भेंट मथुरा के एक प्रकाशक

से हो गयी । उसने उनके मुख से उनकी रामायण की कथा सुनी थी । उसने कहा कि हम तो ''नौटंकी'' ''आल्हा'', ''सास-बहू का झगड़ा'', ''साढ़े तीन यार का किस्सा'' आदि पुस्तकों को धड़ल्ले से बेच लेते हैं । उनके साथ ही इसे भी बेच लेंगे, पर पैसा कुछ न देंगे । केवल २५ प्रतियाँ छपी पुस्तक की देंगे । बाबा राजी हो गये, और रामायण छप गई । उससे उनका बड़ा नाम हुआ । किसी ने कह दिया कि उसे मंगलाप्रसाद पारितोषिक के लिए भेजिये । इस सिलसिले में वे राजर्षि तुरुषोत्तम दास टंडन आदि हिन्दी के नेताओं और साहित्यकारों से मिले । पर पारितोषिक नहीं मिला । तब किसी ने कह दिया कि उत्तर प्रदेश सरकार ने शिक्षा प्रसार विभाग खोला है जो बड़ी संख्या में देहाती पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें खरीदता है । यदि वे रामायण ले लें तो देहात में उसका प्रचार होगा । अतएव वे तत्कालीन शिक्षा प्रसार अधिकारी पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी से मिलने गये । वहाँ उनके पास उनके मित्र निराला जी बैठे थे, और बाबाजी की उनसे बातचीत हुई । एक बार एक विश्वविद्यालय के कवि सम्मेलन में लोग उन्हें पकड़ ले गये और वहाँ उन्हें विचित्र अनुभव हुआ और अद्भुत स्वागत का सामना करना पड़ा । एक बार उनकी भेंट पं० राधेश्याम कथावाचक से भी हुई । फिर वे वैरागियों की एक जमात में फँस गये जो उनकी रामायण की पंक्तियों के ऐसे विचित्र अर्थ कर रहे थे जो उनकी कल्पना में भी कभी नहीं आये थे । फिर उन्होंने कथावाचकों से रामायण के प्रवचन सुने । एक बार प्रोफेसरों ने उनसे साक्षात्कार किया । ऐसी अनेक ''घटनाएँ'' शर्मा जी ने अपने महान ग्रन्थ में वर्णित की हैं, वह बाबा बेनीमाधव दास के 'गुसाँईचरित' तथा उन पर लिखे कई उपन्यासों और शोधग्रन्थों से टक्कर ले सकता है ।

[१]

बाबाजी की पं० दुलारेलाल भार्गव और पं० शुकदेव बिहारी मिश्र से भेंट

बाबाजी के जीवन की यह पहली रेल-यात्रा थी । लम्बी सफेद दाढ़ी और श्वेतकेशी बाबाजी बगल में कपड़े में लपेटी रामायण की पोथी और एक झोले में पूजन का सामान तथा डोर लोटा लिए और धोती तथा उत्तरीय पहने खड़ाऊँ खटखटाते चारबाग स्टेशन से बाहर आ खड़े हुए । मोटरों, ताँगों, ट्रकों, बसों, रिक्शाओं तथा लोगों की भीड़ देख कर वे घबड़ा कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये । समस्या थी कि इस विशाल नगर में कहाँ ठहरें । लोग इतनी भागदौड़ में और व्यस्त थे कि किसी से उन्हें बात करने का साहस ही नहीं होता था । कुछ देर बाद उन्हें एक सज्जन दिखाई पड़े जो चूड़ीदार पाजामा, शेरवानी पहने और टेढ़ी टोपी लगाये खड़े किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे । साहस बटोर कर और हनुमान जी का स्मरण करके वे उनके पास जा पहुँचे और बड़ी नम्रता से पूछा, ''रामजी, मैं परदेशी हूँ । रामजी के मंदिर में ठहरना चाहता हूँ । यहाँ रामजी का मन्दिर कहाँ है ?'' उस व्यक्ति ने बाबाजी का अद्भुत वेष और स्वरूप विस्फारित नेत्रों से कुछ देर देखा और बोला, ''मालूम होता है कि जनाब पहली बार लखनऊ तशरीफ लाये हैं । जनाब, यहाँ छोटा इमामबाड़ा, आसफुद्दौला का इमामबाड़ा, हुसैनाबाद का इमामबाड़ा, काजमैन का इमामबाड़ा, टीलेवाली मस्जिद, बड़ी जामा मस्जिद वगैरह सैकड़ों मस्जिदें और इमामबाड़े हैं । यहाँ सिरी रामचन्दरजी के मन्दिर के होने की बात तो मैंने सुनी नहीं । मैं आपको सलाह दूँगा कि आप सीधे इस सड़क पर चले जायँ। करीब एक मील पर आपको अमीनुद्दौला पार्क मिलेगा । वहाँ लाला छेदीलाल ने एक धरमशाला बनवा दी है । आप ऐसे लोगों के ठहरने के लिए वहीं मुकाम मुनासिब होगा ।''

(बाबा धर्मशाला में कैसे पहुँचे, उन्हें वहाँ कैसे अनुभव हुए, उसका वर्णन मैंने जल्दी में होने के कारण अमहत्त्वपूर्ण समझकर नकल नहीं किया । मैंने जो अंश महत्त्वपूर्ण समझा वह उनकी भार्गव जी और मिश्र जी से भेंट है । वही आगे दे रहा हूँ) ।

बाबाजी गंगा पुस्तक माला पहुँचे। फाटक और विशाल प्रांगण पार कर वे सामने एक खुला दरवाजा देख कर उसमें घुस गये। उन्होंने देखा कि वहाँ एक मेज के सामने कुर्सी पर एक भव्य युवक बैठा है। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से बुद्धिमानी और दृढ़ता झाँक रही है। वह उस समय किसी व्यक्ति पर ऐसा प्रूफ लाने के लिए जोर से बिगड़ रहा था जिसमें अनेक भूलें छूट गयी थीं। पहले तो बाबा उस तरुण का रौद्र रूप देख कर कुछ सहमे, फिर हनुमानजी का स्मरण करने लगे। थोड़ी देर उस व्यक्ति पर चिल्लाने के बाद उसने उसको बिदा कर दिया और स्वयं एकाएक कुर्सी से उठ कर चला गया। बाबा खड़े रहे। दस-पाँच मिनट में वह फिर लौट आया और अपनी कुर्सी पर बैठ गया। बाबाजी को देखकर बोला, "क्या आप मुझसे मिलने आये हैं?" बाबा ने कहा, "हम पं० दुलारे लाल भार्गव के दर्शनार्थ आये हैं।" इस पर उस तरुण ने कहा, "मैं ही माधुरी का सम्पादक दुलारे लाल भार्गव हूँ। कहिये, कैसे कष्ट किया?" बाबाजी बोले, "रामजी, मैंने भगवान राम पर एक काव्य लिखा है। प्रयागराज में लोगों ने बताया कि आप साहित्यिक ग्रंथों के प्रकाशन में बड़ी रुचि लेते हैं। सो मैं उसे लेकर आपकी सेवा में आया हूँ।" भार्गव जी ने कहा, "वह काव्य दिखाइये।" बाबाजी ने कपड़े में लिपटी रामायण निकालकर उस व्यक्ति के सामने रख दी। उसने कुछ पन्ने उलट-पुलट कर पढ़े और बोला, "आपने यह काव्य लिखा है! न तो यह ब्रजभाषा में है और न खड़ी बोली में। अच्छी कविता तो ब्रजभाषा में ही हो सकती है। आपको शायद यह नहीं मालूम कि मैं स्वयं कवि हूँ। मेरी दुलारे दोहावली ब्रजभाषा में है और मैं सर्वप्रथम देव पुरस्कार विजेता हूँ। यह दो हजार रुपये का पुरस्कार ओरछा नरेश ने स्थापित किया है। कम्पटिशन में बड़े-बड़े कवियों ने अपने काव्य भेजे थे, पर मेरी दोहावली सर्वोत्तम ठहरायी गयी और मैं विजयी घोषित किया गया। मेरे दोहे बिहारी के दोहों से टक्कर लेते हैं। आपने दुलारे दोहावली पढ़ी है?"

बाबाजी के "न" कहने पर उसने कहा, "उसे पढ़िये तो आपको मालूम होगा कि अच्छी और उच्च कोटि की कविता कैसी होती है।" यह कह कर उसने जोर से आवाज दी, "बाबू! दुलारे दोहावली के साठवें संस्करण की एक प्रति तो लाना।" तुरन्त ही एक व्यक्ति वह पुस्तक दे गया। उसे बाबाजी को देते हुए भार्गव जी ने कहा, "यह मैं आपको भेंट करता हूँ। इसे ध्यान से पढ़ने पर आपको अच्छी कविता क्या होती है, यह मालूम हो जायेगा।"

बाबाजी ने पुस्तक लेकर सिर से लगाई और उसे अपने झोले में रख लिया। तब फिर वह तरुण बोला, "मैंने तो पुस्तक प्रकाशन हिन्दी के प्रचार और हिन्दी साहित्यकारों को सहायता देने के लिए आरम्भ किया है। निराला, प्रेमचन्द आदि कितने ही महान साहित्यकारों को मैंने इसी प्रकार सहायता दी। उनकी सूची बड़ी लम्बी है, और उन सबको बताने की इस समय फुर्सत नहीं है। एक बड़े साहित्यकार को तो मैंने एक पृष्ठ के लिए पूरे एक रुपये प्रति पृष्ठ की दर से पारिश्रमिक दिया। तो मैं साहित्य सेवा की दृष्टि से आपकी पुस्तक भी छाप दूँगा। किन्तु मुझे विश्वास हो जाना चाहिये कि आपकी पुस्तक उच्चकोटि की है। इसके लिए आवश्यक है कि आप कुछ बड़े साहित्यकारों और समीक्षकों से अपनी पुस्तक पर सम्मतियाँ लाकर मुझे दें। इस युग में तब तक पुस्तक का सम्मान नहीं होता और न वह बिकती है जब तक महान व्यक्ति उस पर अच्छी सम्मति नहीं देते। मेरी दोहावली पर महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि ने जो सम्मतियाँ दी हैं वह दोहावली के साथ की पुस्तिका में दी गई हैं। उन्हें आप पढ़ लें। तब आपको दोहावली का महत्त्व मालूम होगा, और यह भी मालूम होगा कि आजकल पुस्तक बेचने और चलाने के लिए बड़े लोगों की सम्मतियाँ कितनी आवश्यक हैं।

बाबाजी इस लम्बे भाषण को चुपचाप सुनते रहे और फिर बोले, "सो रामजी, हम तो किसी बड़े साहित्यकार को जानते नहीं। हम कहाँ और किसके पास जायें?"

तब भार्गवजी ने कहा—"अरे, यह बड़ा सरल है। हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकारों में मिश्रबंधुओं का स्थान बहुत ऊँचा है। उनमें से पं० शुकदेव बिहारी मिश्र आजकल यहीं हैं। वे गोलागंज में रहते हैं। बड़े विद्वान और सहृदय सज्जन हैं। आप उनके पास चले जाइये। अमीनाबाद से गोलागंज की सीधी सड़क जाती है। वे बड़े आदमी हैं, गोलागंज में कोई भी व्यक्ति उनका घर बता देगा।"

बाबाजी ने रामायण बस्ते में लपेटी और उस व्यक्ति से "जय सियाराम" कहकर बाहर आये। पूछते-पूछते गोलागंज पहुँच गये और मिश्रबंधुओं की कोठी भी मिल गई। एक विशाल फाटक से घुसकर कुछ दूर चलकर उन्हें एक विशाल चबूतरे पर चढ़ने की सीढ़ियाँ दिखाई दीं। जाड़े के दिन थे। प्रायः नौ बजे थे। देखा कि एक अधेड़ व्यक्ति रुई का पाजामा और मिर्जई पहिने तथा दाहिने हाथ में एक माला लिये उस विशाल चबूतरे पर टहल रहा है। उनके खड़ाउओं की खट-खट सुनके उस व्यक्ति ने बाबाजी को संबोधित करके कहा, "बाबाजी, आप यहाँ कैसे चले आये? हमें साधुओं और बाबाओं में रुचि नहीं है।" बाबा ने विनम्र स्वर से कहा, "हमने एक काव्य रचा है। आपके पास पं० दुलारेलाल भार्गव ने इस पर सम्मति लेने भेजा है। रामजी, आप तो बड़े भक्त मालुम होते हैं। टहलते हुए भी माला जप रहे हैं।"

"ऊँह, ई आप का समझें? देखत हौ, हम टहिल रहे हैं। पैरन केर व्यायाम हुइ रहा है। अब हाथ माँ माला लेइ तें ओहू कुछ चलत रहत है। हमका आप-जाप में बहुत विश्वास नाहीं, पर हाथ चलावें के लिये जपा करित अही। जो यहि माँ कुछ फल होई तौ हमहूँ का मिल जाई। नाहीं तौ हमार का बिगरत है?"

बाबाजी इस व्याख्या से कुछ हतभ्रम हो गये। उन्हें चुप देखकर उस व्यक्ति ने कहा, "तो आप कविता करत हैं और आप एक काव्य लिखिन हैं?"

"हाँ, रामजी।"

"तो बताओ ई छंद माँ कौन सी नायिका है?"

भ्रमे भूले मलिन्दन देखि नितै
तन भूलि रहैं किन भामिनियाँ।
"द्विजदेवजू" डोली लतानि चितै
हिय धीर धरैं किमि कामिनियाँ।
हरि हाय बिदेस में जाय बसे
तजि ऐसे समैं गज-गामिनियाँ।
मन बौरै न क्यों अपनौ सजनी
अब बोरी बिलासिनि आमिनियाँ॥"

बाबा छन्द सुनके अवाक् रह गये। कुछ देर बाद साहस बटोर कर बोले, "रामजी, हमने तो नायिका भेद आदि का अध्ययन नहीं किया। आपके प्रश्न का उत्तर देना हमारे सामर्थ्य के बाहर है।"

"तो बिना नायिकाभेद, छन्दशास्त्र, पिंगल का अध्ययन किये ही आपने काव्य रचना कर डाली? वह किस काम की होगी?"

"रामजी, वह भगवान रामजी की लीला और राम नाम की महिमा का काव्य है। वह शांत रस का काव्य है। आपके समान विद्वान उसे देखें तो स्यात् वह आपको रुचिकर लगे।"

"सो महाराज, आप महात्मा, तिस पर कवि। हम आपका काव्य अवश्य देखेंगे और सहर्ष अपनी सम्मति देंगे। चलिये, गोल कमरे में चलिये। वहीं बातें होंगी।"

वह व्यक्ति उन्हें गोल कमरे में ले गया। वहाँ बाबाजी को एक कुर्सी पर बैठाया और उनके सामने एक छोटी मेज रखकर स्वयं उसकी दूसरी ओर बैठ गया। फिर बोला, "लाइये, दिखाइये अपना काव्य।"

बाबाजी ने बस्ता खोलकर पोथी उन सज्जन के सामने रख दी। उन्होंने देर तक उसके पन्ने कई जगह से निकाल के प्रायः घंटे भर पढ़े। उसके बाद बोले—

"बाबाजी, आपने इस काव्य की रचना में परिश्रम बहुत किया। उसकी हम प्रशंसा करते हैं। आपका यह काव्य न तो ब्रजभाषा में है और न खड़ीबोली में। यह अवधी में है, किन्तु जायसी की अवधी अधिक बोलचाल की, प्रामाणिक और अवध में प्रचलित है। आपकी भाषा में संस्कृत के शब्द भी प्रचुर मात्रा में हैं। इसका विषय युग के अनुकूल भी नहीं है। अब इस युग में भिन्न विषयों पर काव्य रचना होती है। यदि आप जानना चाहें कि आजकल किन विषयों पर कविता लिखना उचित है तो हम मिश्रबंधुओं का काव्य संग्रह पढ़िये। वह गंगा पुस्तक माला से प्रकाशित हुआ है। किन्तु आप साधु होकर हिन्दी काव्य की सेवा कर रहे हैं, यह बहुत बड़ी बात है और आपके हिन्दी प्रेम का द्योतक है, जिसकी हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। किन्तु आपने देव, बिहारी, मतिराम, केशव आदि आचार्यों के ग्रंथों को नहीं पढ़ा। इससे आपके काव्य में वे बारीकियाँ कैसे आ सकती हैं जो इन महाकवियों में हैं? फिर भी आपका प्रयास स्तुत्य है और हम प्रसन्नतापूर्वक अपनी सम्मति लिख दे रहे हैं।"

यह कहकर उन्होंने एक कोरा कागज निकाला और उस पर लिखा :

"हमने बाबा तुलसीदास का काव्य रामचरित मानस पढ़ा। उसे पढ़कर हमें प्रसन्नता हुई। बाबाजी ने बड़ा परिश्रम किया है और इतना बड़ा काव्य लिख डाला। कविता कहीं-कहीं अच्छी बन गई है। ये साफ लिखते हैं। साधु होकर भी हिन्दी में काव्य रचना करना उनके हिन्दी प्रेम का प्रमाण है, जो सराहनीय है। यह काव्य उन्होंने अवधी में लिखा है किन्तु इसकी अवधी उतनी टकसाली नहीं है जितनी जायसी की। संस्कृत के विद्वान होने के कारण इसमें संस्कृत के शब्द पर्याप्त मात्रा में आ गये हैं। हम उनके प्रयास की प्रशंसा करते हैं और उन्हें 'दास' की श्रेणी में रखते हैं।

शुकदेवबिहारी मिश्र
(मिश्रबन्धु)

बाबाजी ने अपनी पुस्तक बस्ते में बाँधी। उनकी सम्मति सावधानी से तहियाकर झोले में रख ली और "जै सियाराम" कह के मिश्रजी से विदा लेकर वे गंगा पुस्तक माला कार्यालय की ओर चल दिये।

वहाँ भार्गवजी अपनी कुर्सी पर बैठे थे। उन्होंने बाबाजी को सामने की कुर्सी पर बैठने को कहकर पूछा—"कहिये, आप सम्मति ले आये?"

बाबाजी ने सम्मति निकाल कर भार्गवजी के सामने रख दी। उन्होंने उसे ध्यान से पढ़ा और फिर बोले—"इस सम्मति में आपके काव्य को 'दास' की श्रेणी में रखा है। हम तो उच्च श्रेणी के लोगों की कृतियाँ छापते हैं। यह सम्मति ऐसी नहीं है कि इसमें काव्य की इतनी प्रशंसा हो कि वह इसके आधार पर बिक सके। हमें खेद है कि हम आपका काव्य छापने में असमर्थ हैं।"

बाबाजी मूर्ति की तरह निरपेक्षभाव से भार्गवजी की बातें सुनते रहे, और उनका निर्णय सुनने के कुछ देर बाद उन्होंने वह सम्मति उठा ली और उठकर खड़े हो गये। फिर "जैसी रामजी की इच्छा"

कहकर, तथा भार्गव जी से "जै सियाराम" कहकर वे धीरे-धीरे खड़ाऊँ खटखटाते छेदीलाल की धर्मशाला में आये और अपना सामान लेकर इलाहाबाद लौटने के लिये स्टेशन की ओर चल दिये।

(इंडियन प्रेस में बाबाजी के प्रयास का वर्णन नकल नहीं किया।)

[२]

लखनऊ और इलाहाबाद में रामायण छपाने में असफल और निराश होकर बाबा तुलसीदास काशी लौट आये। वहाँ उनकी असफलताओं के कारण गाथा सुनकर उनके एक भक्त ने कहा—"महाराज 'घर के ठाकुर छाँड़कें, पीपर पूजन जाय।' अरे, यहाँ काशी ही में उच्च साहित्य के प्रकाशन के लिये ज्ञानमंडल प्रेस खुला है। आप इधर-उधर क्यों भटकते हैं ? वहाँ जाइये। वह व्यापारिक दृष्टि से स्थापित नहीं किया गया है। हिन्दी में उच्चकोटि के साहित्य के प्रकाशन के लिये खोला गया है। वह आपका मानस अवश्य छाप देगा।" यह सुनकर बाबा के मुख पर आशा की कुछ झलक दिखाई पड़ी। उन्होंने उसका पता पूछा। मालुम पड़ा कि वह कबीरचौरा पर है।

दूसरे दिन लगभग दिन के ११वजे बाबाजी खड़ाऊँ खटखटाते और बगल में बस्ते में लपेटी मानस की पोथी दबाये ज्ञानमंडल के सामने जा खड़े हुए। जब भीतर घुसने लगे तो दरवान ने डाँट बताई—"कहाँ घुसल जात बाटे ? ई का बनिया की दुकान हौवे ? ईहऽ छापाखाना। इहाँ भीख-वीख नाहीं मिली। जा, अउर आगे बढ़ जा, दूसर दरवज्जा देखऽ।" बाबा ने नम्रता से कहा, "राम जी, हम भिखारी न होंयँ। हमें तो एक पोथी छपवानी है।" दरवान का स्वर नर्म हुआ। बोला, "एही बरंडा में चलल जा। दूसरे दरवज्जा माँ घुस जाओ। उहाँ मनीजर साहब बैठल हौवें।" बाबाजी खड़ाऊँ खटखटाते बरंडे में बढ़े और दूसरे दरवाजे में घुस गये। देखा कि एक बड़ी मेज के पीछे कुर्सी पर प्रायः दुहरे बदन का एक साँवला व्यक्ति बैठा है, जिसके ओठ में कोई असाधारणता है। इनके खड़ाऊँ की आवाज सुनकर उसने कागज से आँख ऊपर उठाई और सामने चौड़ा वैष्णवी टीका लगाये, लम्बी सफेद दाढ़ी के एक वृद्ध को एक सफेद चादरा ओढ़े खड़ा देखकर वह कुछ रौब से बोला—"यहाँ तुम्हें किसने आने दिया, बाबा ? यहाँ भिक्षा नहीं मिलती। भिक्षा लेनी हो तो सेवा उपवन में मालिक के पास जाओ। यह है छापाखाना। यहाँ हमें फुर्सत नहीं कि हम हर साधु-भिखमंगे से बात करके समय नष्ट करें।" बाबाजी ने नम्रता से कहा, "सो रामजी, हमें ज्ञात है। हमारी भिक्षा वृत्ति नहीं है। हम तो एक पोथी छपवाने आये हैं।"

यह सुनते ही उस व्यक्ति का भाव एकदम बदल गया। "अच्छा महाराज, कुर्सी पर बिराजिये। तो आप पुस्तक छपाना चाहते हैं ? कितनी बड़ी है ? आप उसकी छपाई में कितना रुपया खर्च कर सकते हैं ?"

"सो रामजी, हम तो अकिंचन हैं। हमने सुना रहा कि आप उच्च साहित्य छापते हैं। हमने एक काव्य लिखा है। हमारी प्रार्थना है कि आप उसे अपने व्यय से छाप दें।"

"देखिये बाबाजी, एक तो हम काव्य छापते नहीं। पर मालिक चाहें तो छाप भी सकते हैं। पर पहिले हमारे दो प्रश्नों के उत्तर दीजिये। तब बात आगे बढ़ेगी।"

"कौन प्रश्न, रामजी ?"

"पहिले तो आप यह बताइये कि आप सोशलिस्ट हैं या नहीं, दूसरे यह कि आप रंडुआ हैं कि नहीं।"

तुलसीदास कुछ समझे ही नहीं। बोले, "रामजी, ई सोसलिस का होत है ?"

उत्तर मिला "वह जो सोशलिज्म को माने।"

"और रामजी, इ सोसलिजम का है ?"

उसने उत्तर दिया, "यह तो मैं भी नहीं जानता, पर हमने बाबू संपूर्णानंदजी की 'समाजवाद" नामक पुस्तक प्रकाशित की है। आप उसकी एक प्रति खरीद कर पढ़ जायें, तब आप बतला सकेंगे कि आप सोशलिस्ट हैं कि नहीं। सोशलिस्ट का हिन्दी पर्याय समाजवाद है। हम सोशलिस्ट की किताबें छापना देश के हित में समझते हैं।"

"और रामजी, ई रँडुआ वाली बातउ हमरे समझ में नाहीं आई।"

मैनेजर साहब ने कहा—"बात यह है कि हमारे संस्थापक बाबू शिवप्रसाद गुप्त रँडुआ, हमारे प्रधान संपादक बाबू श्री प्रकाश रँडुआ, अन्य संपादक पंडित कमलापति त्रिपाठी रँडुआ, हमारे संपादक पराड़कर जी रँडुआ, हमारे लेखक संपूर्णानंदजी रँडुआ, हम मैनेजर रँडुआ, हमारे क्लर्क और कम्पोजीटरों में कई रँडुआ हैं, सो हम रँडुओं की किताब अवश्य छाप देते हैं।"

"पर रामजी, हमकाँ तो घर छाड़े न जाने कितनी बरिसें हुई गयीं। हमका पता नहीं कि हमारे धर्म पत्नी जीवित हैं कि मर गईं।"

"तो जाइये पता लगाकर आइये। अगली बार जब आप आवें तब दोनों प्रश्नों के उत्तर लेकर आवें। यदि रँडुआ और सोशलिस्ट न हुए तो आने का कष्ट न करें। दरवान से कहिये तो वह आपको बाबू संपूर्णानंद का "समाजवाद" बुकडिपो से खरिदवा देगा। अब जाइये, हमारे पास करने को बहुत काम है।"

बाबा उठे। खुटुर-खुटुर करते हुए नीचे सड़क पर उतरे। कुछ क्षण कुछ विचारते रहे और फिर अस्सी घाट की ओर चल दिये।

[३]

बाबा तुलसीदास प्रोफेसरों के बीच

एक बार बाबा तुलसीदास एक नगर में कालक्षेप कर रहे थे और नगर के प्रायः बाहर भगवान रामचन्द्रजी के मन्दिर में ठहरे हुए थे। जब स्वास्थ्य ठीक होता तो संध्या के समय भगवान के सामने रामायण का कुछ अंश पढ़ते तथा उनके दो शिष्य (मलूक और नारायण) बड़े मधुर स्वर में भाव विभोर होकर विनयपत्रिका के पद गाते। बाबाजी की कथा सुनने को नगर के श्रद्धालु स्त्री-पुरुषों की भीड़ लग जाती। संयोग से उन्हीं दिनों वहाँ हिन्दी प्रोफेसरों की संस्था 'भारतीय हिन्दी परिषद' का भी अधिवेशन हुआ। वैसे तो प्रतिनिधिगण विश्वविद्यालय के विशाल भवन में ठहरे हुए थे, किन्तु उनमें से कुछ नगर में अपने मित्रों या संबंधियों के यहाँ भी ठहरे थे। उन्हें अपने अतिथियों से तुलसीदास की कथा का समाचार मिला और उन्होंने अन्य प्रोफेसरों को यह समाचार दिया। ये सब प्रोफेसरगण किसी न किसी रूप में या तो तुलसी के काव्य को पढ़ाते, या रामचन्द्र शुक्ल के 'तुलसीदास' के आधार पर उनके बारे में विद्यार्थियों को ज्ञानदान दिया करते थे। यह दूसरी बात है कि सबने पूरी रामायण भी नहीं पढ़ी थी, पर वे रामायण की चर्चा करते, उस पर शोध कराते, रामायण का विश्लेषण करते और तुलसीदास की जीवनी पर अधिकार पूर्वक भाषण देते थे। अतएव स्वभावतः उनमें से कुछ को तुलसीदास से मिलकर और उनसे 'साक्षात्कार' कर अनेक प्रश्न करने की तीव्र उत्सुकता उत्पन्न हुई। पहले तो यह विचार किया गया कि बाबा को परिषद के अधिवेशन में बुलाकर उनसे एक भाषण देने को कहा जाय, किन्तु बाबा ने न तो परिषद में जाना स्वीकार किया और न भाषण देना। उन्होंने कहा कि हमतो भगवान राम के चरित्र का गायन मात्र करते हैं। तब

कुछ प्रोफेसरों ने एक अंग्रेजी की कहावत कही : यदि मोहम्मद साहब पहाड़ के पास नहीं जाते तो पहाड़ ही उनके पास चला जाय।

सो, एक दिन समय निर्धारित करके थोड़े से प्रोफेसर उस मन्दिर में जा पहुँचे जहाँ बाबा ठहरे थे। कोई रिक्शे से, कोई स्कूटर से, कोई मोटर साइकिल से, कोई ताँगे से और कोई मोटर से वहाँ पहुँचा। उनके परिधान भी विविध भाँति के थे। कोई धोती-कुर्ता किन्तु नंगे सिर, कोई खादी की टोपी लगाये, कोई चूड़ीदार पाजामा और शेरवानी, कोई पतलून और बन्द गले का कोट पहिने थे, कोई पतलून और खुले कोटों पर रंग-बिरंगी टाइयाँ लगाये थे। 'नाना वाहन नाना रूपा' वाली पंक्ति याद आ गई। पहनावे से शायद दो ही चार हिंदोदाँ मालुम होते थे। मालुम होता था कि वे सब अंग्रेजी के विद्वान और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हैं। एक बड़ी कठिनाई उन्हें यह हुई कि मन्दिर में घुसने के पहिले उन्हें जूते उतारने पड़े, और कितनों को इस बात का मलाल था कि उनके मूल्यवान रेशमी, ऊनी और नाइलान के मोजे मन्दिर की धूल से खराब हो जायेंगे। किन्तु तुलसीदास से मिलने के लिये इतना खर्च कर इतनी दूर आकर लौट जाना भी उन्हें ठीक न लगा। अतएव वे विवश होकर जूते उतारकर मन्दिर के एक बड़े दालान में पहुँचे जहाँ तुलसीदासजी ने उनके बैठने के लिये मन्दिर वालों से एक फर्श बिछवा देने के लिये कह दिया था। बाबाजी एक छोटी चौकी पर रामनामी ओढ़े, तिलक लगाये और गले में तुलसी की माला पहने बैठे थे। उनके अगल-बगल चौकी के नीचे उनके दोनों शिष्य बैठे थे। प्रोफेसरों ने उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया। उत्तर में बाबा ने 'जै सियाराम' कहकर उनका सम्मान किया। प्रोफेसर पन्द्रह-सोलह ही थे। अतएव वे बाबा की आवाज आसानी से सुन सकते थे।

आरम्भ में एक प्रोफेसर जो उन सबमें वरिष्ठ मालुम होता था, उठकर खड़ा हुआ और बाबा को संबोधित करते हुए कहा—"बाबाजी महाराज, हम आपके दर्शनों को बड़े उत्सुक थे। यह हमारा सौभाग्य है कि आप इस समय इस नगर में विराजमान हैं जब भारत के विश्वविद्यालयों के हिन्दी प्रोफेसरों का सम्मेलन यहाँ हो रहा है। हम चाहते थे कि आप सम्मेलन में पधार कर हम सबको गौरवान्वित करें। किन्तु आपकी अवस्था ने हमें उस सौभाग्य से वंचित रखा। किन्तु आपका दर्शन मात्र ही हमारे लिये परम सौभाग्य की बात है। हम हिन्दी प्रोफेसर आपके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यदि आपने काव्य रचना न की होती तो हम लोगों को अपने शोध विद्यार्थियों को शोध के विषय ढूँढने में बड़ी कठिनाई होती। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आपके काव्यों और जीवन पर हम लोगों ने प्रायः १५० थीसिस अपने शोध छात्रों से लिखवा कर उन्हें "डाक्टर" की उपाधि दिलवा दी है जिसके बल पर उन्हें विश्वविद्यालयों तथा स्नातक और स्नातकोत्तर कालिजों में लेक्चरर और प्रोफेसर के पद मिल गये हैं। वे सब और हममें से भी कितने ही आपही की बदौलत अपनी रोटी चला रहे हैं। अवश्य ही अब हमें आपके काव्य और जीवन के सम्बन्ध में शोध के लिये नये विषय खोजने में कुछ कठिनाई होने लगी है, किन्तु फिर भी आपके काव्य के अध्ययन को विश्व-विद्यालयों में रखे जाने के कारण हमें उसका अध्ययन करना ही पड़ेगा और भविष्य में रिक्त होने वाले स्थानों की पूर्ति के लिये नये डाक्टर तैयार करने होंगे। आपने जनता पर, देश पर, समस्त हिन्दीभाषियों पर उपकार किये हैं। हम उनके लिये, और विशेषकर आपने जो उपकार हम प्रोफेसरों पर किये हैं, उनके लिये आपको हृदय से धन्यवाद देते हैं।"

उनके बैठते ही एक दूसरे प्रोफेसर ने उठकर कहा—"पूज्यवर, हमारे विद्वान मित्र ने जो कुछ कहा है, मैं उसका हृदय से जोरदार समर्थन करता हूँ। वास्तव में हम हिन्दी प्रोफेसरों पर आपका असीम उपकार है। यदि आप न होते तो रामचन्द्र शुक्ल को "तुलसीदास" ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचकर कैसे ख्याति प्राप्त

होती ? किन्तु हमारे विद्वान मित्र ने जो यह आशंका प्रकट की कि आपके काव्यों और जीवन पर इतने थीसित लिखे जा चुके हैं कि अब नये विषय मिलना कठिन है, मैं उससे सहसत नहीं हूँ। अभी तो हमने केवल आपके जीवन और काव्य के मोटे-मोटे विषयों पर ही ध्यान दिया है। अभी तो आपकी रामायण या आपके मनोविज्ञान पर बहुत थोड़ा काम हुआ है। फ्रायड और युंग का सहारा लेकर अभी आपके काव्य के मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन की अनन्त संभावनाएँ हैं। हम प्रोफेसरों का मस्तिष्क स्टराइल (बंध्या) नहीं हो गया जो आपके ग्रन्थों और काव्य से हम थीसिस के नये विषय न निकाल सकें। उदाहरण के लिये, "रामायण में कामशास्त्र", "तुलसीदास के जीवन में काम (सेक्स) का स्थान" "तुलसीदास के आत्म-स्वीकृत अवगुण", "तुलसीदास के आत्म-स्वीकृत पाप", "तुलसीदास काम से जूझने में कितने सफल हुए", "तुलसी का हैल्युसिनेशन" आदि पत्रासों ऐसे विषय हैं, जिन पर शोध कार्य हुआ ही नहीं। अभी तो हम लोग आपके काव्य और जीवन के 'फ्रिंज' (fringe) पर ही पहुँचे हैं, अतएव आप निश्चित रहें कि हम बीसों वर्ष आप पर शोध कार्य कराते रहेंगे और आप हमारे लिये कल्पवृक्ष का काम करेंगे। आपने हमारे पेशे को कितना लाभ पहुँचाया है, आपने अनजान में कितनों का भला किया है, यह आप नहीं जानते। कितने प्रकाशक आपकी कृतियाँ छापकर लखपती हो गये, कितनों ने उन पर टीकायें लिख के धन और ख्याति कमाई, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये आपकी पुस्तकों पर परीक्षोपयोगी आलोचना, नोट्स लिखकर हममें से कितनों को अतिरिक्त आय करने का अवसर मिला। सैकड़ों कथावाचक आपकी रामायण की कथा कहकर जीवनयापन ही नहीं कर रहे, प्रत्युत मालामाल हो गये हैं। अतएव आप धन्य हैं।"

एक तीसरे प्रोफेसर ने कहा—"मैं अपने पूर्व वक्ता से पूर्ण सहमत हूँ। अभी तो हम छंद, अलंकार, शब्द योजना, भक्ति भावना ऐसे छिछले और अनुपयोगी विषयों पर अटके रहे हैं। किन्तु हम आपका उद्देश्य और गौरव समझते हैं। अभी तो "रामायण और समाजवाद", "रामायण और साम्यवाद", "रामायण और लोकतन्त्र", "तुलसीदास का सामन्तवाद से उत्पीड़न", "तुलसीदास, उनकी रामायण और विश्व शान्ति", "क्रांतिकारी तुलसी" आदि अनेक अछूते विषय हम विद्वानों की ओर अपना उद्धार करने के लिए टकटकी लगाये देख रहे हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि हम अपनी विद्वत्ता का सदुपयोग इन सब पर प्रकाश डालने में करेंगे।"

बेचारे तुलसीदास "थीसिस", "डाक्टर", "विश्वविद्यालय", "स्टराइल", "फ्रिंज", "समाजवाद", "साम्यवाद" आदि शब्दों से कुछ न समझ सके। उन्होंने चुपचाप विनम्रतापूर्वक प्रत्येक वक्ता के हाथ जोड़-कर संतोष कर लिया।

तब एक प्रोफेसर बोले—"बाबाजी, हम आपसे कुछ प्रश्न करना चाहते हैं। क्या आप अनुमति देंगे ?"

मलूकदास ने बाबा को बतलाया कि प्रोफेसर साहब क्या कह रहे हैं। बाबा की स्वीकृति पाकर उन्होंने कहा—"मेरा पहला प्रश्न यह है कि आप कहाँ पैदा हुए थे ?"

बाबाजी ने सहज भाव से उत्तर दिया—"सोरों के पास।"

प्रोफेसर बोले—"किन्तु माता प्रसाद गुप्त आदि विद्वानों ने बड़ी गहरी खोज के बाद अकाट्य तर्कों से प्रमाणित किया है कि आपका जन्म राजापुर में हुआ था। इस पर आपको क्या कहना है ?"

बाबा बोले—"हमें जो कहैं का रहा, हम कहि दीन। "को करि तर्क बढ़ावहि साखा"। राजापुर तो हम राजा भगत के कहे से बसाये रहे। सौ साल पहिले तक तो स्वयं राजापुर वासी भी यहै मानत रहैं।"

(इस संबंध में बाँदा के गजेटियर में, जो १८७४ में ऐटकिन्सन ने काफी खोजबीन के बाद लिखा था कि राजापुर तुलसीदास ने जो सोरों जिला एटा से यहाँ आये थे और तब यहाँ जंगल था, बसाया था।)

प्रोफेसर कुछ कहने जा रहे थे कि मलूक ने आँख तरेर कर कहा—"आगे बात न बढ़ावा। बाबा जो कहि दीन उह पर कुतर्क न करा।" प्रोफेसर बेचारे चुप होकर बैठ गये।

एक आधुनिक वेशभूषा से सज्जित युवक प्रोफेसर ने खड़े होकर स्वर में कुछ तेजी लाकर कहा—"बाबाजी, हमें आपसे एक बड़ी शिकायत यह है कि आपने स्त्रियों और शूद्रों के विरोध में बहुत-सी आपत्तिजनक बातें कही हैं जिन्हें हम आधुनिक युग के लोग सहन नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये, आपने कहा है—"शूद्र गँवार ढोल पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।" क्या अब आपको ऐसी अनर्गल बातों को लिखने के लिये पश्चात्ताप नहीं होता? श्री कुबेरनाथ राय ने रामायण से ऐसी दस-बारह पंक्तियों को निकाल देने का प्रस्ताव किया है। यदि हम लोग उन पंक्तियों को रामायण से निकाल दें तो आपको कोई आपत्ति तो न होगी? अब आपको समझना चाहिये कि इस युग में ये सब बातें नहीं चल सकतीं।"

बाबा कुछ देर मौन रहे और फिर धीरे-धीरे बोले—"रामजी, आप रामायण पढ़कर भी हमें शूद्रों और स्त्रियों का विरोधी समझते हैं। रामजी, यह हमारा दुर्भाग्य है। हम तो कवि नहीं हैं, बात कहने में चतुर भी नहीं हैं। आपका दोष नहीं, यह हमारी असमर्थता है कि रामायण पढ़ने पर भी आप हमारे भाव और विचार नहीं समझ पाये। हमने तो शबरी, केवट आदि को, जिन्हें आप शूद्र कहते हैं, रामभक्त होने के कारण कौन-सा पद दिया है, और उनकी कितनी प्रशंसा की है, यह आप रामायण पढ़ कर भी नहीं पकड़ पाये, यह रामजी, हमारी असमर्थता और अपराध है। रामानुज सम्प्रदाय से भक्ति की धारा स्वामी रामानंदजी महाराज दक्षिण से उत्तर में लाये। उसके एक प्रमुख आलवार शठकोप स्वामी थे जो चमड़े से ताँत बनाने वाले परिवार में पैदा हुए थे। उनकी जाति के लोग शूद्रों से भी नीचे समझे जाते हैं। किन्तु वे परम भागवत और भगवद्भक्त थे। हम लोग उनको उसी पूज्य दृष्टि से देखते हैं जिससे स्वामी रामानुजाचार्य को। हम तो ब्राह्मण शूद्र का भेद न करके सब रामभक्तों को पूज्य समझते हैं। हमारे लिये "नेह राम को" सबसे बड़ा नाता है। अत्याचारी और राम-विरोधी होने के कारण हमने तो ब्राह्मण होने पर भी रावण की भर्त्सना करने में कोई कसर नहीं रखी। 'जाके प्रिय न राम बैदेही। सो त्यागिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।' और जिसे राम प्रिय हैं, जो रामभक्त हैं, वह शूद्र तो क्या यदि कपि की या गीध योनि में भी उत्पन्न हुआ है तो हमारा सगा, पूज्य और प्रिय है। हमारी दृष्टि ब्राह्मण-शूद्र की नहीं, रामभक्ति की है। हम तो सारे हिन्दू समाज को वर्ण व्यवस्था के अनुसार उसी तरह एक करना चाहते थे जिस प्रकार प्राचीनकाल में चार वर्णों में विभक्त होने पर भी वह एक था।

"रामजी, आपने स्त्रियों का भी हमें विरोधी बना दिया। जगज्जननी सीता, पार्वती, अनुसुइया, माता कौशिल्या आदि के लिये हमने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, वह आपको क्या नारी-विरोधी मालुम होती है? हम उस नारी जाति की अवमानना, रामजी, कैसे कर सकते हैं जिसमें जगज्जननी सीता ने जन्म लिया। क्या वे नारी जाति में नहीं आतीं? यदि, रामजी, हम नारी जाति का अपमान करते हैं तो नारी होने के कारण उनका अपमान नहीं होता? रामजी, आप सोचें कि ऐसा जघन्य पाप हम कर सकते हैं?

"रामजी, आपने एक पंक्ति अपने दोषारोपण के समर्थन में कही है। पहिले तो आपको प्रसंग देखना चाहिये कि वह हम कह रहे हैं या समयानुसार कहा गया है। क्या रामायण में हमने रावण से जो

बातें कहलाई हैं, उन सबको आप हमारे विचार कह कर प्रचारित करेंगे ? फिर, आप तो भाषा के विद्वान हैं। हमने तो स्वयं स्वीकार किया है कि हममें भाषा का ज्ञान बहुत कम है। आप देखिये, रामजी, कि हमने "ताड़न" शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ केवल मारना-पीटना ही नहीं, अनुशासन और डाँटना भी है। वह पाँच भिन्न-भिन्न पात्रों के लिये है। ढोल पर ताड़न के अर्थ कपड़ा लपेटी मूगरी से चोट करना है। गँवार जड़ होता है, शूद्र भी प्रायः अपना कर्तव्य नहीं समझता, उन्हें ताड़न देने का अर्थ समझाने या डाँट-डपट से है। अब आपके समय में शूद्रों ने बड़ी उन्नति कर ली है। किनते ही आपके समान विद्वान हैं। किन्तु हमारे समय में अवस्था भिन्न थी। रहा पशु, तो यदि आपका घोड़ा या बैल न चले तो यहाँ "ताड़न" का अर्थ उसे चाबुक या डंडे से मारना है। स्त्री के "ताड़न" का क्या अर्थ है, वह बतलाना, रामजी, हमारे स्वरूप के विरुद्ध होगा। किन्तु आप तो बहुपठित विद्वान हैं। हम इतना ही कह सकते हैं कि स्त्री के लिये "ताड़न" का अर्थ आप यदि समझना चाहें तो वात्स्यायन के कामसूत्र को पढ़ें। न मालुम आपके समान भाषा के विद्वान ने पाँचों के लिये एक ही अर्थ अर्थात् मारपीट क्यों समझ लिया। आपने रामायण पढ़ी ही होगी। राम बन गमन के प्रसंग में माता कौशिल्या भगवान राम से कहती हैं, "जो केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।" यहाँ पुरुष से स्त्री को स्पष्ट वरीयता दी गई है। ऐसे और भी प्रसंग आपको मिलेंगे। रामजी, हमें अधिक कुछ नहीं कहना। हम तो कह चुके, "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

"श्री कुबेरनाथ राय का सुझाव रामायण से दस-बारह पंक्तियाँ निकाल देने का है। रामजी, कितनों ही ने हमारी रामायण में क्षेपक जोड़ दिये। यदि उन्हें क्षेपक जोड़ने का अधिकार है, तो आपको हम कुछ पंक्तियाँ निकाल देने से कैसे मना कर सकते हैं ?"

इसके बाद एक अधेड़ और कुछ गंभीर लगने वाले प्रोफेसर खड़े हुए। उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा, "परमपूज्य महाराज, मुझे एक समस्या बहुत उलझन में डाले हुए है। यदि आप उस पर कुछ प्रकाश डालने की कृपा करें तो इस सेवक पर बड़ी कृपा होगी। जो रामायणें छपी हैं, वे हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर विद्वानों द्वारा संपादित होकर छपी हैं। मूल हस्तलिखित प्रतियों ही में जब अनेक पाठ भेद और अखरौटी की अराजकता है तब उनके आधार पर छपे हुए संस्करणों में उसका होना आश्चर्य नहीं। किन्तु इन भेदों के कारण मेरी तरह के श्रद्धालु रामायण का पारायण करने वाले और उसका अध्ययन करने वाले विद्वान बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं। अनेक विद्वानों ने इस पर बहुत श्रम किया है, किन्तु इससे समस्या सुलझने के बदले और उलझ गई है। अतएव मुझ विनम्र सेवक की आपसे प्रार्थना है कि आप कृपा कर बतलावें कि हम किस पुरानी प्रति या नये संस्करण को शुद्ध मानें ?"

बाबाजी ने यह प्रश्न बड़े ध्यान से सुना, और कुछ देर विचार कर धीरे-धीरे बोले, "रामजी, जो प्रश्न आपने किया है, एक तो उससे रामचरित आदि रामायण के लिये आपकी श्रद्धा प्रकट होती है, दूसरे उसमें विद्वान-सुलभ जिज्ञासा भी है। हम भी अनेक पुरानी हस्तलिखित और छपी रामायणों को देखकर कभी-कभी चंचल हो उठते हैं, किन्तु शीघ्र ही यह सोचकर कि जो भेद हैं वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, उनसे रामकथा के आशय पर प्रभाव नहीं पड़ता, हम चिंता करना छोड़ देते हैं। आपतो विद्वान हैं। आप जानते हैं कि संस्कृतज्ञों के लिये पहले भी, और आपके युग में भी, शुद्ध भाषा लिखना कठिन मालुम होता रहा है। हम भी स्वयं बहुत कुछ वैसे ही हैं। और हमारे समय में भाषा का प्रचलन कम होने के कारण भाषा की लिखावट के सर्वमान्य नियम नहीं थे। संस्कृतज्ञों ने हमारी रामायण की प्रतिलिपि नहीं की। बात यह हुई कि जब अवधपुरी में हमने रामायण लिखना आरंभ किया तब हम उसको भक्तों को सुनाते भी थे।

अवधपुरी में उन दिनों उसकी रक्षा के लिये वैरागियों का बड़ा जमाव था। श्रोताओं में उन्हींकी संख्या अधिक होती थी और वे हृदय से राम-भक्त थे। ये वैरागी मिथिला, छपरा, पटना, बलिया, काशी, अवध के अनेक जनपदों तथा पश्चिम के भी कुछ जनपदों के होते थे। वैरागियों में कुछ महात्मा तो महान विद्वान होते रहे हैं, किन्तु अधिकांश में कितनी विद्या होती थी और आज भी है, यह आप जानते हैं। किन्तु अधिकतर श्रोता अपढ़ या केवल सामान्य लिखना जानने वाले होते थे और इन्हीं अर्धशिक्षित संस्कृत न जानने वाले वैरागियों को हमारी कथा में अधिक रस आता था। हम कथा धीरे-धीरे समझाकर कहते थे। कुछ वैरागी तो उसी समय लिख लेते थे और कुछ बाद में आकर हमसे पूछकर लिख लेते थे। जो वैरागी जिस जनपद का होता, लिखते समय हमारे बोले शब्दों को वह उस प्रकार लिख लेता जैसा वह समझता या जैसा वह उसके जनपद में बोला जाता था। कुछ गृहस्थों ने भी धन दे कर हमारी रामायण की प्रतिलिपियाँ करायीं। किन्तु उनके लेखक भी विद्वान नहीं होते थे और जिस प्रति से प्रतिलिपि करते, उसे वैसे ही, मक्षिका स्थाने मक्षिका लिख देते थे। इन भिन्न-भिन्न जनपदों के भक्तों द्वारा लिखे जाने के कारण आपको उनमें भेद मालुम होता है। हम तो सोरों में उत्पन्न हुए थे—और हमारी भाषा तो वही थी जो यहाँ बोली जाती थी। किन्तु जब हम अवधपुरी में रहने लगे तब हमने अपने इष्टदेव के जनपद की भाषा में रामायण लिखना उचित समझा। हम अवधपुरी में इतने रम गये थे कि हमें वहाँ की भाषा बोलने और लिखने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पर हम अपने जन्म स्थान की भाषा नहीं भूले। हमने कवितावली अधिकतर उसी भाषा में लिखी है। जो पाठ-भेद होने के कारण हैं, वे आपको हमने बता दिये।

"हमने अपने हाथ से जो प्रति लिखी थी, उसका हम कथा में नित्य उपयोग करते और हमारे शिष्यगण भी उसे लेकर अपनी विद्या बुद्धि के अनुसार उसकी प्रतिलिपि करते। उसका इतना अधिक उपयोग हुआ कि उसके पन्ने जीर्ण हो गये। हमारे शिष्यों ने और कई धनी गृहस्थों ने उसकी प्रतिलिपियाँ करा ही ली थीं। हमें वह प्रायः कंठ थी। हम किसी शिष्य की प्रति का सहारा लेकर कथा पढ़ दिया करते थे। जब हमारी लिखी प्रति अत्यन्त जीर्ण हो गई, तब हमने उसको गंगाजी में विसर्जन कर दिया। आपको यह समझने में कुछ कठिनाई होगी, किन्तु हमारे युग में जब कोई धर्मग्रंथ जीर्ण-शीर्ण हो जाता था, तब उसे गंगाजी, यमुनाजी या किसी अन्य पवित्र नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था। आज की तरह पुस्तकों की अधिकता न थी। उनका बड़ा आदर होता था। किसी पुस्तक पर पैर पड़ जाता तो लोग उसे पाप समझते थे।

"रामजी, पाठ भेद का कारण मैंने आपको बता दिया। मैंने तो उसे अवधपुरी के शिष्टजनों की भाषा में लिखने का प्रयत्न किया था, न कि ग्राम्य भाषा में। अवश्य ही संस्कृत का अध्ययन करने के कारण रामायण में बहुत से संस्कृत के तत्सम या अवधपुरी के तद्भव शब्द आ गये हैं। हमने प्रयत्नपूर्वक वहाँ चलनेवाले शब्दों को सीखा और विशेषकर अवध और मिथिला के रीति रिवाजों और उनके लिये जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन्हें भी ध्यानपूर्वक सीखा जिससे हम रामजी के जन्म, बालपन, विवाह आदि का वर्णन करते समय रामजी की लीलाभूमि के अनुरूप यथासंभव सच्चा वर्णन कर सकें।

"रामजी, अवस्था के कारण हमारी दृष्टि मन्द हो गई है और न हमें अवसर ही मिला कि हम अनेक हस्तलिपियों अथवा छपी हुई पोथी देख सकें। हम क्षुद्र भेदों को महत्त्व नहीं देते। सबमें रामजी की कथा है। बड़े-बड़े विद्वानों ने रामायण का सम्पादन करके संस्करण निकाले हैं। रामजी, हम उनकी विद्या-बुद्धि का अनादर कैसे कर सकते हैं। भक्ति से जो अपने प्रिय संस्करण को पढ़ेगा, रामजी उस पर प्रसन्न होंगे। हाँ, आपने पूछा है तो हम इतना ही कहेंगे कि हमारे एक परम भक्त हैं, बिन्दु गोस्वामी। उन्होंने

जो रामायण छापी है वह मुझे बहुत रुची । किन्तु हमने आपसे कह दिया है कि अपनी-अपनी रुचि की बात है । श्रद्धा और भक्ति से कोई भी संस्करण पढ़ने से रामजी प्रसन्न होंगे । भूलें तो हस्तलिखित ग्रन्थों और छपे ग्रन्थों में भी होती हैं । आपके समान विद्वानों में उन भूलों को शुद्ध कर लेने की योग्यता तो है ही ।''

एक अन्य प्रोफेसर खड़े हुए और बोले—''मेरी बड़ी विनम्र जिज्ञासा है कि आप क्या वास्तव में इतने दरिद्र और अकिंचन थे जैसा कि आपके काव्य के अंतर्साक्ष्य से प्रमाणित है ? क्या आप माँग कर खाते थे और अन्यत्र कहीं आश्रय न मिलने से किसी मस्जिद में सो जाते थे ?''

बाबा के मुँह पर हल्की मुस्कराहट खेल गई । बोले, ''हम बालपन में दरिद्र ब्राह्मण थे, और जैसा कि भाई नरोत्तमदास ने कहा है ''ब्राह्मण कौ धन केवल भिक्षा'' भिक्षा माँगना ब्राह्मण बालक के लिये हमारे युग में इतना बुरा नहीं समझा जाता था जितना आपके युग में । रही मस्जिद में सोने की बात, तो यह तो हमारे पश्चिम में एक मुहावरा है, ''माँगि कें खाइबो, मसीत को सोइबो ।'' यह शब्द मसीत भी पश्चिमी जनपदों में चलता है । उस समय यह बहुधा अकिंचन मुसलमानों को लक्ष्य कर बना था । यह अकिंचनत्व प्रकट करता है । मलेच्छ राज्य में मस्जिदों की कितनी चौकसी रहती थी, यह आप कैसे जान सकते हैं । यदि हम मस्जिद के पास भी फटकते, उसमें जाकर सोने की बात तो दूर, तो या तो हमारे हाथ-पैर तोड़ दिये जाते या जबरदस्ती मुसलमान बना लिया जाता, और यदि विरोध करते तो प्राण खोने पड़ते । फिर आप तो यह जानते हैं कि हम बचपन ही से रामभक्त थें । इसीलिये गाँववाले बालकपन में हमें ''रामबोला'' कहते थे । मलेच्छ शासकों के प्रति हमारी और हमारे युग के लोगों की भावना क्या थी, यह भी आपको मालुम है । भला, हम मस्जिद ऐसे स्थान में जाने की कल्पना भी कर सकते थे ? फिर आप एक कहावत के उपयोग के आधार पर यह कैसे मान बैठे कि हम मस्जिद में सोते थे ? इसी छन्द में हमने यह भी कहा है कि ''धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ ।'' तो आपने यह भी शोध की होगी कि किसने, कब और कहाँ हमें राजपूत या जुलाहा कहा और हमारे कोई अविवाहित बेटा था जिसका विवाह करने की हमें चिंता थी । हमारे तो कोई सन्तान नहीं है, किन्तु इसे अंतरर्साक्ष्य मानकर आप चाहें तो हमें एक पुत्र का पिता, जुलाहा, राजपूत आदि बना सकते हैं क्योंकि इससे यह ध्वनि भी निकल सकती है कि उस समय लोगों को हमारे ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने में भी संदेह था ।''

प्रोफेसर ने फिर कुछ कहना चाहा किन्तु पहलवाननुमा मलूक की टेढ़ी भौहें देखकर बेचारे दुबले-पतले प्रोफेसर ने बैठ जाने ही में खैर समझी ।

तीसरे प्रोफ़ेसर ने कहा, ''महाराज, एक प्रश्न मेरा भी है । आपके काव्यों—रामायण और विशेषकर विनयपत्रिका के अन्तर्साक्ष्य से मालुम होता है कि आप काम से बहुत जूझे ? क्या यह आवेश में रत्ना को छोड़ देने से दमित वासनाओं का कारण था ?''

तुलसीदास क्षण भर चुप रहे । फिर बहुत धीरे-धीरे बोले, ''आपका प्रश्न बड़ा जटिल है, इस कारण कि उसका उत्तर आपको समझाना हमारे वश की बात नहीं है । आप जानते होंगे कि हम रामानुज सम्प्रदाय से संबंधित थे । इस सम्प्रदाय में भक्त हुए जो आलवार कहलाते थे । भगवान की शरण में अपने को एकान्त भाव से समर्पित कर देने से (जिसे वे लोग प्रपत्ति कहते हैं) ही भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है, किन्तु उनके पास तभी जाया जा सकता है जब प्राणी शारीरिक ही नहीं, अपने वाचिक और मानसिक पापों के लिये भी पश्चात्ताप करे । उसके कायिक, वाचिक और मानसिक पापों में कोई भेद नहीं होता । हमतो क्षुद्र जीव हैं । रामानुज सम्प्रदाय के महात्मा यामुनाचार्य ने (जिन्हें सब वैष्णव आदर्श महात्मा मानते हैं) प्रभु की प्रपत्ति में जाने के लिये आलवंदार स्तोत्र में अपने बारे में कहा है—

अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रसवभूः
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वंचनपरः
नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधे-
रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः ।

यदि आप इन्हें अभिधा की दृष्टि से देखें तो वे बड़े पापी थे। आप हमारे विनय निवेदन के भाव को तभी समझ सकते हैं जब आप प्रपत्ति, भक्ति और भगवान् के अनुग्रह के संबंध में उन लोगों की दृष्टि से विचार करें जो इनमें विश्वास करते हैं। हमारे अग्रज सूरदासजी ने यहाँ तक कहा है कि "प्रभु, हौं सब पतितन कौ टीकौ।" एक अन्य पद में वे कहते हैं।

माधोजू ! मोतें और न पापी ।
घातक, कुटिल, चबाई, कपटी, महाक्रूर, संतापी।
लंपट, धूत, पूत दमरी को, विषय-जाप को जापी।
भच्छि अभच्छ अपान पान करि, कबहुँ न मनसा धापी।
कामी, बिबस कामिनी के रस, लोभ लालसा थापी।
मन क्रम बचन दुसह सबही सौं, कटुक बचन आलापी।
जेतिक अधम उधारे प्रभु तुम, तिनकी गति मैं नापी।
सागर-सूर-विकार भर्यो जल, बधिक अजामिल बापी।

पता नहीं आप विद्वान लोग इस आत्म-स्वीकृति के अन्तर्साक्ष्य से उन महात्मा के संबंध में क्या परिणाम निकालेंगे। वे ही क्यों, कितने वैष्णव भक्तों और महात्माओं में आप यह दैन्य भाव पायेंगे। तब तो "भक्त कवि", पापी और अपराध वृत्ति वालों का पर्याय हो जायेगा। अशक्त होने के कारण इस विषय पर अधिक कहने की सामर्थ्य नहीं रह गई है।" कुछ देर चुप रहकर बोले, हम आपकी भाषा नहीं समझते। यह "दमित वासना" क्या है ? गुरु नरहरि ने हमें भक्ति पथ पर चलाया था। उससे विचलित होते देखकर देवी रत्ना ने एक धक्का देकर हमें फिर उस पथ पर चलने की शिक्षा दी। आप हिन्दी के विद्वान् हैं। "शिक्षा" के अर्थ समझते ही होंगे। जिस पथ के हम पथी थे, उसपर फिर आ जाने से रामभक्ति के रस में इतने डूब गये कि संसार का माया-मोह, विषय-वासना हनुमान्जी हमारे निकट नहीं आने देते थे।"

तब एक और प्रोफेसर खड़े हुए और बोले, "बाबाजी, यदि आप बुरा न मानें तो मैं आपसे यह प्रश्न करना चाहता हूँ कि जब आप आचार्य शेष सनातन के विद्यार्थी थे तब आप अत्यन्त स्वथ्य युवक थे और बायोलाजी, फिजियोलाजी तथा साइकोलोजी के सभी नियमों के अनुसार आपमें इस अवस्था में काम वासना का उत्पन्न होना स्वाभाविक और न होना अस्वाभाविक था। क्या यह सही नहीं है कि उन दिनों आप एक सुन्दरी वैश्या पुत्री के प्रति अनुरक्त हो गये थे ?"

इस प्रश्न को सुनते ही नारायण और मलूक दोनों ही क्रोध से लाल हो उठे और प्रश्नकर्ता की ओर बढ़े। किन्तु तुलसीदास ने उन्हें रोककर कहा, "नारायण और मलूक, संयम रखो। इन विद्वान् ने एक जिज्ञासा की है। इसमें क्रुद्ध होने की बात नहीं है। किन्तु विद्वान् जिज्ञासु ने स्वयं कहा है कि "इस अवस्था में काम वासना का उत्पन्न होना स्वाभाविक है और न होना अस्वाभाविक।" हम उनसे रामजी की कृपा से यह पूछते हैं कि उन्हें हमारा सारा जीवन वैसा ही स्वाभाविक लगा जैसा कि संसार में सामान्यतः लोगों का होता है ? यदि वह उन्हें असाधारण या अस्वाभाविक मालूम होता हो तो जिस प्रसंग की उन्होंने चर्चा

की है उसे साधारण लोगों पर लागू होने दें । हम पर क्यों लागू करते हैं ? हमारे ऐसे असाधारण क्षुद्र जीव के लिये उन्होंने उसे कैसे स्वाभाविक समझ लिया ? हे विद्वानो, आपने दर्शन देकर इस अकिंचन रामजी के सेवक पर कृपा की । हम वृद्ध और अशक्त हैं । अधिक बात नहीं कर सकते । रामजी आपका भला करें । जय सियाराम ।''

प्रोफेसरों को हाथ जोड़कर और नारायण और मलूक का सहारा लेकर वे अपनी कोठरी में चले गये ।

प्रोफेसर लोग बाबा से मिलकर कुछ निराश हुए । न तो उनमें उन्हें विद्या का तेल दिखाई पड़ा और न उन्हें उनसे उन अनेक विषयों पर जिरह करने का अवसर मिला जिनके लिए उनके काव्यों में से वे अंतर्साक्षियों के बीसों उद्धरण लेकर वहाँ गये थे । यह सब शाब्दिक थे, भाषा एवं साहित्य के विद्वान थे । उनमें से किसीने रामभक्ति, नाम महिमा, सगुण-निर्गुण आदि रामायण के तात्विक विषयों पर प्रश्न नहीं किये ।

पुनश्च–शर्माजी अपनी कृति सामान्यतः लोगों को नहीं दिखाते या सुनाते । मैंने बड़ा प्रयत्न करके उनसे 'तुलसीदास की छीछालेदर' सुनी और उसमें मुझे बड़ा आनंद आया । मैंने उनसे कहा, ''आप इसे छपवा क्यों नहीं देते ?'' उन्होंने टेढ़ी भौंह करके उत्तर दिया, ''क्या आप मुझे एकदम वज्र मूर्ख समझते हैं ?'' जरा सोचिये तो कि जब बाबा तुलसीदास को अपनी रामायण छपवाने में इतनी साँसत उठानी पड़ी और इतनी परेशानी हुई तो यदि मैं अपनी पुस्तक छपाने का प्रयास करूँ तो मुझे कितनी अधिक परेशानी होगी ? बाबा तो जीवन्मुक्त, 'सुख दुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' और मान-अपमान निरपेक्ष थे । वे महात्मा थे । मैं भला यह सब वर्दाश्त कर सकता हूँ ? आपकी बुद्धि में कहीं कीड़े लग गये हैं । उन्हें निकलवा दीजिये । तब बुद्धि निर्मल होगी । मैं उनकी तरह महाकवि, असीम विद्वान और महात्मा तो हूँ नहीं कि रामायण से हजार अंश घटिया भी कृति लिख सकूँ । किन्तु एक बात में मैं उनका अनुयायी हूँ, और उनकी बराबरी कर सकता हूँ । उन्होंने रामायण 'स्वान्तः सुखाय' लिखी, और मैंने भी यह अपनी 'छीछालेदर' स्वान्तः सुखाय लिखी है । यह आपकी मूर्खता है कि इस स्वान्तः सुखाय और गोपनीय कृति के कुछ अंश येनकेन प्रकारेण प्राप्त कर आप उन्हें छाप रहे हैं । इस मूर्खता का फल भी आपको मिलेगा । सामान्यतः हिन्दी साहित्यकार और विशेषकर हिन्दी प्रोफेसर अभिनंदन और स्तुतिगान सुनने के अभ्यस्त हैं । मेरी कृति में उन्हें दोनों का अभाव खटकेगा, और वे, जो अभी मेरी केवल उपेक्षा करते हैं, एकदम मेरे विरोधी हो जायेंगे और मेरा जीना दूभर कर देंगे । हाँ, यदि आप इसे कालपात्र में रखकर भावी पीढ़ियों के हित के लिए सौ-दो-सौ फुट नीचे जमीन में गाड़ना चाहें तो आपको पूरी कृति अपने हाथ से लिखकर दे सकता हूँ ।''

मैं उनका उत्तेजनापूर्ण उत्तर सुनकर सहम गया था । उनकी कालपात्र की चुनौती ने तो मेरी बोलती ही बन्द कर दी ।

●

राष्ट्रकवि की यमलोक यात्रा

●

एक समय था जब मैथिलीशरणजी गुप्त एकमात्र राष्ट्र-कवि माने जाते थे। बाद में दिनकरजी उनके उत्तराधिकारी समझे जाने लगे। लोग उन्हें युवराज राष्ट्र-कवि कह कर उनसे मजाक किया करते थे। तब सोहनलालजी द्विवेदी राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात नहीं थे, यद्यपि उनके कुछ प्रशंसक उन्हें तब भी राष्ट्र-कवि कहा करते थे। किन्तु गुप्तजी और दिनकरजी के बाद उनके लिए मैदान साफ हो गया और वे प्रायः सर्वमान्य राष्ट्रकवि हो गये। जिस तरह इंद्र बदला करते हैं, क्योंकि इंद्रासन खाली नहीं रह सकता, उसी प्रकार राष्ट्रकवि का हिन्दी में सिंहासन खाली नहीं रह सकता। वे वर्तमान राष्ट्रकवि हैं।

राष्ट्र-कविजी कानपुर गये हुए थे। वे पुराने खानदानी रईस और भूतपूर्व ज़मींदार हैं। उनकी आदतें "ऐरिस्टोक्रैटिक" हैं। बिना परिचारक या शिष्य के यदि वे यात्रा करें तो उनका सूटकेस और अटैची रेल के डिब्बे ही में रह जाय। पानी पिलाने, चाय पेश करने, सिगरेट आदि लाने के लिए शिष्य या परिचारक का होना नितान्त आवश्यक है। उस दिन शाम को उनके सम्मान में कहीं चाय थी। उन्होंने रात में भी एक जगह बढ़िया माल छककर उड़ाया था। यद्यपि वे स्वल्पभोजी हैं, तथापि रुचि रईसाना है। भोजन के समय और बाद में भी उनके प्रशंसक और शिष्य उन्हें घेरे बैठे रहे, और बीच-बीच में उनके मुखारविन्द से ज्ञान के जो स्वातिबिन्दु निकलते, उन्हें वे चातक की तरह तत्काल ग्रहण कर लेते थे। प्रायः साढ़े ग्यारह

बजे मजलिस बर्खास्त हुई। उनका एक शिष्य सदा की भाँति उनके कमरे ही में सोया। संयोग से एक कलम घसीट, जो उनकी कृपा से कहीं कोई स्थान प्राप्त करने की आशा से उनकी शरण में आया था, वह भी वहीं लेट गया। वह कई महीनों से उनके पीछे पड़ा हुआ था कि वे उन्हें "जागरण" में संवाददाता का पद दिलवा दें। देवता बड़ी तपस्या के बाद प्रसन्न होते हैं। वह यह जानता था और महीनों से उन्हें पिछियाये हुए था। सोचता था कि "कबहुँ तो दीनदयाल के भनक परैगी कान।"

सब लोग चले गये थे। राष्ट्रकवि भी निद्रा देवी की गोद में पहुँच गये थे। प्रायः बारह बजे उस प्रत्याशी ने देखा कि उनकी साँस की आवाज कुछ अप्राकृतिक हो गयी है। वह उठ बैठा, थोड़ी देर में आवाज बंद हो गयी और वह यह देख कर घबड़ा गया कि उनकी साँस बंद हो गयी है। हृदय पर हाथ रखा, वह भी बंद! घबड़ा कर उसने कमरे में रखा टेलीफोन उठाया और एक बड़े डाक्टर को फ़ोन किया। घंटी बजती रही पर किसी ने फोन नहीं उठाया। तब उसने एक दूसरे डाक्टर को फोन लगाया। उधर से आवाज आयी—"इस 'अन-अर्थली आवर' में नींद हराम कर दी न?" "डाक्टर साहब, आप तुरंत अमुक मोहल्ले के अमुक भवन में आ जाइए, रोगी की साँस बंद हो रही है।" उत्तर आया, "इस वक्त में तुम मेरी भी साँस बंद करना चाहते हो?, रोगी को यहीं ले आओ।" तब उसने तीसरे डाक्टर को फोन किया—"अजी डाक्टर साहब, तुरंत आइए। राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदीजी की दशा बहुत खराब है।" "जी हाँ," उधर से उत्तर आया, "यानी आधी रात में आऊँ और फीस भी न मिले। ये नेता और कवि कहीं फीस भी देवें हैं?" उसने कई डाक्टरों को फोन किया पर कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में वह भाग कर पड़ोस के एक कम्पाउंडर के घर गया जिसे वह जानता था और उसे पकड़ लाया। उसने आकर राष्ट्र कवि को देखा। बोला—"खेल खत्म हो गया, अब क्या हो सकता है?" इतना कह कर वह चला गया। कुछ देर वह प्रत्याशी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो कर सोचता रहा, फिर सहसा उसकी सरस्वती जागृत हुई। उसने सोचा, "अरे, यह तो बड़ी गरम खबर है 'स्कूप' है, पूरा स्कूप! यदि 'जागरण' को समाचार दे दूँ तो मेरी नौकरी तुरन्त लग जायगी। किंतु वे मुझे जानते तो हैं नहीं। मेरा विश्वास कैसे करेंगे? अच्छा, उनके बिंदकी के संवाददाता के नाम से फोन कर दूँ। बाद में जब बिंदकीवाला कहेगा कि मैंने संवाद नहीं भेजा, तब मैं अपने को प्रकट करूँगा, और इस अमूल्य समाचार के लिए मेरी नौकरी 'जागरण' में तुरन्त लग जायगी।" उसने फोन उठाकर 'जागरण' का नंबर लगाया और आवाज बदल कर कहा—"जागरण?" उधर से उत्तर आया "हाँ"! "लीजिए, बिंदकी से एक अर्जेण्ट काल है।" तब वह अपने सामान्य स्वर में बोला—"मैं बोल रहा हूँ, आपका विशेष संवाददाता बिंदकी से। अभी १२ बजकर २० मिनट पर राष्ट्र-कवि पं० सोहनलाल द्विवेदी का हार्ट फेल हो गया और उनकी अचानक मृत्यु हो गयी।"

सबेरे 'जागरण' के प्रथम पृष्ठ में बड़े प्रमुख रूप से यह समाचार छप गया। जल्दी में सब एडीटर का गणित भूल गया। आयु ७६ बतला दी। सबेरे यह समाचार बिजली की तरह सारे शहर में फैल गया। इसका क्या परिणाम हुआ वह आगे बतलावेंगे।

इधर चार मुस्टंडे यमदूत राष्ट्रकवि की आत्मा को लिए हुए यमलोक पहुँचे। राष्ट्रकवि हक्का-बक्का रह गये। "भाई, मुझे यहाँ क्यों लाये हो? क्या यहाँ कोई कवि सम्मेलन या मेरा सम्मान समारोह है?" "जी नहीं, यह यमलोक है! आपका शरीर पृथ्वी पर रह गया है। चलो, मुन्शी चित्रगुप्त के पास।" मुन्शी चित्रगुप्त बहुत व्यस्त थे। राष्ट्रकवि काफी देर खड़े रहने के बाद बोले—"मुन्शीजी, जरा अपनी बही तो देखिए। अभी मेरा समय यहाँ आने का नहीं हुआ। मुझे एक बड़े ज्योतिषी ने बतलाया था। मालूम पड़ता है कुछ भूल हो गयी है।" मुन्शीजी ने कहा—"देखते नहीं कि मैं काम में कितना मशग़ूल

हूँ ? जब फुर्सत मिलेगी तब तुम्हारी बात सुनूँगा।" राष्ट्रकवि ने कहा—"मुंशीजी, जरा रहम कीजिए। आपका जो हक होगा उसका दुगना नजर करूँगा। मैं पैसेवाला आदमी हूँ।" मुंशीजी इस पर कुछ नरम हुए। उठे, एक बही निकाल लाये, दोनों में यह वार्तालाप हुई और वे जवाब सुनकर उसमें टिक या क्रास लगाते गये :—

तुम्हारा नाम ?—सोहनलाल

वल्दियत ?—पं० कुन्दनलाल

कौम ?—ब्राह्मण

साकिन?—बिंदकी जिला फतेहपुर

उम्र ?—७० साल

यह सुनकर मुंशीजी सोच में पड़ गये। बोले—"गलती हो गयी। दूसरे सोहनलाल का वारंट निकाला गया था। उसकी वल्दियत और सकूनत, उम्र दूसरी है, आप गलती से धर लिये गये।"

"तो मुंशीजी, मुझे वापस कर दीजिए।"

"यह तो आला हाकिम ही कर सकते हैं। चपरासी ! इन्हें बड़े साहब के पास ले जाओ।"

राष्ट्रकवि उस यमदूत के साथ यमराज की सभा में पहुँचे। उनकी सूरत और उनके पास बैठे भयंकर भैंसे को देखकर कवि का कोमल हृदय सहम गया। तुतलाते हुए बोले—"हे मृत्युदेव, मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए।" "क्या बात है?" "श्रीमान्, आपके दूत मुझे दूसरे सोहनलाल के धोखे में ले आये। कृपा कर मुझे वापस कर दीजिए।" "यह कैसे हो सकता है ? हमारे अधीनस्थ कर्मचारी सही-गलत जो भी काम उसका करते हैं मुझे समर्थन करना ही है, नहीं तो प्रशासन ठप्प हो जायगा। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि बाद में उनके विरुद्ध विभागीय कार्यवाही करके उन्हें उचित दण्ड दूँगा। किंतु सार्वजनिक रूप से तो प्रशासन और अनुशासन की दृष्टि से मुझे उनका समर्थन करना ही उचित है। आपकी पृथ्वी पर तो मीसा अब लगा है। यहाँ तो सदा से मीसा है। मैं आपको कोई सबब बतलाने को तैयार नहीं हूँ। चित्रगुप्त बुड्ढे हो गये हैं। उन्होंने आपको यह भेद बतलाया है। उनके खिलाफ आफिशल-सीक्रेट ऐक्ट के खिलाफ कार्यवाही की जायगी। आप यहाँ आ गये हैं। अब जब तक आपको फिर मनुष्य योनि में न भेजा जाय, आप यहीं बन्द रहेंगे। हाँ, रियायतन हम आपको 'ए' क्लास दे देंगे।" "पर श्रीमान्, २८ नवम्बर को मेरी धेवती का विवाह है। आप सोच सकते हैं कि मेरे यहाँ आने से विवाह में भरभंड हो जायगा। आप १५-२० दिन के लिए मुझे पैरोल पर छोड़ दीजिए। धेवती का विवाह राजी-खुशी हो जाने दीजिए। फिर पैरोल समाप्त होने पर बुला लीजिएगा।" "देखो, हमारे आदेशों का रिवीजन नहीं होता। दूत, इन्हें ले जाओ और जहाँ खद्दरवाले बन्द हैं, वहाँ इन्हें भी रख दो।"

बेचारे राष्ट्रकवि क्या करते ? दूत के पीछे-पीछे चले गये। वहाँ देखा तो कितने ही मित्र मौजूद हैं। नवीनजी सामने ही खड़े थे। देखते ही बोले "आओ गुरु, खूब आये। कहो, क्या नये समाचार हैं ?" राष्ट्रकवि ने अपना दुखड़ा सुना दिया। नवीनजी उसे सुनकर क्रुद्ध होकर बोले—"इतना अंधेर, इतना अन्याय ! और साला अपने को धर्मराज कहाता है। चलो, उसका दिमाग ठीक करते हैं।" नवीनजी ने हजार-पाँच सौ खद्दरधारी एकत्र कर लिए, और दूतों को ढकेल कर यमराज की सभा में घुस गये। बोले—"सुनो यमराज, यदि तुम तुरन्त सोहनलाल को वापस भेजकर अपनी गलती ठीक नहीं करते तो हम दो हजार लोग तुम्हारी सभा में सत्याग्रह करके तुम्हारा घिराव करेंगे। तुम्हारा शासन ठप्प कर देंगे। यह मनमानी, यह स्वेच्छाचारिता, यह तानाशाही, यह अन्याय हम बर्दाश्त नहीं करेंगे। एक तो गलती करो और फिर

क्षमा माँगने की जगह अन्याय करते चले जाओ। हम लोग तुम्हारे भैंसे की पूँछ काट लेंगे और उसके सींग तोड़ देंगे। इनक़िलाब जिन्दाबाद!"

यमराज को इतिहास में कभी ऐसी स्थिति का सामना नहीं करना पड़ा था। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। अंत में मुंशी चित्रगुप्त को बुलाया, धीरे-धीरे कुछ मंत्रणा की, फिर जो यमदूत राष्ट्रकवि को लाये थे, उनसे पूछा—"इनका शरीर कहाँ है? दाह-संस्कार तो नहीं हुआ?" "नहीं श्रीमान्, अभी तो इनकी मृत्यु का समाचार इनके घरवालों को लगा ही नहीं।" "अच्छा नवीनजी, हम कृपावंत होकर आपकी बात मान लेते हैं और इन्हें फिर अपने पार्थिव शरीर में भेज देते हैं। किन्तु आप यह वचन दीजिए कि आप यहाँ इस प्रकार की गड़बड़ी फिर कभी नहीं करेंगे।" "करेंगे, करेंगे, करेंगे और सौ बार करेंगे, यदि आप अन्याय करेंगे। आपको लज्जा नहीं आती कि बनते धर्मराज हैं और करते अंधेर हैं? भारतेन्दु की अंधेर-नगरी की तरह किसी भी सोहनलाल को पकड़ लाये। यह भी कोई बात हुई?" यमराज ने मामला बिगड़ते देखकर कहा—"आप जीते मैं हारा। दूत ले जाओ राष्ट्रकवि को, उनकी काया में शीघ्र प्रविष्ट करा कर रिपोर्ट करो।" नवीनजी आदि "गांधीजी की जय", "सत्यमेव जयते" आदि नारे लगाते लौट गये। दूत राष्ट्रकवि की आत्मा को चारपायी पर पड़े उनके शरीर में प्रविष्ट कराकर लौट गये, और कार्यान्वियन की रिपोर्ट धर्मराज को दे दी।

सबेरे पाँच बजे चारपायी पर राष्ट्रकवि का शरीर कसमसाया। वे चैतन्य होकर इधर उधर देखने लगे। बोले "न मालूम कैसा भयंकर स्वप्न देखा था। कुछ याद नहीं आता। केवल एक डरावने भैंसे की याद रह गयी है। जरा एक प्याला चाय तो लाना"।

[२]

सोहनलालजी के साथ के संवाददाता प्रत्याशी का दिया हुआ समाचार सबेरे ही जागरण के प्रथम पृष्ठ में बड़े-बड़े अक्षरों में प्रकाशित हो गया। चार बजे ही उसकी प्रतियाँ मोटर से लखनऊ भेज दी गयीं और पाँच-छः के बीच में वे सारे कानपुर में वितरित हो गयीं। वे सदा की भाँति बिंदकी भी भेजी गयीं। इस समाचार को पढ़कर साहित्य जगत और राष्ट्रकवि की मित्र मंडली, प्रशंसकों और शिष्यों में तहलका मच गया। बिंदकी में सैकड़ों आदमी उनके घर पहुँचे, पर वहाँ पता लगा कि वे तो कानपुर गये हुए हैं। कितने ही लोग बसों से कानपुर चल दिये। उधर कानपुर में यह पढ़ कर कि उनकी मृत्यु बिंदकी में हुई है, उनके कितने ही मित्र और प्रशंसक मोटरों और बसों से बिंदकी को चल दिये। उस दिन संध्या को प्रयाग मन्दिर के ट्रस्ट की बैठक होने वाली थी। लखनऊ में रहने वाले श्रीविनोद शर्मा भी इसके सदस्य हैं। यह समाचार पढ़कर मन्दिर के प्रबंधक ने विनोद शर्मा को फोन किया, "बड़ा दुखद समाचार है। पं० सोहनलाल द्विवेदी नहीं रहे। रात बिंदकी में उनका हार्ट फेल हो गया।" श्री विनोद शर्मा स्तब्ध रह गये। बोले—"बड़ा अनर्थ हो गया। बैठक स्थगित कर दीजिये"। उन्होंने तुरन्त 'स्वतन्त्र भारत' के सम्पादक श्रीअशोकजी को फोन किया। उन्होंने कहा कि मैंने जागरण नहीं देखा, किन्तु स्थानीय जागरण कार्यालय से अभी पूछता हूँ। थोड़ी देर बाद उन्होंने शर्माजी को फोन किया, "बात सच है। 'जागरण' के स्थानीय प्रतिनिधि ने वह समाचार पढ़ कर सुनाया। मैं स्वतन्त्र भारत में समाचार तो दे ही दूँगा। पर आप उन पर एक लेख लिख दें। उनका चित्र आपके पास होगा। उसे भी भेज दें।" फिर शर्माजी ने "नवजीवन" के प्रधान उपसम्पादक श्री ज्ञानचन्द्रजी को फोन किया। उन्होंने दुख प्रकट करते हुए समाचार प्रकाशित करने का वचन देकर राष्ट्र-कवि पर लेख भी माँगा। तब शर्माजी ने उ० प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष श्री भगवतीचरण वर्मा को सूचना दी। वे बोले "अरे, सोहन लालजी नहीं रहे? यह क्या हो गया? अभी बेचारे की उम्र ही

क्या थी ?" शर्माजी ने फिर फोन उठाया। सामने उनकी चाय ठंडी हो रही थी। सूचना विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी को फोन किया। बोले—"बड़ा अनर्थ हो गया। सोहनलालजी नहीं रहे।" स्थानीय हिन्दी पत्रों को तो मैंने सूचना दे दी है, पर यह दुखद समाचार पी० टी० आई० और यू० एन० आई० को भी प्रकाशित करना चाहिये। सामान्यत: वे हिन्दीवालों की ओर कम ध्यान देते हैं। आप अपने प्रभाव से उनसे समाचार प्रकाशित करा दें"। उन्होंने दोनों न्यूज़ एजेंसियों से कह दिया। दफ्तर खुलने पर दोनों संवाद समितियों ने यह समाचार भेज दिया। फिर शर्माजी ने लखनऊ रेडियो के एक अधिकारी को फोन किया और उसे रेडियो द्वारा यह समाचार प्रसारित करने की प्रार्थना की। अधिकारी ने उन्हें आश्वासन दिया कि वह अवश्य प्रसारित होगा।

लखनऊ के रायल होटल में उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ का कार्यालय है जिसके मुख्य अधिकारी बिंदकी निवासी श्री हर प्रसाद गुप्त हैं जो सोहनलालजी के बड़े घनिष्ट मित्र हैं। जब आठ-नौ बजे उन्होंने 'जागरण' का समाचार पढ़ा तब उन्हें बड़ा धक्का लगा। उन्होंने तुरन्त परिवहन मंत्री को फोन करके बिंदकी जाने के लिए एक कार मँगायी, और फिर मुख्य मन्त्री को फोन किया। उनके यहाँ से उत्तर आया कि वे अभी कहीं जाने वाले हैं। बहुत व्यस्त हैं। बात न कर सकेंगे। गुप्तजी बिगड़ गये, डाँट कर बोले—"बहुत ही आवश्यक बात करनी है। जिस हालत में हों, उन्हें फोन दीजिये।" गुप्तजी की डाँट से फोन मुख्य मन्त्री के पास पहुँच गया। गुप्तजी ने जहा—"राष्ट्रकवि का देहांत हो गया। आपका हैलिकाप्टर कहाँ है ? आप दस मिनिट को मेरे साथ बिंदकी चल कर राज्य की ओर से उनके प्रति सम्मान प्रकट कीजिए।" मुख्यमंत्री ने शोक प्रकट करते हुए कहा—"मुझे अभी ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण काम से बाँदा जाना है। मैं कैसे चल सकता हूँ ?" गुप्तजी ने फिर कुछ कहा, पर उनकी बात काट कर मुख्य मन्त्री ने कहा, "मैं अभी फतेहपुर के कलेक्टर को पुलिस रेडियो से आदेश भेजता हूँ कि राजकीय सम्मान से उनकी अन्त्येष्टि की जाय। पुलिस बैंड और सशस्त्र सिपाही फौरन बिंदकी भेजे जायँ और स्वयं कलक्टर बिंदकी जाकर मेरी ओर से शव पर माल्यार्पण करें। न आसकने के लिए मुझे क्षमा करें, मैं एकदम विवश हूँ।" उन्होंने तुरंत आदेश जारी कर दिये और कलक्टर ने आदेश पाते ही पुलिस अधीक्षक को खबर कर पुलिस बैण्ड और पी० ए० सी० की टुकड़ी लेकर बिंदकी जाने की आज्ञा दी और कहा कि, "मैं भी उपयुक्त आकार की माला तैयार करवा कर बिंदकी पहूँचता हूँ। आप बैंड आदि फौरन रवाना कर दें, फतेहपुर में फूल मिलना कठिन है। इसलिए काफी बड़ी माला तैयार करने में कुछ देर हो सकती है। आप भी यथासम्भव शीघ्र जायँ और इसका प्रबन्ध कर दें।" पुलिस अधीक्षक ने जनरैली हुक्म निकाल दिया। बीस मिनिट में पुलिस बैंड और पी० ए० सी० का एक प्लैटून राइफिलें लेकर बिंदकी रवाना हो गया।

परिवहन मंत्री की भेजी हुई मोटर कार गुप्तजी के पास आ गयी और वे कई साथियों को लेकर बिंदकी चल दिये।

[३]

पंडित सोहनलाल ने आराम के साथ चाय पी। एक दो सिगरेटें भी फूँक डालीं। निवृत्त हुए और अपने शिष्य से बोले, "दु:स्वप्न देखने के बाद अब यहाँ रहने का जी नहीं चाहता। आठ बजे की बस से बिंदकी चलेंगे।" राष्ट्रकवि का सिद्धान्त है "जल्दी का काम शैतान का।" सब काम धीरे-धीरे फुर्सत से करते हैं। शिष्य ने बिस्तर बाँधा, सूटकेस में कपड़े रखे। राष्ट्रकवि ने इत्मीनान से कपड़े पहने। अदा के साथ टोपी लगायी। कन्धे पर शाल रखा। रिक्शा मँगाने का आदेश दिया और निश्चिन्त होकर सिगरेट पीने लगे। रिक्शा आया और वे घंटाघर के पास बस के अड्डे पर जा पहुँचे। शिष्य टिकट लेने गया।

इतने में ही एक परिचित व्यक्ति ने उन्हें देखा। वह भी उनकी अन्त्येष्टि में बिंदकी जा रहा था। इन्हें देखते ही वह आसमान से गिरा। भूत देख कर जो हालत होती है, वह उसकी हो गयी। बड़ा साहस बटोर कर वह उनके पास आया और बोला—"आप क्या जीवित हैं? मरे नहीं? अथवा मैं भूत देख रहा हूँ।" सोहनलाल ने मुसकराकर कहा—"यार, आज सबेरे-सबेरे कुछ अधिक छान ली है जो भूत देख रहे हो?" तब उसने चुपचाप 'जागरण' के प्रथम पृष्ठ पर छपे समाचार को उनके सामने कर दिया। उन्होंने उसे पढ़ा, कुछ देर सकते के आलम में रहे, फिर ठठा कर हँसे। बोले—"यह अच्छा मजाक है। इन्होंने तो हमें जीते जी ही मार डाला। आप मुझे टटोलकर देख लीजिये कि मैं सशरीर और जीता जगता हूँ।" फिर कुछ सोच कर बोले, "इसका तुरन्त प्रतिवाद होना चाहिये। घर वाले और मित्र परेशान हो जायेंगे।" अपने शिष्य को आवाज देकर बोले—"सामान उतार लो। अगली बस से जायेंगे।" इतना कहकर उन्होंने एक रिक्शा बुलाया और फिर अपने ठहरने के ठिकाने पर पहुँच गये। वहाँ पहुँचते ही 'जागरण' के स्वामी को फोन किया—"अरे भाई गुप्ता, मैं बोल रहा हूँ सोहनलाल द्विवेदी, यम-लोक से नहीं, इसी मर्त्यलोक से—आपके कानपुर नगर से ही।" उधर से कुछ कहा गया। राष्ट्रकवि बोले—"अरे यार, जीते जी ही मार डाला और अब बातें बना रहे हो। न होली है, न अप्रैल फूल, यह मजाक का कौन सा अवसर है? यदि विश्वास न हो तो यहाँ चले आओ और अपनी आँखों से देख लो कि मैं पूरी तरह–१२५ पैसे–जीवित हूँ। आपका पत्र बिंदकी पहुँचा होगा और मेरे घरवालों और मित्रों पर क्या गुजरी होगी?" उधर से बड़ा खेद प्रकट किया गया, बड़ी क्षमा माँगी गयी। फिर राष्ट्र कवि ने अपने कई फोनालंकृत मित्रों को सूचना दी कि 'जागरण' का समाचार गलत है। मैं जीवित हूँ। आप अन्य मित्रों को सूचित कर दें। फिर वे शिष्य को लेकर बस के अड्डे पर आये और बिंदकी के लिए चल दिये।

[४]

बिंदकी में राष्ट्रकवि के घर पर सैकड़ों शोक प्रकट करने के लिए आये हुए लोगों की भीड़ जमा हो गयी थी। घर वाले हक्का-बक्का थे। उन्हें उनकी मृत्यु का कोई समाचार नहीं मिला था। वे न रो सकते थे और न समाचार का खण्डन ही कर सकते थे। इतने ही में फतेहपुर से एक दरोगा के साथ पुलिस बैण्ड और पी० ए० सी० की टुकड़ी पहुँच गयी। लोगों को मालूम हुआ कि राजकीय सम्मान से राष्ट्रकवि की अंत्येष्टि करने वे लोग आये हैं। अब तो लोगों को विश्वास हो गया कि राष्ट्रकवि नहीं रहे। दरोगा ने पूछा—"क्या लाश यहाँ नहीं है? कानपुर गये थे? वहाँ से लाश कब तक आयेगी?" पर कौन उत्तर देता? भीड़ शोक विह्वल हो गयी।

[५]

बारह बजे थे। कानपुर की बस बिंदकी के बस के अड्डे पर खड़ी हुई। पंडित सोहनलाल उतरे। उन्हें देखते ही वहाँ उपस्थित बिंदकियन और कनपुरिये पहले तो आश्चर्य चकित रह गये, पर जब सोहनलाल जी ने उनसे कहा कि 'जागरण' ने झूठा समाचार छाप दिया था तब उनमें हर्ष की एक लहर फैल गयी। 'सोहनलाल द्विवेदी अमर हों,' के नारे लगने लगे। आगे-आगे सोहनलालजी और पीछे नारे लगाती हुई भीड़। राष्ट्रकवि अपने घर पहुँचे। वहाँ एकत्र जनसमूह उन्हें देख प्रसन्नता से उछल पड़ा। घरवालों के आनन्दातिरेक से आँसू निकल आये।

इस बीच तारघर से समवेदना के तार आने लगे। उनका ताँता बँध गया। कानपुर से जो लोग आये थे उन्होंने बड़ी-बड़ी बधाइयाँ दीं। उनके छोटे पुत्र को इस प्रसन्नता के अवसर पर इन लोगों के जल-पान के लिए मिठाई का प्रबन्ध करना पड़ा। बिंदकी में इतने लोगों के लिए इतनी और अच्छी मिठाई कहाँ? खैर, जो कुछ मिला उसे चाय के साथ उन्होंने उतार लिया।

इतने ही में बाबू हर प्रसाद गुप्त मित्र मंडली समेत लखनऊ से पहुँच गये। राष्ट्रकवि को देखते ही बोले—"अरे, मरे नहीं ? जीवित हो ? राजकीय सम्मान से अन्त्येष्यि का जो प्रबन्ध कराया था, उसका क्या होगा ?" एक महाशय बोले—"अजी, उर्दू के कवि तो अपनी कविता में रोज मरा करते हैं। तब सोहनलालजी भी एक दिन अतिशयोक्ति कर बैठे तो क्या हुआ ?"

इतने ही में दारोगा ने आकर फौजी ढंग से सलाम किया और बोला—"मुझे कलक्टर साहब का हुक्म है कि राजकीय सम्मान से आपकी अंत्येष्टि करा दूँ। दर असल यह हुक्म जनाब मुख्य मंत्री का है। हुक्म तो हुक्म है और इस वक्त एमर्जेंसी लगी हुई है। हुक्मउदूली करने पर मेरी नौकरी खतरे में पड़ सकती है। इसलिए मुझे हुक्म के मुताबिक काम करना लाजिमी है। मेरे सिपाही और बैण्डवाले हुक्म पाते ही एक दम बिना खाये-पिये चल दिये। अब तीसरा पहर हो रहा है, जल्दी तैयार हो जाइए कि मैं सरकारी हुक्म की तामील करके कलक्टर साहब को जल्द से जल्द तामीली की रिपोर्ट दे दूँ। आप कितनी देर में समशान चल सकेंगे ?"

यह सुन कर वहाँ सन्नाटा छा गया। कविजी की बोलती बंद हो गयी। उन्हें मालूम पड़ा कि वे आसमान से गिर कर खजूर में अटक गये हैं। राजकीय सम्मान तो ऊँट के गले की हड्डी हो गयी है।

एक आदमी कुछ कहने को तैयार हुआ तो दारोगा ने डाँट कर कहा—"आप सरकारी अफसर को अपनी ड्यूटी बजाने में बाधक हो रहे हैं। आपका चालान आईन के मुताबिक कर दूँगा, और बहुत बक-बक की तो मीसा में पकड़ कर बंद कर दूँगा। जनाब द्विवेदी जी साहब, आप जहाँ तक मुमकिन हो, हम लोगों पर रहम करके समशान चलने को जल्द तैयार हो जायें। हमें अपनी ड्यूटी करके शाम तक फतेह-पुर लौट जाना है।"

बाबू हर प्रसाद गुप्त भूदानी नेता हैं। वे आदमी नहीं, सर्वोदयी हैं, अर्थात् एकदम हिम। बड़े शांत और ठंडे लोहे। वे उठे और दरोगा के कंधे पर हाथ रखकर उसे बाहर ले गये। वहाँ उन्होंने न मालूम उसे क्या समझाया कि थोड़ी ही देर बाद पुलिस बैण्ड और पी० ए० सी० का प्लैटून पुलिस ट्रकों में सवार हो रहे थे। इनमें कुछ लोग धीरे-धीरे कुछ बड़बड़ा रहे थे। दरोगाजी का भी मूड बहुत अच्छा नहीं था। पास ही एक उर्दू शायरी के शौकीन खड़े थे। वे इन लोगों के साथ समवेदना प्रकट करते हुए बोले—"आप लोग आज सुबह किसी कम्बख्त का मुँह देख कर उठे होंगे कि दिन भर परेशान रहे। यहाँ शोक में आये थे। आपकी खातिर कौन करता ? तिस पर फंस गए शायरों के चक्कर में। जनाब, इनके नखरों से खुदा की पनाह। इनमें एक बड़े शायर ग़ालिब हो गये हैं, उन्हें मरने की बड़ी आदत थी, फरमाया था—

मरते हैं आरज़ू में मरने की,
मौत आती है, पर नहीं आती।

यही हाल हमारे जनाब सोहन लाल बिंदकवी का है। आप फरमा चुके हैं और बार-बार इस शाया करते रहते हैं कि "एक सिर मेरा मिलालो, यानी मरने को तैयार हैं। पर जब मौत आयी तो कन्नी काटने लगे।" पुलिसवालों को इस सहानुभूति से कुछ संतोष मिला। दरोगा जी ने हुक्म दिया। मेघ गंभीर गर्जन करते और धूल उड़ाते हुए पुलिस ट्रक फतेहपुर चल दिये। राष्ट्र-कवि, उनके घरवालों और मित्रों को राहत मिली।

शायद पहिली बार उत्तर प्रदेश में किसी हिन्दी कवि की राजकीय सम्मान से अन्त्येष्टि करने की आज्ञा उत्तर प्रदेश शासन ने दी थी। किन्तु हिन्दी के धुरंधर, धनुर्धर हिन्दी के राष्ट्रकवि, पद्मश्री सोहन-

लाल द्विवेदी ने हिन्दी का यह सम्मान नहीं होने दिया। जब उनकी तरह के हिन्दी की सेवा का दावा करने वाले हिन्दी के सम्मान के लिए इतना भी त्याग करने को तैयार नहीं हैं तब हिन्दी की उन्नति कैसे हो सकती है? यह आलोचना हिन्दी के कई प्रतिष्ठित लोगों ने की।

यह दुर्घटना कई समस्यायें छोड़ गयी है। पहिली तो राष्ट्रकवि के लड़कों के पास समवेदना के तार, पत्रों का ताँता लगा, फिर राष्ट्रकवि के पास-बधाई के तार और पत्रों का सिलसिला जारी हो गया। इसके अतिरिक्त जो सैकड़ों लोग समवेदना के लिए आये थे, परिवर्तित स्थिति में उनकी खातिर करनी पड़ी। इसमें राष्ट्रकवि के लड़कों को बड़ा खर्च करना पड़ा। अब समवेदना और बधाई के तारों और पत्रों का उत्तर देना है जिसके लिए एक पैसा भी न देने का निश्चय उनके लड़कों ने कर लिया है क्योंकि हमारी राष्ट्रीय और गरीब परवर सरकार ने बेकारी दूर करने के लिए तार, पोस्टकार्ड, अंतर्देशी और लिफ़ाफ़ों के दाम इतने बढ़ा दिए हैं कि इस काम के लिए अच्छी खासी रकम चाहिए। राष्ट्र कवि पैसा छूते नहीं। सुना है कि उनके भक्त और शिष्य इसके लिए उन्हें एक मोटी थैली भेंट करने के लिए तैयारी कर रहे हैं तथा बाबू हर प्रसाद गुप्त मुख्य मंत्री के डिस्क्रिशनरी फण्ड से कुछ अनुदान दिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दूसरी समस्या यह खड़ी हो गयी कि कलक्टर साहब ने राष्ट्रकवि के शव पर अर्पण करने के लिए बड़े प्रेम से, और श्रद्धा से तथा सरकारी व्यय से जो विशाल और सुंदर शव-माला (रीद) कानपुर में बनवायी थी, उसका क्या किया जाय। सुना गया है कि असनीवाले उसे गंगाजी में और चिल्लावाले उसे जमुनाजी में प्रवाहित कर देने के लिए प्रयत्नशील हैं।

श्रीविनोद शर्मा का कहना है कि मेरे और 'जागरण' के कारण राष्ट्रकवि को जो "पब्लिसिटी" मिली है वह 'मिलियन डालर' की है क्योंकि यदि 'जागरण' वह समाचार न छापता और मैं पी० टी० आई०, यू० एन० आई० तथा आकाशवाणी से उनकी यमलोक यात्रा का समाचार प्रसारित न करवाता तो सारे देश में उनका इतना प्रचार न होता और न बाबू हरप्रसाद गुप्त ही को मुख्य मंत्री से राजकीय सम्मान के साथ उनकी अंत्येष्टि के आदेश निकालने का मौका मिलता। किन्तु राष्ट्रकवि ने इस बहुमूल्य और अभूत-पूर्व प्रचार के लिए न 'जागरण' ही को धन्यवाद दिया और न श्रीविनोद शर्मा को। शर्माजी का कहना है कि यह कृतघ्नता इस युग का प्रभाव है और कवियों, माशूकों और आजकल के कुछ खास किस्म के लोगों की आदत बन गयी है। पर उन्होंने कहा है कि अवसर मिलते ही इसका बदला लेंगे।

और यह भी रिपोर्ट मिली है कि राष्ट्रकवि के भक्त, शिष्य, दरबारी और प्रशंसक उनके इस मृत्युंजयी कार्य, साहस और सफलता के लिए कानपुर में उनका एक विशाल सम्मान और बधाई समारोह करने का प्रबंध कर रहे हैं। कई पूँजीपति इस समारोह के अध्यक्ष और अनेक साहित्यिक महंत इसके मंत्री या संयोजक होने को तैयार हैं, किन्तु श्रीविनोद शर्मा उनकी अकृतज्ञता से इतने नाराज हैं कि उन्होंने उस समारोह का बायकाट करने का निश्चय किया है। उन्होंने एक पत्र 'जागरण' को भी लिखा है कि "आपने देख लिया कि राष्ट्रकवि संबंधी समाचार छापना कितना खतरनाक है। एक अकृतज्ञ व्यक्ति के बारे में कोई समाचार छाप कर फिर गलती न कीजिएगा। 'एक बार ठगावे सो बावन वीर कहावे। जो बार-बार ठगावे वह भकुआनाथ कहावे।' मैंने तो शुद्ध हृदय से नेक सलाह दे दी। यह आपकी इच्छा कि उसे मानें या न मानें।"

अंतिम समस्या उस बेचारे प्रत्याशी की है जिसने 'जागरण' में नौकरी पाने के लिए राष्ट्रकवि का महीनों चरण चंपन किया और जिसने बड़ी सद्भावना से 'जागरण' के लिए यदि इस शतक का नहीं तो इस दशक का हिन्दी पत्रकारिता का सबसे बड़ा स्कूप जागरण को देकर उसकी ग्राहक संख्या न मालूम कै

गुना बढ़ा दी। पर इस संसार में न्याय कहाँ है? गरीब, मेहनती और सद्भावनावाले व्यक्ति को कौन पूछता है? वह इस काण्ड को देखकर इतना भयभीत हो गया है कि अब 'जागरण' में नौकरी पाने की आशा छोड़ और राष्ट्रकवि की यमलोक यात्रा और वहाँ से उनका पुनरागमन देख कर इतना सहम गया है कि वह अब उनकी छाया से भी डरने लगा है। यहाँ निराश होकर वह २६ नवम्बर को झाँसी मेल से फिल्मों में अपना भाग्य आजमाने के लिए बम्बई चला गया है।

डॉ० लक्ष्मी शंकर मिश्र 'निशंक' राष्ट्रकवि के मरने-जीने के समाचार से बहुत प्रसन्न हुए। वे 'सुकवि विनोद' के सम्पादक हैं जिसमें पुरानी प्रथा के अनुसार समस्यापूर्तियाँ भी दी जाती हैं। वे कह रहे थे कि वे अगले अंक में ये समस्याएँ देंगे—

१. मर कर भी जो जीता रहता, वह सुकवि राष्ट्रकवि हिन्दी का।

२. 'जागरण' में मरना भी जीने के समान है।

३. बिंदकी में मरते पर कम्पू में जीते हैं।

४. सिधारि गये कै पधारि गये।

राष्ट्रकवि आजकल लखनऊ गये हुए हैं। संभव है कि इस यात्रा के दूरगामी परिणाम हों। उनकी गतिविधियों पर नजर रखने की आवश्यकता है।

निरालाजी की अन्तिम कविताएँ

●

निराला जी प्राय: तीन वर्ष से बीमार होकर शय्याशायी हो गए थे। । डा० सम्पूर्णानन्दजी को जब इसका पता लगा तो उन्होंने उनकी चिकित्सा की व्यवस्था कर दी थी। उन्होंने स्वयं भी बड़ा आत्म-संयम किया। डाक्टरों की सलाह से कई महीने नमक नहीं खाया। वे उस बार अच्छे तो हो गये किन्तु यह समझ गये कि मेरे बलिष्ठ शरीर में घुन लग गया है और मैं बहुत दिनों नहीं चल सकता। सन् १९५८ के अन्त में एक बार जब मैं प्रयाग गया तब उन्होंने अपने हाथ से लिखकर मुझे एक कविता दी। यह कविता सरस्वती के अक्टूबर के अंक में छपी है। निराला जी के हाथ की लिखी इस कविता का ब्लाक बनाकर उसे इस अंक में अन्यत्र छापा जा रहा है। यह उनकी पहली कविता थी जिसमें मृत्यु की रेखा नीली दिखलाई पड़ने लगी थी। इसे पढ़कर मैंने उनसे कहा भी कि यह निराशा क्यों? अभी तो आपको बहुत दिन जीवित रहना और हिन्दी की सेवा करना है। 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम् त्यक्तवोत्तिष्ठ'; किन्तु उत्तर में वे अपने विशाल नेत्रों से आकाश की ओर देखकर चुप हो गये। मैं उनसे बराबर कुछ न कुछ लिखने के लिये कहता रहता था और चि० कमलाशंकर ने उन्हें एक सादी कापी लाकर दे ही दी थी जिसमें वे कविताएँ लिखा करते थे। जब मैं प्रयाग जाता तब उनसे उस कापी को निकलवाकर देखा करता था कि कोई नई कविता लिखी कि नहीं। अन्तिम बार मैंने वह कापी २ अगस्त सन् १९६१ को देखी। वे प्रत्येक कविता के ऊपर उसका अंक दे दिया करते थे। दो अगस्त को जब मैंने उसे देखा था तो उसमें अन्तिम कविता का अंक ५९ था। उनकी मृत्यु के बाद मैंने उनकी वह कापी चि० कमलाशंकर से मँगवाई। मैंने

देखा कि उसमें छः कविताएँ और लिखी हैं। इन छः कविताओं के अतिरिक्त आगे चलकर सादे पृष्ठों के बीच एक कविता और लिखी है जिसे मैंने पहले नहीं देखा था। वह भी इन्हीं पिछले दो महीनों की लिखी मालूम होती है। यह कहना कठिन है कि संख्या ६५ की कविता उनकी अन्तिम कविता है या यह अंकहीन कविता। मेरा अनुमान है कि किसी दिन अपना 'अवसान समय' जानकर उन्हें अपने जीवन की आलोचना करने की तरंग आई और उसी तरंग में कापी का जो पन्ना खुल गया उस पर उन्होंने वह कविता लिख दी। बाद में अन्तिम संख्या ६५ की कविता उन्होंने प्रकृतिस्थ दशा में कापी में उचित स्थान पर क्रमित संख्या लगाकर लिखी। यह निश्चय है कि यह दो कविताएँ ही उनकी अन्तिम कविताएँ हैं। सब परिस्थिति पर विचार करके मेरा अनुमान है कि अंकहीन कविता संख्या ६५ की कविता से पहले लिखी गयी।

इस कापी में ६५ संख्या तक की कविताएँ हैं। कुछ दिनों तक वे कविता लिखने का दिनांक भी दे दिया करते थे। अन्तिम दिनांकित कविता के नीचे 'सौर फाल्गुन २५' लिखा है। उस दिन उन्होंने दो कविताएँ लिखीं। एक मुझे सरस्वती में प्रकाशित करने के लिए दी, और एक उनके भक्तों ने 'भारत' में भेज दी। ये कविताएँ संख्या ४६ और ४७ हैं। ४८ वीं कविता में दिनांक नहीं है। वह 'आज' में छपने को भेजी गयी। वह कविता इस पंक्ति से आरम्भ होती है। 'डमड डम डमड डम डमरू निनाद है।' इसके बाद से अर्थात् ४९ वीं कविता से दिनांक नहीं पड़े। २ अगस्त को जब मैं उनसे मिला था तब मैंने वह कापी देखी थी, और ५८वीं कविता की मुझे पूरी याद है, ५९वीं की उतनी स्पष्ट याद नहीं है। पर निश्चय ही ६०वीं कविता से ६५वीं कविता तक जो कविताएँ लिखी गयीं वे २ अगस्त के बाद की हैं। वे अक्तूबर के द्वितीय सप्ताह में एकाएक आँत उतर जाने के कारण बीमार पड़ गये, और चार-पाँच दिन की बीमारी के बाद स्वर्गवासी हो गये। अतएव संख्या ५९ या सम्भवतः संख्या ६० से ६५ तक की कविताएँ २ अगस्त और अक्टूबर के प्रथम सप्ताह के बीच लिखी गयीं। अंकहीन कविता भी (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) इसी बीच लिखी गयी।

निरालाजी खड़ी बोली के कवि थे, किन्तु उन्हें ब्रज भाषा के काव्य से बड़ा प्रेम था और उन्हें देव, पद्माकर, घनानन्द आदि के सैकड़ों छन्द याद थे। हितैषी जी के भी कितने ही छन्द उन्हें याद थे। वे उन्हें 'सवैया का बादशाह' कहा करते थे। मैं ब्रज भाषा-भाषी हूँ और मुझे ब्रज भाषा की कविताएँ प्रिय भी हैं। इसलिए जब तरंग में आते, वे मुझे ब्रज भाषा के छन्द सुनाया करते थे। उनके कविता पढ़ने का ढंग बड़ा सुन्दर था। उनकी विशेषता यह थी कि वे छन्दों को केवल लय से ही नहीं, काकु से भी पढ़ते थे जिससे छन्द का अर्थ और उसका सौंदर्य स्पष्ट होकर निखर उठता था। इसी बीच—पिछले दो-तीन महीनों में उन्होंने न मालूम मुझे क्यों एक दोहा सुनाया—

भरित नेह नव जल हरित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

इसे सुनाकर वे बोले—"प्रेमघनजी ने कितना सरस दोहा लिखा है।" मैंने कहा—"आपका पाठ अशुद्ध है और यह प्रेमघनजी का नहीं, भारतेन्दुजी का है।" निरालाजी एकाएक विरोधी बात नहीं मानते थे। बहस करने लगे। मैंने कहा—"बहस अनुमान पर होती है, तथ्य पर नहीं। आप इसे लिख लीजिए। मैं अगली बार चन्द्रावली लेता आऊँगा और आपको दिखला दूँगा कि यह भारतेन्दुजी ने लिखा है और इसका पाठ प्रथम पक्ष में "भरति नेह नव नीर नित है।" उन्होंने अपनी कविता की कापी खोली। संयोग से ५१ संख्या की कविता का पृष्ठ खुल गया। अपनी कविता के नीचे छूटी हुई जगह पर उन्होंने इस दोहे

का अपना पाठ लिख लिया और नीचे लिख दिया—'बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन मिर्जापुर।' इस प्रकार यह दोहा उनकी इस कापी में उन्हीं के हाथों से लिख दिया गया। किन्तु उसके बाद इस विवाद को आगे बढ़ाने का अवसर ही नहीं आया। इस दोहे के अतिरिक्त उस कापी में दूसरे कवि का एक छन्द और लिखा हुआ है। इधर कई महीनों से वे पद्माकर का यह छन्द बहुधा सुनाया करते थे—

कवित्त

जैसों तू मोकों नहिं, नेकहू डेरातहु तो
तैसे हौंहुँ तोहिं अब नेकहू न डरिहौं।
प्रबल प्रचण्ड जो अखण्ड हू, परैगो आय,
ठोकि भुजडंड बरबंड तोसों लरिहौं॥
चलो-चलु चलो-चलु, बिचल न पथहू तें,
कीच बीच, नीच तोहिं बेगिहि पछरिहौं।
ए रे दगादार, मेरे पातक अपार, तोहि
गंगा की कछार में पछार छार करिहौं॥

इसके लिखने का कारण यह हुआ कि एक-दो बार उन्होंने इसे कुछ पाठ भेद के साथ पढ़ा था। बाद में शुद्ध करके उन्होंने इसे कापी में लिख लिया। मैं इसे उन्हीं की अखरैटी में (जो कहीं-कहीं निराला-जी के लिए विचित्र थी) और उन्हीं के लगाये विराम-चिह्नों के साथ उद्धृत कर रहा हूँ।

दो अगस्त तक की लिखी अन्तिम कविता की, जिसकी मुझे याद है, आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कैसे आँखों को परिसर दे?
कैसे ज्योतिष्कों को भर दे?
जब इसी देश में पड़ा बहुत
जो और न जाना बड़ा बहुत,
तब उस तर के कैसे कर ले?

६०वीं कविता उन्होंने आरम्भ की थी। वे शायद उसे बाद में पूरा करते। उन्होंने उसकी आरम्भिक दो पंक्तियाँ लिखकर शेष पृष्ठ सादा छोड़ दिया था। वे दो पंक्तियाँ ये हैं—

ध्वनि में उन्मन उन्मन बाजे,
अपराजित कण्ठ आज लाजे।

यह आत्मपरक कविता होती। खेद है कि वह अपूर्ण रह गयी।

६१वीं कविता विशेष महत्त्व की है जिसमें उनकी आस्थाओं की झलक मिलती है। यह भी पूर्ण नहीं कही जा सकती क्योंकि बीच-बीच में स्थान छूटे हुए हैं। वे शायद कभी तरंग आने पर इसे दुहराकर सुधारते। वह कविता इस प्रकार है—

शंकर शुभंकर हुए जो न, तो क्या?
अन्नपूर्णा बिना लो क्या व दो क्या?
काशी बिना शान्ति का वास भी है?
क्षिति नहीं तो अचल विश्वास भी है?

इसमें छः पंक्तियाँ और हैं।

६२वीं कविता भी आत्मपरक कविता की भाँति इस प्रकार आरम्भ हुई है—

छन छन छल छल जीवन प्रतिपल
बहता निर्मल, गंगा का जल।
सौरभ जैसे समीर मलय से
विश्व विजय के से लेखन फल।

इसमें आठ पंक्तियाँ और हैं।

६३वीं और ६४वीं कविताओं की चर्चा न करके हम उनकी अन्तिम (७५वीं) कविता को यहाँ उद्धृत करते हैं। यह कविता सरस्वती जी पर है—

हाथ वीणा समासीना,
विशद वादन रत प्रवीणा।
घिरे बादल गगन मण्डल,
तरल तारक नयन अविचल,
तार के झंकृत सुकोमल
कराहत कर का नगीना।
राग सावन मनोभावन,
भामिनी के भवन पावन,
दीप्ति नयनों की सुहावन
नाक का हिल रहा मीना।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सरस्वती के वरद पुत्र ने अपनी अन्तिम कविता वाग्देवी के सम्मान में लिखी।

किन्तु उसी के लगभग उनकी लिखी निम्नांकित कविता ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने अपने जीवन का मानो सिंहावलोकन किया है।

पुत्रोत्कठित जीवन का विष बुझा हुआ है,
आशा का प्रदीप जलता है हृदय कुंज में,
अन्धकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिक्‌निर्णय ध्रुव से जैसे नक्षत्र पुंज में।
लीला का सम्वरण समय फूलों का जैसे
फलों फले या झरे अफल, पातों के ऊपर
सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव
ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर।
स्निग्ध हो चुका है निदाघ, वर्षा भी कर्षित,
कल शारद कल्प की, हैम लोभे। आच्छादित
शिशिर भिद्य, बौरा बसन्त आमों आमोदित
बीत चुका है दिक्‌चुम्बित चतुरंग, काव्य गति,
यति वाला, ध्वनि, अलंकार, रस, राग बन्ध के
वाद्य छन्द के रणित गणित छुट चुके हाथ से—

४५

क्रीड़ाएँ ब्रीड़ा में परिणत। मल्ल मल्ल की—
मारें मूर्छित हुईं, निशाने चूक गये हैं,
झूल चुकी है खाल ढाल की तरह तनी थी।
पुनः सबेरा—एक और फेरा हो जी का।

इस कविता में अपना संवरण समय सामने देखकर उन्होंने अपने जीवन की ग्रीष्म, पावस, शरद, हेमन्त, शिशर और बसंत का सिंहावलोकन किया। अपने दिक्चुम्बित चतुरंग काव्य की याद की। उनके लिए विरोधियों की मारें मूर्छित हो चुकी थीं क्योंकि अब उनसे हृदय पर चोट नहीं लगती थी। उन्हें अपना अवसान फूलों के झरने के समान मालूम होता था। उन्हें तो गिरना ही है। चाहे वे फल बन कर गिरें या फूल के ही रूप में। वह संवरण समय सिद्ध योगियों के संवरण-समय के समान होगा या साधारण मनुष्यों के समान, इसे कवि इसी प्रकार देख रहा था जैसे शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु संवरण समय का वर्णन होते हुए भी निराला की अजेय आत्मा निराश या अवसादसिक्त नहीं थी। उनके हृदय में आशा का प्रदीप जल रहा था। अज्ञात और अनन्त का अंधकारमय पथ एक ज्योतिकिरण से उसी तरह अलोकित था, और वह उसी प्रकार पथ सूचित कर रहा था जिस प्रकार नक्षत्र पुंजों के बीच ध्रुवतारा दिशा का दर्शन कराता है। और मृत्यु के बाद भी उन्हें नवीन प्रभात—नये सबेरे का विश्वास था।

निरालाजी की ये अन्तिम कविताएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनके विचारों, आस्थाओं, विश्वासों के सम्बन्ध में ही नहीं, उनके मानसिक संतुलन के बारे में भी लोगों में बड़ा मतभेद है। न यह ऐसा अवसर है कि उनकी इन अन्तिम कविताओं की टीका की जाय, और न मैं आलोचक ही हूँ। समर्थ आलोचक यथा-वसर इनकी व्याख्याएँ और मूल्यांकन करेंगे। एक घनिष्ठ मित्र और आत्मीय के नाते मुझे इन कविताओं में एक व्यक्तिगत आत्मीयता दिखलायी पड़ती है। निरालाजी ने हिन्दी जगत के हृदय में जो स्थान बना लिया है उसे आज उनकी मृत्यु के उपरान्त व्यक्त भावनाओं को जानने के बाद बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए निरालाजी के असंख्य भक्तों और उनकी कविताओं के अगणित प्रेमियों को यह जानने की उत्सुकता अवश्य होगी कि उनकी अन्तिम कविताएँ कौन-सी हैं। उनके इसी कुतूहल को शान्त करने के लिए मैंने उनकी इन कविताओं को तुरन्त ही प्रकाशित कर देना उचित समझा। अवकाश मिलने पर उनकी कुछ और अप्रकाशित कविताओं पर लिखने का प्रयत्न करूँगा।

●

श्री मैथिलीशरण गुप्त का व्यक्तित्व

जहाँ माननीय रायकृष्णदास जी तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे स्व० मैथिलीशरण जी के अंतरंग और घनिष्ठ मित्र हों वहाँ मेरे ऐसे व्यक्ति का गुप्त जी के व्यक्तित्व के संबंध में बोलना धृष्टता है। किन्तु रायसाहब उन दो-एक व्यक्तियों में हैं जिनके अनुरोध को मैं आदेश समझता हूँ और इसलिए मुझे इस विषय पर अनधिकार चर्चा करने का दुःसाहस करना पड़ रहा है। अतएव यदि यह आपकी आशा के अनुकूल न हुआ तो मुझे आश्चर्य न होगा, और इसके लिए आप मुझे क्षमा करेंगे। कलाभवन ने निमंत्रित करके जो मुझे गौरवान्वित किया है, उसके लिए मैं उसका अत्यन्त आभारी हूँ।

श्री मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व पर अधिकारपूर्वक कहना मेरे लिए बड़ा कठिन है क्योंकि एक तो अभी समय की दृष्टि से वे हमारे बहुत निकट हैं, और दूसरे, उन्हें प्रायः साठ वर्ष तक जानते हुए भी मैं उनका उतना अंतरंग नहीं रहा जितना आज के कितने ही अन्य साहित्यकार और मित्र हैं। पर्वत को दूर ही से देखा जा सकता है। तभी उसका पूरा आकार, उसकी गरिमा और उसके सौन्दर्य का बोध होता है। उसके निकट पहुँचने और उसमें प्रवेश करने पर आदमी उसकी घाटियों, नदी, नालों, घुमावों, ऊँचाई-नीचाइयों और चित्ताकर्षक अथवा भयावने दृश्यों में खो जाता है। वह इसके विभिन्न अंशों को तो देखता और उनका आनन्द भी लेता है, किन्तु समग्र पर्वत का आकार उसकी आँखों से ओझल हो जाता है। गुप्त जी का व्यक्तित्व भी पर्वत के समान विशाल था और शायद समय की दूरी होने पर ही उनके व्यक्तित्व की महानता को लोग ठीक तरह से देख सकेंगे और उसका सही चित्रण और मूल्यांकन कर सकेंगे। जिस

पर्वत-यात्री ने उसके सौन्दर्य को भीतर जाकर देखा है वह उसकी सुन्दरता से विभोर होकर उसकी प्रशंसा करेगा। इसके विपरीत यदि उसने उसके किसी भाग में भयावना दृश्य देखा हो या कड़ी चढ़ाई के कारण अथवा भीषण वर्षा, हिमपात आदि के कारण उसे कष्ट हुआ हो तो उसकी स्मृति मधुर न होगी। और यदि दुर्भाग्य से उसके पर्वत-प्रवास के समय बादल ही छाए रहें और चारों और कुहरा ही फैला हो तो वह पर्वत की बड़ी अधूरी और गलत धारणा लेकर लौटेगा। महान् व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इसीलिए गुप्त जी के समान महान व्यक्ति के सम्बन्ध में ठीक-ठीक कुछ कहना मेरे ऐसे व्यक्ति के लिए जिसकी दृष्टि सरकारी जीवन के कुहरे के कारण धूमिल हो गयी हो, अधिकार पूर्वक कुछ कहना कठिन है।

फिर भी मेरा उनका परिचय—घनिष्ठता नहीं—प्रायः साठ वर्ष रहा। १९०५-६ में जब मेरे पूज्य पिताजी श्रीराघवेन्द्र के सम्पादक थे और मैं स्कूल की निम्न कक्षाओं का विद्यार्थी था, तब वे उनसे मिलने कई बार आये थे। इनके प्रथम दर्शनों की याद आज भी स्मृतिपटल पर स्पष्टरूप से अंकित है। छरहरा साँवला शरीर, सिर पर पुराने ढंग की लाल पगड़ी, मिर्जईनुमा परिधान, गले में किनारीदार दुपट्टा और धोती से आवेष्टित उनके मुखमण्डल पर सौम्यता और विनम्रता की ऐसी गहरी छाप थी कि वह आज भी मुझे कल की सी बात मालुम होती है। उसके बाद कई बार भेंट हुई, कई बार प्रयाग आने पर उन्होंने मेरे घर पर आकर दर्शन देकर मुझे गौरवान्वित किया। मैं जब झाँसी और इलाहाबाद डिवीजनों का असिस्टेंट इन्स-पेक्टर था तब झाँसी में उनसे कई बार मिलने का अवसर मिला। लखनऊ में भी कई बार उन्होंने मुझे दर्शन देने की कृपा की और एक बार तो कई दिन मेरे अतिथि होकर उन्होंने मेरा गौरव बढ़ाया। उसके बाद उनके संसद सदस्य हो जाने पर मैं जब दिल्ली जाता तब उनके निवास को दिल्ली ऐसे ईश्वरहीन स्थान में एक तीर्थ समझ कर उनके दर्शन अवश्य करता। मुझे उन्हें विविध परिस्थितियों और विशेष मानसिक अवस्थाओं में देखने का अवसर मिला। एक बार उनके आग्रह से मैं चिरगाँव भी गया और कई दिन उनके साथ रहा। वहाँ उनके जीवन क्रम और दिनचर्या देखने का अवसर मिला। प्राणिशास्त्र के विद्वान कहते हैं कि किसी को समझने के लिए उसके स्वाभाविक जीवन और परिवेश में देखना चाहिए। वहाँ उन्हें समझने का मुझे अच्छा अवसर और संयोग मिला।

गुप्त जी की पहिली विशेषता जिसने मुझे प्रभावित किया वह उनकी विनम्रता और शिष्टता थी। अंग्रेजी में civility (आभिजात्यजनित शिष्टता) और Servility (चापलूसी प्रेरित नम्रता) दो अलग-अलग शब्द हैं—एक है आभिजात्य शिष्टाचार और दूसरा है दासत्व की भावना से प्रेरित चापलूसी। कभी-कभी दोनों का अंतर करना बड़ा कठिन हो जाता है। मैंने जीवन में दो ऐसे व्यक्ति देखे हैं जिनमें आभिजात्य प्रेरित शिष्टता इतनी थी कि जो उन्हें नहीं जानते थे वे उन्हें चापलूस समझने का भ्रम कर सकते थे। उनमें पहिले थे गुप्त जी और दूसरे लाला सीतारामजी के द्वितीयपुत्र और मेरे अध्यापक प्रोफेसर कौशलकिशोर। छोटा हो या बड़ा, सबसे गुप्त जी इतना शिष्ट व्यवहार करते थे कि कभी-कभी नया व्यक्ति संकोच और असमंजस में पड़ जाता था।

उनका दूसरा गुण जिसने मुझे प्रभावित किया वह उनकी आस्तिकता और अनन्य वैष्णवत्व था। वह उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। वे प्रत्येक पत्र में (कम से कम उनमें जो मुझे लिखते थे) ऊपर 'श्रीराम' अवश्य लिखते थे। उनमें धार्मिकता का बाहरी दिखावा नहीं था, किन्तु जो उन्हें निकट से जानते थे उन्हें उनकी आस्तिकता का परिचय प्राप्त हो जाता था। मेरे पूज्य पिता जी से जब उनका परिचय हुआ तो उन्होंने एक बार उन्हें अपना एक फोटो भेजने को लिखा। उत्तर में उन्होंने लिखा—मेरे ऐसे तुच्छ व्यक्ति का फोटो आपके किस काम का होगा? किन्तु आपकी आज्ञापालन में मैं आपको भगवान श्रीराम

का एक चित्र भेज रहा हूँ। वह चित्र किसी कलमी चित्र का फोटोग्राफ था जिसमें भगवान राम और जगज्जननी सीता एक सिंहासन पर विराजमान थे। यह विनम्रता उनमें आरम्भ ही से थी। उन्होंने जो पहिला पत्र पंडित श्रीधर पाठक को लिखा वह उनकी उस जन्मजात विनम्रता का द्योतक है। वह पत्र यह था—

मान्यवर महाशय; बहुशः प्रणाम

श्रीमान् की "कवितामृत तरंगिणी" से अपने संतप्त हृदय को शीतल करने की नितान्त अभिलाषा है। अस्तु।

श्रीमान् की सेवा में विनीत निवेदन है कि श्रीमान् अपने ग्रन्थ रत्नों का प्राप्तिस्थान मूल्यादि से परिचय कराकर इस शरीर को अनुगृहीत करके अतिशीघ्र ही प्रफुल्लित करें।

कृपाकांक्षी,
मैथिलीशरण, चिरगाँव।

यह आस्तिकता और विनम्रता उन्हें विरासत में अपने पूज्य पिता जी से मिली थी। उनके पिताजी का नाम सेठ रामचरण जी था और वे अपने छोटे से नगर के बड़े प्रतिष्ठित व्यक्तियों में थे। वे व्यापारी थे, किन्तु अपनी धार्मिकता, विनम्रता, आतिथ्य-सत्कार, साधु-सन्तों की सेवा, साहित्य—विशेषकर कविताप्रेम और उदारता के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। लोगों में उनका बड़ा आदर था। वे स्वयं पुराने ढंग की भक्ति-परक कविता करते थे और उनके यहाँ नित्य कवियों और साधु सन्तों का जमाव बना रहता था। गुप्तजी ने उनका एक फोटो मुझे भेंट किया था। यदि कलाभवन में वह न हो तो मैं उसे सहर्ष कलाभवन को भेंट कर दूँगा। उनकी प्रशंसा में उनके कृतज्ञ प्रशंसकों ने कितने ही छन्द लिखे थे। उनमें कुछ छन्द मन्नू भाँट नामक एक सज्जन ने लिखे थे। उनकी एक विशेषता गुप्तजी ने यह बतायी थी कि उन्होंने जीवन में कभी रोटी दाल या कच्चा भोजन नहीं किया। सारा जीवन दोनों समय पूड़ी-कचौड़ी, रबड़ी, दूध और मिठाई पर बिता दिया। इनकी जोड़ी इतनी अच्छी मिली थी कि उनकी पत्नी भी यही भोजन करती थीं। मन्नू भाँट के सेठ रामचरण पर लिखे कई छंद गुप्तजी ने मुझे सुनाए थे, किन्तु दुर्भाग्य से मैंने उन्हें उस समय लिख नहीं लिया। बाद में यह प्रसंग उठा ही नहीं और मैं उनसे पूछ कर उन्हें लिखना भूल गया। किन्तु उनके एक छंद की अंतिम पंक्ति मुझे याद बनी हुई है जो इस प्रकार थी—

"भूतल में धन्य होत, महिमा अनन्य होत
सेठ चिरग्राम रामचरण के दरस तें।"

उनकी दूसरी विशेषता जिसने मुझे आकर्षित किया वह उनकी दूसरों को सहायता करने की बलवती इच्छा थी। एक बार वे दो लड़कों को लखनऊ के आयुर्वेद कालेज में भर्ती कराना चाहते थे। लड़कों का प्रयास जब असफल हो गया तब वे स्वयं लखनऊ आए और मेरे पास ठहरे और मुझसे आग्रह किया कि उन्हें किसी प्रकार भर्ती करवा दूँ। यद्यपि स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, तथापि गुप्तजी के अनुरोध को टालना मेरे लिए असम्भव था। मैंने किसी प्रकार अपने उच्चाधिकारी मित्रों की सहायता लेकर उन्हें भर्ती करा दिया। इसमें कई दिन लग गए, किन्तु जब तक वे भर्ती नहीं हो गये, गुप्तजी बराबर मेरे पास ठहरे रहे। दिल्ली में जब वे संसद सदस्य थे तब कितने ही लोगों ने उनकी इस परोपकार-वृत्ति का सदुपयोग या दुरुपयोग किया। इस मामले में वे इतने कमजोर थे, उनकी दूसरों को सहायता करने की प्रवृत्ति इतनी बलवती थी, कि कभी-कभी वे विवेक खोकर कुपात्रों की भी सहायता कर देते थे। मैंने कई बार उनसे कहा कि कुपात्रों के लिए प्रयास न करें। बाद में जब उनकी कृपा से स्थान पाने वाले कुछ

लोगों की शिकायतें हुईं और मैंने उनका ध्यान उनकी ओर आकर्षित करके इन बातों में सावधान होने को कहा तो वे बोले "हमने तो आपनौ कर्तव्य कर दओ, अब बाकौ भाग्य।"

उनका एक उल्लेखनीय गुण उनकी कृतज्ञता की भावना थी। मैं झाँसी डिवीजन में और बाद में मध्य भारत में अधिकारी रहा जो झाँसी से लगा हुआ था। जब लोग छोटे-मोटे कामों को उन्हें घेरते तो वे मुझसे कहते या लिखते, उनकी इच्छामात्र मेरे लिए आदेश थी। मैं भरसक उनकी आज्ञा का पालन करता। आयुर्वेद के दो विद्यार्थियों का हाल मैं बतला चुका हूँ। ऐसे काम अधिकारियों को आये दिन करने पड़ते हैं और इन्हें मैंने कभी कोई महत्व नहीं दिया। किन्तु गुप्तजी सैकड़ों बार इन छोटे-छोटे कामों के लिए बराबर कृतज्ञता ज्ञापन करते रहते जिससे कभी-कभी मुझे बड़ा संकोच होता था। आप जानते हैं कि उन्होंने अपना कवि जीवन ब्रजभाषा काव्य से आरम्भ किया और उन्होंने अपना उपनाम "रसिकेन्द्र" रखा था। मेरा मत है कि खड़ी बोली में लिखने की प्रेरणा उन्हें पं० श्रीधर पाठक से मिली, किन्तु वास्तव में उसमें, और केवल उसमें, लिखने का प्रोत्साहन उन्हें आचार्य द्विवेदी जी से मिला। सच बात तो यह है कि यह गुप्त जी का सौभाग्य था कि उन्हें द्विवेदीजी के समान प्रभावशाली "पब्लिसिटी एजेंट" मिला, और "सरस्वती" के माध्यम से वे हिन्दी जगत में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हुए क्योंकि उस युग में सरस्वती ही सर्वोत्तम प्रतिष्ठित और सर्वाधिक प्रचारित पत्रिका थी। द्विवेदी जी से शायद उन्हें "इसलाह" और सलाह भी मिलती हो। जो भी हो, वे द्विवेदी जी के प्रति आजीवन कृतज्ञ रहे और उन्हें गुरुवत मानते रहे।

कुनबा परवरी और मित्रों के प्रति निष्ठा उनका दूसरा गुण था। उन्होंने अपने परिवार के लिए क्या किया, उसके सम्बन्ध में इस अवसर पर कुछ न कहना ही अच्छा है। किन्तु मित्रों के प्रति उनकी निष्ठा का सबसे बड़ा उदाहरण उनका मुंशी अजमेरी जी के साथ आजीवन आदर्श व्यवहार है जिसका जोड़ मिलना कठिन है। गुप्त जी द्विवेदीजी के बाद यदि अपनी कविता के सम्बन्ध में किसी की आलोचना या परिवर्तन का सुझाव सामान्यतः स्वीकार करते थे तो अजमेरी जी का। एक काव्य में उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखीं—

"जिनके मायासूत्र में ग्रथित सकल संसार
बन्दी सो वे जनकजा, दशमुख के आगार।"

अजमेरीजी ने इसे सुनकर कहा—"दद्दा, यहाँ दशमुख के आगार" की जगह "दसमुख कारागार" कर दो। आप लोग जानते हैं कि गुप्तजी स्लेट पर कविता लिखते थे और जब उसे भलीभाँति माँज लेते थे तब कागज पर उतार लेते थे। अजमेरी जी का सुझाव उन्होंने मान तो लिया पर उनका मन नहीं भरा। उन्होंने द्विवेदी जी को सब बात लिख भेजी। द्विवेदीजी ने जब अजमेरीजी के सुझाव की प्रशंसा की और उसका समर्थन किया तब वे आश्वसत हुए।

वे इतने शीलवान थे कि कितने ही संपादक उन्हें अपनी पत्रिकाओं के लिए कविता भेजने को लिखते थे। वैसे तो वे टाल जाते, किन्तु कभी-कभी अपने संबंधों और शील के कारण उन्हें जबरदस्ती कविता लिख कर भेजनी पड़ती जो कविता न होकर तुकबन्दी होकर रह जाती। जब "माधुरी" निकली और उन पर उसके शायद प्रथम अंक के लिए कोई कविता भेजने का बड़ा आग्रह किया गया तब उन्होंने विवश होकर एक दो पद्य भेजे जिनमें पहिली की आरम्भिक पंक्तियाँ थीं :—

"आह! तेरी माधुरी।
वाह! तेरी माधुरी।"

जिसका बड़ा मजाक उड़ाया गया। उनका एक और ऐसा ही पद्य छपा था जो वास्तव में निराकार ईश्वर को लक्ष्य करके लिखा गया था। किन्तु उनके बहनोई द्वारका प्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' ने उसकी बड़ी

छीछालेदर की। वह पद्य था :—

तू हम सबके बीच खड़ा है,
अति उदार है, बहुत बड़ा है।
फिर भी पट क्यों हाय! पड़ा है ?
आवश्यकता क्या थी ?

शील की विवशतावश उन्हें इस प्रकार की तुकबन्दियाँ करनी पड़ती थीं और इस कारण रसिकेन्द्रजी उन्हें कभी-कभी "तुकाराम" कहते थे। गुप्तजी के परोक्ष में उनके कितने ही मित्र और प्रशंसक भी—किसी दुर्भावना से नहीं—केवल विनोद में संकेत से उनका यही नाम लिया करते थे।

वे संसद सदस्य बारह वर्ष रहे। उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक और गरिमापूर्ण था तथा उनका व्यवहार इतना शिष्ट और आत्मीयता का होता था कि उनका निवास दिल्ली के समान सांस्कृतिक मरुभूमि में हिन्दी प्रेमियों के लिए एक आकर्षक केन्द्र ही नहीं, एक तीर्थ बन गया था। संसद में वे बहुत कम बोलते थे, किन्तु जब बोलते थे तो प्रायः कविता में। कविता का भाषण, यदि इसमें चुभती हुई बातें न हों, थोड़ा व्यंग्य या हास्य न हो, कुछ सामयिक और तीखी समालोचना न हो तो प्रायः नहीं जमता। गुप्तजी अपनी गम्भीरता और शालीनता के कारण इस प्रकार के पद्यमय भाषण लिखना वैसे भी पसंद नहीं करते—तिसमें संसद के लिए तो बिल्कुल ही उपयुक्त नहीं समझते थे। किन्तु उनका संसद में इतना सम्मान था कि लोग उनके भाषण को बड़े ध्यान और आदर से सुनते थे। बजट पर वे प्रायः अवश्य बोलते थे। शायद सन् १९६२ का उनका बजट पर पद्यमय भाषण सबसे लम्बा था जो ६४ पंक्तियों का था। अपनी और संसद की गरिमा को रखते हुए भी वे सरकार की प्रत्यक्ष या परोक्ष आलोचना करने में नहीं चूकते थे। सरकार की टालू नीति और कार्य की मन्द गति तथा भ्रष्टाचार आदि के संबंध में उन्होंने इस भाषण में कहा था :—

कार्य सिद्धि में धैर्य ठीक है, पर विलम्ब में जड़ता है,
अपने आप नहीं कुछ होगा, सब कुछ करना पड़ता है।
अधिक रेल भाड़ा लेकर लो, आ पहुँचा लेखा-जोखा
लेगा वह जितना लेना है, देना है हमको चोखा।
शासक सब हैं बिना हृदय के, बड़े पदों पर पलते हैं,
चलते नहीं परन्तु पदों से, सदा करों से चलते हैं।
'कर' क्या ? सिर देने में भी है, अहोभाग्य अपनों के अर्थ
पर कब तक घर-घाल हमारा किया करेगी घूँस अनर्थ।
लज्जा है रक्षक सज्जा में, अबभी कितने भक्षक हैं,
सावधान! फूलों के भीतर छिपे हुए वे तक्षक हैं।
मेल मिलावट, चोर बजारी, अब महाजनी धन्धे हैं,
धर्म-कर्म कैसे देखें जो, हुए स्वार्थ से अन्धे हैं।
धन के साथ प्राण हरते हैं, झूठे औषधि विक्रेता,
वे पानी रँगते हैं, कोई कृत्रिम घी ही रंग देता।
यही सोच कर समाश्वस्त हों, क्या करदाताओं के चित्त
बनें हमारे बांध बड़े तो, बहा करेगा फिर बहु वित्त ?

खेत हरे होंगे, घर जगमग, जागेगा जैसे सपना।
इतने ही से हो जावेगा, क्या कृतार्थ शासन अपना ?
बिजली के प्रकाश से क्या, मन का यह तम मिट जावेगा ?
नृत्य मात्र ही से संस्कृति का, कृत्य पूर्णता पावेगा ?

आप देखते हैं कि किस शिष्ट किन्तु स्पष्ट शब्दों में उन्होंने शासन की आलोचना की है।

एक बार सरकार ने खाण्डसारी पर कर लगा दिया। यह गृह या कुटीर उद्योग है, इस पर कर लगाना गुप्तजी को पसन्द न आया। अतएव उन्होंने अपने भाषण में कहा —

खादी पर है छूट, खाँड़ पर पड़ो आज रेतीली रेह
इस गृह उद्यम के विरुद्ध है, तर्क एक ही, वह मधुमेह।
हुए स्वास्थ्य मन्त्री अब यों, निज धन-मन्त्री भी निस्सन्देह
करमरकरजी हरे मुरारे, गा-गा कर गुंजारें गेह।
धन की प्यास किया करती है, इसी भाँति जगजीवन वारि
लेंगे कौन तृतीय पंथ पद, आगे अब श्रीमन्त मुरारि।

(श्री करमकर जी उस समय खाद्यमन्त्री, जगजीवनराम जी रेल मंत्री और मुरारजी देसाई वित्त मंत्री थे)।

किन्तु हिन्दी की राजभाषा के रूप में दुरवस्था उनके हृदय को बराबर कचोटती थी। प्रायः प्रत्येक भाषण में वे उस पर कुछ तीखी बातें कहने से न चूकते थे। उदाहरण के लिए जब हुमायूँ कबीर शिक्षा मंत्री थे, तब उन्होंने भाषण में कहा था —

भली योजनाएँ कितनी ही चलीं और चल रहीं बड़ी,
किन्तु राष्ट्रभाषा तपस्विनी यहाँ जहाँ थी वहीं पड़ी।
कुछ ऐसी ही बात सुनी थी आयी थी जब खादी हाय।
अब भी नर-पुंगव कहते हैं, हिन्दी यहाँ न लादी जाय।
किसने किस पर लादी हिन्दी ? अंग्रेजी लादे रहिए।
जाने दीजे 'बा' 'बापू' को 'ममी' और 'डैडी' कहिए।
'ममी'[1] नहीं है 'डेड'[2] नहीं है, भारत जननी जीती है
उसकी राष्ट्रभारती कड़वे घूँट निरन्तर पीती है।
निज विरोध में ही वह बढ़ती आयी, बढ़ती जावेगी।
जन्मसिद्ध अधिकार शक्ति से ऊँचे चढ़ती जावेगी।
बिना एक व्यापक वाणी के, एक राष्ट्र की सत्ता क्या ?
किसी देश में निजता का पद पाती है परवत्ता क्या ?
करते रहे सदन सम्बोधन प्रथम राष्ट्रपति हिन्दी में,
बह न जाय वह परम्परा भी दिल्ली की कालिन्दी में।
जननी ही मां हो सकती है, अन्य पूतना ही होगी,
बचा एक शिशु सुधन्य वह उसका स्तन्य गरल-भोगी।

---

१. ममी = रासायनिक प्रक्रिया से सुरक्षित शव।
२. डेड = मृत।

जो मत हो मंत्री कबीर का, पहले जो थे संत कबीर
देख अधिक प्रचलित 'भाखा' को बता गए थे बहता नीर।
बन उपकार-निमित न उसका, करे भले कोई उपकार,
बापू आज नहीं, हिन्दी का अब नेहरू चाचा पर भार।
इंगलिश, 'आया' हो सकती है, वह है ज्ञान गुणों की खान,
यहाँ रक्षिता[1] उसे बनाना, करना है उसका अपमान।

हिन्दी के अनेक कवि, नाटककार, उपन्यासकार आदि हिन्दी में साहित्य सर्जना तो करते रहे किन्तु उन्होंने हिन्दी के प्रचार में कोई विशेष रुचि नहीं ली। इसके बहुत कम अपवाद हैं और गुप्त जी इसके एक प्रमुख अपवाद थे जिनके हृदय में हिन्दी के लिए दर्द था और जिन्होंने हिन्दी आन्दोलन में प्रत्यक्षरूप से और अधिकतर परोक्षरूप से बहुत योगदान दिया।

अब मैं उनके चरित्र की दृढ़ता और अपनी कला के प्रति ईमानदारी की ओर कुछ संकेत मात्र करूँगा। उनकी शिष्टता और विनम्रता के नीचे उनमें एक दृढ़ता छिपी हुई थी। वे पूज्य बापू के कितने अनन्य भक्त थे, इसको आप सब जानते हैं। इसलिए इस प्रकरण का महत्व और भी अधिक है। सन् १९३२ में बापू यरवदा जेल में बन्द थे। गुप्तजी ने उन्हें वहाँ अपनी कुछ पुस्तकें भेजीं जिनमें उनका प्रसिद्ध काव्य "साकेत" भी था। महात्मा जी ने पुस्तकें पढ़ीं। किन्तु उन्होंने "साकेत" पढ़ा ही नहीं, ध्यानपूर्वक पढ़ा और उस पर उन्होंने अपनी सम्मति भी एक पत्र में लिख कर दी। वह पत्र ऐतिहासिक महत्व का है। इसलिए मैं इसे यहाँ आपको पूरे का पूरा सुना रहा हूँ। वह पत्र यह है :—

पखड़ा सेण्ट्रल जेल
५ अप्रैल।

भाई मैथिलीशरण जी,

आपका पत्र मिला। "साकेत", "अनघ", "पंचवटी" और "झंकार" सब रसपूर्वक पढ़ गया। बहुत अच्छे लगे। परन्तु टीका करने की मैं अपनी कुछ भी योग्यता नहीं समझता हूँ। तो भी आपने मेरे अभिप्राय पूछे हैं और क्योंकि जैसे पढ़ता गया वैसे विचार भी आते रहे थे, इसलिए जैसे आये वैसे ही आपके सामने रखता हूँ। उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है परन्तु "साकेत" में उसको शायद ही स्थान हो सकता। तुलसीदासजी ने उर्मिला के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है, यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोषदृष्टि से नहीं देखा। मुझको उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि उर्मिला जैसे योग्य पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है। उसी में काव्य का और उन पात्रों का महत्व है। उर्मिला इत्यादि के गुणों का वर्णन सीता के गुण विशेष को बताने के लिए ही आ सकता था। परन्तु उर्मिला के गुण सीता से कम थे ही नहीं। जैसी सीता वैसी ही उसकी भगिनियाँ। मानस एक अनुपम धर्मग्रन्थ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीताराम का ही जपजपाया है। "साकेत" में भी मैं वही चीज देखना चाहता था। इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ। एक और चीज भी कह दूँ। दशरथादि का रुदन तुलसीदास के मानस में पढ़ने से आघात नहीं पहुँचा। तुलसीदास जी से दूसरा कुछ नहीं हो सकता था। परन्तु इस युग के पुस्तक में ऐसा रुदन अच्छा नहीं भाता है। उसमें वीरता को हानि पहुँचती है और इधर भक्ति को भी। जो ऐहिक भोग को क्षणिक मानने वाले हैं,

१. रक्षिता = रखैल।

आत्मा में जिनका विश्वास है उन्हें मृत्यु का और वियोग का असह्य कष्ट हो ही नहीं सकता है। क्षणिक मोह भले आ जावे। परन्तु उनसे करुणा जनक रुदन की आशा हम कैसे रखें ?

यह सब लिखने का मेरा उद्देश्य हरगिज यह नहीं कि आप दूसरे संस्करण के लिए कोई सुधारणा करें। हाँ, यदि मेरे लिखने में आपको कुछ योग्यता प्रतीत हो तो दूसरी बात है।

महादेव मेरे पास आ गये हैं। और क्योंकि मेरे दाहिने हाथ में लिखने से कुछ कष्ट होता है और बायें से लिखने में कुछ देर होती है, इसीलिए यह पत्र मैंने उनसे लिखवाया है।

आपका,
मोहनदास

गांधी जी के मत से मेरी तरह के शायद और कुछ लोग भी सहमत हों क्योंकि रोना-धोना मेरे ऐसे व्यक्ति को भी पसन्द नहीं। भारत में रोने-धोने की परम्परा न थी। यहाँ 'मर्सियागोई' ने कभी आदर नहीं पाया। अज-विलाप ऐसे प्रकरण हजारों वर्ष की लम्बी अवधि में एक दो ही मिलते हैं। फिर बापू ने जो तर्क दिये वे बड़े संगत और सारवान थे। गुप्त जी असमंजस में पड़े। यद्यपि बापू ने केवल अपनी सम्मति दी थी, गुप्तजी से काव्य में कोई परिवर्तन करने को नहीं कहा था, तथापि गुप्तजी बापू के विचारों से उद्वेलित हो गये। उन्होंने एक प्रकार से एक समझौते का मध्य मार्ग निकाला। उन्होंने उर्मिला का जो चित्रण किया था उस पर तो वे दृढ़ रहे, पर दशरथ के रुदन के संबंध में वे कुछ झुकने को तैयार हो गये। उन्होंने उत्तर में एक लम्बा पत्र लिखा जिसका सार वाक्य यह था : "आप उर्मिला के" विषाद को "साकेत" में रहने दीजिए और मैं दशरथ के जितने आँसू पोंछ सकूँ "साकेत के अगले संस्करण तक पोंछने का प्रयत्न करूँ।" कहने का तात्पर्य यह कि उर्मिला के चित्रण में वे बापू की सम्मति के बावजूद कोई परिवर्तन करने को तैयार नहीं थे। यह उनकी दृढ़ता का एक ऐतिहासिक महत्व का उदाहरण है। मैं और भी ऐसे उदाहरण दे सकता हूँ जहाँ उन्होंने दृढ़ता दिखायी। हिन्दी के प्रश्न पर उन्होंने जवाहर-लाल जी तक से कोई समझौता नहीं किया। किन्तु इस छोटे से वार्तालाप में अधिक उदाहरण देने का अवकाश नहीं है।

एक बार एक चित्रकार (पोर्ट्रेट पेण्टर) को इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध तानाशाह क्रामवैल ने अपना चित्र बनाने को बुलाया। उसने चित्रकार से आते ही कहा—

मैं जैसा हूँ—झुर्रियों और दागों सहित—वैसा ही मुझे चित्रित करना। यदि इन्हें छोड़ दोगे तो मैं तुम्हें एक अठन्नी भी न दूँगा।

मनुष्य—चाहे जितना बड़ा हो, उसमें कुछ त्रुटियाँ होती हैं। हिन्दी में जब तक व्यक्तिगत वैमनस्य न हो, लोग केवल स्तुतिगान करते हैं। इससे आदमी मनुष्य न रहकर देवता मालूम होता है, जो वह नहीं है। गुप्तजी मनुष्य थे। उनमें भी कुछ त्रुटियाँ थीं, किन्तु वे त्रुटियाँ उनके गुणों की तुलना में नगण्य थीं। फिर भी फूहड़ और अकुशल फोटोग्राफर की तरह चेहरे पर प्रकाश-पुंज डालकर उसे सपाट (फ्लैट) बनने से बचाने के लिए इस चित्रण में उनकी एक दो त्रुटियों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है जिससे चित्र में कुछ छाया और गहराई आ जाय। वह कुछ उभर आवे। किसी अंग्रेज मनीषी ने लोकेषणा (कीर्ति की कामना) को उदात्त हृदय की अन्तिम कमजोरी कहा है। गुप्तजी जी में भी उदात्त हृदय की यह कमजोरी, यह दुर्बलता मेरी समझ से काफी मात्रा में थी। दूसरी कमी उनमें मेरी अल्पबुद्धि से और बहुत घनिष्ठ परिचय न होने पर भी, यह थी कि वे मानापमान के मामले में अत्यधिक संचेत्य (सैंन्सिटिव) थे, और कभी-कभी गलतफ़हमी के कारण निरपराधी को भी दोषी समझने लग जाते और उससे रूठ जाते या उससे नाराज़

हो जाते, पर यह नाराज़गी बहुत दिनों नहीं चलती थी। मुझे उनमें एक तीसरी दुर्बलता यह मालूम पड़ी कि एक ओर तो वे नव-युवकों, नये लेखकों और उदीयमान कवियों को प्रायः विवेकहीन प्रोत्साहन देने में अत्यधिक उदार थे, दूसरी ओर ऐसे लोगों से, जिनके बारे में सही या गलत उनकी यह धारणा बन जाती कि प्रसिद्धि और पद प्राप्त करने के साथ ही वे अपनी महानता या श्रेष्ठता को दूसरों पर आरोपित करने का, और तरह-तरह से अपना प्रचार कर और आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, वे खिंच जाते थे। इसका कारण शायद यह था कि वे स्वयं बड़े विनम्र थे, अपनी महानता दूसरों पर नहीं थोपते थे और आगे बढ़ने के अतिआकांक्षी लोगों के प्रत्यक्ष प्रचार को नापसन्द करते थे। मेरी यह धारणा भी है कि उनमें कहीं—हृदय के किसी कोने में ईर्ष्या की भी एक क्षीण रेखा थी। किन्तु मेरी जानकारी में उसने उनकी नैसर्गिक आभिजात्य शिष्टता को कभी पराजित नहीं किया। कम से कम ऊपर से उनका व्यवहार सदैव शिष्ट (या जिसे अंग्रेजी में 'करेक्ट' कहते हैं) रहा। मेरी जानकारी में उन्हें एक व्यक्ति से किंचित् ईर्ष्या थी, किन्तु उन सज्जन को दिवंगत हुए बहुत दिन हो गये। उनमें एक दोष यह भी था कि चापलूसी और वास्तविक प्रशंसा में भेद न कर पाते थे और सभी बड़े आदमियों की तरह कितने ही वंचक भी चापलूसी करके उनके कृपाभाजन हो जाते और उनसे लाभ उठा लेते थे। रही धन संग्रह की बात, सो हम सब लोग संसारी जीव हैं। हम न त्यागी हैं, और न विरक्त और न धन की ओर से निरपेक्ष। जब मैं ब्राह्मण होकर रुपये की आकांक्षा नहीं छोड़ सकता तो सेठ राम-चरण ऐसे प्रतिष्ठित व्यापारी के पुत्र गुप्त जी में यदि अर्थ संचय की प्रवृत्ति रही हो तो मेरा उसकी आलो-चना करना अनधिकार चर्चा होगी।

अब चौबे होने के कारण मैं उनके हास्य बोध की बात करके इस वार्ता को समाप्त करूँगा। मैं जब उनसे मिलता तब ९५ प्रतिशत गम्भीर बात नहीं करता था। प्रायः सदैव ही हँसी-मजाक की बातें किया करता था। मैं कभी कभी उनसे कैसा भयंकर मजाक कर बैठता था, इसका एक उदाहरण बाद में सुनाऊँगा। तात्पर्य यह कि उनकी धारणा बन गयी थी कि मैं एक मस्त, फक्कड़, मुँहफट, विनोदी, बिना नापतोल की बात करने वाला, गैरजिम्मेदार आदमी हूँ, पर काम का आदमी हूँ। उन्होंने स्वयं अपने स्वर्गवास से दो-तीन वर्ष पूर्व मुझसे कहा कि "आप जानते हैं कि 'सरस्वती' से मुझे कितना मोह है। जब मैंने सुना कि आप उसके सम्पादक हो गये हैं तब मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैंने मन में कहा कि द्विवेदी जी की सरस्वती के बुरे दिन आ गये। अब वह रसातल को चली जाएगी। किन्तु आपका सम्पादन, लेखों का चयन और आपकी टिप्पणियाँ इतने दिनों पढ़ने के बाद मैंने अनुभव किया कि मैंने आपको कितना गलत समझा था।" मेरे अनेक पाठक और मित्र मुझे बहुधा प्रशंसात्मक पत्र लिखते हैं, किन्तु उस दिन गुप्तजी की स्वीकारोक्ति सुनकर मैं अभिभूत हो गया था।

मैं गुप्तजी से प्रायः विनोदपूर्ण बातें करता था। इसके कई कारण थे। पहला यह कि खड़ी बोली का कवि होते हुए भी उन्हें ब्रजभाषा से अद्भुत प्रेम था। उन्हें हर तरह के ब्रजभाषा के कितने ही सुन्दर छन्द याद थे—जिनमें शृंगारिक और हास्य के भी थे। मेरा ब्रजभाषा प्रेम छिपा हुआ नहीं है। अतएव जब ब्रजभाषा के रंगीन छन्द हम दोनों पढ़ने लगते तब गम्भीरता की गुंजाइश ही नहीं रह जाती थी। दूसरी बात यह थी कि अफसरी जीवन में मेरा अधिकांश समय विशेषकर दौरा करते समय अधीनस्थ कर्मचारियों में बीतता था और मुझे "दरबार फेस" बनाए रखना पड़ता था। उनके समान विदग्ध साहित्यिक के सम्पर्क में आने पर मैं अपने सहयोगी अफसरों और कर्मचारियों को विदा कर देता और घण्टों के दमित भावों को स्वच्छन्दता से व्यक्त कर चैन की साँस लेता। ऐसे अवसरों पर गम्भीर बातें करना मेरे लिए असंभव था। तीसरा कारण यह था कि उनके बहनोई द्वारका प्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' मेरे घनिष्ठ

मित्र थे। और उनके कारण मुझे बहुत छूट मिल गयी थी। पर सबसे बड़ा कारण यह था कि जिस रोग से मैं पीड़ित था—उसी रोग से वे भी पीड़ित थे। यदि मैं अफसर होने के कारण मुक्त हँसी न हँस सकता और जीभ पर आयी बात कहने में संकोच करता तो अपने परिवार और समाज के वयोवृद्ध और बड़े तथा सम्मानित होने के कारण वे भी गम्भीर बने रहने को विवश थे। किन्तु वास्तव में वे बड़े विनोदी थे और उनका हास्य बोध बहुत ऊँचा था। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी (जिन्हें नवीन जी बिनारसी दास कहते थे) ९९ नार्थ एवेन्यू में रहते थे। उस सड़क पर अफ्रीका से लाए हुए पेड़ लगे हैं जिनमें लालफूल लगते हैं। श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने बनारसीदास जी को बतलाया कि ऐसे कुछ पेड़ शान्तिनिकेतन में भी हैं और गुरुदेव ने उस पेड़ का नाम "रक्तमुखी" रख दिया था। एक दिन गर्मी में संध्या के समय बनारसी दास जी के मकान के सामने की रक्तमुखी के नीचे कुछ साहित्यिक और संसदीय मित्र बैठे थे। इतने ही में वहाँ गुप्त जी आ गये। उन दिनों संसद के सदस्यों का वेतन कम था। साल में मुश्किल से चार महीने संसद का अधिवेशन होता था और अधिवेशन के दिनों उन्हें २१ रुपये प्रतिदिन भत्ता मिलता था। थोड़ी देर बाद ही द्विवेदी जी उठकर जाने लगे, किन्तु शायद कई संसद सदस्यों को वहाँ देखकर उन्हें कविता का दौरा हो आया। उन्होंने यह पंक्ति कही—

रक्तमुखी की छाँह में, करें एम० पी० वास,

इसे सुनते ही गुप्तजी ने तत्काल दूसरी पंक्ति कह दी—

चार मास की आय में, काटें बारह मास।

उनके हास्य बोध का केवल एक और उदाहरण दूँगा। गुप्तजी दिल्ली में पहिले नं० १ नार्थ एवेन्यू में रहते थे। यह मकान उन्होंने स्थायीरूप से किराये पर ले रखा था। जब संसद का अधिवेशन न होता तो वह खाली रहता और यदि उनके कोई अन्तरंग मित्र आते तो वे उसमें ठहर जाते। एक बार उनके अत्यन्त सुहृद मित्र और आत्मीय तथा हमारे कृपालु रायकृष्ण दास जी उनकी अनुपस्थिति में दो-चार ५ दिन के लिए किसी कार्यवश दिल्ली गये और गुप्त जी के खाली फ्लैट में ठहर गये। शायद उन दिनों वे वैद्यों की सलाह से द्राक्षासव का सेवन कर रहे थे। जब वे लौटने लगे तो द्राक्षासव की बोतल खाली हो गयी थी। उन्होंने उस खाली बोतल को आगदान के पत्थर पर रख दिया था। कार्य होने पर वे काशी लौट गये। उसके ४-५ दिन बाद ही संसद का अधिवेशन होने वाला था। अतएव रायसाहब के जाने के २-३ दिन बाद ही गुप्त जी झाँसी से आगये। नौकर ने फ्लैट खोला और बतलाया कि रायसाहब कई दिन रह कर दो तीन दिन पूर्व ही लौट गये हैं। गुप्त जी की निगाह द्राक्षासव की बोतल पर पड़ी। रायसाहब का आभिजात्य और सुरुचि दोनों ही सर्वविदित हैं। अवश्य ही वह द्राक्षासव बहुत ही बढ़िया रहा होगा। नौकर के बतलाने पर कि यह बोतल रायसाहब छोड़ गये हैं, गुप्तजी बड़ी ललक से उसकी ओर लपके, पर बोतल उठाते ही हाथ झूठा पड़ गया क्योंकि बोतल खाली थी। गुप्तजी की जो दशा हुई, वह उन्हीं के मुँह से सुनिए क्योंकि उन्होंने अपनी निराशा उसी समय लिपिबद्ध कर दी थी।

कृष्णदास! यह करतूत किस क्रूर की?
आये थके-हारे हम, यात्रा कर दूर की।
द्राक्षासव तो न मिला, बोतल ही रीती थी।
जानते हमी हैं तब हम पर क्या बीती थी।
ऐसी भी घड़ी हा! पड़ी उस दिन देखनी—
धार बिना जैसे असि, मसि बिना लेखनी।

इन दो उदाहरणों से आप उनके हास्य बोध का अनुमान कर सकते हैं। किन्तु हास्यबोध सही अर्थ में किसी व्यक्ति में तभी कहा जा सकता है जब वह अपने ऊपर कहे हास्य में भी रस ले।

कभी-कभी मैं उनकी घनिष्ठता और सौजन्य का अनुचित लाभ उठा लेता था और अपने सौजन्य तथा मेरे प्रति स्नेह के कारण वे ऊपरी रोष दिखाकर मुझे क्षमा कर देते थे। मैं उन्हें किस प्रकार तंग करता था, इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा। १९३७ में जब उत्तर प्रदेश में पहिली काँग्रेस सरकार बनी तब उसने गाँवों में साक्षरता फैलाने का निश्चय किया और यह काम मेरे सुपुर्द किया। फैजाबाद की डिवीजनल इन्सीवटरी में मैं सचिवालय से पहिले योजना बनाने के लिए विशेष अधिकारी बनाया गया और जब योजना स्वीकृत हो गयी तो एक विशेष विभाग (शिक्षा प्रसार) खोल कर मुझे शिक्षा प्रसार अधिकारी नियुक्त कर दिया गया। उस योजना के अन्तर्गत गाँवों में कई हजार रात्रि पाठशालायें, १५०० पुस्तकालय और ३६०० वाचनालय खोले गये। प्रतिवर्ष सारे प्रांत में एक दिन ''साक्षरता दिवस'' मनाने का निश्चय हुआ। उस दिन वर्ष भर के कार्य की रिपोर्ट, नव साक्षरों तथा पुस्तकालयों से पुस्तकें लेने वालों के आँकड़े आदि पुस्तिका में निकाले जाते थे। उसमें राज्यपाल, नेताओं तथा मन्त्रियों के सन्देश भी सम्मिलित होते थे और वह रिपोर्ट बड़े कलापूर्ण ढंग से छपती थी। कविता प्रेमी होने के कारण मैं उसमें किसी कवि और शायर से साक्षरता सम्बन्धी एक-एक कविता भी आरम्भिक पृष्ठों में छपाता था। एक वर्ष मैंने हिन्दी कविता श्रीगुप्तजी से और उर्दू कविता श्रीजोश मलीहाबादी से (जिनसे मेरा परिचय था) लिखाने का निश्चय किया। यह मेरी मूर्खता थी, क्योंकि माशूकों, नेताओं और कवियों के वादे एक ही प्रकार के होते हैं। तिसमें बड़े नेताओं, कवियों और साहित्यकारों पर विश्वास करना तो विशुद्ध 'मौर्ख्य' है। दोनों ही ने प्रसन्नतापूर्वक पुस्तिका निकलने से प्रायः दो-ढाई महीने पूर्व कविता देना स्वीकार कर लिया था। जोश साहब लखनऊ ही में रहते थे पर उनका 'कल' कभी न आता था। अन्त में मैंने अपने एक मुसलमान मित्र को उनके पीछे लगाया। एक बोतल ह्विस्की तो खर्च हुई किन्तु उन्होंने जोश साहब से एक बहुत सुन्दर और उच्चस्तर की कविता 'साक्षरता दिवस' से ८-१० दिन पूर्व ही लिखवा ही ली। उधर मैं गुप्तजी को पत्र पर पत्र लिखता रहा, किन्तु न तो कविता ही आती और न उत्तर ही। एक तार भी दिया। अन्त में जब प्रेस ने कहा कि यदि कल कविता न मिली तो वह न छप सकेगी, तब मैंने एक 'अकरणीय' काम कर डाला। मैंने गुप्तजी की शैली में चार-पाँच छन्दों की एक कविता लिख डाली। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है—''विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी, मरो परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी''। मैंने उसी छन्द में कविता लिखी जिसकी प्रथम पंक्ति थी—''मशाल शान की लिए बढ़े चलो, बढ़े चलो।'' उसमें उनकी उपर्युक्त कविता की दो पंक्तियाँ भी यथास्थान बैठा दी थीं, और उनकी कविता की कुछ विशेषताओं जैसे ''सारवाद'' आदि का भी पुट दे दिया था। वह कविता मैंने गुप्तजी के नाम से प्रथम पृष्ठ में उस पुस्तिका में छाप दी। इस पुस्तिका की हजारों प्रतियाँ छपती थीं और वह सारे प्रान्त में प्रसारित होती थी। संयोग से चिरगाँव में किसी ने वह कविता दिखाकर उन्हें उसके लिए बधाई दी। उन्होंने नाराज होकर मुझे एक कार्ड भेजा, जिसमें लिखा था कि आपने मेरे नाम से एक कविता साक्षरता-दिवस की पुस्तिका में छाप दी है जिसमें मेरी केवल दो पंक्तियाँ हैं। आप इसका स्पष्टीकरण पत्रों में करें नहीं तो मैं इसका प्रतिवाद पत्रों में प्रकाशित करूँगा। मैं गुप्तजी को जानता था। इन बन्दर घुड़कियों का मुझ पर प्रभाव नहीं हो सकता था। मैंने ''चोरी और सीनाजोरी'' का मार्ग अपनाया। मैंने उत्तर में लिखा कि आप प्रतिवाद खुशी से छपवायें। मैं उत्तर दे लूँगा। मैं जानता था कि गुप्तजी का सौजन्य और मेरे साथ उनके सम्बन्ध उन्हें कुछ न करने देंगे और क्षणिक रोष के बाद वे चुप हो जायेंगे। हुआ भी यही

इसके कई मास बाद वे संयोग से काशी में मिल गये जहाँ मैं सरकारी दौरे पर गया हुआ था। अंग्रेजी में युद्ध शास्त्र के सम्बन्ध में एक कहावत है जिसका तात्पर्य है कि आक्रमण ही बचाव का सर्वोत्तम उपाय है। मिलते ही मैंने बड़ी गम्भीरता से उनसे शिकायत की—"आपने दो महीने पूर्व कविता भेजने का वचन दिया था और अंत तक उसे न भेजकर मेरी स्थिति अत्यन्त विषम कर दी थी। मैंने अधिकारियों से कह दिया था कि इस बार आपकी और जोश की कविताएँ छप रही हैं। जोश ने तो कविता भेज दी, पर आपने हिन्दी वाले होकर मुझ ऐसे हिन्दी वाले की इतनी बार विनम्र प्रार्थना करने पर भी कविता भेजना तो दूर, पत्रों और तार का उत्तर तक नहीं दिया। मैं आपसे ऐसे व्यवहार की आशा नहीं करता था। बेचारे गुप्तजी मेरी ज़बाँदराजी" से सिटपिटा गये और मैं उनके प्रति जो अन्याय किया था उसे भूल कर स्पष्टीकरण देने लगे कि उन दिनों रिश्तेदारी में कई विवाह थे। उनमें बहुत दिनों बाहर रहा और साक्षरता दिवस के बाद लौटने पर आपके पत्र और तार मिले। कविता न भेज सकने का बड़ा दुख हुआ, इत्यादि। वे इतने सरल हृदय थे कि उनका रोष क्षणिक होता था और मित्रों के अन्याय को भी भुला देते थे।

पर अभी इस काण्ड का परिशिष्ट होने को था। संध्या को स्व० श्रीरामेश्वर सहाय सिनहा ने अपने घर पर बीस-पच्चीस साहित्यिकों को भोजन पर बुलाया। मैं भी साहित्य का पाँचवाँ सवार हूँ। मुझे भी निमन्त्रित किया गया। डॉ० सम्पूर्णानन्द जी, बेढब जी आदि सभी प्रमुख स्थानीय साहित्यकार थे। गुप्त जी भी थे। जब भोजन आरम्भ हुआ तब मैंने सबको संबोधित करके कहा कि आप लोग हिन्दी के इतने मुखिया यहाँ एकत्र हैं। गुप्तजी और मुझमें एक विवाद हो गया है। आप पंच लोग उसका निर्णय कर दें। आप कृपया बतलावें कि यह कविता गुप्त जी की है या नहीं। मैंने वह कविता सुना दी। सबने कहा—यह तो गुप्त जी ही की मालुम होती है। मैंने आगे कहना आरम्भ किया कि गुप्त जी कहते हैं कि यह कविता मेरी नहीं है। गुप्त जी मेरे पास ही बैठे थे। मुझे रोकते हुए बोले—"रहन देउ। काए को टंटौ बढ़ावत हौ ?" पर मैं चुप न हुआ। "वास्तव में बात यह हुई कि गुप्तजी ने मुझसे दो मास पूर्व साक्षरता दिवस पुस्तिका के लिए कविता का वचन दिया था।" मैंने गुप्तजी को संबोधित करके कहा—"है न सच्ची बात"। गुप्त जी ने सिर हिला कर स्वीकृति प्रकट की। किन्तु मैंने अपना वक्तव्य जारी रखा—"ये बारातों में फँस गये और कविता भेजना भूल गये। किन्तु ये परम वैष्णव और वचन के पक्के हैं। जब दो दिन रह गये और ये बारात में किसी गाँव में थे तब इन्हें सहसा याद आयी कि चौबे जी को कविता भेजनी थी। ये बड़े व्याकुल हुए। सिद्ध वैष्णव हैं। मैं भी वैष्णव हूँ। ट्यूनिंग फार्क की तरह जब इनके हृदय में आघात होता है और ध्वनि निकलती है तो उसकी ध्वनि मेरे हृदय में भी उत्पन्न हो जाती है। सो रात में जब मैं सो रहा था तब इन्होंने स्वप्न में मुझे ये कविता लिखा दी। भला, मैं घोर गद्यात्मक व्यक्ति, ऐसी कविता लिख सकता हूँ ? अब गुप्तजी मुझे धमकाते हैं कि अखबारों में प्रतिवाद छपाकर मेरी खराबी करेंगे। आप लोग ही न्याय करें कि यह गुप्तजी का मेरे प्रति अन्याय है या नहीं।" सारे उपस्थित साहित्यकार जिनमें सम्पूर्णानन्द जी भी सम्मिलित थे—इस काण्ड को सुनकर मुक्त रूप से हँसने लगे। बेढब जी ने तो बाद में गुप्तजी से कहा—वास्तव में आपने बड़ी अच्छी और अवसर के उपयुक्त कविता लिखी थी। गुप्तजी भी मेरी धृष्टता और दु:साहस का आनन्द ले रहे थे। उन्होंने कभी मेरी धृष्टता का बुरा नहीं माना। वे इतने स्वच्छ हृदय और भोले थे।

दूसरी घटना जो आपको सुना रहा हूँ वह इन्दौर की है। मैं उन दिनों मध्यभारत का शिक्षा संचालक था और कुछ दिनों के लिए इन्दौर गया था। उन्हीं दिनों गुप्तजी इन्दौर पधारे थे और दुर्भाग्य से कुछ बीमार पड़ गये। मैं बहुत व्यस्त था। जब दूसरे तीसरे दिन मुझे गुप्तजी की बीमारी का समाचार

मिला तो संध्या को समय निकाल कर मैं उन्हें देखने गया। गुप्तजी पलंग पर लेटे थे। उन्हें घेरे १५-२० बड़े आदमी और साहित्यकार मुहर्रमी सूरत बनाए बड़े गम्भीर भाव से बैठे थे। लोग बहुत धीरे-धीरे आपस में बात कर रहे थे। वातावरण ऐसा मुहर्रमी और गम्भीर हो गया था कि उसमें अच्छा खासा स्वस्थ व्यक्ति भी अपने को किसी भयंकर बीमारी का रोगी समझने लगता। मेरी समझ में ऐसा वातावरण रोगी के लिए अच्छा नहीं होता। मैंने ५-७ मिनटों ही में अधिकांश लोगों को किसी न किसी तरकीब से विदा कर दिया, और गुप्तजी और मुझे छोड़ कर केवल दो तीन व्यक्ति और रह गये; पर वे मुझे निरीह मालुम पड़े। अब मैंने वातावरण बदलने के लिए स्वाभाविक आवाज में बातें आरम्भ कीं और धीरे-धीरे उन्हीं की कविता के बारे में बात होने लगी। अब गुप्तजी भी जो बड़ा उदास और लटका हुआ चेहरा लिए लेटे थे, कुछ भाग लेने लगे। मैंने उन्हें और अधिक 'खुलने' के लिए उनकी कविता का मजाक सुनाना आरम्भ किया जो उनके बहनोई रसिकेन्द्रजी मुझे सुनाया करते थे। इससे वे कुछ प्रसन्न हुए और उनके मुख की दीप्ति कुछ बढ़ गयी। तब मैंने स्वयं उनकी कविता की पैरोडियाँ सुनानी आरम्भ कीं। कुछ दिन पूर्व ही मैंने उनका एक संकलन देखा था जिसकी अन्तिम कविता थी, "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।" उसका अन्तिम छन्द है—

रे जन! अर्जन से मुँह न मोड़
जो मिले जहाँ जितना न छोड़
घर भर ले सब कुछ जोड़ जोड़
पर यह तो कह किस हेतु हाय?
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।

मैंने कहा, "फारसी लिपि में लिखे जाने पर 'बहुजन' भोजन पढ़ा जाएगा। आप बापू के परम भक्त हैं और बापू की हिन्दुस्तानी की परिभाषा का ऐसा ही प्रताप है।" फिर मैंने कहा, "आपने यह छन्द ठीक नहीं लिखा।" उन्होंने पूछा, "इसमें क्या ठीक नहीं है?" मैंने कहा, "सब गलत है। गलत व्यक्ति को सम्बोधित है, गलत उपदेश, गलत उद्देश्य। इसमें ठीक है ही क्या?" बोले, "तो तुम्हीं बताओ, ठीक क्या है?" मैंने कहा, "यह 'जन' को नहीं, 'कवि' को सम्बोधित है—इस प्रकार :

रे कवि! अर्जनसे मुँह न मोड़
जो मिले जहाँ जितना न छोड़,
घर भर ले सब कुछ जोड़ जोड़,
मैं थैली शरण कहूँ तुमसे
भोजन हिताय, भोजन सुखाय।

सुन कर बहुत हँसे और काफी देर हँसते रहकर फिर बोले—"चौबे! तुम हो बड़े लुच्चा।" मैंने बड़ी गम्भीरता से कहा, "जि हमारौ दुर्भाग्य है कि हमें सदा साथई ऐसे लोगनि कौ मिलौ है।"

किन्तु उनका हास्य बोध ऐसा प्रबल था कि बाद में मिलने पर वे कभी-कभी कहते, "अच्छा, वह भोजन हिताय भोजन सुखाय तो सुनाओ।"

मैं अब अस्सीवें वर्ष में हूँ। पं० बालकृष्ण भट्ट, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, किशोरी लाल गोस्वामी आदि से लेकर प्रसाद जी, रामचन्द्र जी शुक्ल, माखनलालजी चतुर्वेदी, नवीन जी तक की पीढ़ी से परिचित होने का मुझे सौभाग्य और कुछ की मित्रता का गर्व है। इस पौन शती की नक्षत्रमाला में जिन देदीप्यमान नक्षत्रों ने मेरे मानस पटल को अपने प्रकाश से आलोकित किया उनमें गुप्त जी का विशिष्ट स्थान था। वे अच्छे मित्र और सौजन्य की मूर्ति थे। ●

राजर्षि

●

मेरे लिए वे सदैव "बाबूजी" रहे। कारण यह था कि जब मेरे पूज्य पिताजी १८९९ में प्रयाग में नौकरी के सिलसिले में आये तब पहले वे कुछ दिनों भारती भवन के पास महामना मालवीयजी के घर के बगल के एक मकान में रहे। बाद में पास ही वहाँ से दो-तीन फर्लांग दूर अहियापुर में एक मकान लेकर रहने लगे और उसमें अनेक वर्षों रहे। पास ही स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट का घर था। अतएव दोनों महापुरुषों से उनका परिचय हो गया। पिताजी को प्रारम्भ ही से हिन्दी और हिन्दी साहित्य में रुचि थी। वे बहुधा भट्टजी के यहाँ जाते थे। उन्हीं की प्रेरणा से पिताजी ने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया, और उनके प्रथम दो लेख 'हिन्दी प्रदीप' में छपे। भट्टजी के यहाँ अनेक युवक आया करते थे? वे हिन्दी के अनन्य भक्त तो थे ही, साथ ही वे राजनीति में भी गहरी रुचि रखते थे। अतएव उनके पास कुछ युवक उनके हिन्दी प्रेम से, और कुछ स्वदेश प्रेमी उनके राजनीतिक विचारों से आकर्षित होकर आते थे। इन्हीं दूसरे प्रकार के युवकों में पुरुषोत्तमदासजी टंडन भी थे, जो उन दिनों कालेज के विद्यार्थी थे। वहीं भट्टजी के घर पर मेरे पूज्य पिताजी का परिचय टंडनजी से हुआ, और उनसे उनकी घनिष्टता इतनी बढ़ गयी कि वें सप्ताह में दो-चार बार हमारे घर आने लगे। मैं बहुत छोटा था। उनकी ओर मेरे आकर्षित होने का कारण यह था कि वे क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी ही न थे, प्रत्युत वे म्योर सेण्ट्रल कालेज की वरिष्ठ क्रिकेट टीम के कप्तान भी थे। मेरे बालकपन पर उनकी यह विशेषता बहुत बड़ी चीज थी। मेरे लिए वे "हीरो" थे। तभी से मुझे उनका स्नेह मिला और जीवन के अन्त तक वह मुझे प्राप्त रहा। इसी स्नेह के कारण

बड़े होने पर भी मैं उनसे कभी-कभी ढिठाई भी कर बैठता था। जानबूझ कर उन्हें उत्तेजित करने के लिए शिक्षा विभाग के एक उच्च पद पर पहुँचने पर भी उनके सामने बहुधा बच्चों की तरह अंडबंड बातें कर देता। वे मुझे मधुर ढंग से डाँटते और कहते "श्रीनारायण, तुम इतने बड़े हो गये, एक जिम्मेदार पद पर हो, किन्तु तुम्हें नाप-तोल कर बात करने का शऊर अभी तक नहीं आया। तुम नाप-तोल कर बात करना सीखो।" उनकी इस मधुर डाँट से मैं प्रसन्न हो जाता, और न मालूम मैंने उनकी स्नेहपूर्ण डाँट सुनने के लिए कितनी बार और कैसी-कैसी ढिठाई की।

टंडनजी अहियापुर में रहते थे। उन दिनों खत्रियों में बालकों को उर्दू और फ़ारसी की अच्छी शिक्षा देने का रिवाज था। टंडनजी ने भी फ़ारसी पढ़ी, और उन्हें अच्छी फ़ारसी आती थी। वे बहुधा बातचीत में फ़ारसी के सूफी कवियों के, विशेष कर मौलाना रूमी के, फारसी शेर सुनाया करते थे। इलाहाबाद तथा अन्य स्थानों में उन दिनों हिन्दी के लिए 'नागरी' शब्द चलता था। आज वह केवल लिपि के लिए प्रयोग में आता है। उन्होंने नागरी व्यवस्थित रूप से नहीं पढ़ी थी। किन्तु भट्टजी के संसर्गजनित प्रभाव से उनमें हिन्दी के प्रति रुचि उत्पन्न हुई और उन्होंने शीघ्र ही उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया। इस अधिकार प्राप्त करने में महामना मालवीयजी का भी बड़ा हाथ था। हमारे घर में तो हिन्दी का पूरा वातावरण था। हमारे पिताजी अवस्था में उनसे बड़े थे और उनका व्यक्तित्व भी बड़ा प्रभावी था। हमारे यहाँ आनेवाले पिताजी के कई मित्र भी हिन्दी-प्रेमी हो गये थे। टंडनजी में तो भट्टजी के प्रभाव के कारण हिन्दी के प्रति प्रेम ही नहीं, बड़ी निष्ठा उत्पन्न हो गयी थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि भट्टजी के शिष्यों में वे ही एक थे जिन्होंने हिन्दी प्रचार को जीवन का उद्देश्य बना लिया। भट्टजी संस्कृत के विद्वान् थे और संस्कृत के श्रृंगारिक श्लोकों में भी रस लेते और उन्हें अपने शिष्यों को सुनाते और उनकी व्याख्या किया करते थे। किन्तु टंडनजी को उनमें कभी रुचि नहीं हुई। वे उन्हें समझा ही नहीं सकते थे। एक बार किसी श्लोक को सुन कर भट्टजी से पूछा—"इस श्लोक में तरुणी के जंघा की उपमा कदली से दी गयी है। कदली का तना तो सपाट होता है, यह उपमा यहाँ कैसे बैठ सकती है ?" इस पर भट्टजी ने कहा, "कदली केर तना चिक्कन-चिक्कन होत है न ? इहाँ ओही से मतलब है।" किन्तु टंडनजी के दिमाग में ये बातें नहीं घुसती थीं। उन्हें श्रृंगारिक कविता पसन्द नहीं थी। इसीलिए उन्होंने कभी देव, बिहारी, पद्माकर आदि को नहीं पढ़ा। वे हिन्दी में तुलसी और कबीर से आगे नहीं बढ़े। इनमें भी कबीर उन्हें अधिक प्रिय थे। फिर फ़ारसी काव्य तो श्रृंगार की काजल की कोठरी है। 'काजर की कोठरी में कैसे हू सयानो जाय, एक लीक लागि है पै एक लीक लागि है।' इसमें 'इश्क मजाज़ी' और 'इश्क हक़ीक़ी' में अंतर करना कभी-कभी बड़ा कठिन हो जाता है। बाबूजी के दिमाग में भी फारसी श्रृंगारिक शेर अटक गये थे, इसका उदाहरण मैं आगे दूँगा।

इसका कारण था। अहियापुर में उनके घर के पास 'राधास्वामी' सत्संग का भवन था। मैं नहीं जानता कि उनके पिताजी का 'राधास्वामी' मत से क्या सम्बन्ध था। किन्तु टंडनजी तरुण अवस्था से उसकी ओर आकृष्ट हुए और उसके 'सत्संगों' में नियमित रूप से भाग लेते थे। अतएव वे 'निर्गुण' ब्रह्म के उपासक हो गये, और उनकी रुचि निर्गुण साहित्य के अध्ययन में सीमित हो गयी। राधास्वामी सम्प्रदाय में वे बड़ी रुचि ही नहीं लेते थे, प्रत्युत उसके महान साधकों में गिने जाने जाते थे। राधास्वामी मत का मुख्यालय आगरा में है। कालान्तर में उसके दो उप-सम्प्रदाय हो गये। एक उप-सम्प्रदाय 'स्वामी बाग' और दूसरा 'दयाल बाग' कहलाता है। १९४० और १९५० के बीच (मुझे ठीक वर्ष याद नहीं) स्वामी बाग के महन्त की गद्दी खाली हुई। लोगों के कहने से उसके चुनाव में टंडननजी भी प्रत्याशी होने को

राजी हो गये। वे कुछ ही मतों से हारे थे। इस प्रकार महन्त या 'मठाधीश' होने से वे बाल-बाल बच गये।

जो लोग टंडनजी की यह 'निर्गुण' पृष्ठभूमि नहीं जानते, उनके लिए टंडनजी के जीवन की बहुत सी बातें—जो वे साधक होने के कारण करने को विवश थे—समझना कठिन है। उनका नमक न खाना, दूध न पीना, बहुत कम पानी पीना, रात भर भींगी खड़ी मूँग की दाल या पानी में भींगी किशमिशों से चोकरदार सूखी मोटी रोटी खाना आदि उनकी बहुत-सी 'सनकों' का कारण वे नहीं समझ सकते। हाँ, उनका दानेदार शक्कर न खाने का कारण दूसरा था। जब पहले-पहल दानेदार शक्कर जावा आदि विदेशों से आयी तब उसके विरुद्ध यह कह कर आन्दोलन चला कि उसे साफ़ करने में हड्डी का प्रयोग किया जाता है। उन दिनों कितने ही हिन्दुओं ने वह विदेशी शक्कर खाना अस्वीकार कर दिया था। उसी समय टंडनजी ने सफेद चीनी खाना बन्द कर दिया। वे या तो गुड़ खाते थे या बादामी रंग की हाथ की बनी शक्कर, जिसे इलाहाबाद में 'मँगरा' शक्कर कहते हैं, खाते थे। वे ऐसी दृढ़ प्रकृति के थे कि एक बार जो संकल्प कर लेते थे, उससे कभी नहीं डिगते थे। दानेदार शक्कर जो एक बार छोड़ी तो उसे आजीवन नहीं खाया। इसी राधास्वामी मत का प्रभाव था कि उन्होंने अपने पुत्रों के नाम स्वामीप्रसाद, गुरुप्रसाद, सन्तप्रसाद आदि रखे। टंडनजी के पिता का देहान्त पहिले ही हो चुका था। उनके चाचा थे श्री मूलचन्द्र। वे डाक्टरी करते थे और उनकी डाक्टरी अच्छी चलती थी। टंडनजी ने वकालत की परीक्षा पास की, और वकालत करना आरम्भ किया। प्रतिभाशाली तो थे ही, थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत चमक गयी और वे प्रयाग के अच्छे वकीलों में गिने जाने लगे। किन्तु वकालत के साथ ही मालवीयजी के अनुयायी होने के कारण वे सार्वजनिक कार्यों में भी भाग लेने लगे और धीरे-धीरे वे राजनीति में आ गये।

स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ होने पर उन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग का व्रत लिया। बाद में जब महात्माजी भारत की राजनीति के मंच पर आये तब वे उसमें सम्मिलित हो गये। मालवीयजी तो हिन्दू विश्वविद्यालय के काम में इतने रम गये थे कि प्रयाग छोड़ कर काशी में रहने लगे। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति प्रयाग में टंडनजी ने की। याद रहे कि तब तक पंडित मोतीलाल नेहरू राजनीति में नहीं जाये थे। जवाहरलालजी इंगलैण्ड से लौट कर आये ही थे और वकालत करने का उपक्रम कर रहे थे जिसमें उनका मन नहीं लग रहा था। तब तक म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट या उसीके पद का आई० सी० एस० अफसर होता था। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के इस पद से हटने के बाद ममफोर्ड साहब (जी० आई० सी० एस० थे) म्यूनिसिपैलिटी के अध्यक्ष हुए और कुछ ही दिनों उस पद पर रहे। उन्होंने प्रयाग का विकास किया और 'ममफोर्ड गंज' नामक मोहल्ला उन्होंने बसाया। उनके बाद सरकार ने तय किया कि स्वायत्तशासी संस्थाओं के अध्यक्ष जनता के चुने हुए गैरसरकारी व्यक्ति हों। प्रयाग में भी चुनाव हुए, और टंडनजी उसके पहिले गैरसरकारी अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने जिस शान और दबंगई से अध्यक्षता की, वह जानकार लोग आज भी स्मरण करते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। उन दिनों प्रयाग में छोटे लाट रहते थे। गवर्नमेंट हाउस में एक 'स्विमिंग पूल' था। उत्तर प्रदेश में सबसे पहला 'वाटर वर्क्स' प्रयाग ही में बना था, किन्तु उसे बने पचास-साठ वर्ष हो गये थे। इस बीच नगर और उसकी जनसंख्या का बहुत विस्तार हो गया था। वह पुराना वाटर वर्क्स जनता को पानी कठिनाई से दे सकता था और लोगों को जल कष्ट होने लगा था। छोटे लाट का 'स्विमिंग पूल' वाटर वर्क्स के पानी से भरा जाता था। जब गवर्नमेंट हाउस के अधिकारियों ने म्युनिसिपैलिटी से उसे भरने को लिखा तो टंडनजी ने यह कह कर इनकार कर दिया कि जब नगर की जनता को जलकष्ट है, तब मैं 'स्विमिंग पूल' ऐसी विलास की

अनावश्यक वस्तु के लिए इतनी विशाल मात्रा में पानी देना उचित नहीं समझता, और मैं नहीं दे सकता। उन पर काफी दबाव पड़ा, किन्तु वे अपने निश्चय पर अटल रहे। उन दिनों अंग्रेजों, और विशेषकर लाट साहब का, जो दबदबा था, वह आज के लोग मुश्किल से समझ पावेंगे, और उसे समझे बिना उन दिनों टंडन जी के साहस तथा कर्तव्यपरायणता की दृढ़ता को ठीक तरह से न समझ सकेंगे।

तब टंडनजी के दाढ़ी नहीं थी। वे बन्द कोट या शेरवानी पहिनते थे और सिर पर सफेद साफा बाँधते थे। उनका वकालत का कमरा जानसनगंज में दरवेश्वरनाथ मंदिर के बगल में ऊपरी खंड पर था। नीचे की दुकान में उनके चाचा डॉ० मूलचन्द्रजी की डिस्पेंसरी थी। वे निजी रूप से चिकित्सा करते थे और उनकी आय अच्छी थी।

जब जवाहरलालजी ने तय कर लिया कि मैं वकालत न करूँगा और सार्वजनिक जीवन में कार्य करूँगा तब पंडित मोतीलालजी ने उनसे टंडनजी के साथ रह कर सार्वजनिक जीवन की कार्यप्रणाली समझने के लिए कहा। टंडनजी के मुख्य कमरे के बगल में एक छोटा कमरा था। उसमें अन्य कुर्सियों के अतिरिक्त एक पुराने ढंग की लंबी आराम कुर्सी भी पड़ी रहती थी। जवाहरलालजी बहुधा उनके पास जाते और इसी आराम कुर्सी पर लेट जाते तथा टंडनजी से नगर, प्रान्त और देश की समस्याओं पर बात करते तथा नगर की समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया करते थे। मुझे कई बार ऐसे अवसरों पर टंडनजी से मिलने जाने का अवसर मिला और मैंने उन दिनों की चर्चाएँ सुनीं। मुझे उनमें रस न आता और बाबूजी से बात करके शीघ्र ही लौट आता था।

एक दिन की घटना मैं नहीं भूल सकता। म्युनिसिपैलिटी में कोई सदस्य यह प्रस्ताव लाने वाला था कि वेश्याओं को चौक आदि प्रमुख स्थानों से निकाल दिया जाय। एक दिन मैं बाबूजी के पास बैठा था कि उनके किसी नौकर ने आकर कहा कि वेश्याओं का एक डेप्यूटेशन उनसे मिलने आया है। टंडनजी इस बीच अपनी 'प्योरिटनिज़्म' (अति शुद्धतावाद) के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। मुझे यह देखने का बड़ा कुतूहल हुआ कि बाबूजी पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। उन्होंने कहा, "मैं म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष हूँ। इन लोगों के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव वहाँ आ रहा है। वे शायद उसीके सम्बन्ध में मिलने आयी हैं। अध्यक्ष होने के कारण मैं उनका पक्ष सुनने से इनकार नहीं कर सकता। उन्हें बुलाओ।" थोड़ी ही देर में पन्द्रह-बीस अप्रतिम सुन्दरियाँ उस कमरे में आकर खड़ी हो गयीं। सभी सफेद धोतियाँ पहने हुई थीं और चूड़ियों के सिवाय उनके शरीर पर कोई आभूषण न था। उन्होंने आते ही टंडनजी को हाथ जोड़कर नमस्कार किया। टंडनजी सहज स्वर में बोले—"बहिनों, आपने यहाँ आने का कष्ट कैसे किया?" उनमें से एक ने दो-तीन वाक्यों में बड़ी नम्रता से अपने स्थानों से हटाये जाने की असुविधाओं की बात कही। बाबूजी के सामने उनमें से और किसी के बोलने का साहस नहीं हुआ। तब बाबूजी ने बड़े शिष्ट और मृदु शब्दों में उनके साथ सहानुभूति प्रकट करके उनके वहाँ से हटाने के प्रस्तावकर्ता के बताये कारणों को बतलाया। बीच-बीच में बराबर उन्हें 'बहिनों' कह के सम्बोधित करते जाते थे, और सामाजिक परिस्थितियों का उन्हें शिकार बताकर उनकी दुर्दशा पर दुःख भी प्रकट किये जाते थे। अंत में उन्होंने उन्हें अपने को परिस्थितियों से ऊपर उठाने का उपदेश दिया। वे प्रायः पंद्रह-बीस मिनिट बोले होंगे। और यह कहकर कि 'मैंने आपकी बात सुन ली और अपनी भावना बतला दी। मैं वही करूँगा जो आपके हित में होगा। अब आप जाइये', कहकर उन्हें विदा कर दिया। उनमें से अधिकांश नतमस्तक इस प्रकार खड़ी थीं जैसे हेडमास्टरनी के सामने बच्चियाँ। उनके सामने उनकी वाचालता को लकवा मार गया था।

गांधीजी के आंदोलन ने जोर पकड़ा। बाबूजी ने वकालत छोड़ दी और देशसेवा के काम में लग गये। घर की चिंता न थी क्योंकि चाचा डॉ० मूलचन्द्र की अच्छी आय थी और वे घर सम्भाले हुए थे। किन्तु सहसा बाबूजी पर वज्रपात हुआ। डॉ० मूलचन्द्र का अचानक देहान्त हो गया। घर का कमानेवाला चल बसा। बड़ी और कच्ची गृहस्थी के पालन का प्रश्न सामने था। लोगों ने फिर वकालत करने की सलाह दी, पर बाबूजी तो फौलादी संकल्प के व्यक्ति थे। मैं नहीं जानता कि उनके परिवार का काम कैसे चला। किन्तु यह जानता हूँ कि बहुत दिनों बाबूजी भुँजे चने और मूँगफली खाकर रहे।

लाला लाजपतरायजी इनकी योग्यता और उच्च चरित्र से बहुत प्रभावित थे। बाबूजी लालाजी के अनन्य भक्तों में थे। उनके आदेश से वे कुछ दिनों के लिए पंजाब नेशनल बैंक लाहौर में चले गये जो कि कहा जाता है कि लालाजी ने स्थापित किया था। इसी बीच नाभा के महाराज के राष्ट्रीय विचारों के कारण भारत की तत्कालीन अंग्रेज सरकार उनसे अप्रसन्न हो गयी। कहा जाता है कि लालाजी की प्रेरणा से उन्होंने नाभा के दीवान का पद स्वीकार कर लिया। उस राज्य के तत्कालीन राजनीतिक घात-प्रतिघातों से मैं परिचित नहीं हूँ। किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद वायसराय ने महाराज नाभा को गद्दी से उतार दिया। शायद इस निश्चय का पूर्व समाचार पाकर और अपना वहाँ रहना निरर्थक समझ कर, वे वहाँ से चले आये।

जब लाला लाजपतरायजी ने लोक सेवक संघ बनाया तो बाबूजी को उन्होंने उसका शायद पहला सदस्य बनाया। ये सदस्य संघ से एक नियमित मासिक मानदेय पाते हैं और अपना सारा समय देश और समाज की सेवा में लगाते हैं। इस बीच यदि उन्हें कोई वैतनिक पद मिला तो यह वेतन उन्हें संघ को दे देना होता है। श्री लालबहादुर शास्त्री, अलगूराय शास्त्री, उड़ीसा के श्री विश्वनाथ दास और श्री महताब, पंजाब के श्री अचिन्त्यराम आदि इसके सदस्य थे। श्री लालबहादुर शास्त्री बाबूजी को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। लाला लाजपतरायजी की मृत्यु के बाद बाबूजी इस संघ के अध्यक्ष निर्वाचित हुए और आजीवन उस पद पर रहे। वे मालवीयजी के बाद उत्तर प्रदेश के वरिष्ठतम नेता थे। जब कांग्रेस सरकार बनी तो बहुत से लोग यही चाहते और समझते थे कि बाबूजी उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री होंगे। किन्तु वे उस पद को सुशोभित नहीं कर सके। यह उनके राजनीतिक जीवन से संबंध रखने वाली घटना है। मुझे उनके राजनीतिक जीवन का ज्ञान प्रायः नहीं के बराबर है। उन्हें पदों से कभी मोह नहीं था। वे संविधान सभा और बाद में संसद के सदस्य रहे। कांग्रेस के नासिक अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये, किन्तु वे उस पद पर अधिक दिनों रह न सके। उन्होंने जिन परिस्थितियों में स्वेच्छा से उस पद से त्यागपत्र दे दिया, वह उनकी महानता का द्योतक है। किन्तु इस रेखाचित्र में उसकी चर्चा असंगत है क्योंकि न तो मेरा यह ध्येय है और राजनीति से निरपेक्ष होने के कारण मैं उनके राजनीतिक जीवन से विशेष परिचित भी नहीं हूँ। उनके राजनीतिक जीवन की केवल एक ही घटना की चर्चा करना आवश्यक है। जब मैं ग्वालियर में मध्य भारत का शिक्षा संचालक था, तब वे अपने पुत्रों (श्री स्वामीप्रसादजी और प्रोफेसर गुरुप्रसाद जी) से मिलने कभी-कभी वहाँ आया करते थे। मुझे मिलने के लिए बुलाने के बजाय वे स्वयं मेरे घर आकर मुझसे अपने स्नेह का परिचय देते और मुझे गौरवान्वित करते थे। एक बार उनके वहाँ पधारने पर मैंने एक छोटी-सी गोष्ठी भी की थी जिसमें नगर के अनेक गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। एक बार जब वे मुझसे मिले तो कहा, "मुझसे उड़ीसा का राज्यपाल होने को कहा जा रहा है। तुम्हारी क्या सम्मति है? मैं उसे स्वीकार करूँ या न करूँ?" मेरी अल्प बुद्धि से उनके समान पुरुष सिंह का राज्यपाल बनना मुझे सोने के पिंजड़े में बन्द होने के समान मालूम हुआ। उस समय हिन्दी और साहित्य सम्मेलन पर अनेक संकट थे। मेरे अवचेतन में उनके राज्यपाल हो जाने से इन दोनों को हानियाँ पहुँचने की आशंका थी। शायद इसीलिए

मैंने अपनी सम्मति स्पष्ट रूप से सकारण उन्हें बतला दी। अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए वे कुछ देर मौन रहे और फिर बोले, "मेरी अन्तरात्मा भी यही कहती है और कुछ अन्य मित्रों की भी यही सम्मति है। तुम भी इन्हीं विचारों के हो। शायद तुम ठीक कहते हो।" बाद में मालूम हुआ कि उन्होंने राज्यपाल पद अस्वीकार कर दिया। वे इतने महान थे कि राज्यपाल पद पाने या न पाने से उनकी महानता में मेरी सम्मति से कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला था। शायद भारत सरकार ने बहुत बाद में जब वे मृत्यु शैया पर थे, अपनी अन्तरात्मा को सन्तुष्ट करने के लिए उन्हें, 'भारत रत्न' की उपाधि दी। तब वे इतने बीमार थे कि चारपाई से उठ नहीं सकते थे। अतएव दिल्ली जाकर राष्ट्रपति से वे वह सम्मान ग्रहण नहीं कर सकते थे। अन्त में केन्द्रीय मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने प्रयाग आकर उनकी मृत्यु-शैया पर उन्हें उस सम्मान से विभूषित किया। उनका विवेक इतना ऊँचा था कि जब वे गम्भीर रूप से बीमार पड़ गये और यात्रा करने योग्य न रहे तो उन्होंने स्वयं संसद की सदस्यता से यह कह कर त्यागपत्र दे दिया कि जब मैं उसमें भाग नहीं ले सकता तब एक जगह घेरे रहना अनैतिक है।

उस समय मालवीय जी के बाद बाबूजी ही प्रदेश के वरिष्ठतम नेता थे। मालवीयजी हिन्दू विश्व विद्यालय के कारण सक्रिय राजनीति छोड़ चुके थे। बाबूजी उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री तो नहीं बनाये गये, किन्तु लोगों ने उन्हें उत्तर प्रदेश की विधान सभा के अध्यक्षपद को स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया। इन्होंने पहला काम यह किया कि विधान सभा की कार्यवाही पूर्णतः हिन्दी में करने का निर्णय विधान सभा से करा लिया। याद रहे कि तब तक उत्तर प्रदेश की सरकार ने हिन्दी को राज्य की राजभाषा घोषित नहीं किया था। उन्होंने बड़ी कड़ाई से विधान सभा में हिन्दी चलायी। उनके डिप्टी स्पीकर श्री नफीसुल हसन थे। बाबूजी ने इन्हें भी हिन्दी का पूर्ण हिमायती बना लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब बाबूजी ने संसद में जाने के लिए अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दिया तब श्री नफीसुल हसन अध्यक्ष चुने गये और बाबूजी के पट्ट शिष्य होने के कारण वे भी उनके पदचिन्हों पर चले, तथा विधान सभा में हिन्दी की जड़ जम गयी, और तब से विधान सभा का कार्य पूरी तरह से हिन्दी ही में होता है। वैसे तो बाबूजी बड़े मृदु और नम्र थे, किन्तु वे 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' थे। उन्होंने विधान सभा की अध्यक्षता बड़ी निष्पक्षता और दबंगई से की। नियमों और विधान सभा की मर्यादा का पालन वे बड़ी कड़ाई से करते थे, और ऐसे मामलों में औरों की तो क्या बात पण्डित गोविन्द वल्लभ जी पंत और श्री रफी साहब तक को नहीं बख्शते थे। उनकी कड़ाई के कारण विधायक उन्हें "हैडमास्टर साहब" कहा करते थे। किसी विधायक की मजाल नहीं थी कि उनके पीठासीन होते हुए वह कोई असंगत बात कह सके। उनकी निष्पक्षता का लोहा सभी दलों के विधायक मानते थे, किन्तु एक बार ऐसा प्रसंग आया कि उससे लोगों और विशेषकर विपक्षी दलों को मालूम हो गया कि वे किस धातु के बने हैं।

ब्रिटिश प्रथा यह है कि जब कोई 'स्पीकर' चुन लिया जाता है तब वह अपने दल से त्यागपत्र दे देता है, और 'निर्दलीय' हो जाता है। अगले चुनाव में वह 'निर्दलीय' होकर चुनाव लड़ता है, और सामान्यतः उसके विरुद्ध कोई दल प्रत्याशी खड़ा नहीं करता। बाबूजी का कहना था कि भारत की स्थिति इंगलैण्ड की तरह नहीं है, और यहाँ स्पीकर या अध्यक्ष भी सार्वजनिक जीवन में भाग लेने को बाध्य है, और सार्वजनिक जीवन में वह उसी दल की नीतियों का समर्थन करेगा जिससे उसका लगाव है। किन्तु अध्यक्ष के रूप में वह पूर्णतः 'निर्दलीय' और 'निष्पक्ष' रहेगा। अतएव बाबूजी ने कांग्रेस दल से त्यागपत्र नहीं दिया। किन्तु विधान सभा में उन्होंने अपनी दीर्घकालीन अध्यक्षता में दिखा दिया कि विधान सभा के बाहर कांग्रेसी होते हुए भी विधान सभा के कार्य को कितनी निष्पक्षता से किया जा सकता है। उस समय

विधान सभा में मुस्लिम-लीग मुख्य विरोधी दल था। बाबूजी सार्वजनिक जीवन में यदि हिन्दुओं की माँग को उचित और न्याय संगत समझते तो उसका समर्थन करते। वे 'सेक्युलरिज़्म' के नाम पर हिन्दुओं की न्याय संगत बातों का समर्थन करने में संकोच नहीं करते थे जैसा कि बहुत से कांग्रेसी करते रहे हैं। इसीलिए मुस्लिम लीग के उनके सदस्य उन्हें हिन्दुओं का पक्षपाती और मुसलमानों का विरोधी समझने लगे। उनका (विरोधी दल होने के कारण) यह तथाकथित हिन्दू पक्षपात और अध्यक्ष होकर भी कांग्रेस दल से त्यागपत्र न देना उन लोगों के लिए बाबूजी के विरुद्ध होने के लिए पर्याप्त था। अतएव एक बार कुछ मुस्लिम लीगी विधायकों द्वारा उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव लाने की चर्चा होने लगी। 'बाबूजी' के कानों में यह बात पहुँच गयी। इस पर बाबूजी ने विधान सभा में स्वयं अपनी ओर से एक वक्तव्य दिया जिसका आशय यह था कि "मैंने सुना है कि कुछ लोग मुझ पर अविश्वास का प्रस्ताव लाना चाहते हैं। इस सदन में वे अल्प मत में हैं, और उनका प्रस्ताव पारित नहीं हो सकेगा। और मैं अध्यक्ष बना रहूँगा। किन्तु बहुमत के बल पर अध्यक्ष बना रहना मुझे इष्ट नहीं है। मैं इस पद पर तभी रह सकता हूँ जब प्रत्येक सदन के प्रत्येक सदस्य को मेरी निष्पक्षता में पूरा विश्वास हो। अतएव अविश्वास का प्रस्ताव लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं बहुमत के बल पर इस पद पर नहीं रहना चाहता। यदि इस सदन में एक भी सदस्य खड़े होकर कह दे कि उसे मुझमें विश्वास नहीं है तो मैं तत्काल त्यागपत्र दे दूँगा। मैं तभी अध्यक्षता कर सकता हूँ जब प्रत्येक सदस्य का मुझमें विश्वास हो।" बाबूजी ने इस प्रकार अध्यक्ष के लिए एक नया मापदंड घोषित करके विरोधी या असंतुष्ट सदस्यों को चुनौती दी। कहने की आवश्यकता नहीं कि बाबूजी के स्पष्ट और निष्कपट वक्तव्य में तनिक भी बनावटीपन न था और न वह कोरी धमकी था। लोग जानते थे कि बाबूजी ने जो कहा है वह वे अवश्य कर गुजरेंगे। उनके सन्तोपम व्यक्तित्व और विधान सभा के निष्पक्ष कार्यकलाप का ऐसा प्रभाव था कि किसी कट्टर से कट्टर लीगी सदस्य का सदन में खड़े होकर उनके विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। उस समय मुस्लिम लीग की मानसिकता को जाने बिना बाबूजी की इस नैतिक विजय के महत्त्व का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। किन्तु इससे स्पष्ट है कि उन्हें पदों से मोह नहीं था, और वे उन लोगों में नहीं थे जो किसी भी मूल्य पर पद से चिपके रहना चाहते हैं।

विधान सभा में जो बाबूजी किसी भी सदस्य को जरा भी असंगत बात नहीं बोलने देते थे और जो भाषण में विषयान्तर करने के लिए बड़े से बड़े मंत्री को भी नहीं छोड़ते थे वे ही बाबूजी सम्मेलन की स्थायी समिति में कार्य संचालन करते समय सदस्यों को जो कुछ प्रासंगिक या अप्रासंगिक वे कहना चाहें, उसे कहने की पूरी छूट दे देते थे। परिणाम यह होता था कि स्थायी समिति की बैठकें पाँच-पाँच, छः छः घंटे चला करती थीं। ऐसा मालूम होता था कि बाबूजी अपने परिवार में बैठे हुए उसके छोटे-बड़े लोगों से विचार विमर्श कर रहे हैं। वहाँ वे तत्परता से काम निबटाने का प्रयत्न नहीं करते थे। प्रत्येक सदस्य को पूरी तरह से अपने ढंग से अपनी बात कहने का अवसर देते थे जिसमें बहुधा असंगत और व्यर्थ की बातों के कारण बड़ा समय नष्ट हो जाता था। इन बैठकों में स्वयं बाबूजी भी बहुत सी ऐसी बातें कह देते थे जो अनावश्यक होती थीं, किन्तु कभी-कभी मनोरंजन भी होता था। एक उदाहरण दूँगा। एक बार स्थायी समिति में किसी ने यह बात उठायी कि जब आप उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानते हैं, केवल उसकी लिपि को स्वीकार नहीं करते, तब हिन्दी साहित्य सम्मेलन को देवनागरी लिपि में उर्दू की पुस्तकें भी प्रकाशित करनी चाहिए। उनका सम्पादन आवश्यक है जिससे उनमें आये कठिन अरबी, फारसी शब्दों के अर्थ घोर विदेशी संदर्भों की पादटिप्पणियों में स्पष्ट कर दिया जाय। बाबूजी स्वयं उर्दू को हिन्दी की एक

शैली मानते थे। उन्होंने तत्काल इस सुझाव का समर्थन किया और कहा कि हमें ऐसे योग्य सम्पादक तलाश करने होंगे जो यह काम कर सकें। इस पर वहाँ उपस्थित पंडित बलभद्र प्रसाद मिश्र ने कहा कि स्थायी समिति ही में ऐसे योग्य व्यक्ति हैं जो यह काम भली भाँति कर सकते हैं। बाहर तलाश करने की क्या आवश्यकता है ? बाबूजी के पूछने पर मिश्र जी ने वहाँ उपस्थित श्री रामनाथ लाल सुमन का नाम लिया और कहा कि उन्होंने कई उर्दू कविओं पर ग्रंथ लिखे हैं। बाबूजी सुमन जी की ओर मुड़े और बोले— "सुमनजी, आपने अपने उर्दू के गहन ज्ञान की मुझसे कभी चर्चा नहीं की ?" सुमन जी ने कहा कि "मैं अपने मुँह अपनी योग्यता की चर्चा कैसे करता ?" बाबूजी कुछ देर दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए चुप होकर कुछ सोचते रहे, और फिर बोले, "ठीक ही है। आप अपने मुँह से अपने गुणों का बखान कैसे करते ? इस पर मुझे फारसी का एक शेर याद आ गया। पर वह बड़ा श्रृंगारिक है। इसलिए उसे नहीं सुना सकता।" इस पर सदस्यों ने उसे सुनने का बड़ा आग्रह किया। इनमें मिश्रजी सबसे अधिक आगे थे। अंत में बाबूजी मिश्रजी से बोले, "ये सब लोग सयाने और बाल-बच्चों वाले हैं। शायद इन के सामने इसे कहना अनुचित न होगा, किन्तु मैं स्वयं उसे नहीं कहूँगा। मैं तुम्हारे कान में वह शेर और उसका अर्थ कह दूँगा। तुम उसे सदस्यों को बतला देना।" मिश्रजी बाबूजी के पास गये। उनके कान में धीरे से बाबूजी ने फारसी का एक शेर पढ़ा जो मिश्र जी के पल्ले नहीं पड़ा, किन्तु इसका जो अर्थ बाबूजी ने बतलाया वह उन्होंने तत्काल ग्रहण कर लिया। वह अर्थ था कि सज्जनों को अपनी प्रशंसा करने में उसी प्रकार आनन्द नहीं आता जिस प्रकार युवती को अपने कुच स्वयं मर्दन करने में आनन्द नहीं आता। जब मिश्र जी ने यह अर्थ सदस्यों को बतलाया, सारा सदन हँसी से गूँज उठा। इस अप्रासंगिक चर्चा में प्रायः तीस-चालीस मिनिट नष्ट हो गये। विधान सभा के स्पीकर का कड़ा अनुशासन हिन्दीवालों के बीच में आकर मोम हो जाता था।

बाबूजी हिन्दी साहित्यकारों और कार्यकर्ताओं का बहुत आदर करते थे—यहाँ तक कि उनकी अशिष्टता और बदतमीजियों को भी चुपचाप बर्दाश्त कर लेते थे। इसके दो उदाहरण उल्लेखनीय हैं जिनका मैं साक्षी था। जब वे स्पीकर थे और मैं लखनऊ में नियुक्त था तो कभी-कभी या तो वे मुझे बुला लेते थे या कभी-कभी मैं स्वयं उनसे मिलने जाता था। एक बार संध्या के समय जब मैं उनसे मिलने के लिए जाने की तैयारी कर रहा था कि निरालाजी आ गये। वे मेरे पास संध्या को प्रायः नित्य आते थे। यह जानकर कि मैं बाबूजी से मिलने जा रहा हूँ, उन्होंने भी साथ चलने का आग्रह किया जो मैं टाल नहीं सकता था। जब हम दोनों उनके यहाँ पहुँचे तब उनके विशाल ड्राइंग रूम में बिठा दिये गये। उन्होंने हम दोनों को जलपान कराया। जलपान करने के बाद सहसा निरालाजी ने उनसे कहा कि मैं आप को अपनी कुछ कवितायें सुनाऊँगा। लम्बे सोफा के एक सिरे पर बाबूजी बैठे थे और दूसरे पर निरालाजी। मैं बाबूजी के पास की कुर्सी पर बैठा था। निरालाजी ने एक लम्बी कविता बड़ी मौज और काकु से पढ़ी। फिर एक दूसरी लम्बी कविता सुनायी। निरालाजी "मूड" में थे। जो लोग उनके काव्य-पाठ को सुन चुके हैं वे समझ सकते हैं कि उन्होंने उन्हें कितनी अच्छी तरह सुनाया होगा। मुझे आनन्द आ रहा था किन्तु वे कवितायें अतुकान्त और गंभीर छायावादी थी, और उनकी भाषा भी क्लिष्ट थी। बाबूजी मूर्ति बने बैठे अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए और आँख नीची किये हुए उन्हें चुपचाप सुन रहे थे। इस बीच उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, दाद देना तो दूर, सिर तक नहीं हिलाया। 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनम्' कवि को असाध्य होता है। निरालाजी तो इस मामले में बड़े संचेत्य थे। प्रायः बीस मिनिट अपने भरसक अच्छे ढंग से अपनी समझ से अपनी सर्वोत्तम कविताओं को सुनाने के बाद बाबूजी की निरपेक्षता वे सहन न कर सके। किसी कविता के बीच में वे सहसा रुक गये, और बड़े उत्तेजित स्वर में बाबूजी

से बोले—"कुछ समझ में भी आ रहा है ?" यह वाक्य उन्होंने ऐसे स्वर में कहा कि स्पष्ट था कि वे उन्हें कड़ी डाँट बतला रहे हैं। बाबूजी ने बड़े विनम्र स्वर में और शान्तभाव से केवल इतना ही कहा, "समझने का प्रयत्न तो कर रहा हूँ।" इस भेंट को यह मोड़ लेते देख मेरी जो स्थिति हुई उसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। मैं शीघ्र ही बाबूजी से विदा माँग कर उत्तेजित निरालाजी को साथ लेकर चल दिया। बाबूजी निरालाजी को मोटर तक पहुँचाने आये और चलते समय उन्होंने निरालाजी को बड़ी नम्रता से नमस्कार किया।

दूसरी घटना फैजाबाद की है। उत्तर प्रदेश में प्रान्तीय सम्मेलन बनाने का कई बार प्रयत्न किया गया, किन्तु वह असफल रहा। बरगद के नीचे छोटे पौधे नहीं पनपते। प्रयाग में मुख्य सम्मेलन होने के कारण उत्तर प्रदेश में प्रान्तीय सम्मेलन चलाना अत्यन्त कठिन है। १९३७ में उन्होंने मुझे उसे स्थापित करने का आदेश दिया। मैं उस समय फैजाबाद में नियुक्त था। मैंने उनकी आज्ञानुसार उसको स्थापित कर उसका प्रथम अधिवेशन फैजाबाद ही में किया। डा० सम्पूर्णानन्द जी ने उसकी अध्यक्षता की। आचार्य नरेन्द्रदेवजी, जो फैजाबाद के निवासी थे, उसके स्वागताध्यक्ष थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसके साहित्य परिषद की अध्यक्षता की। बाबूजी ने उसका उद्‌घाटन किया। अपने उद्‌घाटन भाषण में उन्होंने बीच में कहीं यह कह दिया कि साहित्यकारों को किस प्रकार का साहित्य निर्माण करना चाहिए। निरालाजी ने तत्काल उन्हें टोका कि राजनीतिज्ञों को साहित्यकारों को उनका कर्त्तव्य बतलाने का कोई अधिकार नहीं है ? इस पर दोनों में प्रश्नोत्तर होने लगे। वाक्‌वितंडा बढ़ते और निरालाजी को अत्यधिक उत्तेजित देखकर मैं किसी तरह उन्हें वहाँसे अपने बँगले पर ले गया, और उन्हें समझाया कि टंडनजी के उपदेश का उत्तर देने का वह अवसर नहीं था। आपको अपना उत्तर शुक्लजी की अध्यक्षता में होनेवाली साहित्य परिषद में, साहित्यकारों के बीच, देना उचित है जहाँ राजनीतिक वातावरण नहीं होता। दूसरे दिन सबेरे विषय निर्धा-रिणी समिति की बैठक थी। बाबूजी इसमें अध्यक्षता कर रहे थे। मुझे विषय तो याद नहीं, किन्तु किसी विषय पर गरमागरम बहस हो रही थी। उसमें बाबूजी ने कुछ कहा जो स्व० पंडित कान्तानाथ पाण्डेय को अच्छा न लगा। वे उठ कर बड़े अशिष्ट ढंग से तेज स्वर में बोले—"बाबूजी, यह उत्तर प्रदेश की विधान सभा नहीं है जिसमें सदस्य आपकी व्यवस्था चुपचाप मान लेते हैं। याद रखिए कि यह साहित्य सम्मेलन है। यहाँ आपकी स्पीकरी नहीं चलेगी। यहाँ वही होगा जो हम हिन्दी साहित्यकार चाहेंगे"। छपे हुए शब्दों के कहने के ढंग में जो अशिष्टता थी वह व्यक्त नहीं हो सकती और जो उस समय सुननेवालों को मालूम हुई। किन्तु बाबूजी ने बड़े शान्तभाव से केवल इतना ही कहा—"हाँ, सो तो है ही। सम्मेलन में तो वही होगा जो आप लोग चाहेंगे।" यदि बाबूजी में तनिक भी अहंकार होता और हिन्दी साहित्यकारों के प्रति उनमें इतना मोह न होता तो उस बदतमीजी को वे वर्दाश्त न करते। मुझे भी पाण्डेयजी का व्यवहार असह्य लगा। कान्तानाथजी मेरे बड़े प्रिय और भक्त थे। मेरे पास ही ठहरे थे। लौटकर मैंने उनकी अशिष्टता के लिए उन्हें बहुत फटकारा—शायद आवश्यकता से कुछ अधिक। उन्होंने अपने व्यवहार के अनौचित्य का अनुभव किया और बड़ा दुःख प्रकट करते हुए आगे ऐसा न करने और बाबूजी से क्षमायाचना करने का वचन दिया। ये दो घटनायें हिन्दी साहित्यकारों और कार्यकर्ताओं के प्रति उनके शील, आदर और मोह की परिचायिका हैं।

(अप्रकाशित रेखाचित्र का एक आरम्भिक अंश बहुत बड़ा होने के कारण पूरा प्रकाशित नहीं किया जा रहा है)।

●

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु ने अपने छोटे से जीवन में जो काम किए, उनका वर्णन और मूल्यांकन कोई रामचन्द्र शुक्ल ही कर सकता है। अतएव मैं उनके विविध कार्यों के मूल्यांकन का प्रयास न करूँगा। किन्तु उनके कार्य में मुझे जिस बात ने सबसे अधिक प्रभावित किया, वह उनकी आधुनिकता है। साथ ही उनकी सार्वभौमिकता और जीवन के विविध पहलुओं में रुचि देखकर आश्चर्य हुआ। आप जानते हैं कि उन दिनों पत्रकार भी थे। उनके पूर्व जो पत्रिकायें निकलती थीं, वे या तो शृंखलाहीन समाचारों से, या किसी विशेष विषय जैसे धर्म सम्बन्धी लेखों से भरी रहती थीं। भारतेन्दु ने कई पत्र पत्रिकायें निकालीं। उनमें उनकी 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' प्रमुख है। उसे देखने से और पूर्ववर्ती हिन्दी पत्रिकाओं से उसकी तुलना करने से मालूम होता है कि उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता में कितना क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया था। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की संपूर्ण जिल्दें मुझे देखने को नहीं मिलीं। मेरे संग्रह में १८७४ से लेकर १८७९ के २२ अंक हैं, जिनमें एक अंक ३ मास का संयुक्त अंक हैं। सबसे पुराना अंक जून, १८७४ का और अन्तिम अंक सितम्बर १८७९, का है। अतएव 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का पूरा परिचय मुझे प्राप्त नहीं हो सका, फिर भी उसकी अधूरी फाइल से ही उनकी दृष्टि की व्यापकता और रुचि की व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में सभी विषयों पर लेख प्रकाशित कर पाठकों की रुचि और ज्ञान को विस्तृत किया। उसमें कविता, नाटक,

कहानी आदि के अतिरिक्त विज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, जीवनी, यात्रा आदि विषयों पर अनेक लेख निकले। विज्ञान पर सुलभ रसायन, बिजली और परमाणु, ज्योतिर्विद्या(खगोल) और बच्चों के आहार ऐसे विषयों पर भी लेख निकाले। इतिहास पर केवल भारत ही नहीं, विदेशों के इतिहास पर भी लेख दिये गये। इनमें ग्रीस और महाराष्ट्र के इतिहासों पर प्रकाशित लेख उल्लेखनीय हैं। पुरातत्व पर 'पंपासर का दानपत्र' नामक लेख एक महत्वपूर्ण लेख है। जीवनियों में सूरदास, जयदेव और रामानुज स्वामी के जीवन वृत्तान्त छापे गये। बदरिकाश्रम की यात्रा, सरयूपार की यात्रा, जनकपुर की यात्रा यात्रा, सम्बन्धी लेखों के नमूने हैं। समकालीन कवियों की कविताओं के अतिरिक्त वे पुराने कवियों को भी प्रकाश में लाते थे, जिनके उदाहरण गदाधर भट्ट, काष्ठजिह्व स्वामी और नन्ददास के काव्य हैं। वे अनुवादों की आवश्यकता और उपयोगिता समझते थे। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में ठाकुर गदाधर सिंह का कादम्बरी का प्रसिद्ध अनुवाद छपा था। सामवेद के कुछ अंशों का अनुवाद प्रकाशित हुआ था। अंग्रेजी के शिशुपालन सम्बन्धी एक निबन्ध के अनुवाद ने भी स्थान पाया था। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि उसमें कुरान शरीफ़ का अनुवाद धारावाहिक रूप से बहुत दिनों तक निकाला गया। यही नहीं, वे पुस्तकों की आलोचनाएँ भी प्रकाशित करते थे। ये आलोचनाएँ आवश्यकतानुसार सहानुभूतिपूर्ण या आक्रामक होती थीं, जिनसे भारतेन्दु की निर्भीकता टपकती थी। कभी-कभी राजनीतिक विषयों पर भी लेख होते थे। उनका ऐसे एक लेख का शीर्षक था, 'अंग्रेजों से हिन्दुस्तानियों का मन क्यों नहीं मिलता।' साहित्य में एक और विधि का प्रयोग वे बड़ी सफलता से करते थे। वह था व्यंग्य। ये व्यंग्य साहित्यिक भी होते थे और राजनीतिक भी। उस समय 'इन्दर सभा' नामक एक विशिष्ट शैली के नाटक का बड़ा प्रचलन था, जो लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के पतनोन्मुखी शासन में विकसित हुई थी। उसकी निःसारता और हास्यास्पदता स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'बन्दर सभा' नाम का छोटा सा नाटक प्रकाशित किया था। 'ग्राम पाठशाला नाटक' में तत्कालीन प्राइमरी स्कूलों की दुर्दशा का चित्रण किया गया था।

उनकी कल्पना कितनी प्रखर थी, उनके विचार समय से कितने आगे थे तथा वे उस समय भी हिन्दी में उन सब कामों को करने के लिए जिन्हें हम आज कर रहे हैं, कितने प्रयत्नशील थे, यह देख कर आश्चर्य होता है। इसके लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। जून १८७४ के अंक में उन्होंने बनारस कालिज के गणिताध्यापक पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र की 'सरल त्रिकोणमिति की उपक्रमणिका' की विस्तृत समालोचना की थी। उसमें उन्होंने इस समय मानक पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा था :

"हिन्दी भाषा में विज्ञान, दर्शन, अंकादि के ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं और जो दस-पाँच छोटे-मोटे हैं भी वे पुरानी चाल के हैं और उनके पारिभाषिक शब्द ठीक नहीं हैं। इस ग्रन्थ के अन्त में एक निघंटु भी है जिसमें पारिभाषिक शब्दों के पर्यायवाचक अंग्रेजी शब्द भी दिये हैं। यह इस विद्या के और नये-नये ग्रंथ बनानेवालों को बहुत उपयोगी होंगे, पर हम यह कहना चाहते हैं कि जो लोग त्रिकोणमिति के नये ग्रन्थ रचें वे इन्हीं शब्दों का प्रयोग करें क्योंकि बहुत से पारिभाषिक शब्द होने से भ्रम होता हैं। इसके सिवाय जब सब लोग यही शब्द लिखने लगेंगे तो हिन्दी में इनका प्रचार भी हो सकता है।"

इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि वे ज्ञान विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता और उनका मानकीकरण चाहते थे। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस शती के प्रथम दशक में और डा० रघुवीर आदि ने स्वतंत्रता के बाद यह कार्य आरम्भ किया। अब प्रायः सौ वर्ष बाद भारत सरकार यही काम कर रही है।

दूसरा उदाहरण एक ऐसी योजना का है, जो कार्यान्वित न हो सकी, किन्तु वह उनकी दूरदर्शिता की परिचायिका है। हिन्दी संसार ने इधर फिर 'ला जर्नल' के ढंग की पत्रिका की आवश्यकता का अनुभव किया। कुछ दिनों पूर्व काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने ऐसी पत्रिकायें निकाली थीं, किन्तु एक दो अंक से अधिक वे न निकाल सके। अब भारत सरकार के विधि विभाग ने ऐसी पत्रिका का आरम्भ किया है जिसके कुछ अंक प्रकाशित भी हो चुके हैं और आशा है कि भारत सरकार का प्रकाशन होने के कारण वह स्थायी रूप से प्रकाशित होती रहेगी। किन्तु इसकी कल्पना भारतेन्दु की अलौकिक प्रतिभा ने बहुत पहले ही कर ली थी। सन् १८७५ के अप्रैल की 'चन्द्रिका' के अंक में उन्होंने एक विज्ञापन प्रकाशित किया था। वह विज्ञापन यह था—

"हिन्दी में बहुत से अखबार हैं, पर हमारे हिन्दुस्तानी लोगों को उनसे कानूनी खबर कुछ भी नहीं मिलती और न हिन्दी में कानूनों का तर्जुमा है, जिसे देखकर और पढ़कर वे अदालत की बातें समझ सकें। अदालत वह चीज है, जिससे छोटे बड़े किसी को छुट्टी नहीं। इससे सब गृहस्थों को इसका जानना बहुत जरूरी है। बहुत से बेचारे कानून जाने बिना लोगों के जाल में पड़कर खराब हो जाते हैं। तो इस आपत्ति से लोगों को बचाने को एक माहवारी पत्र 'नीति प्रकाश' नाम का बनारस में जारी होगा। इसमें अंग्रेजी और उर्दू कानूनों का तर्जुमा छपा करेगा और इसके सिवाय विलायत और हाईकोर्ट के फैसले छपेंगे। मुन्शी ज्वाला-प्रसाद, गवर्नमेंट प्लीडर होईकोर्ट, बाबू तोताराम, हाईकोर्ट प्लीडर इत्यादि लायक दोस्त इसके मददगार होंगे। इसमें इतनी बातें छपेंगीं :

१. दीवानी, फौजदारी, कलक्टरी वगैरह के कानून।
२. रियासतों के कानून।
३. इंडिया गजट और गवर्नमेंट गजट का खुलासा।
४. हाईकोर्ट और विलायत की नज़ीर और दूसरी अदालतों की नज़ीर।
५. हिन्दू और मुसलमानों के धर्मशास्त्र।
६. नई और पुरानी नीतियों का संग्रह।
७. सरकार से और राजाओं से जो अहदनामे हुए हैं उनका खुलासा।
८. और कानूनों का खुलासा।
९. कानूनों और फैसलों पर राय।
१०. फुटकर।

इस विज्ञापन से मालूम होता है कि उनकी विधि पत्रिका की कल्पना कितनी व्यापक और उपयोगी थी। उन्हें हिन्दी के उस आरम्भिक काल में (१८७५ में) ऐसी पत्रिका को आवश्यकता अनुभव करने और उसे निकालने का प्रयत्न करने का श्रेय है। हम अर्थात् हिन्दी के कार्यकर्ता, हिन्दी की संस्थाएँ और हिन्दी के प्रकाशक उसे आज तक नहीं निकाल सके और जिसे अब जाकर भारत सरकार ने निकालना आरम्भ किया है। हम नहीं कह सकते कि भारत सरकार की विधि पत्रिका कितनी उपयोगी है और उसका कार्य क्षेत्र क्या है तथा भारतेन्दु की इस प्रकार की पत्रिका की कल्पना से वह कितनी भिन्न है क्योंकि कानून मेरा विषय नहीं है और न मैंने अब तक वह पत्रिका देखी ही है।

वे केवल कविता, कहानी, नाटक आदि को हिन्दी की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं समझते थे। समग्र जीवन से संबंधित वाङ्मय को हिन्दी में लाने का, तथा उसके लिए मानक और शुद्ध पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता को उन्होंने स्पष्ट रूप से समझ लिया था। यह पत्रिका 'नीति प्रकाश' नहीं

निकल सकी क्योंकि इस विज्ञापन में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिख दिया था, "बिना ५०० ग्राहक ठहरे इसका काम शुरू न होगा और ग्राहक ज्यादे होंगे तो इसके पन्ने बढ़ा दिये जायेंगे।" उन दिनों (१८७५ में) इस प्रस्तावित ४० पृष्ठों के मासिकपत्र का वार्षिक मूल्य रु० ६ और ६ आने अलग डाक महसूल रखा गया था। आज भी ऐसे विषय के इस मूल्य के ५०० ग्राहक होना कठिन है। उन दिनों उसके ५०० ग्राहक नहीं मिले, इसमें आश्चर्य नहीं।

अन्त में उनके निर्भीक व्यंग्य और पैनी आलोचना पर संक्षेप में कुछ कह कर इस चर्चा को समाप्त किया जायगा। उस युग में अंग्रेजों का जो आतंक था और अंग्रेज अधिकारियों को जो अधिकार थे और जिस प्रकार वे उनका प्रयोग करते थे, उसके कारण सरकार की बात तो दूर, अंग्रेजों के विरुद्ध भी कुछ कहने का साहस लोगों को नहीं होता था। इस पृष्ठभूमि में उनकी निर्भीकता का मूल्य और भी बढ़ जाता है, विशेषकर जब हम यह विचार करते हैं कि वे उस धनिक वर्ग और रईस वर्ग के थे, जो शासकों की चापलूसी करने का अभ्यस्त था। आप सब फैलन के कोश से परिचित हैं। फैलन साहब ने वह कोश परिश्रम से तैयार किया था। उनका कार्य सराहनीय था। किन्तु भारत सरकार ने उसे अत्यधिक प्रश्रय और पुरस्कार दिया था जो भारतीय लेखकों को नहीं मिलता था। दूसरी बात यह है कि इसके पहिले सरकार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की १०० प्रतियाँ खरीदती थी, किन्तु इसमें 'यती वैश्या संवाद' नामक एक लेख छपा। किसी ने सरकार को सुझाव दिया कि वह अश्लील है। अतएव सरकार ने 'चन्द्रिका' लेना बन्द कर दिया था। इसी प्रकार एक यूनानी तिब्बी पुस्तक में बाजीकरण विषय के वर्णन को अश्लील बताकर वह पुस्तक अंग्रेज अधिकारियों ने काशी के एक अर्द्ध सरकारी पुस्तकालय से हटवा दी थी।

फैलन के कोश में, कोश होने के कारण सभी प्रकार के श्लील और अश्लील शब्द हैं और होने भी चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखते हुए भारतेन्दु की फैलन के कोश की आलोचना को देखना चाहिए।

"बड़े पुन्य का फल

उनहत्तर हजार स्वाहा

बड़ा पुन्य करें तब अंग्रेज के घर में जन्म लें। गौर वर्ण होने ही से सब बातों में गौरव। हिन्दू लोग लाख किताब बनावें, इससे क्या होता है। अंग्रेज होने ही से किताब बनाया नहीं कि उसमें सब गुण हो जाते हैं। आप लोगों ने कभी श्रीयुत सा० फैलन साहब की डिक्शनरी देखी है? न देखी हो तो जरूर देख लीजिये। उसमें आप लोगों से टिक्कस वसूल कर-कर के सरकार ने उनहत्तर हजार छः सौ रुपये दिये हैं। सब मिलाकर तेरह सौ बानवे कापी इसकी पचास-पचास रुपये में सरकार ने खरीदी है, जिसमें ६ सौ कापी तो सिर्फ बंगाल गवर्नमेंट ने ली है। इस किताब में सब मिला कर ग्यारह सौ पेज हैं जिनके अठपेजी एक सौ पौने उन्तालिस फार्म हुए। इसकी अच्छी छपाई, कागज, कटाई, बँधाई वगैरह यदि बीस रुपये फार्म रखिये तो अट्ठाइस सौ रुपये हुए। बाकी बासठ हजार आठ सौ पचास रुपये क्या हुए? फैलनाय समर्पयन्ति अंगरेजत्वात्। हाय! यह नहीं सोचा गया कि यह एक-एक रुपया हिन्दू प्रजागण का एक-एक रुधिर बिन्दु है। हम यह नहीं कहते कि सा० फैलन को उनके इतने बड़े परिश्रम के बदले कुछ न दिया जाता। बड़ा इनाम ऐसे परिश्रम का दस हजार रुपया बहुत है। तब भी छप्पन हजार से अधिक सरकारी रुपया बचता। लोग आँख खोल-खोल कर सरकार की इस उदारता का दर्शन करें। लोग अपने काम की निन्दा नहीं करते कि हिन्दू कुल में क्यों जन्म हुआ है। हमारी सरकार ही की निन्दा करते हैं।

एक बात और सुनिए। सभ्यता तो इस कोश में कूट-कूट कर भरी है। कबीर, होली की गाली, जो-जो चाहिए सब लीजिए। जब बनारस की पब्लिक लाइब्रेरी में जो ब्रजभूषण दास के दूकान के बगल में

थी, कैम्पसन साहब इस देश के डाइरेक्टर एक बेर वहाँ आये थे। 'शरहे बदर चारण' एक फ़ारसी की किताब है। उसे देखकर आप बड़े खफा हुए और फर्माया 'ऐसी नंगी किताब आम कुतुबखाने में न रखनी चाहिए।' यह कह कर आपने उसमें से बाजीकरण का प्रसंग निकाल कर दिखलाया। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका की १०० कापी पहिले गवर्नमेण्ट लेती थी। इसमें जो 'यती वैश्या संवाद' छपा था, वह सभ्यता के विरुद्ध था। इस वास्ते गवर्नमेण्ट ने उसका लेना बन्द कर दिया। (वास्तव में उस संवाद में एक शब्द भी सभ्यता के विरुद्ध नहीं था।) किन्तु इस कोश में जो साफ-साफ निरावरण आईने की तरह नंगी बातों का वर्णन है, और नंगे शब्द हैं, उनमें दोष नहीं क्योंकि वह अंग्रेज लेखनी निर्गलित है। इस समय लज्जा और सभ्यता हाथ न पकड़ती तो अपने पाठकों को कुछ उसके उदाहरण हम भी सुनाते।"

उनके व्यंग्य और अंग्रेजों संबंधी विचारों का उदाहरण १८७४ की जून की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित एक अन्य लेख से मिलता है। यह है 'रुद्री की टीका।' उसका आरंभिक अंश इस प्रकार है :

"क्या लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि वेदों में हमारे इस समय के महाराजाधिराज, प्राणदाता, हित-कर्ता अंग्रेजों की भी स्तुति लिखी है ? यदि ज्ञान न हो तो वे मुझसे सुनें। चारों वेदों में केवल इन्हीं का वर्णन है। यदि माधवाचार्य के इतना समय मुझे मिलता तो मैं चारों वेद का भाष्य बनाकर सिद्ध कर देता। यहाँ मैं केवल रुद्री का अर्थ दिखलाता हूँ जो हमारे भविष्यद्वक्ता वेदकर्ताओं ने हिन्दू प्रजा को इनसे बचने के लिए पहिले ही से लिख छोड़ा है :

नमस्ते रुद्रमन्यव—
उतोदुत इषवे नमः
नमस्ते अस्तु धन्यने
वाहुन्भ्यामुत ते नमः

हे रुद्र, अर्थात् धन बलादि हरण करके रुलानेवाले अंग्रेज, तुम्हारे क्रोध और वाण, धनुष और बाहुओं को नमस्कार है।

सबसे पहिले क्षमा माँग कर प्राण बचाने के हेतु क्रोधाधिक को नमस्कार किया है।" इसी व्यंग्य शैली में सारा लेख लिखा गया है।

१८७४ में जब अंग्रेजों की खुशामद और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने की होड़ लगी थी, तब उन्हें सार्वजनिक रूप से धन, बल आदि का हरण करके रुलानेवाला कहना और उसे प्रकाशित कर देना बड़े साहस और निर्भीकता का काम था।

अंग्रेजों की इस प्रकार धन, बल आदि हरण करने की भर्त्सना करने का जो क्रम हिन्दी साहित्य में हरिश्चन्द्र के समय से प्रकट होने लगा, और वह भी कांग्रेस के वर्षों के प्रचार और स्वदेशी आन्दोलन की वेगवती आँधी से बहुत पहले, उसके अग्रगामी होने का श्रेय भारतेन्दु को है।

पराधीनता राजनीतिक दृष्टि से हमारे आत्मसम्मान को बराबर ठेस पहुँचाती रही। अंग्रेजों की पराधीनता, मुसलमानों की पराधीनता से हिन्दुओं के लिए बहुत बेहतर थी किंतु फिर भी उससे उत्पन्न आर्थिक शोषण को भी जनता अनुभव करती रही, यद्यपि उसकी भावना को साहित्य में वाणी नहीं मिली थी। भारतेन्दु पहिले साहित्यकार थे जिन्होंने इस आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' आदि अनेक पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। शासन की आर्थिक नीतियों की ओर ध्यान देकर साहित्य को आधुनिक दृष्टिकोण देने में भारतेन्दु ने अग्रगामी सफल नेता का काम किया।

इतना ही नहीं, भारत दुर्दशा आदि नाटक, प्रहसन आदि 'चन्द्रिका' में प्रकाशित कर उन्होंने भारत की दुर्दशा का असली स्वरूप जनता को बताया। साथ ही उन्होंने हिन्दुओं को देश के अतीत के गौरव का ज्ञान देने का प्रयत्न किया। उन सबके उदाहरण देना इस छोटे से निबन्ध में सम्भव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अनेक प्रकार से हिन्दी साहित्य, हिन्दी भाषा और हिन्दी पत्रकारिता को युगों के अन्धकार, अज्ञान और पिछड़ेपन से निकालकर आधुनिकता के मार्ग पर अग्रसर किया। इन्हीं कारणों से हम भारतेन्दु को 'आधुनिक हिन्दी का पिता' और उसको आधुनिक बनाने वाला मानते हैं।

दूसरा काम जो उन्होंने किया वह हिन्दी प्रचार का था। वे सदैव व्याख्यानों और लेख आदि लिख कर जनता में अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम और चेतना जागृत करते रहे। उनका बलिया का लेक्चर इसका प्रमाण है। इसी प्रयाग में उस समय देवकीनन्दन त्रिपाठी आदि ने हिन्दी प्रवर्द्धिनी सभा बनायी थी। उसकी एक सभा जो महाजनी टोले के उस मकान में हुई थी, जिसमें प्रसिद्ध पं० अयोध्यानाथ वकील रहते थे, उसमें भारतेन्दु ने अपना भाषण दोहों में दिया था। उस भाषण का एक दोहा बाद के हिन्दीभाषियों के लिए मूल मन्त्र बन गया—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल,
बिन निजभाषा ज्ञान के, मिटत न हिय कौ शूल।

उनके चमत्कारिक और आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव ने कितने ही लोगों में हिन्दी साहित्य और भाषा के प्रेम को जगाया। इस सम्बन्ध में प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी आदि कुछ नामों का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। वैसे तो सारे हिन्दी भाषी क्षेत्र में राजस्थान से लेकर बिहार तक उन्होंने हिन्दीभाषा के प्रेम की एक शक्तिशाली और उत्तुंग लहर उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने एक काम और किया। पहिले कविगण अपनी कवितायें सामन्तों या राज दरबारों में सुनाया करते थे। जनता को वह सुख नहीं किलता था। काशी रसिक समाज उन्हीं की प्रेरणा से बना, जो बाद में बहुत दिनों पं० अम्बिकादत्त व्यास के मार्गदर्शन में चलता रहा जिसमें कवि एकत्र होकर समस्यापूर्तियाँ सुनाते थे। इसका अनुकरण अन्यत्र भी हुआ। धीरे-धीरे इसमें अन्य काव्यप्रेमी श्रोता भी आने लगे और अन्त में आगे चलकर इन कवि गोष्ठियों ने कवि सम्मेलनों का रूप ले लिया, जिन्होंने २०-३० वर्ष पूर्व तक हिन्दी के प्रचार में बड़ा काम किया। अब ये मनोरंजन मात्र हैं।

भारतेन्दु के प्रायः समकालीन पं० अम्बिकादत्त व्यास थे। वैसे वे बिहार में संस्कृत अध्यापक थे, किन्तु काशी से उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। संस्कृत और हिन्दी में आशु समस्यापूर्ति करते थे। एक बार वे जयपुर गये और वहाँ आमेर के महल देखे जिसमें प्रसिद्ध शीश-महल है। इसमें छोटे-छोटे हजारों उभरे हुए (उत्तल, कान्वेक्स) शीशे लगे हैं। एक दियासलाई जलाने से एक साथ शीशों में हजारों दीपशिखाएँ दीखने लगती हैं। दूसरे दिन वे जयपुर नरेश महाराज रामसिंह जी के दरबार में गये। महाराज अच्छे संस्कृतज्ञ थे और उन्हें दर्शनशास्त्र और काव्य में विशेष रुचि थी। तत्कालीन प्रथा के अनुसार व्यास जी को महाराज ने पूर्ति के लिए एक समस्या दी। समस्या थी, 'सहस्र शीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'। व्यास जी ने तत्काल कहा :

प्रविष्टे कांच भवने, नरो भवति तत्क्षणात्
सहस्र शीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स्वामी दयानन्दजी के आर्य समाज की प्रतिक्रिया में जो सनातन धर्म का आन्दोलन हुआ, उसके वे प्रमुख स्तम्भ थे, और श्रद्धाराम फुल्लौरी तथा व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयाल शर्मा के बीच के सबसे बड़े सनातनधर्मी प्रचारक और व्याख्यानदाता व्यास जी थे। वे कवि थे और उनमें उच्च कोटि की साहित्यिक प्रतिभा थी। उन्होंने अपने संस्कृत के नाटकों के अनुवाद में श्लोकों के अनुवाद कहीं-कहीं खड़ी बोली पद्य में भी किये। वे 'पीयूष प्रवाह' नामक मासिक पत्र निकालते थे। 'पीयूष प्रवाह' धर्म प्रधान पत्र था और उसमें अनेक धार्मिक लेख छपते थे। किन्तु साहित्यिक महत्व के लेखों को भी काफी स्थान दिया जाता था। उसकी एक विशेषता थी कि उसका वार्षिक मूल्य डाक खर्च समेत केवल आठ आना था। मार्च १८९२ में उसने होली पर एक छोटा सा लेख निकाला था जिसमें उस समय के सभी प्रमुख पत्रों के नाम आ गये थे। वह व्यासजी की शैली का अच्छा परिचायक है। वह लेख यह है :

"आज कल होली है। लम्बे लेख का अवकाश नहीं। सब जमावड़ा जमा है। होली के मसखरों की बात सुननी हो तो हिन्दी बंगवासी है, कुछ जादू के तमाशे और चूरन होली चाहिए तो भारत जीवन है, कुछ खरी-खरी बातें सुननी हों तो मित्र विलास है, बातचीत की खिचड़ी चाहिए तो खिचड़ी समाचार है, वारांगना रहस्य की इच्छा हो तो ब्राह्मण है, अन्न भवान के दरबार देखने हों तो हिन्दोस्थान है, ताने-बाने सुनने हों तो हिन्दी प्रदीप है, गप्पियों की फोलसंखी की नकल देखनी हो तो आर्यावर्त है, नखरे पसन्द हों तो भरतेन्दु है, पंडित का स्वांग चाहें तो विज्ञ वृन्दावन है, आग में जलाने को गोइँठा चाहिए तो तिमिर नाशक है, राख धूल चाहिए तो राजस्थान समाचार है, सच्ची-सच्ची तीती मीठी सुननी हो तो विद्यार्थ धर्म दीपिका है, फिर भी खाली हो तो लीजिए बिहार बन्धु है, पुराना चंडूल चाहिए तो भारत मित्र है और रंग में भींगना हो तो यह आपके पीछे लगा आपका प्यारा पीयूष प्रवाह है। चिढ़ना मत यारो होरी है, होरी, होरी है अ र र र र र र र।।"

इस पत्रिका में मौलिक नाटक जैसे 'पढ़े-पढ़े पत्थर' जिसमें तत्कालीन संस्कृत पाठशालाओं का व्यंगात्मक खाका खींचा गया है, वेणी संहार नाटक का अनुवाद, हिन्दी प्रचार सम्बन्धी लेख, जैसे कचहरी में नागरी, सामयिक घटनाओं पर टिप्पणियाँ, जैसे भागलपुर की सड़कों की दुर्दशा, काशी के नलों की अवस्था आदि पर भी लेख और टिप्पणियाँ छपती थीं। धार्मिक लेख विद्वत्तापूर्ण और संस्कृत बहुल भाषा में होते थे, किन्तु अन्य लेखों की भाषा सरल और प्रांजल खड़ी बोली होती थी। कविताएँ अधिकांश अपनी और नये तथा पुराने कवियों की ब्रजभाषा में होती थीं, किन्तु कभी-कभी खड़ी बोली की कविताएँ भी छपती थीं, जैसे ये दोहे देखिए :

दीन दुखी असहाय का, करो सदा उपकार
जानो वेद पुरान का, यही एक है सार।
चन्दन तरु के संग से, होता चन्दन और
तू भी सज्जन संग कर, होवेगा सिरमौर।

उन्हें सबसे पहिले हिंदी शीघ्रलिपि (Stenography) की एक प्रणाली सफलतापूर्वक आविष्कृत करने का भी श्रेय है।

इसमें उनकी प्रसिद्ध लम्बी कहानी, जिसे कुछ लोग उपन्यास की भी संज्ञा देते हैं, छपी थी जिसका नाम 'आश्चर्य वृत्तान्त' था। उसका आरम्भ इस प्रकार होता है :

"चित्रकूट से कुछ दक्षिण को झुकते, पुष्करिणी तीर्थ के पास विराध नामक एक तीर्थ है। वहाँ की भूमि भू पहाड़ों के कारण अत्यन्त कठिन और पाषाणमय है। वहाँ लगभग सोलह-सत्रह हाथ की चौड़ाई

का एक कुआँ ऐसा गहरा है कि उसे देखने ही से ऐसा आश्चर्य होता है कि इन चट्टानों को तोड़ कर इस घोर जंगल में यह किस बली ने खुदवाया है। वहाँ यह बात प्रसिद्ध है कि श्री रामचन्द्र जी ने विराध राक्षस को जो गड़हा करने के लिए पृथ्वी में बाण मारा, तो पाताल तक छेद हो गया था, सो यही है। अब तक लोग उसमें बड़े-बड़े पत्थर के ढोंके छोड़ते हैं, पर वह इतना गहरा है कि खड़का तक नहीं सुन पड़ता। वह कितना गहरा है और कैसा है इसके निश्चय करने को अंग्रेज लोग बहुत दिनों से पीछे पड़े हैं, पर अभी तक कुछ पता नहीं लगा। १ मार्च, १८८४ को अमरीका के प्रसिद्ध प्रोफेसर लुफ लर्वा वहाँ पहुँचे, उसी के पास तम्बू डेरा डाला और दूरबीन लगा नाप-जोख कर यह निश्चय किया कि किनारे की तरफ चारों ओर सन्धियों से अनेक घासफूस और पेड़ वगैरह निकल आये हैं। यदि किसी किनारे से कुछ लटकाया जायेगा तो उन झाड़-झंखाड़ों में फँस जायेगा। इसलिए जैसे कुएँ में घरारी पर बड़ा घड़ा लटकाया जाता है, वैसे ही एक बड़ी घरारी पर से कल के द्वारा एक भारी लंगर इसके बीचोबीच लटकाया जाये। उसी से उसकी गहराई का पता लगेगा। बस ५ तारीख को कल और लंगर मँगाने के लिए बम्बई पत्र भेजा गया और १४ तारीख को सब सामान आ पहुँचा और ३१ तारीख मार्च तक खोद-खाद, गाड़-गूड़ कर घरारी ठीक जमा दी गयी।

"अब २ अप्रैल को सबेरे ७ बजे प्रोफेसर साहब के साथ और कई अंग्रेज लोग चारों ओर दूरबीन ले लेकर बैठे और घरारी पर से ४५ मन का लंगर लटकाया गया। उस गड़हे में बड़ा ही घोर अन्धकार था, इसलिए प्रोफेसर साहब ने इस लंगर में एक बड़ा लैम्प भी बाँध दिया था कि ज्यों-ज्यों नीचे जाये त्यों-त्यों उजाला भी होता जाये और ऊपर से सब कुछ देख भी पड़ता जाये। बस धीरे-धीरे लंगर लटकने लगा और उस अँधेरे में के पेड़, झाड़-झंखाड़, मकड़ियों के जाले, साँपों की केंचुलियाँ, बिल और सन्धों में बैठे बिच्छू आदि जन्तु देख पड़ने लगे। साहब देख-देख अपनी बही में कुछ लिखते जाते थे और वह लट-कता जाता था। यहाँ तक कि दूर होने के कारण अन्त में वह लंगर केवल एक गुब्बारे या तारा ऐसा चमकने लगा और उसके चारों ओर अँधेरा देख पड़ने लगा।

"नौ बजने के समय साहब ने निश्चय किया तो वह लंगर दो माइल और तीन सौ गज नीचे जा चुका था। जब पन्द्रह मिनिट और बीते तब वह लंगर एकाएकी लटकने से रुक गया और साहब ने हिसाब किया तो उतनी देर में ४५० गज और नीचे पहुँचा था। अर्थात् कुल दो माइल ७८७ गज नीचे पहुँचा था।

"जब उन लोगों ने यह निश्चय किया कि अब लंगर का नीचे की ओर लटकाना किसी प्रकार नहीं हो सकता तो हार कर ऊपर ही खींचने लगे। पर खींचने के समय उस लंगर का बोझा बढ़ जाना देख साहब को, और और लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और चकचिहा कर देखने लगे, लंगर के साथ उलझा-पुलझा क्या आता है।"

"फिर क्रम से पहले धीरे-धीरे उस लंगर की लालटेन चमकने लगी, फिर उसका भी कुछ-कुछ आकार देख पड़ने लगा। फिर जब तक लोग एकटक लगा कर देखते ही हैं तब तक तो उस गड़हे से एक बड़ी गूँज के साथ ध्वनि भी आने लगी। तब तो सबों को और भी आश्चर्य हुआ और ध्यान दे कर सुनने से जाना गया कि 'धीरे-धीरे' यह शब्द है। साहब के आदमी के शब्द निश्चय होते ही लंगर धीरे-धीरे खींचा जाने लगा। फिर जाले और सूखी लताओं के साथ एक आदमी उस लंगर से चिपट रहा है, देखते ही साहब ने और-और लोगों ने भी उसे धीरज धराया कि घबराओ मत, लंगर को जोर से पकड़े रहो।

"ज्यों ही लंगर ऊपर आया त्यों ही कल बल से साहब ने उस आदमी को लंगर से उतारा और उसके जाले छुड़ा धूल झाड़ी, पर वह मारे घबराहट के एकाएकी अचेत सा होकर हाँफता हुआ लेट गया।

"उसके कपड़े लत्ते से जान पड़ता था कि वह राजपूताने की ओर का रहने वाला, किसी भले घर का आदमी है। झट छाया में ले जाकर, लोगों ने पानी के छींटे मार, हवा कर ठंढा किया। घंटे भर में वह अपने में आया। जल पीने के अनन्तर उसने पूछा कि यह कौन सा स्थान है। समीप कौन पहाड़ी है। यहाँ से गया जी कितनी दूर है। और आप लोग क्यों जुटे हैं?"

इस कहानी की भाषा सरल, मुहावरेदार और चित्ताकर्षक है तथा उसमें कल्पना के साथ पाठक में उत्सुकता जागृत होती है। यह अपने ढंग का अनोखा लघु उपन्यास है। खेद है कि हिन्दी के विद्वानों का इसकी ओर समुचित ध्यान नहीं गया।

पं० बालकृष्ण भट्ट का हिन्दी प्रदीप हिन्दी पत्रकारिता के जगत में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मासिक पत्र था, जिसे प्राय: ५० वर्ष तक उन्होंने तिरंतर घाटा सहकर हिन्दी की सेवा की प्रेरणा से निकाला। उसमें उच्च कोटि के साहित्यिक निबन्ध, कहानी, कविताएँ आदि तो निकलती ही थीं, साथ ही यही एक मासिक पत्र था जो हिन्दी संसार में राजनीतिक चेतना जागृत करने में सतत संलग्न रहता था। भट्टजी कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक थे। वे अपने अल्प वेतन से अपना और अपने परिवार का पेट काट कर इसे घाटा सह कर निकालते रहे। हिन्दी पत्रकारिता की इतनी लम्बी निष्काम सेवा का हम दूसरा उदाहरण नहीं जानते। उसमें भट्टजी ने अपने स्वास्थ्य, अपनी आँखों की ज्योति और अपनी सारी कमाई लगा दी। उन्हें बहुत कम लेखकों से सहयोग मिलता था। पं० श्रीधर पाठक ऐसे व्यक्ति थे जो उसमें नियमित रूप से लिखते थे, किन्तु उस समय वे इस प्रान्त के सचिवालय में कर्मचारी या अधिकारी थे। इसलिए उनके लेख बिना नाम के छपते थे। मरने के पहिले उन्होंने अपने इन लेखों की अपने हाथ से सूची बनायी और उन लेखों का संकलन किया जो मुझे उनके पौत्र डा० पद्मधर पाठक ने दिया है और मेरे पास सुरक्षित है। वह प्रकाशन की अपेक्षा करता है और यदि हिन्दुस्तानी एकेडमी ऐसी संस्था उसे प्रकाशित कर सके तो जो श्रीधर पाठक, जो अभी तक केवल कवि समझे जाते हैं, निबन्धकार और गद्य लेखक के रूप में भी हिन्दी जगत के सामने आ जायें।

पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा उस समय परिनिष्ठित मानी जाती थी और उन्होंने कितने ही नवयुवकों को हिन्दी सेवा की दीक्षा दी, जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हैं। फ़ारसी और उर्दू के विद्यार्थी होते हुए भी वे भट्टजी के समान पारस के स्पर्श से हिन्दी के खरे सुवर्ण हो गये। मेरे पूज्य पिताजी को भी लिखने की प्रेरणा उन्हीं से मिली थी और उनके पहिले दो लेख 'प्रदीप' ही में छपे थे। वे भारतेन्दु के अनन्य भक्त थे, और उनका हिन्दी प्रेम भारतेन्दु के सम्पर्क से और भी पुष्ट और पैना हो गया था। वे संस्कृत के विद्वान थे और उनके लेखों में संस्कृत काव्य के उद्धरणों की भरमार रहती थी तथा उनके लेखों से पाठकों को देश की पुरानी साहित्यिक परम्परा का परिचय प्राप्त होता था। हिन्दी के बाद उनकी रुचि राजनीति में थी। वे गर्म विचारों के राजनीतिज्ञ थे और लोकमान्य तिलक उनके आदर्श थे। उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' में जो साहित्यिक रत्न भर दिये हैं, वे हिन्दी की निधि हैं। उन्होंने 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान', नामक कहानियाँ भी लिखीं। द्विवेदी युग के पहिले और भारतेन्दु के बाद, हिन्दी जगत में वे सबसे अधिक आदर से हिन्दी के नेता के रूप में देखे जाते थे। उन्होंने खड़ी बोली गद्य को ५० वर्ष की सतत साधना से माँजा और उन्नत किया। विषय के अनुसार उनकी भाषा संस्कृत बहुल या बहुत सरल चलती भाषा होती थी। हम यहाँ उनकी भाषा और शैली के नमूने के रूप में उनका एक ऐसा लेख प्रस्तुत कर रहे हैं जो आप लोगों को विशेष रूप से रुचिकर होगा। वह भारतेन्दु का एक संस्मरण है।

सहृदय संमिलन

"जरा जर्जरित विविध विपद संपद आधि व्याधि सन्निविष्ट इस क्षणिक जीवन में जब कभी किसी मार्मिक रसज्ञ सहृदय का साथ हो जाय तो वह घड़ी कितने हर्ष और प्रमोद की बीतती है, इसका अनुभव जिस भाग्यवान को हुआ हो वही इसे जान सकता है। दो अंगुल की जीभ निगोड़ी की क्या बिसात जो कह सके कि सहृदय संमिलन में क्या सुख है ? महाकवि भारवि ने भी तो ऐसा ही कहा है : "विमलं कलुषी भवच्चचेत: कथयत्येव हितैषिणां रिपुंवा।" जिसके मिलने से चित्त में विमल भाव उत्पन्न हो, सहसा मन की कली खिल उठे, उसे मित्र जानो और जिसे देख जी कुढ़ जाय, वरन मन मैला हो जाय, वह शत्रु है। इसका तो कहना ही क्या कि ऐसे सुयोग्य प्रेमभाजन मित्र संसार में बिरले हैं। ऐसे ही कई एक बिरले मित्रों में प्रातः स्मरणीय सुगृहीतनामा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र थे। जिन्हें निःसन्देह मैं अपने मित्रों की पवित्र नामावली का सुमेर कहूँगा। आज न जाने क्यों उनका बिछोह मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है। जी चाहता है कैसे एक बार फिर उनसे मिल गले लगाय मैं अपनी छाती ठंढी करूँ। हा ! भारतेन्दु का सरस्वती भंडार मुझे कभी भूल सकता है ? आश्विन मास के नवरात्रि की वह रात्रि या वह महोत्सव जिसे प्रतिवर्ष भारतेन्दु बड़े समारोह के साथ करते थे जो सरस्वती शयन के तीसरे दिन उत्थापनोत्सव के नाम से प्रख्यात है कभी भूलेगा ? जैसी शिष्ट परम्परा चली आयी है 'मूलेनावाह्य देवी' श्रवणेन विसर्जयेत्।' शिष्टों में अग्रगण्य हमारे मित्र महोदय भला इस शिष्ट आचरण को कब भूल सकते हैं ? वे जी खोल इस उत्सव को मनाते थे। भाग्यवश मेरा प्रथम संमिलन उनसे इसी उत्सव में हुआ। सरस्वती उत्थापन महोत्सव में मग्न भारतेन्दु की बिखरी अलकावली तथा उनकी मुग्ध मुखछवि अब तक नहीं भूलती। हरिश्चन्द्र मेगज़ीन में मेरे कई एक लेख उनसे परिचय कराने का हेतु थे। वे लेख बालकों की तोतली बोली में थे, पर उन्हें बहुत रुचे और वे बड़े ही सरल भाव से मुझसे मिले। उस समय मैंने अपने को कृतकृत्य माना। बहुत-सी सम्पत्ति मिलने पर भी वह सुख न मिलता जैसा इस सहृदय संमिलन में मुझे प्राप्त हुआ। फिर तो हमारी और उनकी घनिष्टता बढ़ती ही गयी और बहुत दिनों तक कवि वचन सुधा के ऐसे कोई ही अंक बच गये होंगे जिनमें कोई लेख मेरे न रहे हों। हमारा हृदय अति हुलसित हुआ जब मित्र ने औरों से हमारा परिचय दिलाने में कहा, आप ही हैं जिन्होंने मेगज़ीन में 'कालिदास की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह प्रहसन' आदि कई लेख लिखे हैं। "पर गुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नितयम् निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः" भर्तृहरि के इस कथन को मित्र ने स्पष्ट कर दिखा दिया। जिनका लेख इस समय हिन्दी साहित्य के भंडार को अलंकृत कर रहा है उनके सामने हम ऐसे क्षुद्रातिक्षुद्र किस गिनती में हैं, किन्तु उत्साह बढ़ाने को मित्र का इतना कहना हमारे लिये बहुत ही उत्तेजक हो गया।

"एक बार हम काशी गये थे। उस समय आपके सरस्वती भंडार में पंडित अम्बिकादत्त व्यास भी वहाँ बैठे हुए थे, उनसे हमारा परिचय दिलाते उन्होंने यह आशीर्वाद हमें दिया 'हमारे उपरान्त तुम्हारा ही लेख हिन्दी लेखकों में परिगणनीय होगा।' यों तो काशी और प्रयाग में अठवारों हमारा उनका साथ रहा पर एक बार का संघटन अवश्य लिखने योग्य है।

"यहाँ की छात्र मंडली ने हिन्दीवर्द्धिनी नाम की एक सभा स्थापित की थी। बहुत दिनों तक यह सभा चली। एक बार किसी प्रयोजन से बाबू साहब यहाँ आये थे। सब लोगों ने उनसे प्रार्थना की, आज आपको सभा का लेक्चरार हम नियत करते हैं। बाबू साहब ने सबों की प्रार्थना स्वीकार की और कहा, हम पद्य में लेक्चर देंगे। ६ बजे का समय नियत किया गया पर ४ बजे तक कुछ न सोचे थे कि क्या

वहाँ कहेंगे। हम लोगों ने जब सुध दिलाई तब एक घंटे में शतरंज खेल रहे थे बात भी करते जाते थे और १०० दोहे लिख डाले जिसके एक एक शब्द में उत्तेजना भरी है, प्रतिभा इसी का नाम है।"

आपने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि इस लम्बे उद्धरण में विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया गया है। कहीं फ़ारसी या अरबी के शब्द 'आम फ़हम' समझे जाने के कारण नहीं आये। फिर भी भाषा में प्रवाह और सरलता है। अवश्य ही संस्कृत के विद्वान होने के कारण वे संस्कृत के उद्धरण दिया करते थे, किन्तु वे एक तो सरल संस्कृत के होते थे, दूसरे उनका प्रयोग सटीक होता था।

यह विशेषता उस समय के अधिकांश प्रमुख लेखकों में थी। भारतेन्दु काल के दूसरे प्रसिद्ध लेखक प्रतापनारायण मिश्र थे। वे भट्टजी की तरह संस्कृत के विद्वान न थे और वे उर्दू फ़ारसी के भी ज्ञाता थे, किन्तु वे भी अधिकतर अपने लेखों में उस समय की धारणा के अनुसार शुद्ध हिन्दी लिखते थे। मैं उनके एक लेख का एक अंश उनकी भाषा के नमूने के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ :

"हम नहीं जानते कि वे कैसे लोग हैं जो कहा करते हैं, किसी बात में जी नहीं लगता। निश्चय ही वे जी लगाना जानते ही नहीं, नहीं तो सृष्टिकर्ता ने संसार में ऐसे ऐसे सुयोग्य पात्र स्थापित कर रखे हैं जिनमें चित्त आकर्षण करने को सहज शक्ति है। पुस्तकें एक से एक उत्तम अनेकानेक मिल सकती हैं और यदि न मिलें तो दो ही एक पोथी बिचारने के लिए वर्षों सहारा दे सकती हैं। सज्जन भी जहाँ ढूँढो वहाँ प्रगट वा प्रच्छन्न रूप में मिलते ही रहते हैं। अकबर बादशाह का स्वभाव था कि वह बालकों, किसानों और अति सामान्य श्रेणी के ग्रामीणों तक की बातें इस विचार से बड़े दत्तचित्त होकर सुना करते थे कि न जाने किसके मुख से कौन-सी प्रकृति प्रसिद्ध सुहावनी और शिक्षापूर्ण वार्ता सुनने में आवे। इस धारणा से उक्त नरेश ने बड़ी भारी अनुभवशीलता प्राप्त कर ली थी। अकस्मात कभी किसी स्थल पर सज्जन समागम के अभाव की आशंका से मन मार कर बैठ रहना उचित नहीं है। चार घर के खेड़े में भी एक आधा निरक्षर बुड्ढा ऐसा मिल सकता है जो अनुभव में अच्छे नवयुवक विद्वानों से दो चार बातों के लिए अवश्य श्रेष्ठ होगा।"

गंगा जी और हिन्दू मानस

मारिशस के द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर मारिशस की हिन्दू सभा में दिया गया भाषण

मारिशस के धर्मनिष्ठ बंधुओं,

आपकी सरकार ने मुझे विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर निमंत्रित कर मेरा गौरव बढ़ाया है। वह आपकी प्रतिनिधि है, अतएव मैं इसे आपका ही निमंत्रण मानता हूँ। आठ-दस दिन ही में मैं ८३ वर्ष पूरे कर ८४ वें वर्ष में प्रवेश करूँगा और इस समय मेरे लिए यह यात्रा कठिन थी। किन्तु मैं मारिशस में बसे अपने भाई-बंदों के दर्शनों का लोभ संवरण नहीं कर सका और आगया।

हमारे देश की प्रथा है कि जब किसी प्रियजन के यहाँ जाय तो उसे भेंट करने को कोई वस्तु ले जाय। मैंने सोचा कि मारिशस-स्थित अपने भाई-बहनों के लिए क्या वस्तु ले चलूँ? आप इतने समृद्ध हैं कि आपको मेरा ऐसा अंकिचन व्यक्ति क्या उपहार दे सकता है, किन्तु मैं जानता था कि आप अत्यन्त धर्मनिष्ठ हैं, तथा गंगाजी के भक्त हैं। गंगाजी के प्रति आपकी श्रद्धा इतनी अधिक है कि आपके एक पूर्वज ने भागी-रथ के समान मारिशस में गंगाजी का नया अवतरण इस ताल में कराया जिस गंगाताल के किनारे हम सब एकत्र हुए हैं। हिन्दू लोग घर में गंगाजल रखना परमावश्यक समझते हैं। वे हरिद्वार या प्रयाग से गंगाजल

ले जाते हैं। मैं प्रयाग का निवासी हूँ। अतएव मैंने सोचा कि गंगाजल ही आपके लिए सबसे उपयुक्त और प्रिय उपहार होगा।

गंगाजी की महिमा का वर्णन करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। हिन्दू ग्रन्थ उसकी महिमा से भरे हुए हैं। वेदों की बात मैं न करूँगा। हमारे आदि कवि बाल्मीकि, जिन्होंने संस्कृत में रामायण लिखी थी गंगाजी के बड़े भक्त थे। उन्होंने गंगाष्टक लिखा है जिसे प्रत्येक धार्मिक हिन्दू स्नान के समय पढ़ता है। उसमें गंगाजी के जल की जो महिमा कही गयी है, उसके केवल दो श्लोक आपको सुनाता हूँ—

गांगंवारि मनोहारि मुरारिचरणाच्युतं
त्रिपुरारि शिरश्चारि पापहारि पुनातुमाम्।
पापापहारि दुरतारि तरंगधारि
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि।
संकारकारि हरिपादरजोपहारि।
गांगं पुनातु सततं शुभकारि वारि।

मध्य युग में गंगाजी की महिमा कम नहीं हुई। वह यहाँ तक बढ़ी कि हमारे कितने ही मुसलमान भाई भी उसके भक्त हो गये। सम्राट अकबर गंगाजल ही पिया करते थे। उनके लिए ताँबे के बड़े कलसों में राजघाट-नरौरा से गंगाजल मुहरबन्द करके मँगाया जाता था, और जहाँ कहीं भी वे होते थे, वे कलसे ऊँटों द्वारा उनके पास पहुँचा दिये जाते थे। उनके एक प्रसिद्ध सामन्त अब्दुल रहीम खानखाना थे। वे हिन्दी और संस्कृत दोनों के अच्छे कवि थे। वे भी गंगाजी के बड़े भक्त थे। उन्होंने लिखा है—

अच्युतचरणतरंगिणि शशिशेखरमौलिमालतीमाले।
मम तनुवितरण समये हरता देया न मे हरिता।

आधुनिक युग में भी, जिसमें विज्ञान और पाश्चात्य शिक्षा ने कितनों ही के विश्वास डिगा दिये हैं, प्रत्येक धार्मिक हिन्दू की कामना होती है कि मरते समय उसके मुख में गंगाजल और तुलसी पड़े, उसकी अस्थियाँ गंगाजी में प्रवाहित की जायें और यदि गंगाजी के किनारे उसकी मृत्यु हो तो वह उसे मुक्ति का कारण समझता है। इसीलिए लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी आदि अनेक महापुरुषों की अस्थितियाँ प्रयाग में लाकर गंगाजी में विसर्जित की गयी थीं। यह भावना केवल किसी विशेष क्षेत्र तक सीमित नहीं है। सारे भारत के हिन्दुओं की यही भावना है। मैं हिन्दी के कवियों का उदाहरण नहीं दूँगा। बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार और कवि स्व० श्री डी०एल० राय ने गंगाजी पर "पतितोद्धारिणी गंगे" नाम से एक सुन्दर कविता लिखी है। उसकी चार पक्तियाँ ये हैं—

परिहर भव सुखदुःख जे खाने माँ शायित अन्तिम शयने।
वरषि श्रवणे तब जल कल-कल, वरषि सुप्ति मम नयने।
वरषि शान्तिमम शंकित प्राणे, वरषि अमृत मम अंगे।
माँ भागीरथि जान्हवि सुरधुनि कलकल्लोलिनि गंगे।

वे मृत्यु के समय शंकित प्राणों की शान्ति के लिए अमृत रूपी गंगाजल से अंग के प्रोक्षण की कामना करते हैं।

मैं वृंदावन के श्रीरंगजी के मन्दिर का ट्रस्टी भी हूँ। वहाँसे भगवान का उतरा हुआ चन्दन भी एक कटोरी में आप ऐसे श्रद्धालु जनों को भेंट करने के लिए लाया हूँ।

इनके अतिरिक्त श्री राधाकृष्ण के ५० और भगवान विष्णु के ३० चित्र भी आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत कर रहा हूँ। मैं इन पवित्र वस्तुओं को आपकी हिन्दू महासभा के अध्यक्ष को भेंट कर रहा हूँ जो उन्हें अपने विवेक के अनुसार आप लोगों में वितरित कर देंगे।

भारत के मंदिरों में यह प्रथा है कि जब किसी व्यक्ति का विशेष सम्मान करना होता है तो मंदिर का गद्दीस्थ स्वामी या उसका कोई वरिष्ठ अधिकारी एक उत्तरीय (दुपट्टा) उस पुरुष को उढ़ा देता है। मैं श्रीरंग मन्दिर वृंदावन के ट्रस्टी की हैसियत से आप लोगों के प्रतीक स्वरूप आपके अध्यक्ष को मंदिर का यह सम्मान दे रहा हूँ। इस पर तुलसी रामायण की तीन चौपाइयाँ अंकित हैं और छोरों पर भगवान विष्णु के मुख्य आयुध शंख और चक्र, तथा उनके बीच में गोस्वामी तुलसीदास का चित्र अंकित है।

आपने मुझे निमंत्रित कर मारिशस में बसे अपने सहधर्मी हिन्दीभाषी भाइयों और बहिनों से मिलने का जो आनन्दप्रद अवसर और सौभाग्य दिया, इसके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूँ, और अब मैं आपकी सभा के अध्यक्ष का सम्मान कर अपनी लायी वस्तुएँ भेंट कर रहा हूँ।

स्थान-मारिशस, गंगा तालाब,
मारिशस हिन्दू महासभा का समारोह,
३१ अगस्त, १९७६

("धर्मयुग" के २२ सितम्बर के अंक में श्री बाल कवि बैरागी ने यह समाचार इस प्रकार दिया था—"सांस्कृतिक दृष्टि से बाजी मार ले गये ८३ वर्षीय पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी। गंगा तालाब पर उन्होंने मारिशस के युवा क्रीड़ा मंत्री श्री दयानन्द बसंत राय को प्रयाग से अपने साथ लाया गंगाजल, मथुरा-गोकुल-वृन्दावन का चंदन, श्रीरंग मन्दिर का उत्तरीय, राधाकृष्ण और विष्णु की तसवीरें भेंट कीं। गंगाजल मारिशस की कमजोरी है। सारा सभागार इस दृश्य पर आँसुओं से भीग गया।" (श्री बसंत राय जी मारिशस हिन्दू महासभा के अध्यक्ष भी हैं।)